IAS 100

A Civil Services Chronicle Initiative

आधुनिक भारत

(भाग–2)

Civil Services CHRONICLE

24yrs. of Guiding Success

Add : D/108, Sec-2, Noida (U.P.), Pin - 201 301
Email id : helpdesk@campus100.in
Call : 09582948810, 09953007628, 0120-2440265

अनुक्रमणिका

- **ब्रिटिश शासन का विरोध** **01-14**
  नागरिक विद्रोह, आदिवासी विद्रोह, किसान विद्रोह
- **1857 का विद्रोह** **15-20**
- **भारतीय स्वतंत्रता संग्राम (प्रथम चरण)** **21-43**
  अंग्रेजी राज का प्रभाव, राष्ट्रीय संचेतना का विकास, संघों का निर्माण, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तथा इसका नरमपंथी चरण, आर्थिक राष्ट्रीयता, कांग्रेस के प्रमुख नरमपंथी नेता, स्वदेशी आंदोलन तथा उग्रवाद में वृद्धि, कांग्रेस में 1907 ई. का विभाजन, प्रमुख उग्रवादी नेता
- **भारत में प्रतिनिधि सरकार** **44-49**
  1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम, मार्ले-मिंटो सुधार (1909 ई)
- **प्रथम विश्व युद्ध से गोलमेज सम्मेलन तक** **50-66**
  होमरूल आंदोलन, कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच 1916 का समझौता, खिलाफत तथा असहयोग आंदोलन, स्वराज दल, साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट, जिन्ना के 14 सूत्र सविनय अवज्ञा आंदोलन, गोलमेज सम्मेलन, गांधी इरविन समझौता, मैकडोनाल्ड-एवार्ड तथा पूना-पैक्ट
- **भारतीय शासन अधिनियम (1919 ई.)** **67-72**
- **भारत सरकार अधिनियम (1935 ई.)** **73-77**
- **राष्ट्रीय आंदोलन में अन्य विचारधाराएं** **78-90**
  क्रांतिकारी आंदोलन, वामपंथी आंदोलन, साम्यवादी दल, ट्रेड यूनियन आंदोलन, आजाद हिंद फौज आंदोलन, शाही नौ सेना का सशस्त्र विद्रोह
- **द्वितीय विश्वयुद्ध से स्वतंत्रता प्राप्ति तक** **91-105**
  अगस्त प्रस्ताव, व्यक्तिगत अवज्ञा और बारदोली अधिवेशन, 1942 का क्रिप्स मिशन, भारत छोड़ो आंदोलन, राजगोपालाचारी योजना और जिन्ना, बैबेल योजना और शिमला सम्मेलन, 1946 की कैबिनेट मिशन योजना, माउंटबेटन योजना, 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक तत्व
- **भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में अलगाववादी प्रवृत्तियां** **106-113**
  सांप्रदायिकता का उदय और विकास, सर सैयद अहमद खान, मुस्लिम लीग तथा मुस्लिम सांप्रदायिकता का उदय, हिंदू महासभा तथा हिन्दू सांप्रदायिकता का उदय, विभाजन का उत्तरदायित्व
- **भारत की स्वतंत्रता से 1964 ई. तक** **114-137**
  संसदीय, पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य (1950 ई. का संविधान), संविधान का निर्माण, जवाहर लाल नेहरू का विकासवादी-समाजवादी दर्शन, योजना व्यवस्था, राज्य-नियंत्रित औद्योगिकरण, कृषिक सुधार, गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित विदेश नीति, चीन के साथ सीमा संघर्ष
- **परिशिष्ट 'क'** **138-143**
  भारतीय रियासतें
- **परिशिष्ट 'ख'** **144-165**
  1947 से 2001 तक का इतिहास, राज्यों का भाषावाद पुनर्गठन, भारतीय रियासतों का एकीकरण, राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न, 1947 के बाद नृजातित्व, उत्तर औपनिवेशिक निर्वाचन - राजनीति में पिछड़ी जातिया, राजनीति में जनजातियां, दलित आंदोलन, 1947 के बाद जाति, भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम, योजना एवं ग्रामीण पुनर्रचना की रणनीति, औपनिवेशिकोत्तर भारत में पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण नीति, विज्ञान की तरक्की,
- **तिथिक्रम** **166-168**

CHRONICLE IAS ACADEMY

ब्रिटिश शासन का विरोध

विदेशी शासन के खिलाफ भारत के परम्परागत संघर्ष की सबसे नाटकीय परिणति 1857 के विद्रोह के रूप में हुई, परन्तु यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के औपनिवेशीकरण तथा उसको दबाए रखने की लम्बी प्रक्रिया ने हर स्तर पर भारतीय समाज में असंतोष व क्षोभ को जन्म दिया। जनता ने इसका प्रतिरोध किया। इन प्रतिरोधों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं - नागरिक विद्रोह, आदिवासी विद्रोह और किसान आंदोलन।

नागरिक विद्रोह

सत्ताच्युत राजाओं और नवाबों या उनके उत्तराधिकारियों या अपनी जायदाद से बेदखल कर दिये गये जमींदारों, भूस्वामियों और पोलिगारों में सरकार के प्रति आक्रोश था। इन विद्रोहों को जनाधार और शक्ति हमेशा शोषित किसानों, दस्तकारों और राजाओं व नवाबों की विघटित सेना के सिपाहियों से मिलती थी। अंग्रेजों ने अपनी नीतियों व भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन किये जिससे किसान व आदिवासी समाज पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा:

- मुफ्त व्यापार लागू करने और भारतीय उत्पादकों से मनमाने ढंग से लेवी वसूल किये जाने से भारतीय हथकरघा व हस्तशिल्प उद्योग का विनाश।
- भारत से इंग्लैंड की ओर धन की निकासी।
- ब्रिटिश भू-राजस्व बंदोबस्त, नये करों का भारी बोझ, किसान का अपनी जमीन से निकाला जाना, आदिवासी भूमि पर कब्जा।
- राजस्व वसूली करने वाले बिचौलिये व महाजनों के उदय से ग्रामीण समाज का शोषण तेजी से बढ़ना।
- खेतों व जंगलों पर परम्परागत आदिवासी अधिकारों का दमन।
- नये कानून तंत्र व अदालतों की मदद से किसान की जमीन की बेदखली को बढ़ावा।
- ब्रिटिश शासन का पूरा चरित्र ही विदेशी होना।
- दरबारों की कमी से धार्मिक नेता व बौद्धिक तबकों के लोगों को नुकसान।

विद्रोहों का स्वरूप :

- समयानुसार इन विद्रोहों के स्वरूप में बदलाव आया। 19वीं शताब्दी के विद्राहों के पीछे महज स्थानीय कारण व मुद्दे ही थे, इसलिए ये स्थानीय स्तर तक ही सीमित रहे। कई स्थानीय विद्रोहों का चरित्र एक जैसा था, क्योंकि वे वहाँ की समान पृष्ठभूमि के कारण उत्पन्न हुए थे।
- 19वीं शताब्दी के किसान आंदोलन की ज्यादातर माँगें आर्थिक थीं और उनके उद्देश्य भी सीमित थे। उन्होंने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज नहीं उठायी। उनका दायरा सीमित था तथा संघर्ष में न तो निरंतरता थी, न दीर्घकालीन संगठन। ये किसान बदलाव के लिए नहीं, बल्कि यथास्थिति बरकरार रखने के लिए लड़े, इसीलिए इनके प्रति अंग्रेजों का रवैया समझौतापूर्ण व नरम रहा। 20वीं शताब्दी के किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन ने एक दूसरे को प्रभावित किया। अखिल भारतीय किसान सभा ने 'जमींदारी उन्मूलन' जैसी व्यापक समस्या के समाधान ढूंढ़ने का प्रयास किया।
- कैथलीन गफ ने किसान विद्रोहों को पाँच भागों में विभाजित किया है- पुनर्स्थापनात्मक, धार्मिक, सामाजिक लूट, आतंकवादी प्रतिरोध और सशस्त्र विद्रोह।

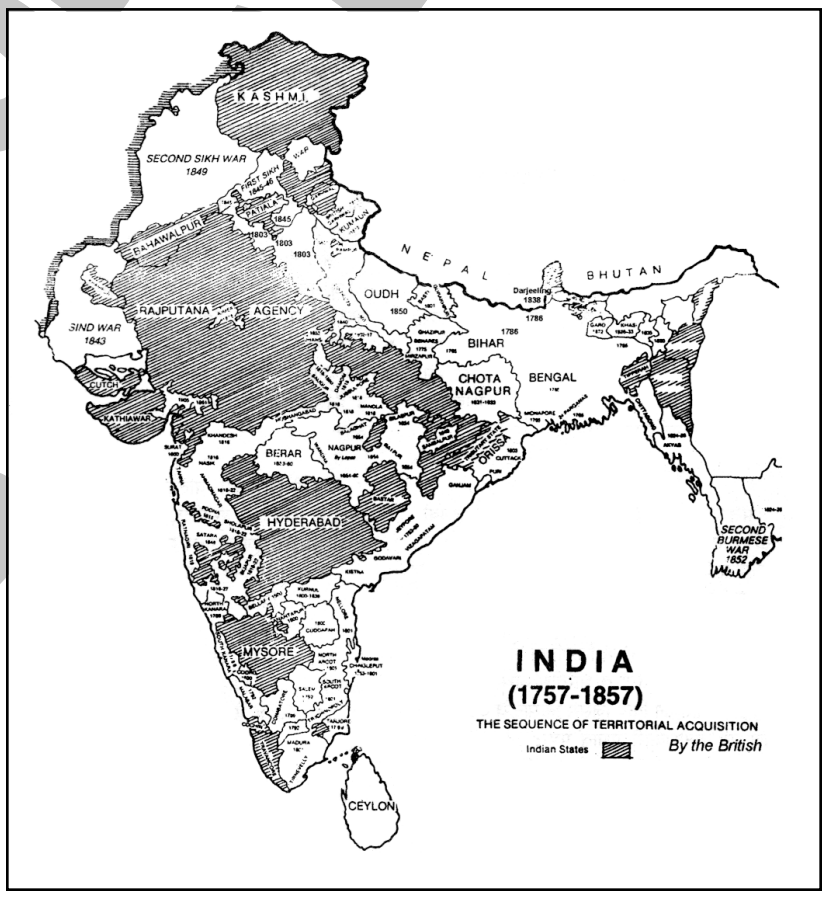

CHRONICLE IAS ACADEMY

नागरिक व गैर आदिवासी विद्रोह

विद्रोह का नाम	वर्ष	प्रभावित क्षेत्र	नेतृत्व	कारण	दिशा व परिणाम
संन्यासी	1763-1800	बंगाल व बिहार	मंजर शाह, मूसा शाह भवीनी पाठक, देवी चौधरानी	कार्यवरित सैनिक, विस्थापित किसान व बेदखल जमींदारों का सरकारी अधिकारियों व धनाढ्य लोगों के प्रति आक्रोश	धनाढ्य लोगों व सरकारी अधिकारियों के घरों व अन्न भंडारों को लूटा गया। बोगरा तथा वे मैमनसिंह में अपनी सरकार बनायी गयी। वारेन हेस्टिंग्स ने एक लम्बे अभियान के बाद इस विद्रोह को दबा दिया।
चुआर	1766-1772, 1795-1816	बंगाल व बिहार के धालभूम, कैलापाल	अज्ञात	अकाल व बढ़ते हुए भूमिकर	राजाओं ने विद्रोह किया तथ आत्म-विनाश की नीति अपनाई। बल तथा समझौतापूर्ण नीति से अंग्रेजों ने
पाइक विद्रोह	1804-17	उड़ीसा	खुर्दा के राजा, बाद में जगबंधु	जमींदारों के अधीन लगान मुक्त भूमि के भोगी खुर्दा एक सैन्य वर्ग पाइकों द्वारा अंग्रेजों का उड़ीसा पर कब्जा (1803) व उनके भू-राजस्व नीति के खिलाफ विद्रोह	खुर्दा के राजा का पाइकों की मदद से विद्रोह। अंग्रेजों ने 1804 में राजा को हरा दिया। जगबंधु के नेतृत्व में पाइकों राजा पुरी पर कब्जा। बल तथा समझौतापूर्ण नीति द्वारा अंग्रेजों ने इसे दबा दिया।
कट्टाबोमन का विद्रोह	1792	तिनुवेल्ली (तमिलनाडु)	वीर पांड्या	अंग्रेजों द्वारा पंचलाकुर्ची के राजा को अधीनता स्वीकार कराने का प्रयास	उसे पकड़ कर मार डाला गया।
विजयनगर के राजा का विद्रोह	1794	उत्तरी सरकार के जिले	विजयनगर के राजा	अंग्रेजों द्वारा राजा से सेना भंग करने व तीन लाख रुपया भेंट देने की मांग अस्वीकृत करने पर राजा की जागीर जब्त कर ली गयी।	प्रजा व सेना ने राजा का साथ दिया पर वह लड़ता हुआ मारा गया। कंपनी ने राजा के बड़े पुत्र को जागीर वापस की और धन की मांग भी कम कर दी।
पोलिगार	तमिलनाडु के पोलिगार (1790) मालाबार व तटीय आंध्र प्रदेश के पोलिगार (1801-05) पारलेकमडी के पोलिगार (1813-34)	तमिलनाडु मालाबार व तटीय आंध्र प्रदेश पारलेकमडी	जगन्नाथ, गजपति, नारायणराव	अंग्रेजी भूमिकर व्यवस्था तथा बकाया न चुकाने पर जमींदारी जब्त करना	जमींदारों के विद्रोह के बाद ये लोकप्रिय हुए जिसे अंग्रेजों ने कुचल दिया
मैसूर	1800-1831	मैसूर	सरदार भल्ला	वाडियार शासक ने सहायक संधि से उत्पन्न वित्तीय दबाव को दूर करने के लिए जमींदारों से अधिक राजस्व की मांग की।	नागर प्रांत में विद्रोह हुआ, पर अंग्रेजों ने इस पर कब्जा कर प्रशासन को अपने हाथों में ले लिया
त्रावणकोर के दीवान-वेलू थम्पी का विद्रोह	1805	त्रावणकोर	वेलू थम्पी	सहायक संधि द्वारा लगाया सहायक कर देने में अनाकानी, रेजीडेंट का धृष्टतापूर्ण व्यवहार तथा दीवान को हटाने की मांग की	नायर बटालियन ने वेलू थम्पी का साथ दिया पर राजधानी त्रिवेन्द्रम पर अंग्रेजों का कब्जा हुआ, वेलू थम्पी ने जख्मी हालत में जंगल में प्राण त्याग दिये। फिर भी उसे फांसी पर लटकाया गया।
सौराष्ट्र के सरदारों का विद्रोह	1816-32	कच्छ व काठियावाड़	राव भारमल	अंग्रेजों की विस्तार की नीति तथा कच्छ के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप से उत्पन्न अंग्रेजों के प्रति घृणा	भारमल की हार हुई और कच्छ को सहायक संधि करनी पड़ी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

रामोसी विद्रोह	1822-29	पूना	चित्तूर सिंह, उमाजी	1818 में अंग्रेजों ने पेशवा के क्षेत्रों में अधिकार कर रामोसियों को बेरोजगार कर दिया था	अंग्रेजों ने रोमोसियों को जमीन देकर शांत किया।
कोलियों को विद्रोह	1824-25, 1828, 1839, 1849	गुजरात	-----	-----	-----
कित्तूर	1824-29	धारवाड़ के निकट	कितूर, चिन्नावा, रायप्पा	शिवलिंग रुद्र देसाई की मृत्यु के बाद कोई भी उत्तराधिकारी न होने पर अंग्रेजों ने गोद लिये गये पुत्र को राजा नहीं माना	चिन्नवा के विद्रोह को अंग्रेजों ने कुचल डाला, कितूर के बाद रायप्पा ने विद्रोह को आगे बढ़ाया, पर वह भी मार दिया गया और चिन्नवा की जेल में मृत्यु हो गयी।
कोल्हापुर	1824	कोल्हापुर	---	---	---
सतारा	1841	सतारा	धारराव, नरसिंह पाटेकर	सतारा के राजा प्रताप सिंह को अंग्रेजों ने हटा दिया था	अंग्रेने ने नरसिंह पाटेकर को पदच्चुत कर पकड़ लिया
गड़कारी	1844	कोल्हापुर	---	कोल्हापुर राज्य में प्रशासनिक पुनर्गठन से वंशानुगत सैनिक जाति गडकारी की छंटनी कर दी गयी	समनगढ़ व भूदर दुर्ग जीत लिये गये, पर अंग्रेजों ने विद्रोह को कुचल डाला
सावंतवाड़ी	1839-45	सावंतवाड़ी	फोंद सावंत, अन्ना साहिब	सावंतवाड़ी के राजा खेम सावंत को हटा कर प्रशासन को एक अंग्रेज अधिकारी को सौंपना	विद्रोह के बाद में जन-आंदोलन का रूप ले लिया, अंग्रेजों ने मार्शल लॉ लगा कर विद्रोह को कुचल दिया

विलासपुर के राजपूत	1814-17	विलासपुर	---	---	---
अलीगढ़ के तालुकदारों का विद्रोह	1814-17	अलीगढ़	---	---	---
जबलपुर के बुंदेलों का विद्रोह	1842	जबलपुर, आगरा, दमोह	मधुकर शाह, जवाहर सिंह	अंग्रेजों की भूराजस्व की नीति	अंग्रेजों ने मधुकर शाह को पकड़ कर मार डाला
फरैजी	1838-51	पूर्वी बंगाल	हाजी शरियतुल्ला, दादू मियां या मोहम्मद मुशीन	अधिक राजस्व निर्धारण व बेदखली। इस संप्रदाय के समतावादी सिद्धांत के अनुसार जमीन पर केवल ईश्वर का अधिकार है	पूर्वी बंगाल के कुछ हिस्सों में समानांतर सरकार और अदालतें स्थापित की गयी। जमींदारों को लूटा गया। जमींदारों व सरकार ने मिल कर इस आंदोलन को दबाया। दूदू मियां कैद कर लिया गया। इसके अनुयायी वहाबी दल में मिल गये।
वहाबी	1820-70	रोहिल्ला खंड में शुरुआत, बाद में उत्तर पश्चिम भारत, बंगाल व बिहार में विस्तार। मुख्यालय उत्तर पश्चिमी कबाइली प्रदेश में सिथाना, बाद में पटना	रायबरेली के सैयद अहमद (नाजिद के अबुल वाहब संस्थापक थे), विलायत अली, मौलवी नसीरुद्दीन, इनायत अली, मकसूद अली, मोहम्मद हुसैन, फरफत हुसैन	इस्लाम धर्म का पुनरुथान, अंग्रेजों को बाहर खदेड़ना मुसलमान सत्ता की पुनर्स्थापना	सिक्खों के विरुद्ध लड़ाई व बालाकोट के युद्ध में सैयद अहमद की मृत्यु। 1847 में पंजाब में आंशिक सफलता के बाद खदेड़े गये। 1857 में में बहावियों ने कुछ स्थानों पर विद्रोह किये। सिडनी काटन ने सिताना जीत। (1858), चैम्बटलेन को हटा कर वहाबियों द्वारा पुन: कब्जा। जनरल गरकोक द्वारा बहावियां को हरा कर उनके आंदोलन का दमन।

CHRONICLE IAS ACADEMY

पागलपंथी	1825-33	शेरपुर (पूर्वी बंगाल)	करमशाह व टीपू	धार्मिक राजनीतिक, जमींदारों के मुजारों पर किये गये अत्याचार	करमशाह के अधीन धार्मिक आंदोलन। 1825 में टीपू का शेरपुर पर अधिकार, गारो पहाड़ियों तक उपद्रव। अंग्रेजों द्वारा दमन (1833)
कूका	1845-72	पंजाब	भगत जवाहरमल, (सिंया साहिब) बालक सिंह, राम सिंह (ये सिर्फ गुरु गोविंद सिंह को ही अपना गुरु मानते थे)	सिख धर्म में सुधार, राजनीतिक सिख प्रभुसत्ता की पुनर्स्थापना	मूर्ति विखंडन, कसाइयों की हत्या द्वारा विरोध, रामसिंह का रंगून निर्वासन
फड़के का विद्रोह	1877	महाराष्ट्र	वासुदेव बलवंत फड़के	राष्ट्र की संपत्ति का दोहन व अकाल। पुनः हिन्दू राज की स्थापना का विचार	इन्होंने डकैतों की मदद से सामाजिक लूटपाट की। ऐसा करने वाले वे प्रथम राष्ट्रवादी थे। 1879 में वे पकड़े गये और उन्हें आजीवन करावास की सजा सुनायी गयी। 1883 में उनकी मृत्यु हो गयी।

- 19वीं शताब्दी के विद्रोह व आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय लोगों ने किया। इसके विपरीत 20वीं शताब्दी में नेतृत्व राष्ट्रीय नेताओं के हाथों में चला गया।
- आदिवासी विद्रोह ने जातीय आधार पर अपने आप को संगठित किया तथा ओझाओं जैसे धार्मिक व चमत्कारी नेताओं ने नेतृत्व प्रदान किया।

1. संन्यासी विद्रोह (1763-1800) : बंगाल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा उसके फलस्वरूप नई अर्थव्यवस्था लागू होने से जमींदार, कृषक व शिल्पी सभी नष्ट हो गये। राजस्व की वसूली में तेजी लाने, ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके मुलाजिमों द्वारा कारीगरों के शोषण और पुराने जमींदारों की समाप्ति ने परिस्थिति को विस्फोटक बना दिया। तीर्थ स्थानों पर आने जाने पर लगे प्रतिबन्ध से सन्यासी लोग बहुत क्षुब्ध हुए। सन्यासियों में अन्याय के विरूद्ध लड़ने की परम्परा थी। सन्यासी विद्रोह सन् 1763 से 1800 तक चला। बंगाल के कार्यवरित सैनिकों और विस्थापित जमींदारों ने इस विद्रोह में भाग लिया। इस विद्रोह का नेतृत्व धार्मिक मठवासियों और बेदखल जमींदारों ने किया। ये लोग धनाढ्य लोगों तथा सरकारी अधिकारियों के घरों व अन्न भण्डारों में छापा मार कर इन्हें लूटा करते थे। बोगरा व मेमन सिंह में उन्होंने अपनी सरकार बनाई थी। ये लोग कम्पनी के सैनिकों के विरूद्ध बहुत वीरता से लड़े तथा वारेन हेस्टिंग्स एक लम्बे अभियान के पश्चात् ही इस विद्रोह को दबा पाया था। इसी सन्यासी विद्रोह का उल्लेख 'वन्दे मातरम्' के रचयिता बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' में किया है। इस विद्रोह की खासियत हिन्दू-मुस्लिम एकता थी। इस विद्रोह के प्रमुख नेताओं में मंजर शाह, मूसा शाह, भवानी पाठक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

2. कच्छ का विद्रोह (1816-32) : कठियावाड़ में राजा भारमल व झरेजा के समर्थक सरदारों में रोष व्याप्त था। 1819 में भारमल को हटाकर उसके अल्पवयस्क पुत्र को गद्दी पर बैठाया गया, हालांकि वास्तविक शासन एक प्रतिशासक परिषद को दे दिया गया। अत्यधिक भूमि कर और बर्मा के युद्ध में अंग्रेजों की हार के कारण लोगों में रोष, अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। विद्रोहियों ने भारमल को पुनः स्थापित करने की माँग की। 1831 में पुनः विद्रोह भड़का और अंत में कम्पनी को अनुरंजन की नीति अपनानी पड़ी।

3. सूरत का नमक आंदोलन : 1844 में नमक कर 1/2 रुपया प्रति मन से बढ़ा कर एक रुपया प्रति मन कर दिया गया। विरोध को देखकर सरकार ने अतिरिक्त कर हटा दिया। इसी प्रकार जब 1848 में सरकार ने एक मानक नाप-तौल लागू करने का प्रयत्न किया, तो लोगों ने दृढ़ता के साथ इसका बहिष्कार कर सत्याग्रह किया। अन्त में सरकार ने इसे भी वापस ले लिया।

4. कोल्हापुर व सावंतवाड़ी विद्रोह : 1844 के पश्चात् कोल्हापुर राज्य के प्रशासनिक पुनर्गठन से लोगों में असंतोष फैल गया। गड़कारी, जो वंशानुगत सैनिक जाति थी, उसकी छंटनी कर दी गयी जिससे उन्होंने विद्रोह कर दिया। समनगढ़ व भूदरगढ़ के दुर्ग जीत लिये गये। इसी प्रकार सावंतवाड़ी में भी विद्रोह हुआ। सेना की मदद से दोनों विद्रोहों को कुचल दिया गया।

आदिवासी विद्रोह

1. भील विद्रोह (1818-1831, 1846) : अंग्रेजों के आधिपत्य तथा बाहरी लोगों के अतिक्रमण से खानदेश जिला के भील आहत हुए। बाजीराव द्वितीय के विद्रोही मंत्री त्रयम्बकजी ने अंग्रेजों के आधिपत्य जमाने के विरोध में भीलों को उकसाया। वास्तव में कृषि संबंधी कष्ट तथा नई सरकार से भय ही इस विद्रोह के कारण थे। अंग्रेजों की बर्मा में हुई पराजय की सूचना ने भीलों के उत्साह को बढ़ाया। 1825 में सेवरम के नेतृत्व में पुनः विद्रोह हुआ। 1831 तथा 1846 में भी विद्रोह हुए।

2. संथाल विद्रोह (1855-56) : संथाल भारत की महत्वपूर्ण जनजातियों में से एक है। इस जानजाति का केन्द्र नव-गठित झारखंड राज्य में है किन्तु प. बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, बिहार तथा बांग्ला देश के एक बड़े भू-भाग में इस जनजाति के लोग रहते हैं। यह पूरा क्षेत्र बंगाल प्रेसीडेंसी के अन्तर्गत शामिल था। भागलपुर से राजमहल तक का पूरा इलाका 'दामन- ए-कोह' के नाम से जाना जाता था। 1855 और 1856 के बीच संथालों ने गैर आदिवासी (दिकू) को भगाने तथा अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए संघर्ष छेड़ा।

अन्य जनजातियों की भांति संथालों के पास भी वन व भूमि सम्पदा थी। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अंग्रेज सरकार ने

CHRONICLE IAS ACADEMY

भू-स्वामित्व की ऐसी प्रणाली बनायी, जिसने जमींदारी प्रथा को जन्म दिया। इन जमींदारों का प्रयोग सरकार अपने हितों को बचाने तथा अपनी स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती थी। इसके साथ-साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा वसूल किये जाने वाला वार्षिक कर को भी तिगुना कर दिया गया। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण बहुत से बाहरी लोग यहाँ आकर बस गये। संथालों की आर्थिक दुर्बलता ने साहूकारों तथा जमींदारों के लिए एक आदर्श स्थिति बना दी। ब्याज की ऊँची दरें नहीं चुकाने पर बहुत से संथालों को भूमि गँवानी पड़ी। स्थानीय अधिकारी तथा अंग्रेजी कारिन्दे भी इन साहूकारों तथा शोषकों का साथ देते थे। धीरे-धीरे सरकारी तंत्र तथा न्यायालयों पर से भी संथालों का विश्वास उठ गया।

ऐसे समय में स्थितियों की माँग को देखते हुए सीदू व कान्हो जैसे दो साहसी भाइयों ने नेतृत्व का भार संभाला। 1855 में भगनाडीह में एक सभा हुई जिसमें विद्रोह करने का निर्णय लिया गया। यह स्थान वर्तमान में पाकुड़ जिला (झारखण्ड) में है। सीदू, कान्हो चाँद और भैरव नामक चारों भाई इसी गाँव में पैदा हुए थे। इनका मानना था कि ठाकुरजी (भगवान) ने उन्हे हथियार उठाने को कहा है। इस विद्रोह के पहल चरण में बहुत से साहूकारों तथा पुलिस अफसरों को मारा गया। इसके पश्चात् बाहरी लोगों की दुकानों को लूटा गया। सेना की मदद से विद्रोह को कुचल दिया गया। 1855 में सीदू मारा गया तथा 1866 में कान्हो को पकड़ लिया गया। 15 हजार से अधिक संथाल मारे गये। एस.एस. मूले ने संथालों के इस विद्रोह को 'मुठभेड़' की संज्ञा दी है। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री' में कहा है कि सात महीने की लगातार छापामार युद्ध के बाद 1856 में यह विद्रोह दबाया जा सका। रविन्द्रनाथ टैगोर ने इस विद्रोह के नायकों का स्मरण सम्मानपूर्वक किया है। इस आंदोलन को गैर-आदिवासियों के विरूद्ध मानना उचित नहीं। संथालों की लड़ाई अंग्रेजी तथा देशी शोषकों के विरूद्ध थी जिसमें गरीब वर्ग के अनेक लोगों की भावनाएं उनके साथ थीं। नाई, कुम्हार, रजवाड़ आदि कई शोषित जाति के लोगों ने तो विद्रोह में खुलकर भाग भी लिया। विद्रोह समाप्त होने के बाद वीरभूम तथास भागलपुर जिलों के राजमहल, पाकुड़, गोडु, देवधर, दुमका ओर जामताड़ा को मिलाकर संथाल परगना जिला का गठन किया गया। इसका मुख्यालय दुमका बनाया गया और इसे भागलपुर प्रमंडल के अधीन रखा गया।

3. मुंडा विद्रोह (1899-1900) : सभी प्रकार के शोषण तथा अत्याचारों के विरुद्ध मुण्डा विद्रोह या 'उलगुलान' भी जनजातीय आक्रोश का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। मुण्डा जनजाति छोटानागपुर क्षेत्र की मुख्य जनजातियों में से एक है, जो जनसंख्या के दृष्टिकोण से भी भारत की महत्वपूर्ण जनजातियों में गिनी जाती है।

अपने पड़ोसी संथालों की भाँति मुण्डा जनजाति के पास भी अपनी भूमि थी। इस सामूहिक भू-स्वामित्व की व्यवस्था को 'खूँटकट्टी' कहा जाता था। मुण्डा जनजातियों के जीवन में सबसे अधिक अधिकार इनके सरदारों को था। मुण्डा जनजाति के कुछ आपसी मतभेदों के कारण इनके कुछ क्षेत्र पड़ोसी हिन्दू रजवाड़ों की संस्कृति के निकट आ गये।

हिन्दू राजाओं के सम्पर्क में आने से ये लोग हिन्दुओं की परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को अपनाने लगे। मुण्डा सरदारों ने हिन्दू पुरोहितों को दान में भूमि भी देना प्रारम्भ कर दिया। पर धीरे-धीरे इन पुरोहितों का व्यवहार जमींदारों जैसा हो गया। जनसंख्या वृद्धि से कृषि योग्य भूमि की अधिक आवश्यकता हुई, जिसके फलस्वरूप राजस्व भी बढ़ गया। निर्धन मुण्डा किसान, बढ़ी हुई राजस्व की दरों

आदिवासी विद्रोह

आंदोलन का नाम	वर्ष	प्रभावित क्षेत्र	नेतृत्व	कारण	दिशा व परिणाम
भील	1818-31	खानदेश	त्रयंबकजी ने भीलों को उकसाया। 1825 में सेवरम द्वारा नेतृत्व	1818 में खानदेश पर अंग्रेजों के आधिपत्य से भीलों में बाहरी लोगों के अतिक्रमण का भय	अंग्रेजों की बर्मा में हुई हार की सूचना ने भीलों के उत्साह हो बढ़ाया। सरकार ने दनमकारी तथा समझौतापूर्ण नीति द्वारा विद्रोह को शांत करने का प्रयास, पर वह सफल नहीं हुई।
हो	1820, 1831, 1837	सिंहभूम (छोटानागपुर)	----	सिंहभूम पर अंग्रेजों का अधिकार	सैनिक कार्यवाही द्वारा दमन
खासी	1829-32	असम व मेघालय के पहाड़ी क्षेत्र	तिरूत सिंह, बरमानिक	अंग्रेजों द्वारा एक सैनिक मार्ग के निर्माण की योजना तथा अंग्रेजों व बाहरी लोगों का अतिक्रमण	1832 में तिरुत सिंह पकड़ा गया और विद्रोह कुचल दिया गया।
सिंह-पो	1830-39	असम	---	अंग्रेजों द्वारा अतिक्रमण	1839 में विद्रोह कुचल दिया गया
कोल	1831-32	छोटानागपुर	बुद्धोभगत	इनकी भूमि इनसे छीन कर मुस्लिम कृषकों व सिखों को दे दी गयी।	एक हजार विदेशी व बाहरी लोग जला दिये गये। अंग्रेजों का सैन्य अभियान तथा बुद्धोभगत की मृत्यु से विद्रोह शांत हो गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

कोया	1840, 45, 58, 61, 62, 79, 80, 84, 1922-24	चोडावरम का रम्पा क्षेत्र	नोमा डोरा (79-80) राजन अनंतय्या (1884) अल्लूरी सीताराम राजू	कोया व कोंडा डोरा मुख्यिों ने अंग्रेजों के साथ समझौता करने पर अपने स्वामी के विरुद्ध 1862 तक विद्रोह किया। 1879 में मनसबदार ने लकड़ी व चराई पर कर बढ़ाने की कोशिश की और भूम खेती पर प्रतिबंध लगाया	नोमा डोरा पुलिस द्वारा मारा गया। विद्रोहों को कुचल दिया गया, धर्मपल्ली में घात लगाकर दो अंग्रेज अधिकारियों को मार दिया गया। अल्लूरी सीताराम राजू को पकड़ कर मार दिया गया।
खोंड	1846-48	खोंडमाल (उड़ीसा) 1855, 1914	चक्रबिसाई	अंग्रेज प्रशासकों द्वारा खोंडों की प्रचलित नर बलि की प्रथा 'मेरिया' रोकने का प्रयास	पहले दोनों विद्रोहों को अंग्रेज बड़ी मुश्किल से दबा पाये।
सवार	1856-57	पार्लियाखेमदी	राधाकृष्ण देण्डसेना	अंग्रेजों के अनुसार इस आंदोलन का चक्रबिसाई के साथ संबंध था	1857 में दण्डसेना को फांसी पर लटका दिया गया
संथाल	1855-56	राजमहल की पहाड़ियां (बिहार)	सीद्ध व कान्हू	शुरु में यह विद्रोह महाजन व व्यापारियों के खिलाफ था। बाद में पुलिस, गोरे काश्तकार, रेलवे अभियन्ता और अधिकारियों के खिलाफ हो गया।	छह महीने तक विद्रोह चला। गांवों पर हमला कर ज़मींदारों व सरकार पर दबाव डाला गया। सीद्धो 1855 में मारा गया व कान्हू 1856 में पकड़ लिया गया।
खेरवाड़ व सफाहार	1870 के दशक में	राजमहल की पहाडियां	भागीरथ	शुरू में एकेश्वरवाद व सामाजिक सुधार आंदोलन, पर बाद में राजस्व बंदोबस्त के विरुद्ध अभियान	अंग्रेजों ने इस विद्रोह को कुचल दिया।

नायकदा	1858, 68	पंचमहल (गुजरात)	रूपसिंह, जोरिया भगत	नायकड़ा वन्य जाति द्वारा सहस्रवाद में आस्था तथा धर्मराज्य स्थापित करने का प्रयत्न	1858 में रूपसिंह का विद्रोह पर शांति स्थापित। 1868 में धर्मराज्य स्थापित करने का प्रयास। रूपसिंह व जोरिया भगत दोनों मार डाले गये।
कच्छानागा	1882	कछार	संबुदान	जादूगर संबुदान को विश्वास था कि इसके अनुयायियों को गोली भी कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकती	अंग्रेजों पर आक्रमण किया गया, पर इस विद्रोह को बलपूर्वक दबा दिया गया।
मुंडा	1899-1900	छोटानागपुर	बिरसा मुंडा	खूंटकट्ठी व्यवस्था का ध्वस्त होना, बेगारी तथा बाहरी भू-स्वामियों के विरुद्ध	न्यायालय में अपील जब व्यर्थ साबित हुआ तो विद्रोह हिंसक हो गया। सैल रकाब पहाड़ियों में विद्रोहियों की हार हुई। बिरसा की जेल में हैजा की बीमारी से मौत हो गयी।
भील	1913	बांसवाड़ा, डूंगरपुर	गोविंद गुरु	शुरू में शुद्धि आंदोलन, पर बाद में नील राज स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया	अंग्रेजों ने दमनकारी नीति से इस विद्रोह को कुचल दिया।
उरांव	1914-15	छोटानागपुर	जात्रा भगत	शुरू में यह आंदोलन एकेश्वरवादी प्रवृत्ति का था, पर बाद में अंग्रेजों को बाहर खदेड़ना इसका उद्देश्य बन गया।	अंग्रेजों द्वारा विद्रोह को कुचल दिया गया।
कूकी	1917-19	मणिपुर	जाडोनंग व रानी गैडिनिल्यू	ब्रिटिश द्वारा ओछे कार्य के लिए आदिवासियों को भर्ती करने का प्रयास। पोथांग व झूम खेती बंद करने के विरोध में।	गुरिल्ला युद्ध के द्वारा अंग्रेजों को नुकसान पहुंचाया गया। अंततः रानी गैडिनिल्यू पकड़ी गयी और विद्रोह कुचल दिया गया। 1947 में ही रानी की रिहाई हुई
चेन्चू	1921-22	नल्लमलाई की पहाड़ी	---	वनों पर बढ़ता अंग्रेजों का नियंत्रण	विद्रोह कुचल दिया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

को चुकाने में सक्षम नहीं थे। ऐसी स्थितियों ने उन्हें धूर्त साहूकारों की दया पर जीवित रहने को विवश किया तथा इन साहूकारों ने इनकी विवशता का अधिक से अधिक लाभ उठाया। अंग्रेजी राज्य के विस्तार के समय अंग्रेजी प्रशासकों ने भी इन सभी प्रचलित नियमों को अपनी स्वीकृति दे दी। 1806 में अंग्रेज प्रशासकों ने जमींदारों को पुलिस के सभी अधिकार दे दिये।

मुण्डा जनजाति के शोषण के संदर्भ में अंग्रेजी साम्राज्य की मौन स्वीकृति के कारण इस जनजाति में असंतोष की भावना ने जन्म लिया तथा 'दिकू' शब्द सभी बाहरी लोगों के लिए प्रयोग होने लगा। असंतोष के बढ़ने के कारण कहीं-कहीं हिंसक घटनाएं भी हुईं, पर अंग्रेजी प्रशासकों ने इन विद्रोहों को दबाने में शोषकों का साथ दिया। इन स्थितियों से परेशान मुण्डा जनजाति के लोगों ने मिशनरियों की शरण ली। अपने अधिकारों के वापस मिलने तथा अपने हितों की रक्षा होने के आश्वासन पर इन लोगों ने ईसाई धर्म को भी स्वीकार किया, परन्तु मिशनरियों ने भी उनका साथ नहीं दिया।

अब बिरसा नामक एक साहसी मुण्डा युवक ने नेतृत्व संभाला। उसने आनंद पाण्डेय नामक एक व्यक्ति को अपना गुरु बनाया। उसने घोषणा की कि मुण्डा जनजाति को बाहरी तत्त्वों से मुक्ति दिलाने तथा उनके उत्थान के लिए उसे भगवान ने भेजा है। बिरसा ने मिशनरियों की भाँति प्रार्थना सभाओं का आयोजन किया। इन सभाओं में वह अपनी जनजाति के लोगों से साहस का परिचय देने की अपील करता था। वह उन्हें समझाता था कि उसकी मानवेत्तर शक्तियों के कारण कोई भी लौकिक अस्त्र उन्हें मार नहीं सकता।

सन् 1895 तक बिरसा ने छह हजार समप्रित मुण्डाओं का एक दल तैयार कर लिया। अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त करना, सभी बाहरी व विदेशी तत्त्वों को बाहर निकालना तथा स्वतंत्र मुण्डा राज्य की स्थापना करना उनका मुख्य उद्देश्य था। इस मूलतः धार्मिक आन्दोलन का साथ राजनीतिक सरदार व खेतिहर भी देने लगे। विद्रोह के प्रारम्भ में साहूकारों, मिशनरियों, अधिकारियों तथा सभी बाहरी लोगों पर हमला किया गया। इसी बीच बिरसा जो अब 'बिरसा भगवान' के नाम से प्रसिद्ध था, बन्दी बना लिया गया। कैद से मुक्ति के बाद, 25 दिसम्बर 1899 को मिशनरियों तथा जमींदारों पर हमला किया गया। राँची से सेना बुलाई गयी और सैल रकाब की पहाड़ियों में विद्रोहियों की पराजय हुई। बिरसा पकड़ा गया व हैजा से जेल में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

1908 का 'छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट' ने खूँटकट्टी के अधिकारों को मान्यता दी तथा जबरन बेगार पर प्रतिबंध लगाया। बिरसा की पूजा पृथक झारखण्ड आंदोलन के पैगम्बर या अति वामपंथ के नायक के रूप में होती है।

किसान आन्दोलन

1. मोपला विद्रोह (1836-54) : औपनिवेशिक शासन को चुनौती देने वाले किसान विद्रोह में मालाबार के मोपलाओं का नाम उल्लेखनीय है। ये अरब से आये लोगों के वंशज थे जिन्होंने हिन्दू धर्म अपना लिया था। ये मुख्यतः खेतिहर किसान, भूमिहीन मजदूर, छोटे व्यापारी या मछुआरे थे। नई राजव्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण बदलाव था 'जनामी' में परिवर्तन। साझेदारी प्रणाली पर आधारित इस प्रणाली में अब मालिक एक व्यक्ति हो सकता था, जो काश्तकारों को जमीन से बेदखल कर सकता था। अधिक व अवैध करों जैसे अन्य कारणों के फलस्वरूप यह विद्रोह भड़क उठा। धार्मिक नेताओं ने सामाजिक-धार्मिक सुधारों से मोपलाओं को अंग्रेजों के खिलाफ संगठित किया। 1836 से 1854 के बीच 22 विद्रोह हुए। कई वर्षों तक यह संघर्ष जारी रहा।

2. नील विद्रोह (1859-60) : आर्थिक मांगों को लेकर किसान विद्रोहों में यह सबसे जुझारू व व्यापक विद्रोह था। बंगाल में ज्यादातर नील उत्पादक यूरोपीय थे तथा वे जबरन किसानों से नील की खेती करवाते थे। मामूली सी अग्रिम रकम देकर वे किसानों से करार लिखवा लेते थे, जिसमें नील की कीमत बाजार की कीमत से काफी कम होती थी। कानून के डर से विमुख इन यूरोपीय उत्पादकों ने बाद में आतंक की नीति का भी सहारा लिया। लोगों में यह धारणा बैठ गयी कि जो रक्षक वही भक्षक। डिप्टी मजिस्ट्रेट हेमचन्द्रकर ने सरकारी आदेश पढ़ने में चूक की। ऐसा फरमान जारी किया गया जिससे लगा कि विवादों में रैयतों का कब्जा बरकरार रहेगा और वे अपनी मर्जी के फसल उगा सकेंगे। शुरुआती दौर में शांतिपूर्ण तरीके से अर्जियां भेजी गयीं व प्रदर्शन किये गये, पर असफलता ही हाथ लगी। नदिया जिले के गोविन्दपुर गाँव में एक नील उत्पादक के भूतपूर्व कर्मचारी दिगम्बर विश्वास व विष्णु विश्वास के नेतृत्व में लोगों ने नील उत्पादकों द्वारा भेजे गये लठैतों के हमले को नाकाम कर दिया। 1860 तक यह आंदोलन सारे बंगाल में फैल गया। जमींदारी अधिकारों के उपयोग की धमकी के जवाब में रैयतों ने लगान चुकाना बंद कर

दिया। रैयतों ने पैसे जुटा कर कानूनी लड़ाई भी छेड़ी। 1860 तक नील की खेती बंद हो गयी। हिन्दू-मुस्लिम एकता, कुशल नेतृत्व, बुद्धिजीवियों के सहयोग से यह आंदोलन सफल हुआ। हिन्दू पैट्रियट के संपादक हरिश्चन्द्र मुखर्जी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मिशनरियों ने भी पूरा सहयोग दिया। एक आयोग के रिपोर्ट के आधार पर 1860 में अधिसूचना जारी की गयी कि किसी भी रैयत को नील की खेती करने के लिए विवश नहीं किया जायेगा तथा विवादों का निबटारा कानूनी तरीके से होगा।

CHRONICLE IAS ACADEMY

3. पाबना विद्रोह (1873-76) : बंगाल के जमींदारों द्वारा कानूनी सीमा से अधिक तथा 1859 के अधिनियम 10 के तहत मिली काश्तकारों की जमीन पर कब्जे के अधिकार के विरूद्ध षडयंत्र, बेदखली तथा कानून द्वारा शोषण से पीड़ित किसानों ने पाबना जिले के युसुफशाही परगना में किसान संघ की स्थापना की। किसानों ने लगान हड़ताल की। इस विद्रोह के प्रमुख नेता ईशानचन्द्र राय व शंभुपाल थे। यह लड़ाई मुख्यत: कानूनी मोर्चे तक ही सीमित थी और हिंसक वारदातें नाममात्र की ही हुईं। जमींदारों व अंग्रेजों ने इसे 'साम्प्रदायिक दंगे' का नाम दिया क्योंकि अधिकतर काश्तकार मुसलमान व जमींदार हिन्दू थे। 1885 में बंगाल काश्तकारी कानून बना कर सरकार ने आधे मन से अपना वचन निभाया और जमींदारों ने किसानों के विरूद्ध जो दमनकारी नीति अपनाई थी, उसके खिलाफ कानून बनाये। ध्यान देने योग्य बात है कि न तो यह आंदोलन जमींदारी प्रथा के खिलाफ थी और न ही उपनिवेशवाद-विरोध राजनीति से जुड़ी थी। इस विरोध का समर्थन करने वालों में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, आर. सी. दत्त तथा इंडियन एसोसिएशन के नाम उल्लेखनीय हैं। द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर (रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई) ने इस आन्दोलन का विरोध किया था।

4. 1875 का दक्कन उपद्रव : महाराष्ट्र के पूना व अहमदनगर जिलों में अन्य रैयतवाड़ी इलाके की भांति ज्यादातर किसान कर्ज अदायगी को ले कर बाहर से आये गुजराती व मारवाड़ी महाजनों के शिंकजे में फंसे हुए थे। 1860 के दशक में अमरीकी गृहयुद्ध से कपास के निर्यात में बढ़ोतरी हुई जिससे उनकी कीमतें बढ़ी। परन्तु 1864 में गृहयुद्ध समाप्त होने के कारण कीमतों में भारी गिरावट आ गयी। 1867 में सरकार ने लगान की दर में 50 प्रतिशत वृद्धि कर दी। लगातार खराब फसलों ने किसानों की कमर तोड़ दी। महाजनों (वानि) ने इस परिस्थिति का लाभ उठा कर कमरतोड़ ब्याज वसूल किये। कालूराम नामक एक महाजन ने सिरूर तालुका के करड़ाह गाँव में जब कर्जदार के घर पर कब्जा करने का प्रयास किया, तो किसानों व बुलोटीदारों ने महाजनों का सामाजिक बहिष्कार किया जो पूना, अहमदनगर, शोलापुर और सतारा जिलों के गाँवों में फैल गया। भीगथरी तालुका के सूपा इलाके में किसानों ने इकरारनामें जला डाले। इन उपद्रवों में हिंसक वारदातें बहुत कम हुईं। पूना सार्वजनिक सभा ने इस विरोध का समर्थन किया। दक्कन-कृषक राहत अधिनियम 1879 से किसानों को महाजनों के खिलाफ संरक्षण प्राप्त हुआ।

5. चम्पारण सत्याग्रह (1917) : बिहार के चम्पारण जिले के किसानों को अपनी जमीन के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे तिनकठिया पद्धति कहते थे। 19वीं सदी में रासायनिक रंगों ने नील को बाजार से बाहर कर दिया। अत: यूरोपियों को नील की खेती बंद करनी पड़ी। किसान भी यही चाहते थे। मालिकों ने किसानों को अनुबंध से मुक्त करने के लिए लगान व अन्य गैरकानूनी अब्वाबों जैसे शरहवेशी (बढ़ा हुआ लगान) तथा तावान (एकमुश्त मुआवजा) की दर को मनमाने ढंग से बढ़ा दिया। 1908 में पहला विद्रोह हो चुका था। 1917 में राजकुमार शुक्ल ने गांधीजी को चम्पारण बुलाया। उन्होंने अपने सहयोगियों - ब्रज किशोर, राजेन्द्र प्रसाद, महादेव देसाई, नरहरि पारेख, जे.बी. कृपलानी आदि के साथ गाँवों का दौरा किया। सरकार ने एक जाँच आयोग गठित की, जिसमें गांधीजी को भी शामिल किया गया। बगान मालिक अवैध वसूली का 25 फीसदी वापस करने पर राजी हो गये।

6. खेड़ा आन्दोलन (1918) : गुजरात के खेड़ा जिले में फसल बर्बाद होने के बावजूद सरकार मालगुजारी वसूल कर रही थी। सर्वेंट आफ इंडिया सोसाइटी के सदस्यों, विट्ठलभाई पटेल और गांधीजी ने पूरी जाँच-पड़ताल के बाद मालगुजारी माफ करने की माँग को जायज ठहराया। गाँधीजी की अध्यक्षता में गुजरात सभा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वल्लभभाई पटेल व इंदुलाल याज्ञनिक ने भी गाँवों का दौरा किया। गाँधीजी ने कहा कि यदि सरकार गरीब किसानों का लगान माफ कर दे तो जो लगान दे सकते हैं, वे पूरा लगान दे देंगे। सरकार ने इस सुझाव को मान लिया।

7. अवध में किसान सभा आंदोलन : संयुक्त प्रांत में अवध के प्रतापगढ़, रायबरेली, सुलतानपुर और फैजाबाद जिलों में ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति की नीति ने तालुकेदारों को उनके काश्तकारों के मामले में खुली छूट दे रखी थी। लगातार बढ़ती व अवैध लगान तथा बेदखली से किसानों में रोष व्याप्त था। 1886 के अवध रेंट एक्ट ने नहीं के बराबर राहत पहुँचाई थी। 'लड़ाई के चंदों' ने युद्ध काल में किसानों को मुसीबत में डाल दिया। अवध में होमरूल लीग के कार्यकर्त्ताओं ने किसानों को संगठित करने का बीड़ा उठाया। गौरी शंकर मिश्र, इन्द्रनारायण द्विवेदी और मदनमोहन मालवीय के प्रयासों से फरवरी 1918 में 'उत्तर प्रदेश किसान सभा' का गठन हुआ। 1919 में प्रतापगढ़ जिले की एक जागीर में 'नाई-धोबी बंद' सामाजिक बहिष्कार की संगठित कार्यवाही की गयी। झींगुरी सिंह व दुर्गापाल सिंह ने ग्राम पंचायतों के नेतृत्व में किसान बैठकों का आयोजन किया। फिजी से लौटे बाबा रामचन्द्र ने भी किसानों को संगठित करना शुरू किया। जब उन्हें चोरी के झूठे आरोप के तहत जेल भेजा गया तो किसानों ने इसका विरोध किया। जून 1920 में बाबा रामचन्द्र इलाहाबाद में जवाहरलाल नेहरू से मिलने गये। यहीं से नेहरू का 'किसानों के बीच भ्रमण' शुरू हुआ। 1920 में आपसी मतभेद के कारण ''अवध किसान

CHRONICLE IAS ACADEMY

किसान आंदोलन

आंदोलन का नाम	वर्ष	प्रभावित क्षेत्र	नेतृत्व	कारण	प्रगति, दिशा व परिणाम
रंगपुर विद्रोह (बंगाल)	1783	रंगपुर, दिनाजपुर	धीरज नारायण	ईस्ट इंडिया कंपनी ने जमींदारों पर कर बढ़ा दिया जिसका बोझ किसानों पर पड़ा।	किसानों ने कचहरियों, खाद्यान्न भंडारों औरसरकारी पदाधिकारियों पर आक्रमण किया व अपनी सरकार बनायी।
मोपला	1836-54	मालाबार	----	अंग्रेजों द्वारा नयी राजस्व व्यवस्था लागू करना तथा 'जनामी' (साझेदारी पर आधारित भू-व्यवस्था) के स्वरूप में परिवर्तन	1836 से 1854 के बीच विद्रोह हुए, अंग्रेज अधिकारियों व इनके दलालों पर हमला किया गया। कई वर्षों तक अंग्रेज सेना इन्हें दबा न सकी।
नील	1859	बंगाल	दिगम्बर विश्वास, विष्णु विश्वास	यूरोपीय लोगों द्वारा किसानों से जबरन नील की खेती करवाना	शुरू में अर्जियां दी गयी व शांतिपूर्ण प्रदर्शन हुए। बाद में लाठी का जवाब लाठी से दिया गया। लोगों ने लगान देना बंद कर दिया। 1860 में नील की खेती बंद हो गयी।
पाबना	1873-76	बंगाल	ईशानचंद्र राय, शंभुपाल	अधिक लगान, 1859 के अधिनियम 10 क तहत मिली काश्तकारों की जमीन पर कब्जे के विरुद्ध षड़यंत्र और बेदखली	यह लड़ाई मुख्यत: कानूनी मोर्चे पर ही सीमित थी। हिंसक घटनाएं नाममात्र की हुई। 1885 में बंगाल काश्तकारी कानून बना कर राहत पहुंचाई गयी
दक्कन उपद्रव	1875	महाराष्ट्र के पूना व अहमदनगर, शोलापुर व सतारा जिलों में	---	रैयतबारी क्षेत्र के किसान कर्ज अदायगी को ले कर महाजनों के शिकंजे में। अमरीकी गृहयुद्ध का अंत व अकाल के बावजूद लगान की दर में 50 प्रतिशत की वृद्धि	महाजनों का सामाजिक बहिष्कार, भीगथरी में इकरारनामें जलाये गये। दक्कन-कृषक राहत अधिनियम 1879 से किसानों को महाजनों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान की गयी।
पंजाब के कृषकों का असंतोष	1890-1900	पंजाब	---	ग्रामीण ऋणग्रस्तता तथा कृषकों की भूमि का अकृषक वर्ग यथा महाजनों के पास हंस्तांतरण	1900 में पंजाब भूमि अपवर्तन अधिनियम द्वारा इस तरह के हस्तांतरणस पर रोक लगायी गयी। भूमि कर में राहत प्रदान की गयी।
बिजोलिया	1905, 1913	मेवाड़	सीताराम दास, भूपसिंह उर्फ विजय सिंह पथिक माणिकलाल वर्मा	किसानों पर 86 प्रकार के कर लगाये गये	किसानों ने जागीरदारों की खेती करने से इंकार कर दिया। करों की अदायगी न करने का आंदोलन चलाया गया।
चम्पारण	1917	चम्पारण, रामनगर, मोतीहारी, बेतिया, मधुबनी	महात्मा गांधी	तिनकठिया प्रणाली, शरहबेशी (लगान वृद्धि) तावान (एकमश्त मुआवजा) के विरोध में	1908 में पहला विद्रोह हुआ। गांधीजी का आगमन हुआ तथा एक आयोग द्वारा बगानमालिक अवैध वसूली का 25 फीसदी वापस करने पर राजी हो गये
खेड़ा	1918	खेड़ा (गुजरात)	महात्मा गांधी	फसल बर्बाद होने के बावजूद सरकार मालगुजारी वसूल कर रही थी, अंग्रेजों ने इसे मना कर लिया	गांधीजी ने कहा कि यदि सरकार गरीब किसानों को लगान माफ कर दे तो जो लगान दे सकते हैं वे पूरा लगान देंगे।
अवध	1919-1922	प्रतापगढ़, रायबरेली, सुल्तानपुर, फैजाबाद	झींगुरी सिंह, बाबा रामचन्द्र	अवैध लगान व बेदखली अधिनियम लागू। अवध मालगुजारी (संशोधन अधिनियम) लगान में बढ़ोतरी	1919 में प्रतापगढ़ में 'नाई-धोबी बंद' तथा सामाजिक बहिष्कार। बाबा रामचन्द के जेल भेजने पर प्रदर्शन। देशद्रोही बैठक द्वारा किसानों में थोड़ी राहत।
एका	1920	बाराबंकी, हरदोई, बहराइच, सीतापुर, मालाबार	मदारी पासी	लगान में बढ़ोतरी	इस अदोलन में छोटे जमींदार भी शामिल हुए। 22 मार्च को इसे कुचल दिया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

मोपला	1921	मालाबार	याकूब हसन, यू. गोपाल मेनन, पी. मोइद्दीन कोया,	अधिक लगान व बेदखली। अंग्रेजों द्वारा अली मुसलियार को पकड़ने के लिए तिरुरांगड़ी के मस्जिद पर छापा	पुलिस स्टेशन, सरकारी दफ्तर व जमींदारों के घर हमला। बाद में इसका चरित्र सांप्रदायिक हो गया। 1921 में विद्रोह को कुचल दिया गया।
बारदोली	1928	सूरत का बारदोली तालुका	सरदार वल्लभभाई पटेल	लगान में बढ़ोत्तरी, हाली पद्धति (बंधुवा मजदूरी)	शुरू से लगान में 30 प्रतिशत बढ़ोत्तरी को घटाकर 21.97 किया गया। वल्लभभाई के नेतृत्व में सामाजिक बहिष्कार का अस्त्र इस्तेमाल किया गया। मैक्सवेल ब्यूमफील्ड समिति की अनुशंसा पर लगान की दर घटा कर 6.03 कर दी गयी।
आंध्र का आंदोलन	1923-38	तटीय आंध्र	एन.जी. रंगा, पी. सदरैया वृद्धि, वेनेली सत्यनारायण, दंडु सत्यनारायण राजू	राजस्व में पौने 19% खेत जोतने व मछली मारने के अधिकारों को लेकर संघर्ष छेड़ा गया	आंध्र प्रांतीय रैयत एसोसिएशन की स्थापना एन. जी. रंगा द्वारा 1923 में हुई। एन. जी. रंगा द्वारा गुंटूर जिला के निडोब्रोलू गांव में 1933 को 'भारतीय किसान परिषद' का गठन। कांग्रेस कर्षक ने ऋण में राहत प्रदान की।
आंध्र का आंदोलन	1923-38	तटीय आंध्र	एन.जी. रंगा, पी. सदरैया वृद्धि, वेनेली सत्यनारायण, दंडु सत्यनारायण राजू	राजस्व में पौने 19% खेत जोतने व मछली मारने के अधिकारों को लेकर संघर्ष छेड़ा गया	आंध्र प्रांतीय रैयत एसोसिएशन की स्थापना एन. जी. रंगा द्वारा 1923 में हुई। एन. जी. रंगा द्वारा गुंटूर जिला के निडोब्रोलू गांव में 1933 को 'भारतीय किसान परिषद' का गठन। कांग्रेस कर्षक ने ऋण में राहत प्रदान की।
मालाबार के कर्षक संघमों का आंदोलन	1934-40	केरल का मालाबार क्षेत्र	आर. रामचंद्र बेदुमगडी, वी. कृष्ण पिल्लै, टी. प्रकाशम	सामंती वसूलियां, नवीनीकरण शुल्क, लगान की अग्रिम अदायगी	कर्षक संघमों ने 1929 में मालाबार काश्तकारी अधिनियम में सुधार के लिए आंदोलन छेड़ा। कांग्रेस सरकार इस्तीफा देने से पहले ऋणों में राहत देने के लिए एक कानून पास कर चुकी थी, जिसका कर्षक संघमों ने स्वागत किया।

बिहार में किसान सभा का आंदोलन	1929-39	बिहार	स्वामी सहजानंद	जमींदारी उन्मूलन, गैरकानूनी वसूली, काश्तकारों की बेदखली, बकाश्त जमीन की वापसी	1929 में स्वामी सहजानंद द्वारा बिहार प्रादेशिक किसान सभा का गठन कार्यानन्द शर्मा ने मुंगेर के बड़हियाताल में बकाश्त भूमि की वापसी के लिए आंदोलन चलाया। गया में यदुनंदन शर्मा ने आंदोलन चलाया। जमुना कार्यों ने सारन तथा राहुल सांस्कृत्यायन ने अन्नवारी में आंदोलन किया। 1938-39 तक सरकार द्वारा सुविधाओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी से आंदोलन थम सा गया।
पंजाब	1930-40	जालंधर, अमृतसर, होशियारपुर, लायलपुर, शेखपुरा (पंजाब)	सोहन सिंह भाकना, बी. पी. एल बेदी, ज्वाला सिंह, तेज सिंह, स्वनंतर, मास्टर हरि सिंह, बाबा रूर सिंह	भू-राजस्व में कटौती, ऋणों के भुगतान में स्थगन। तत्कालिक कारण अमृतसर व लाहौर में भू-राजस्व का पुनर्निर्धारण, नहर कर में वृद्धि	नौजवान भारत सभा, कीर्ति किसान कांग्रेस व अकाली दल के प्रयत्नों से 1937 में पंजाब किसान समिति का गठन हुआ। पटियाला में भगवान सिंह लोंगोवाल व जागीर सिंह जोगा एवं तेज सिंह स्वतंतर ने आंदोलन चलाया। 1953 में कानून द्वारा काश्ताकारों को उनकी जमीन वापस मिली
वर्ली	1945	बम्बई के निकटवर्ती क्षेत्र	गोदावरी पुरूलेकर	जंगलों के ठेकेदारों, भूमिपतियों, धनी कृषकों, बेथ-बेगार के विरुद्ध	ये साम्यवादियों के प्रभाव में आ गये

CHRONICLE IAS ACADEMY

तेभागा आंदोलन	1946	दिनाजपुर, रंगपुर, जलपाईगुड़ी, मैनमन सिंह, मिदनापुर, 24 परगना, खुलना	कृष्णविनोद राय, अवनि लाहिरी, सुनील सेन, भवानी सेन, मोनी सिंह	बटाईदारों ने फैसला किया कि आधा की जगह वे जोतदारों को एक-तिहारी उपज देंगे। सरकार ने वर्गादार विधेयक पारित कर किसानों की मांगों की पूर्ति की।	फ्लाऊड आयोग ने ऐसी ही सिफारिश की। सुहारवर्दी मंत्रिमंडल ने बंगाल बर्गादार अस्थायी नियमन विधेयक प्रकाशित कर आंदोलन को कानूनी वैधता प्रदान की। 1950 में कांग्रेस की पूर्ति की।
पुन्नप्रा-वायलार	1946	त्रावणकोर	पनम थानु पिल्लई, कम्युनिष्ट	अन्न की कमी, दीवान सी.पी. रामास्वामी अय्यर का अमरीकी नमूना तक, ताकि अंग्रेजों के जाने के बाद एक स्वतंत्र त्रावणकोर उसके नियंत्रण में रहे।	800 लोग इस खूनी विद्रोह में मारे गये। दबाव की नीति द्वारा रामास्वामी अय्यर को अमरीकी नमूना त्यागने पर मजबूर किया गया।
तेलंगाना	1946-51	तेलंगाना	संदरैया	निजाम, जमींदारों, साहूकारों तथा व्यापारियों के विरुद्ध संघर्ष। बेगार (वेट्टी), जमीन हथियाना	यह सबसे बड़ा कृषक छापामार युद्ध रहा। 1949 में कांग्रेस ने जागीरदारी समाप्त कर दी।

सभा'' का गठन किया गया। रायबरेली, फैजाबाद व सुलतानपुर में लूटपाट हुई। मार्च में तमाम जिलों में 'देशद्रोही बैठक अधिनियम' लागू कर दिया गया, जिससे राजनीतिक गतिविधियाँ ठप्प पड़ गयीं। अवध मालगुजारी (संशोधन) अधिनियम से किसानों को राहत तो नहीं मिली पर उनकी उम्मीदें जागीं।

साल के अंत में बाराबंकी, हरदोई, बहराइच और सीतापुर में असंतोष को खिलाफत तथा कांग्रेस के नेताओं ने आन्दोलन की शक्ल दी, जिसे 'एका (एकता) आन्दोलन' का नाम दिया गया। किसानों की शिकायतों में लगान में बढ़ोतरी और उपज के रूप में लगान वसूल करने की प्रथा थी। मदारी पासी ने इस आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। इस आंदोलन की खासियत यह थी कि इसमें छोटे-छोटे जमींदार भी शामिल थे। चौरी-चौरा कांड के बाद असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया गया, पर किसानों का यह आन्दोलन चलता रहा। सरकार ने 22 मार्च 1922 तक इस आन्दोलन को कुचल डाला।

8. मोपला विद्रोह (1921) : 19वीं सदी में भी मोपलाओं ने विद्रोह किया था, पर 1921 का विद्रोह अधिक व्यापक था। अधिक लगान तथा बेदखली ने मोपलाओं को जमींदारों के विरूद्ध संघर्ष छेड़ने पर मजबूर किया। मंजरी के सम्मेलन में मालाबार जिला कांग्रेस ने खिलाफल आन्दोलन का समर्थन किया तथा ऐसा कानून बनाने की माँग की, जो जमींदार-काश्तकार संबंधों को तय करे। कोझीकोड में काश्तकारों का एक संगठन बना। मोपला तथा खिलाफत आंदोलन एक दूसरे में समा गये। गांधीजी, शौकत अली और मौलाना आजाद ने इस इलाके का दौरा किया। 1921 में सरकार ने निषेधाज्ञा लगा कर बैठकों पर प्रतिबंध लगाये। 18 फरवरी को याकूब हसन, यू.गोपाल मेनन, पी. मोइद्दीन कोया, के. माधवन नायर जैसे वरिष्ठ नेताओं की गिरफ्तारी से नेतृत्व स्थानीय मोपला सरदारों के हाथों में चला गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजों की दयनीय स्थिति की अफवाह सुन कर, मोपला सरकारी आदेशों की अवहेलना करने लगे। एरनाड तालुका में जब एक स्थानीय नेता व धार्मिक गुरू अली मुसलियार को पकड़ने के लिए तिरूरांगडी की मस्जिद पर छापा मारा गया, तो कोट्टाकाल, पारप्पानागड़ी व अन्य जगहों पर विद्रोह भड़क उठा। केवल बदनाम हिन्दू जमींदारों तथा विदेशी हुकूमत के प्रतिष्ठानों को निशाना बनाया गया। विद्रोही हुकूमत के प्रतिष्ठानों को निशाना बनाया गया। विद्रोही नेता कुनहम्मद हाजी ने हिन्दुओं को न मारने का आदेश दिया। सैनिक शासन लागू होते ही इस विद्रोह का चरित्र बदल गया। भयभीत हिन्दू हुकूमत का साथ देने लगे। अब संघर्ष साम्प्रदायिक हो गया। 1921 के अंत में विद्रोह को कुचल दिया गया।

अखिल भारतीय किसान सभा

स्थापना : 1936, लखनऊ
संस्थापक : स्वामी सहजानंद
अन्य नेता : एन.जी. रंगा, नरेन्द्र देव, इंदुलाल याग्निक, बंकिम मुकर्जी
अध्यक्ष : स्वामी सहजानंद
महासचिव : एन.जी. रंगा

उद्देश्य :

- किसानों का आर्थिक शोषण रोकना
- जमींदारों व तालुकेदारी के रूप में भू-स्वामित्व की समाप्ति
- ऋण स्थगन
- राजस्व व लगान में कमी
- महाजनों के लिए कानून बनाना
- खेतिहर मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी दिलवाना
- सिंचाई सुविधा
- व्यापारिक फसलों के लिए उचित मूल्य आदि।

1936 का फैजपुर अधिवेशन

अध्यक्ष : जवाहर लाल नेहरू

कृषि कार्यक्रम :

- लगान व भू-राजस्व में 50 प्रतिशत कमी
- ऋणों की वसूली का स्थगन
- सामंती वसूलियों की समाप्ति
- काश्तकारों को बेदखली से सुरक्षा
- खेतिहर मजदूरों को गुजारे लायक मजदूरी
- किसान यूनियन को मान्यता
- कृषि आय पर कर लगाना
- यह कार्यक्रम जमींदारी और तालुकेदारी प्रथाओं के उन्मूलन के मामले में चुप्पी साध गया था
- कांग्रेस के इस अधिवेशन में कृषि और कृषकों के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

CHRONICLE IAS ACADEMY

9. बारदोली सत्याग्रह (1928) : सूरत के बारदोली तालुका में लगान न देने का आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन का ही देन था। यहाँ से गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू करने का फैसला लिया था, पर ऐसा नहीं हुआ। स्थानीय नेता कल्याणजी व कुँवरजी मेहता, दयालजी देसाई, केशवजी गणेशजी आदि के प्रयासों से यहाँ राजनीतिक चेतना विकसित हुई थी। यहाँ की 60 फीसदी आबादी अश्वेतजन (कालिपराज) तथा बाकी सवर्णों की थी। हाली पद्धति (बंधुआ मजूरी) व सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठने लगी। 1927 के वार्षिक कालिपराज सम्मेलन की अध्यक्षता गांधीजी ने की और 'कालिपराज' का नाम बदल कर 'रानीपराज' कर दिया। नरहरि पारिख और जगतराम दवे ने अपने रिपोर्ट में हाली पद्धति की भर्त्सना की। 1926 में लगान में 30 प्रतिशत बढ़ोतरी को विरोध के पश्चात् उसे घटा कर 21.97 फीसदी कर दिया गया था, पर किसान संतुष्ट नहीं हुए। कांग्रेस के नेताओं ने 'खेड़ा सत्याग्रह', नागपुर झंडा (फ्लैग) सत्याग्रह व बलसाड सत्याग्रह से जुड़े वल्लभभाई को आन्दोलन का नेतृत्व संभालने की सलाह दी। वल्लभभाई के निष्पक्ष जाँच की माँग विफल होने पर किसानों ने लगान देना बंद कर दिया। इस संघर्ष में मीठबेन पेटिट, भक्तिबा, मनीबेन पटेल, शारदाबेन शाह और शारदा मेहता जैसी महिलाओं ने भाग लिया। अब सामाजिक बहिष्कार का अस्त्र इस्तेमाल किया गया। 1928 में ब्रिटेन की संसद में भी इस मसले पर सवाल उठाये जाने लगे थे। मैक्सवेल-ब्लूमफील्ड समिति ने लगान की दर घटाकर 6.03 प्रतिशत कर दी।

10. बंगाल का तेभागा आन्दोलन (1946) : 1946 के उत्तरार्ध में बंगाल के बंटाईदारों ने फैसला किया कि वे अब जोतदारों को उपज का आधा हिस्सा नहीं, बल्कि एक-तिहाई देंगे तथा बंटवारे तक उपज उनके ही खलिहानों में रहेगी। फ्लाउड आयोग ने ऐसी ही सिफारिश की थी। उधर आदिवासी नकद में लगान देने के पक्ष में थे। बंगाल प्रांतीय किसान सभा के नेतृत्व में संघर्ष छिड़ गया। जब सुहरावर्दी के मुस्लिम लीग मंत्रिमंडल ने बंगाल वर्गादार अस्थायी नियमन विधेयक प्रकाशित किया तो, आन्दोलनकारियों को एहसास हुआ कि उनकी मांगें अब गैर-कानूनी नहीं हैं। अब संघर्ष छिड़ गया और हिंसक वारदातें होने लगीं। खानपुर में 20 किसान मारे गये। 1950 में कांग्रेस सरकार ने वर्गादार विधेयक पारित कर आन्दोलनकारियों की मांगों की पूर्ति की। इस आन्दोलन के मुख्य केन्द्र रहे दिनाजपुर, रंगपुर, जलापाईगुड़ी, मैमनसिंह, मिदनापुर, 24 परगना और खुलना। राजवंशी क्षत्रिय किसान, मुसलमान, हजोंग, संथाल व उरांवों ने इसमें सक्रिय भूमिका निभाई।

इस आन्दोलन के प्रमुख नेता कृष्णविनोद राय, अवनी लाहिरी, सुनील सेन, भवानी सेन, मोनी सिंह, अनंत सिंह, विभूति साह, अजित राय, सुशील सेन, सांभर गांगुली और गुरूदास तालुकदार थे।

स्मरणीय तथ्य

- भारतीय समाज के किसी अन्य वर्ग की अपेक्षा जनजातीय आंदोलनों की संख्या सबसे अधिक है।
- सन्यासी लोग शंकराचार्य के अनुयायी थे तथा गिरि मत को मानते थे।
- सन्यासियों ने बोगरा व मैमनसिंह में अपनी सरकार बनाई थी।
- सन्यासी विद्रोह का दमन वारेन हेस्टिंग्स ने किया था।
- बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द मठ' का कथानक सन्यासी विद्रोह पर आधारित है।
- चुआर विद्रोह में राजाओं ने आत्मविनाश (Scorched earth) की नीति अपनाई थी।
- पाइक विद्रोह का क्षेत्र उड़ीसा था तथा इस विद्रोह का नेतृत्व पहले खुर्दा के राजा और बाद में जगबन्धु ने किया।
- वीर पांडया ने कट्टाबोमन के विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया था।
- त्रावणकोर के दीवान वेलू थम्पी को मरने के बाद भी फांसी पर लटकाया गया।
- राजा भारमल की हार के बाद कच्छ को सहायक संधि करनी पड़ी।
- कोलियों का विद्रोह 1824-25, 1828, 1839 और 1849 में गुजरात में हुआ था।
- रामोसी विद्रोह (1822-29) का नेतृत्व चित्तुर सिंह ने किया था।
- कोल्हापुर व सावंतवाड़ी विद्रोहों में भाग लेने वाले वंशानुगत सैनिक जाति को गाडकारी कहा जाता था।
- गाडकारियों ने समनगढ़ व भूदरगढ़ के किले जीते थे।
- 'भूमि पर ईश्वर का अधिकार है' - यह फरैजियों की धारणा थी।
- हाजी शरियातुल्ला ने फरैजियों को नेतृत्व प्रदान किया था।
- वहाबी आन्दोलन ने एक वक्त में बंगाल, बिहार, पंजाब व मद्रास को समेट लिया था।
- भारत में बहाबियों का केन्द्र पटना था।
- आरम्भ में यह सिक्खों के विरूद्ध लड़ाई थी।
- बालाकोट की लड़ाई में सैय्यद अहमद की मृत्यु हुई थी।
- पागलपंथी सम्प्रदाय के संस्थापक करम शाह थे।
- कूका आन्दोलन में मूर्ति विखण्डन तथा कसाइयों की हत्या की गयी थी।
- वासुदेव बलवंत फड़के पहले राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने डकैतों की मदद से 'सामाजिक लूटपाट' की।
- बाजीराव द्वितीय के विद्रोही मंत्री त्रयम्बकजी ने अंग्रेजों द्वारा आधिपत्य जमाने के विरोध में भीलों को उकसाया था।
- 1825 में भील विद्रोह का नेतृत्व सेवरम ने किया था।
- छोटानागपुर में बुधो भगत के नेतृत्व में कोल विद्रोह (1831-32) का मुख्य कारण इनकी भूमि इनसे छीन कर मुस्लिम कृषकों व सिक्खों को दिया जाना था।
- रम्पा क्षेत्र में कोय जनजातियों का विद्रोह 1840, 1845, 1858, 1861, 1862, 1879-80, 1884 व 1922-24 में हुआ।
- खोंड जनजाति ने अपनी नरबलि की प्रथा-'मेरिया' को रोकने के प्रयास के विरोध में विद्रोह किया।
- 1856-57 में पर्लियाखमेदी में राधाकृष्ण दण्डसेना के नेतृत्व में सवार विद्रोह हुआ था।
- 1855-56 का संथाल विद्रोह 'हूल' के नाम से विख्यात है।
- भागलपुर से राजमहल के बीच के क्षेत्र को 'दामन-ए-कोह' कहा जाता था।
- सीदू व कान्हो ने संथालों का नेतृत्व किया था।
- 'भगनाडीह की सभा' में सथालों ने विद्रोह करने का निर्णय लिया था।
- 1855 में सीदो मारा गया तथा 1866 में कान्हो पकड़ लिया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस विद्रोह के नायकों का स्मरण सम्मानपूर्वक किया है।
- संथाल विद्रोह के बाद इसी क्षेत्र में 1870 के दशक में 'खेरवाड़ व सफाहार आन्दोलन' हुआ था।
- शुरू में यह सुधारवादी आन्दोलन था पर बाद में राजस्व बन्दोबस्त के विरूद्ध अभियान के रूप में बदल गया।
- नायकड़ा के जनजाति सहस्रवाद में आस्था रखते थे तथा उन्होंने धर्मराज्य स्थापित करने का प्रयास किया।
- कच्छनागाओं ने सांबुदान के नेतृतव में कछार क्षेत्र में विद्रोह किया।
- मुंडाओं ने 1899 व 1900 के मध्य विद्रोह किया था।
- इस विद्रोह को 'उल्गुलान' के नाम से भी जाना जाता है।
- मुंडाओं के सामूहिक भू-स्वामित्व की प्रणाली को 'खूँटकट्टी' कहा जाता था।
- मुंडाओं ने 'दिकू' शब्द का प्रयोग सभी बाहरी लोगों के लिए किया था।
- बिरसा के गुरु आनन्द पाण्डेय थे।
- बिरसा की मृत्यु रांची जेल में (हैजा) से हुई थी।
- 1908 के 'छोटानागपुर टेनंसी एक्ट' ने मुंडाओं को राहत प्रदान की।
- गोविन्द गुरु के नेतृत्व में 1913 का भील विद्रोह शुरू में एक शुद्धि आन्दोलन था।
- 1914-15 में जात्रा भगत द्वारा चलाये गये आन्दोलन को 'तानाभगत आन्दोलन' भी कहते हैं।
- 'रानी गौडिनिल्यू' को 'जॉनआर्क ऑफ नागालैंड' कहा जाता है।
- 1836 से 1854 के बीच मोपलाओं द्वारा 22 विद्रोह हुए।
- आर्थिक मांगों को लेकर किसान विद्रोहों में सबसे व्यापक व जुझारू विद्रोह 1859-60 का 'नील विद्रोह' था।
- इस विद्रोह का नेतृत्व दिगम्बर विश्वास व विष्णु विश्वास ने किया था।
- इस विद्रोह में रैयतों ने पैसा जुटाकर कानूनी लड़ाई भी छेड़ी थी।
- बुद्धिजीवियों और मिशनरियों ने इस विद्रोह में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- 1860 की अधिसूचना से रैयतों को राहत मिली।
- पाबना विद्रोह (1873-76) बंगाल में हुई थी।
- 1859 के एक्ट 'एक्स' द्वारा पाबना के काश्तकारों ने दखली अधिकार प्राप्त किया था।
- इस विद्रोह के दौरान पाबना के किसानों ने युसुफशाही परगना में किसान संघ की स्थापना की थी।
- इस विद्रोह का नेतृत्व ईशानचन्द्र राय व शंभुपाल ने किया।
- यह लड़ाई मुख्यत: कानूनी मोर्चे पर ही सीमित थी और हिंसक वारदातें नाममात्र की ही हुई।
- द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर (रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई) ने पाबना आन्दोलन का विरोध किया था।
- 1885 के बंगाल काश्तकारी कानून से किसानों को राहत मिली।
- 1875 के दक्कन उपद्रव में हिसंक वारदातें बहुत कम हुई।
- किसानों व बलूटादारों ने महाजनों का सामाजिक बहिष्कार किया।
- पूना सार्वजनिक सभा ने इस विरोध का समर्थन किया था।
- दक्कन-कृषक राहत अधिनियम 1879 से किसानों को महाजनों के खिलाफ संरक्षण प्राप्त हुआ।
- 1913 में होने वाले बिजोलिया आन्दोलन का नेता सीतारामदास नामक एक साधु था।
- भूप सिंह उफ्र विजयसिंह पथिक, सचिन सान्याल के समूह का एक भूतपूर्व क्रान्तिकारी था।
- युद्ध ऋण में किसानों का योगदान करने से इन्कार करना बिजोलिया आन्दोलन का एक अन्य कारण था।
- चम्पारण में आन्दोलन के मुख्य कारण तिनकठिया, शरहवेशी (बढ़ा हुआ लगान) तथा तावान (एकमुश्त मुआवजा) थे।
- 1908 में पहले इनका विरोध हो चुका था।
- 1917 में राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी को चम्पारण आने का निमंत्रण दिया।
- बगान मालिक अंतत: अवैध वसूली का 25 फीसदी वापस करने को राजी हो गये।
- खेड़ा आन्दोलन में विट्ठलभाई व वल्लभभाई दोनों ने सक्रिय भूमिका निभाई थी।
- खेड़ा के 559 गाँवों में से केवल 70 गाँवों में ही सत्याग्रह सफल रहा था।
- उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन 1918 में गौरीशंकर मिश्र, इन्द्रनारायण द्विवेदी और मदन मोहन मालवीय के प्रयासों से हुआ।
- 1919 में प्रतापगढ़ में 'नाई-धोबी बंद' सामाजिक बहिष्कार की संगठित कार्यवाही की गयी।
- 1920 में बाबा रामचन्द्र से मिलने के पश्चात् ही जवाहरलाल नेहरू का 'किसानों के बीच भ्रमण' शुरू हुआ।
- 1920 में 'अवध किसान सभा' का गठन हुआ।
- बाराबांकी क्षेत्र का एका (एकता) आन्दोलन का नेतृत्व मदारी पासी ने किया था।
- असहयोग आन्दोलन के वापिस ले लिये जाने के बाद भी यह आन्दोलन जारी रहा।
- 1921 के मोपला आन्दोलन और खिलाफल आन्दोलन ने एक दूसरे को प्रभावित किया।
- एक स्थानीय नेता व धार्मिक गुरु अली मुसलियार को पकड़ने के लिए जब सरकार ने तिरूरांगड़ी के मस्जिद पर छापा मारा तो विद्रोह भड़क उठा।
- सैनिक शासन लागू होते ही विद्रोह का चरित्र बदल कर साम्प्रदायिक हो गया।
- पोडनूर की काल कोठरी - मोपला विद्रोह की एक घटना है।
- बारदोली से गांधीजी ने असयोग आन्दोलन शुरू करने का फैसला लिया था पर ऐसा सभव नहीं हो सका।
- 1927 के वार्षिक कालिपराज (अश्वतेजन) सम्मेलन की अध्यक्षता गांधीजी ने की थी और 'कालिपराज' का नाम बदल कर 'रानीपराज' कर दिया था।
- 1926 में लगान में 30 प्रतिशन बढ़ोतरी को घटाकर 21.97 फीसदी कर दिया गया था। अन्तत: मैक्सवेल ब्लूमफील्ड समिति ने इसे घटाकर 6.03 फीसदी कर दिया।
- इस संघर्ष में मीठबेन पेटिट, भक्तिबा, मनीबेन पटेल, शारदाबेन शाह और शारदा मेहता जैसी महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई थी।
- वल्लभभाई पटेल का नाम खेड़ा सत्याग्रह, नागपुर झंडा सत्याग्रह, व बलसाड सत्याग्रह से जुड़ा है।
- प्रफुल्लसेन (हुगली) के बाबा राघवदास (गोरखपुर) को इनके इलाके का 'गांधी' कहा जाता था।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- आंध्र प्रांतीय रैयत एसोसिएशन की स्थापना एन.जी. रंगा द्वारा 1923 में हुई थी।
- 1933 में एन.जी. रंगा ने 'भारतीय किसान परिषद्' का गठन किया था।
- 1929 में स्वामी सहजानंद ने 'बिहार प्रादेशिक किसान सभा' का गठन किया था।
- 1936 में स्वामी सहजानंद ने अखिल भारतीय किसान संघ की स्थापना लखनऊ में की।
- मुंगेर जिले में बकाश्त आन्दोलन का नेतृत्व कार्यानन्द शर्मा ने किया था।
- 1936 का फैजपुर अधिवेशन जमींदारी उन्मूलन के मामले में चुप्पी साध गया।
- 1937 में पंजाब किसान समिति का गठन हुआ था।
- 1945 में वरली आन्दोलन बम्बई के निकटवर्ती क्षेत्रों में हुआ था।
- 1946 के तेभागा आन्दोलन में बंगाल के किसानों ने फैसला किया था वे आधा की जगह जातदारों को एक-तिहाई उपज ही देंगे।
- 1946 में त्रावनकोर में पुन्नप्रा-वायलार आन्दोलन शुरू हुआ।
- दीवान सी.पी. रामास्वामी अय्यर का 'अमरीकी नमूना' का मकसद था कि अंग्रेजों के जाने के बाद एक स्वतन्त्र त्रावणकोर उसके नियंत्रण में रहे।
- 1946 से 1951 के मध्य तेलंगाना में सबसे बड़ा कृषक छापामार युद्ध चला।

विद्रोहों-आन्दोलनों से जुड़ी शब्दावली

- आधियार या भागचाशी : आधी फसल लेने की व्यवस्था।
- अब्वाब : जमींदार अथवा सरकारी अधिकारियों द्वारा लगाये गये नाना प्रकार के उपकर व महसूल।
- काश्तकार : वह किसान जिसने जमींदार को लगान देकर उसकी जमीन पर खेती करने का अधिकार प्राप्त किया हो।
- कालिपराज : बारदोली के अश्वेतजन।
- खावती : अनाज के रूप में ऋण।
- खूँटकट्टी : आदिवासियों की सामूहिक भू-स्वामित्व की प्रणाली।
- जिसती जमीन : जमींदारों द्वारा स्वयं अपने लिए रखी गयी जमीन, जिस पर खेतिहर मजदूर काम करते थे।
- जिरात : इस पद्धति में ठेकेदारी पट्टे के धारक यूरोपीय नील उत्पादक, अल्प वेतन वाले खेतिहर मजदूरों के माध्यम से स्वयं नील की खेती करते थे।
- जनामी : मालाबार में भूमि से संबंधित साझेदारी प्रणाली।
- तिनकठिया : नील उत्पादक क्षेत्र की वह पद्धति, जिसमें किसानों को अपनी भूमि के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था।
- दिकू : मुंडा आदिवासियों द्वारा बाहरी लोगों के लिये प्रयोग किया गया शब्द।
- उलगुलान : महान हलचल
- तावान : एकमुश्त मुआवजा
- पट्टेदार : वह व्यक्ति जिसे भूस्वामी या जमींदार द्वारा किसी स्थायी संपत्ति या जमीन के उपभोग का अधिकार दिया गया हो।
- पोलिगार : दक्षिण भारत के छोटे पद के सेनापति या जमींदार, जिन्हें राजस्व वसूली का वंशानुगत अधिकार प्राप्त था।
- पोडु : झूम खेती
- पोथांग : बिना मजदूरी दिए अधिकारियों के सामान उठाने के लिए बाध्य आदिवासी
- बलूटा प्रथा : गाँव के 12 सेवक व कारीगर (बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, कुम्हार, मोची आदि जिन्हें 'बलूटादार' कहा जाता था) से गाँव का सारा काम करवाया जाता था तथा बदले में प्रत्येक कृषक को अपनी वार्षिक फसल का एक निश्चित हिस्सा उनके निर्वाह के लिए रखना पड़ता था।
- बकाश्त भूमि : वह भूमि जिसे मंदी के कारण लगान न दे पाने के कारण किसानों ने जमींदारों को दे दिया था। बकाश्त का अर्थ है - स्वयं का जोता हुआ।
- मुट्टादार : पहाड़ी मुखिया
- बेठ-बेगार : बिना किसी वेतन अथवा भुगतान की मजदूरी
- वेटी : मुफ्त मजदूरी
- वेतीचाकरी : मुफ्त सेवाएं
- वर्गादार : पूर्वी भारत के वे किसान जिन्हें भूस्वामी जब चाहे निकाल सकता था।
- वानि : दक्कन के महाजन
- सलामी : एक प्रकार का लेवी या वसूली
- शरहवेशी : बढ़ा हुआ लगान
- हाली पद्धति : बंधुआ मजदूरी

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

1857 का विद्रोह

भारत में ब्रिटिश राज्य के तेजी से विस्तार के पश्चात् भारतीय शासन प्रणाली में विभिन्न परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने भारतीय जीवन की परम्परागत शैली को झकझोर दिया तथा समाज के विभिन्न वर्गों एवं समुदायों के अन्दर हलचल पैदा कर दी। इसका अंतिम परिणाम 1857 का विद्रोह, के रूप में सामने आया, परन्तु यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इससे पूर्व भी छोटे-छोटे विद्रोह होते रहे थे। इनमें से कुछ इस प्रकार थे - वेल्लोर में 1806 में, बैरकपुर में 1824 में, फिरोजपुर में 1842 में 34वीं रेजिमेंट का विद्रोह, 1849 में 7वीं बंगाल कैवेलरी, 64वीं रेजिमेंट और 22वीं नेटिव इन्फेंट्री का विद्रोह, 1850 में 66वीं नेटिव इन्फेंट्री का विद्रोह, 1852 में 38वीं नेटिव इन्फेंट्री का विद्रोह आदि। इसी प्रकार 1816 में बरेली उपद्रव, 1831-33 में केरल विद्रोह, 1848 में कांगड़ा, जसवार और दातापुर राजाओं का विद्रोह, 1855-56 में संथालों का विद्रोह आदि। 1857 का विद्रोह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक,धार्मिक और सैनिक कारणों से हुआ था। इन कारणों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है:

1. **राजनैतिक कारण :** लार्ड वेलेज़ली के अधीन सहायक संधि का मूल उद्देश्य, भारतीय रियासतों पर क्षमताशाली नियंत्रण तथा शनैः शनैः उनके अस्तित्व की समाप्ति पर आधारित था। इसी प्रकार लार्ड डलहौजी का 'व्यपगत का सिद्धांत' (Doctrine of Lapse)इसी उद्देश्य का विकसित रूप था, जिसके द्वारा दत्तक पुत्र लेने के अधिकार को छीन कर सतारा, जैतपुर, सम्भलपुर, बघाट, उदयपुर, झांसी और नागपुर आदि रियासतों को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। इसके अलावा अवध को प्रशासनिक कुप्रबंध के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। लार्ड डलहौजी ने मुगल सम्राट की उपाधि को खत्म करने का निश्चय किया तथा बहादुर शाह के सबसे बड़े पुत्र जवाबख्त को युवराज मानने से इंकार कर दिया। इसी प्रकार पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन समाप्त कर दी गयी। ब्रिटिश नीति 'पैक्स ब्रिटानिका' के फलस्वरूप पिण्डारी, ठग तथा अन्य सैनिकों को भारतीय रियासतों की सेना से हटा लिया गया, जिससे इन्होंने विद्रोहियों का साथ दिया।

2. **प्रशासनिक एवं आर्थिक कारण :** अंग्रेजों ने भारत के प्रशासनिक एवं आर्थिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन किये, जिससे भारतीयों में असंतोष उत्पन्न हुआ। भारतीय कृषि एवं उद्योग का ह्रास हुआ। किसान, दस्तकार, दुकानदार आदि सभी प्रभावित हुए। भारतीय अभिजात वर्ग को शक्ति व पदवी से वंचित कर दिये जाने के फलस्वरूप, इन वर्गों के पोषक तत्त्व को अभाव का सामना करना पड़ा। अंग्रेजों की भूमि कर व्यवस्था ने एक तरफ नये करों के बोझ से कृषकों की स्थिति दयनीय कर दी, वहीं इनाम कमीशन जैसी समितियों के गठन से अनेक जागीरदारों को उनके जागीरों से बेदखल कर दिया गया। भारतीय सेना में भी प्रशासनिक कारणों से रोष व्याप्त था। पद वृद्धि के अवसर बहुत ही कम थे। भारतीय सैनिक की पदोन्नति सूबेदार के पद तक ही हो सकती थी, जिसका वेतन 60-70 रुपये मासिक था।

3. **सामाजिक एवं धार्मिक कारण :** जातिभेद की भावना से प्रेरित अंग्रेज, भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे। वे भारतीयों को 'सूअर' तथा 'काले' की संज्ञा देते थे और उन्हें बर्बर तथा बेइमान समझते थे। उनका विश्वास था कि भारतीयों को ईसाई बना कर उन्हें सभ्य बनाया जा सकता है। भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए पदोन्नति जैसा प्रलोभन दिया जाता था। इस धर्म परिवर्तन का जोरदार विरोध

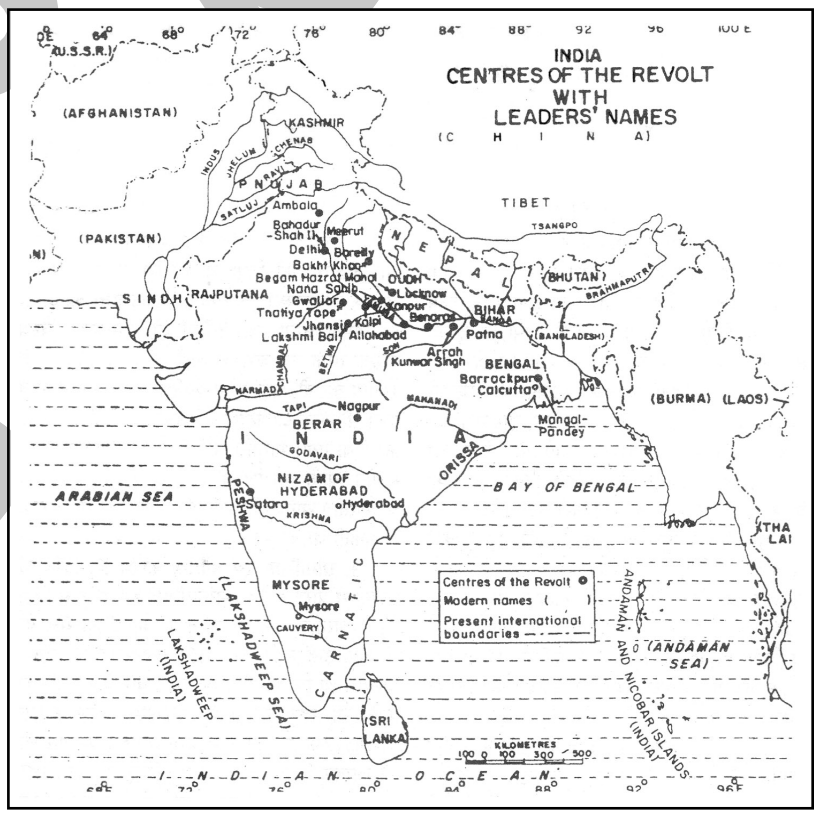

©Chronicle IAS Academy

किया गया। अंग्रेजों ने 1856 में धार्मिक अयोग्यता अधिनियम पारित किया। इसके अनुसार धार्मिक परिवर्तन से पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता था। इसका मुख्य उद्देश्य ईसाई बनने वालों को लाभ पहुँचाना था। भारतीयों ने इसका विरोध किया। इसके अलावा सती एवं शिशु हत्या जैसी प्रथाओं का हटाया जाना, 1856 का विधवा पुनर्विवाह कानून, रेलवे एवं तार का विस्तार, पश्चिमी शिक्षा का प्रसार आदि से भारतीय रूढ़िवादी समाज चिंतित हो उठा। वह कभी भी अपने रीति रिवाजों में हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं कर सकता था।

4. सैनिक कारण : 1857 के विद्रोह का सूत्रपात सैनिकों ने किया था। सैनिकों में ब्रिटिश नीति के खिलाफ व्यापक रोष व्याप्त था। बंगाल की सेना में यह रोष काफी ज्यादा था। इस सेना के अधिकांश सिपाही अवध तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों के उच्च जाति वर्ग से सम्बन्धित थे। इसी कारण वे अनुशासन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। 1824 में बैरकपुर के सैनिकों ने समुद्रपार बर्मा में सेवा करने से मनाही कर दी थी। इसी प्रकार 1844 में चार बंगाल रेजिमेंटों ने अतिरिक्त भत्ता नहीं मिलने पर सिन्ध में जाने से इंकार कर दिया। इस स्थिति से निपटने के लिए 1856 में लार्ड कैनिंग की सरकार ने सेना-भर्ती अधिनियम पारित किया। इसके अनुसार सभी सैनिकों को यह स्वीकार करना होता था कि सरकार को जहाँ भी आवश्यकता होगी, वे वहीं कार्य करेंगे। यह अधिनियम बहुत ही अप्रिय सिद्ध हुआ, खास कर यह देखते हुए कि 1839-42 तक अफगानिस्तान में सेवा कर रहे सैनिकों को भारतीय समाज ने 'जात बाहर' घोषित कर दिया था। इसी प्रकार 1854 में डाकघर अधिनियम के पारित होने से सैनिकों की नि:शुल्क डाक सुविधा समाप्त कर दी गयी। 1856 में भारतीय सेना में 2,38,000 भारतीय सैनिक तथा 45,322 यूरोपीय सैनिक थे। इस अनुपात ने भारतीय सैनिकों को जहाँ प्रेरित किया वहीं अंग्रेजों के मन में संदेह को जन्म दिया। क्रीमिया युद्ध, फारस का युद्ध तथा चीनी युद्ध ने सिपाहियों को प्रेरित किया, कि वे इंग्लैंड की इस संकटपूर्ण स्थिति का लाभ उठाएं। इसी समय 1856 में सरकार ने ब्राउन बेस बन्दूक के स्थान पर नवीन एनफील्ड राइफल का प्रयोग करने का निर्णय लिया। इस नई राइफल में कारतूस को प्रयोग करने से पूर्व इसके ऊपरी भाग को मुँह से काटना पड़ता था। जनवरी 1857 में बंगाल की सेना में यह अफवाह फैल गयी कि कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी है। इन्होंने इस कारतूस का प्रयोग करने से इंकार किया। फलत: अनुशासनहीनता का अपराध लगा कर उन्हें दण्डित किया गया।

विद्रोह की प्रगति : 29 मार्च, 1857 ई० में बैरकपुर में ऐसे ही विद्रोह के दौरान एक सैनिक मंगल पाण्डेय ने अपने एजुटेंट की हत्या कर दी। 34वीं नेटिव इन्फेंट्री तोड़ दी गयी और अपराधियों को दण्डित किया गया। 10 मई, 1857 को मेरठ छावनी के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। मेरठ का कमानदार अफसर जनरल हेविट के पास 22,000 यूरोपीय सैनिक थे, पर वह कुछ न कर सका। दिल्ली में बारूदखाने के प्रभावी अफसर विलोबी ने अपने को अभिभूत पाकर बारूदखाने को उड़ा दिया। कर्नल फिनिस मारा गया। इसके पश्चात् विद्रोहियों ने बहादुर शाह जफर को हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया। विद्रोह शीघ्र ही समस्त उत्तरी और मध्य भारत में फैल गया। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, बनारस, बिहार के कुछ भाग, झांसी एवं कुछ अन्य क्षेत्रों में विद्रोह भड़क उठा। नर्मदा नदी के दक्षिणी भाग व्यवहारत: शान्त रहे। यद्यपि विद्रोहियों को जनसाधारण की सहानुभूति मिल रही थी, परन्तु व्यापारी, शिक्षित वर्ग तथा भारतीय शासक वर्ग ने उनका समर्थन करने की बजाय अंग्रेजों का साथ दिया।

विद्रोह के प्रमुख केन्द्र एवं नेता

- **दिल्ली :** यहाँ विद्रोहियों को बख्त खाँ ने नेतृत्व प्रदान किया। सितम्बर 1857 में जनरल जॉन निकोल्सन ने दिल्ली पर पुन: अधिकार स्थापित किया, परन्तु लड़ाई के दौरान लगी चोट से उसकी मृत्यु हो गयी। लेफ्टिनेन्ट हॉजसन ने बहादुरशाह जफर के पुत्रों एवं पौत्र का वध कर दिया। बहादुर शाह को गिरफ्तार कर रंगून भेज दिया गया।
- **कानपुर :** इस केन्द्र में नेतृत्व प्रदान करने वालों में नाना साहब, राव साहेब, तात्याँ टोपे तथा अजीमुल्ला खाँ के नाम उल्लेखनीय हैं। सर ह्यूज व्हीलर ने नाना साहेब के फौज का मुकाबला किया, परन्तु 27 जून को उसने आत्मसमप्रण कर दिया। नाना साहेब ने संयम बरतने का वायदा किया था, परन्तु नौका में सवार कई अंग्रेजों तथा महिलाओं को बेरहमी से मार डाला गया। मेजर हैवलॉक ने 17 जुलाई को नाना साहेब को परास्त कर कानपुर पर पुन: कब्जा किया। ब्रिगेडियर नील ने प्रतिशोधात्मक कार्यवाही के दौरान कई भारतीयों को मार डाला। तात्याँ टोपे ने इस स्थान पर पुन: कब्जा किया, परन्तु अन्तत: अगस्त 1857 में नवनिर्वाचित सेनाध्यक्ष सर कॉलिन कैम्पबेल ने दिसम्बर, 1857 में इस स्थान पर पुन: कब्जा कर लिया।
- **लखनऊ :** इस केन्द्र में अवध की बेगम हजरत महल तथा अहमदुल्ला ने नेतृत्व प्रदान किया। 2 जुलाई 1857 को सर हेनरी लारेंस की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् हेवलॉक, नील तथा आउट्मम ने संयुक्त रूप से मोर्चा संभाला। नील तथा हैवलॉक मारे गये और तात्याँ टोपे ने लखनऊ पर अधिकार कर लिया। अन्तत: 21 मार्च, 1858 को सर कॉलिन कैम्पबेल ने लखनऊ पर पुन: अधिकार कर लिया।
- **झांसी :** रानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में हुए विद्रोह पर सर ह्यूरोज ने 4 अप्रैल, 1858 को विजय प्राप्त की। रानी लक्ष्मीबाई बच निकलने में सफल हुई तथा उन्होंने ग्वालियर पर कब्जा कर लिया। 17 जून, 1858 को रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु हो गयी तथा 20

विद्रोह के केन्द्र	विद्रोही नेता	विद्रोह दबाने वाले अंग्रेज जनरल	समय (समप्रण का)
दिल्ली	बहादुर शाह जफर/बख्त खां	जनरल हडसन, निकलसन	20 सितंबर, 1857
लखनऊ	बेगम हजरत महल	कैम्पबेल	1 मार्च, 1858
कानपुर	नाना साहब	कैम्पबेल	दिसंबर, 1857
जगदीशपुर	कुंवर सिंह	विलियम टेलर	मई, 1858
झांसी	लक्ष्मीबाई	ह्यूरोज	जून, 1858
ग्वालियर	तांत्याटोपे	ह्यूरोज	जून, 1858
फैजाबाद	मौलवी अहमदउल्ला	जनरल रेनर्ड	1858,
इलाहाबाद, ग्वालियर	लियाकत अली	कर्नल नील	1858
बरेली	खान बहादुर खान	बिसेंट आयर	1858

CHRONICLE IAS ACADEMY

जून, 1858 को सर ह्यूरोज ने ग्वालियर पर पुनः अधिकार कर लिया।

- **बरेली :** रोहिल्लाखण्ड के राजा के पौत्र खान बहादुर खाँ ने यहाँ विद्रोहियों को नेतृत्व प्रदान किया, परन्तु 5 मई, 1858 को कैम्पबेल ने बरेली पर कब्जा कर लिया।
- **आरा :** यहाँ विद्रोहियों का कुशल नेतृत्व कुँवर सिंह एवं उनके भाई अमर सिंह ने किया। विलियम टेलर एवं विन्सेंट आयर ने कुँवर सिंह पर विजय प्राप्त की। 9 मई, 1858 को कुँवर सिंह मारे गये।
- **फैजाबाद :** मौलवी अहमदुल्ला के नेतृत्व में यहाँ विद्रोह हुआ, परन्तु उसे दबा दिया गया।
- **बनारस एवं इलाहाबाद :** यहाँ के विद्रोह को नील ने दबाया।
- **मध्य भारत :** सर ह्यूरोज ने मध्य भारत तथा बुंदेलखण्ड पर अधिकार कर लिया, परन्तु तात्याँ टोपे ने संघर्ष जारी रखा। अन्ततः सिन्धिया के एक सामन्त मान सिंह ने धोखे से उन्हें पकड़वा दिया और 18 अप्रैल, 1859 को उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया। नाना साहेब, बेगम हजरत महल एवं खान बहादुर खाँ नेपाल भागने में सफल हुए, परन्तु वहाँ उनकी मृत्यु हो गयी। बख़्त खाँ 13 मई, 1859 को लड़ते-लड़ते शहीद हो गये। मौलवी अहमदुल्ला को पुवाय के राजा ने जून 1858 में धोखे से मार डाला।

विद्रोह की असफलता के कारण

1. 1857 का विद्रोह स्थानीय स्तर पर सीमित क्षेत्र में लड़ा गया। इस विद्रोह की असफलता का एक प्रमुख कारण इसका असंगठित होना भी है। सीमित एवं असंगठित था। नर्मदा के दक्षिण के प्रदेश विद्रोह में शामिल नहीं हुए। उत्तर भारत में भी सिन्ध और राजस्थान शांत रहे। पंजाब को जॉन लारेंस ने नियंत्रण में रखा। बम्बई (कुछ को छोड़ कर) और मद्रास की सेनाएं दिल्ली एवं कलकत्ता की सेनाओं के विपरीत राजभक्त रहीं। पश्चिमी बिहार, अवध, रुहेलखण्ड, दिल्ली तथा नर्मदा एवं चम्बल के मध्य के प्रदेश ही सब से अधिक प्रभावित हुए। विद्रोह के पूर्व किसी भी प्रकार की योजना या संगठन का अभाव था। विद्रोह के दौरान संगठन बनाने की कोशिश अवश्य की गयी, परन्तु ब्रिटिश प्रत्याक्रमण के सामने इन संगठनों को सुदृढ़ करना संभव नहीं हो सका।

संगठनात्मक अभाव के साथ-साथ विद्रोह में एकजुटता का भी अभाव था। भारत में सत्ता प्रमुखों में से एक प्रतिशत से कम प्रमुखों ने विद्रोह में हिस्सा लिया। बड़े-बड़े जमींदार विद्रोह से अलग रहे। इसके विपरीत ग्वालियर के सिन्धिया, इन्दौर के होल्कर, हैदराबाद का निजाम, जोधपुर का राजा तथा अन्य राजपूत शासक, भोपाल का नवाब, पटियाला, नाभा तथा जिन्द के शासक, पंजाब के सिख प्रमुख, कश्मीर का महाराजा, नेपाल के राजा आदि ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की मदद की। इसके अलावा व्यापारी वर्ग, भारत के उच्च-मध्यम वर्ग तथा शिक्षित वर्ग विद्रोह से अलग रहे। करीब-करीब आधे भारतीय सिपाहियों ने भी विद्रोह का साथ नहीं दिया, बल्कि अपने ही देशवासियों के खिलाफ लड़ाई की।

2. ब्रिटिश साम्राज्य के साधन विद्रोहियों के साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। इसके साथ-साथ अंग्रेजों के पास आधुनिकतम हथियार थे जो विद्रोहियों के पुराने बंदूकों, भालों एवं तलवारों से कहीं ज्यादा कारगर थे। अंग्रेजों ने विद्युत संचालित तार का प्रयोग भी बखूबी किया। इस कारण वे इस योग्य बन पाये कि देश के विभिन्न भागों से सूचना पा सकें तथा उसका विनिमय कर परिस्थिति के अनुसार अपनी कार्यपद्धति में परिवर्तन कर सकें।

3. 1857 के विद्रोह का स्वरूप मुख्यतः सामन्तवादी था, जिसमें राष्ट्रवाद के कुछ तत्व विद्यमान थे। जो चीज विद्रोहियों को एक सूत्र में जोड़ती थी, वह थी विदेशी हुकुमत के प्रति घृणा। लेकिन उनके पास न तो कोई राजनीतिक दृष्टि थी और न भविष्य का कोई साफ नक्शा। विद्रोहियों को उपनिवेशवाद के स्वरूप के बारे में जानकारी नहीं थी। उनके पास प्रगतिशील कार्यक्रम, एकल उद्देश्य, राजनीतिक विचारधारा या भविष्य के समाज तथा अर्थव्यवस्था की संकल्पना का सर्वथा अभाव था। विद्रोह में शमिल होने वाले तत्व अपने निजी असंतोष तथा ध्येय की पूर्ति के लिए इसमें शामिल हुए थे। विद्रोही प्रगति के बजाय पिछड़े युग में प्रवेश करना चाहते थे, जिससे समाज के प्रगतिशील मध्यम तथा शिक्षित वर्ग का समर्थन वह नहीं जुटा पाये।

4. विद्रोहियों में योग्य नेतृत्व का अपेक्षाकृत अभाव था। झाँसी की रानी, कुँवर सिंह, मौलवी अहमदुल्ला आदि ने सफल नेतृत्व प्रदान किया, परन्तु लॉरेन्स बन्धु, निकलसन, आउट्रम, हेवलॉक, एडवर्ड्स जैसे योग्य, प्रतिष्ठित व अनुभवी सेनापतियों के सामने वे नहीं टिक पाये।

1857 का विद्रोह अपने उद्देश्य को हासिल करने में असफल रहा, परन्तु किसी ऐतिहासिक घटना का महत्व उसकी तात्कालिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से 1857 के विद्रोह ने अपनी विफलता में भी एक महान उद्देश्य की पूर्ति की। विद्रोहियों ने अनुकरणीय साहस, समप्रण तथा प्रतिबद्धता का परिचय दिया और इस प्रकार यह विद्रोह, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का प्रेरणा स्रोत बना, जिसने वह हासिल कर दिखाया, जो विद्रोह हासिल नहीं कर सका।

विद्रोह का प्रभाव

यद्यपि 1857 का विद्रोह असफल रहा तथा अंग्रेजों ने इसका दमन कर दिया, परन्तु इसने अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया। लार्ड क्रोमर ने कहा था, ''काश! अंग्रेजों की युवा पीढ़ी भारतीय विद्रोह के इतिहास को पढ़े, ध्यान दे, सीखे और इसका मनन करे। इसमें बहुत से पाठ तथा चेतावनियां निहित हैं।'' 1857 के विद्रोह से शासन प्रणाली एवं सरकारी नीतियों में मूलभूत परिवर्तन आए।

1. सर्वप्रथम, 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियंत्रण कम्पनी से छीनकर ब्रिटिश राजमुकुट को सौंप दिया गया। यह परिवर्तन औपचारिक था न कि वास्तविक। इस अधिनियम द्वारा एक भारतीय राज्य सचिव का प्रावधान किया गया और उसकी सहायता के लिए एक 15 सदस्यों की मंत्रणा परिषद् का गठन किया गया। इस परिषद् में 8 सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत तथा शेष सात कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा चुने जाने थे। इस प्रकार पुराने डायरेक्टर्स ही भारत परिषद् में नियुक्त हो गये। इस घोषणा में कंपनी की पुरानी नीतियों का ही अनुसरण करने का प्रस्ताव किया गया। हालांकि इससे बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल का दोहरा नियंत्रण समाप्त कर दिया गया तथा सरकार ही सीधे भारतीय मामलों के प्रति उत्तरदायी हो गयी।

2. भारतीय रियासतों ने विद्रोह के तूफान को रोकने में बांध का काम किया था। अतः महारानी की घोषणा में 'क्षेत्रीय सीमा विस्तार' की नीति को समाप्त कर दिया गया। इसके साथ-साथ स्थानीय राजाओं के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा की गयी सन्धियों एवं पाबन्दियों को संपुष्ट किया गया। स्थानीय राजाओं के अधिकारों, प्रतिष्ठा एवं

CHRONICLE IAS ACADEMY

सम्मान का आदर करने का वचन भी दिया गया। ब्रिटिश प्रजा जनों की हत्या के दोषी अपराधियों को छोड़, बाकी सभी अपराधियों को सामान्य राजकीय क्षमा प्रदान की गयी। इस प्रकार 9 नवम्बर, 1858 को लार्ड कैनिंग ने रानी के जिस घोषणा पत्र का एलान इलाहाबाद के दरबार में किया, उसे भारतीय जनता का महान अधिकार पत्र (मैग्नाकार्टा) माना गया।

3. अंग्रेजों ने महसूस किया कि उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप किया था। इसके फलस्वरूप सरकार ने न्याय, उदारता एवं धार्मिक सहिष्णुता की नीति की घोषणा की। सरकार को यह आदेश दिया गया कि वह प्रजा के धार्मिक विश्वास या पूजा में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से बचे।

4. 1858 की घोषणा में एलान किया गया कि सभी 'चाहे वे किसी भी नस्ल या धार्मिक विश्वास के हों, धड़ल्ले से एवं निष्पक्षता के साथ सरकारी पदों पर नियुक्त हो सकते हैं, बशर्ते वे अपनी शिक्षा, क्षमता और ईमानदारी के द्वारा उन पदों के कर्तव्यों को उचित रूप से निभाने के योग्य हों।' इसी प्रतिज्ञा के फलस्वरूप 1861 में भारतीय लोक सेवा अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक वर्ष लन्दन में एक प्रतियोगिता परीक्षा आयोजित करने का फैसला किया गया, जिससे संभावित लोक सेवा में भर्ती की जा सके। इस महत्वपूर्ण कदम के बावजूद जो विस्तृत नियम इस परीक्षा के लिए बनाए गये, उनसे केवल अंग्रेजों को ही लाभ मिल सका तथा उनका वर्चस्व बना रहा।

5. इस विद्रोह में भारतीय सेना ने प्रमुख भूमिका निभाई थी तथा वही इसके लिए उत्तरदायी थी। अत: इसका पुनर्गठन 'विभाजन और प्रतितोलन' की नीति पर किया गया। 1861 की 'सेना सम्मिश्रण योजना' के द्वारा कंपनी की यूरोपीय सेना, सरकार को हस्तांतरित कर दी गयी। यूरोपीय सैनिकों की संख्या 40,000 से बढ़ा कर 65,000 कर दी गयी तथा भारतीय सेना की संख्या 2,38,000 से घटा कर 1,40,000 कर दी गयी। बंगाल प्रेसिडेंसी में यूरोपीय एवं भारतीय सेना का अनुपात 1:2 तथा बम्बई एवं मद्रास में यह अनुपात 1:3 निश्चित किया गया। सेना के मुख्य पद यूरोपीयों के लिए सुरक्षित कर दिये गये।

6. शासक एवं शासितों के बीच सम्पर्क बनाने के लिए स्थानीय तत्वों को विधान परिषद् में शामिल करने का निर्णय लिया गया। इस नीति के फलस्वरूप 1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया गया।

7. विद्रोह के पश्चात् प्रादेशिक विस्तार के स्थान पर आर्थिक शोषण का युग आरंभ हुआ।

8. विद्रोह के दौरान हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच असाधारण एकता से ब्रिटिश चिंतित हो उठे। इससे निपटने के लिए उन्होंने 'फूट डालो एवं राज्य करो' की नीति अपनायी। इसके अन्तर्गत रियासतों को रियासतों से, राजाओं को प्रजा से, जाति को जाति से तथा हिन्दुओं को मुसलमानों से अलग करने के लिए भड़काऊ नीतियों का पालन किया गया।

विद्रोह का चरित्र या स्वरूप

1857 के विद्रोह के स्वरूप को लेकर इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। ज्यादातर अंग्रेजी इतिहासकार इसे सैन्य विद्रोह की संज्ञा देते हैं, जिसे जनसाधारण का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने जनता की भूमिका पर अधिक बल दिया है। कुछ चुने हुए महत्वपूर्ण विचार निम्नलिखित हैं:

1. के, लारेन्स, मालेसन, ट्रेविलियान, होम्ज, सीले, मुंशी जीवन लाल, मुइनुद्दीन, दुर्गादास बंदोपाध्याय तथा सर सैयद अहमद खाँ के अनुसार यह एक ऐसा सैन्य विद्रोह था जिसे जन-साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। सर जान लारेन्स एवं सीले के अनुसार यह विद्रोह एक पूर्णतया देशभक्ति रहित स्वार्थी सैनिक विद्रोह था, जिसमें न कोई स्थानीय नेतृत्व था और न ही इसे जनसाधारण का समर्थन प्राप्त था। उनके अनुसार यह एक संस्थापित सरकार के विरूद्ध भारतीय सेना का विद्रोह था। यह विचार त्रुटिपूर्ण है। यह सर्वविदित है कि विद्रोह को आरम्भ करने का श्रेय सेना को जाता है, परन्तु यह सेना तक सीमित नहीं था। सभी सेनाओं ने विद्रोह नहीं किया। देश के कुछ हिस्सों में यथा बिहार, अवध आदि में इसे जनता का सहयोग प्राप्त हुआ। 1858-59 के अभियोगों में सैनिकों के साथ-साथ असैनिक वर्ग भी दोषी पाये गये। इससे सिद्ध होता है कि असैनिक वर्ग ने भी इस विद्रोह में हिस्सा लिया था।

2. **एल.आर. रीज** ने इसे धर्मांधों का 'ईसाइयों के विरूद्ध धर्म युद्ध' कहा है। यह कथन भी त्रुटिपूर्ण है। माना कि दोनों दलों ने अपनी-अपनी ज्यादतियों को छिपाने के लिए अपने धार्मिक ग्रंथों का आश्रय लिया, परन्तु इससे किसी धर्म की जीत नहीं हुई। ईसाई जीत गये परन्तु ईसाई धर्म नहीं जीता, इसी तरह हिन्दू और मुसलमान हार गये पर हिन्दू और मुस्लिम धर्म नहीं पराजित हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों को भी धर्म परिवर्तन कराने में विशेष सफलता नहीं मिली। ईसाई अंग्रेजों के साथ भारतीय धर्म के लोगों ने भी क्रान्ति के दमन में योगदान दिया।

3. **टी.आर. होम्स** ने इसे 'बर्बरता तथा सभ्यता के बीच युद्ध' बताया है। यह विचारधारा जातिभेद के पूर्वाग्रह से ग्रसित है। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों के साथ-साथ भारतीयों ने भी ज्यादतियां कीं। परन्तु अंग्रेजों की तुलना में उनके द्वारा किये गये अपराध कहीं कम जघन्य तथा बर्बर थे। ऐसी बर्बरता करने वाले समाज को कदापि सभ्य नहीं कहा जा सकता है। अत: यह तर्क भी भ्रांतिपूर्ण है।

4. **सर जेम्स आउट्रम तथा डब्ल्यू टेलर** ने इस विद्रोह को 'हिन्दू मुस्लिम षडयंत्र का परिणाम' बताया है। उनके विचार में यह एक मुस्लिम षडयंत्र था, जिसमें हिन्दू शिकायतों का लाभ उठाया गया।

5. इंग्लैंड में समकालीन रूढ़िवादी दल के नेता बेंजामिन डिजरैली ने इसे एक 'राष्ट्रीय विद्रोह' कहा है। उनके अनुसार यह विद्रोह एक आकस्मिक प्रेरणा नहीं था, अपितु एक सचेत संयोग का परिणाम था। वह एक सुनियोजित और सुसंगठित प्रयत्नों का परिणाम था। इसका कारण मात्र चर्बी वाला कारतूस नहीं था। ऐसे विद्रोह उचित एवं पर्याप्त कारणों के एकत्रित होने से होते हैं। **अशोक मेहता** ने भी अपनी पुस्तक 'द ग्रेट रिबेलियन' में इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' कहा है। वीर सावरकर ने भी इसे 'सुनियोजित स्वतंत्रता संग्राम' कहा है। इससे पहले के छोटे विद्रोह 1857 में होने वाले नाटक के पूर्वाभ्यास मात्र थे।

6. **डा० एस.एन. सेन- डा० आर.सी. मजुमदार विवाद :** इन दो आधुनिक इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के स्वरूप को लेकर अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। मतभेद के बावजूद दोनों विद्वान इस बात से सहमत हैं कि विद्रोह पूर्ण-योजना का परिणाम नहीं था और न ही इसके पीछे कोई कुशल और सिद्धहस्त व्यक्ति था। नाना साहब का लखनऊ जाना, अजीमुल्ला खाँ का तुर्की तथा क्रीमिया में उमर पाशा से मिलना या चपातियों और कमल के फूलों द्वारा संदेश प्रेषित करना, किसी निश्चित योजना को प्रमाणित नहीं करते हैं। दोनों

CHRONICLE IAS ACADEMY

विद्वान इस बात पर भी सहमत हैं कि उस वक्त भारतीय राष्ट्रीयता भ्रूणावस्था में थी। डा० सेन के मुताबिक उस वक्त भारत एक भौगोलिक कथन मात्र था। विभिन्न क्षेत्र के लोगों ने कभी भी यह अनुभव नहीं किया कि वे एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। अधिकांश नेता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए लड़ रहे थे। बहादुर शाह को नेतृत्व प्रदान करने पर विवश किया गया, बाजीराव द्वितीय विद्रोह के दौरान ब्रिटिशों से बात करने को तैयार था, यदि उनकी पेंशन स्वीकार कर ली जाती। अवध के तालुकेदारों ने अपने सामंतशाही अधिकार के लिए युद्ध किया न कि राष्ट्रीय हित के लिए। अधिकांश जगहों पर इन्हें जनता का समर्थन भी प्राप्त नहीं हुआ।

डा० आर.सी. मजुमदार के अनुसार 1857 का विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम नहीं था। विद्रोह ने भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप धारण किया। पंजाब एवं मध्य प्रदेश में यह मात्र एक सैनिक विद्रोह था। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के कुछ भागों तथा बिहार में सैनिक विद्रोह के पश्चात् यह एक सर्वसाधारण विद्रोह हो गया। इसके अलावा कुछ स्थानों पर जनता ने विद्रोह के प्रति सहानुभूति प्रकट की, पर इसमें शमिल नहीं हुई। डा० मजुमदार इस बात पर भी अधिक बल देते हैं कि अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ने वाले केवल सैनिक ही थे, जो अपनी शिकायतों के कारण लड़ रहे थे। उनमें देशप्रेम या स्वतंत्रता प्राप्त करने के उद्देश्य का अभाव था। डा० मजुमदार ने अन्ततः यह स्वीकार किया है कि इस विद्रोह के दूरगामी प्रभाव से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ।

इसके विपरीत डा० सेन अमेरिकी तथा फ्रांसीसी क्रान्ति का हवाला देते हुए कहते हैं कि यह एक स्वतंत्रता संग्राम ही था, क्योंकि क्रान्तियां प्रायः एक छोटे से वर्ग का कार्य होती हैं, जिसे जनता का समर्थन प्राप्त होता भी है और नहीं भी होता है। उनका मानना है कि यह विद्रोह एक सैनिक विद्रोह के रूप में आरम्भ हुआ तथा उसने शीघ्र ही स्वतंत्रता संग्राम का रूप ले लिया तथा विद्रोहियों का लक्ष्य विदेशी सरकार को समाप्त कर प्राचीन व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना था।

डा० मजुमदार इससे सहमत नही हैं तथा उनका विचार है कि यह तथाकथित प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम न तो प्रथम, न ही राष्ट्रीय और न ही स्वतंत्रता संग्राम था।

7. **डा० एस.बी. चौधरी** के अनुसार हम इस विद्रोह को दो भागों में बाँट सकते हैं, सैनिक विप्लव तथा विद्रोह। विद्रोह सैनिक तथा असैनिक अशांतियों का परिणाम था। दोनों स्वतंत्र कारणों से आरम्भ हुए।

8. मार्क्सवादी लेखकों के अनुसार 1857 का विद्रोह सैनिक तथा कृषकों का प्रजातांत्रिक गठजोड़ था और यह सामन्तशाही दासता से मुक्ति प्राप्त करना चाहता था। इस विद्रोह की असफलता का प्रमुख कारण सामन्तवादी विश्वासघात था। यह कथन सर्वाधिक त्रुटिपूर्ण है क्योंकि विद्रोह के पीछे आदर्शवाद या कार्यक्रम नहीं था।

9. **लाला लाजपत राय** ने 'यंग इंडिया' में लिखा है कि 1857 की क्रान्ति राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दोनों थी।

10. **नेताजी सुभाषचन्द्र बोस** के अनुसार 1857 की घटना केवल सैनिक विद्रोह नहीं थी, वरन् एक राष्ट्रीय क्रान्ति थी। डा० पट्टाभि सीतारमैया, के.एम.पनिक्कर और डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी यही मत व्यक्त किया है।

11. **ऐरिक स्टोक्स** के अनुसार यह एक निरुद्देश्य विद्रोह था जिसने एक ऐसे समाज को घेर लिया जो आधुनिकीरण के आरम्भिक चरणों में था।

चर्चित पुस्तकें

1. आर.सी. मजुमदार : द सिपोय म्यूटनी एण्ड द रिवोल्ट ऑफ 1857
2. एस.एन. सेन : 1857
3. एस.बी. चौधरी : थ्योरीज आफ द इंडियन म्यूटिनी, 1857 तथा सिविल रिबेलियंस इन द इंडियन म्यूटिनी
4. ऐरिक स्टोक्स : पीजेन्ट एण्ड द राज
5. पी.सी. जोशी : रिबेलियन 1857
6. एच.पी. चटोपाध्याय : द सिपोय म्यूटिनी ऑफ 1857, ए सोशल एनेलिसिस
7. अशोक मेहता : द ग्रेट रिबेलियन
8. के.के. सेनगुप्त : रीसेन्ट राइटिंग्स ऑन द रिवोल्ट ऑफ 1857
9. विनायक दामोदर सावरकर : 1857 का भारतीय स्वातन्त्र्य समर
10. टी.आर. होम्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्यूटिनी
11. जे.डब्ल्यू. के. : ए हिस्ट्री ऑफ द सिपोय वार इन इंडिया
12. जी.बी. मालेसन : इंडियन म्यूटिनी ऑफ 1857
13. एच.मीड : द सिपोय रिवोल्ट, इट्स कॉज़ेज़ एण्ड कॉनसिक्वेंसेज
14. कालिकिंकर दत्त : बायोग्राफी ऑफ कुंवर सिंह
15. सर सैयद अहमद खाँ : कॉज़ेज ऑफ द इंडियन रिवोल्ट
16. चार्ल्स बॉल : हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी
17. फॉरेस्ट : हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्यूटिनी
18. के एवं मैलेसन : हिस्ट्री ऑफ द सिपोय वार इन इंडिया

स्मरणीय तथ्य

- बहादुर शाह जफर की बेगम जीनत महल ने एक संदेशवाहक के रूप में ब्रिटिशों की सहायता की थी।
- नाना साहब का असली नाम धोंधू पंत था।
- 1856 में अंग्रेजों ने तीन महत्वपूर्ण अधिनियम लागू किये थे-हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, धार्मिक अयोग्यता अधिनियम तथा सामान्य सेना भर्ती अधिनियम।
- 1857 के विद्रोह के शुरू होने के समय ब्रिटिश सेना में यूरोपीय एवं भारतीय सैनिकों का अनुपात 1:6 था।
- जनवरी, 1857 में ही सेना में नवीन एन्फील्ड राइफलों का उपयोग शुरू हुआ। इसे 1856 में ब्राउन बेस बन्दूक के स्थान पर लाया गया था।
- विद्रोह के शुरू होने के समय कर्नल मिचेल बेहरमपुर का, जनरल हियरसे बैरकपुर का, जनरल हिविट मेरठ का तथा सर ह्यूज व्हीलर कानपुर का कमांडिंग अफसर था।
- निम्नलिखित सैन्य अफसरों ने विद्रोह स्थलों पर पुनः कब्जा किया-
  दिल्ली : जान निकोलसन
  कानपुर : कॉलिन कैम्पबेल (हैवलॉक के पश्चात्)
  लखनऊ : कॉलिन कैम्पबेल
  झांसी : ह्यूरोज, इलाहाबाद : नील
  ग्वालियर : ह्यूरोज, बरेली : कॉलिन कैम्पबेल
  आरा : विलियम टेलर, बनारस : नील
- फैजाबाद में विद्रोहियों को नेतृत्व प्रदान करने वाला मौलवी अहमदुल्ला मद्रास का मूल निवासी था।
- विद्रोह की लहर बंगाल, बम्बई एवं दिल्ली में चली। केवल मद्रास इससे अछूता रहा।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- इस विद्रोह में किसान, दस्तकार, धर्मगुरु, नौकरीपेशा वाले तथा दूकानदार शामिल हुए परन्तु व्यापारी, शिक्षित लोग तथा भारतीय शासक असंपृक्त रहे।
- करीब आधे भारतीय सिपाहियों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की।
- देश के एक प्रतिशत प्रमुखों ने ही इस विद्रोह में हिस्सा लिया।
- बहादुरशाह ने हुमायूँ के मकबरे में शरण ली थी, जहाँ से उसे पकड़ कर रंगून भेज दिया गया।
- जनरल ह्यूरोज ने रानी लक्ष्मीबाई के संदर्भ में कहा था कि वही विद्रोहियों में एकमात्र मर्द थी।
- विद्रोह को दबाने में मुख्य रूप से सिंधिया एवं उसके मंत्री सर दिनकर राय, निजाम एवं उसके मंत्री सर सलार जंग, होल्कर, कश्मीर के शासक गुलाब सिंह, भोपाल की बेगम, नेपाल के प्रधानमंत्री सर जंग बहादुर, जोधपुर के राजा, राजपुताना के अन्य राजाओं ने अंग्रेजों का साथ दिया।
- अवध में विद्रोह के समय वहाँ का चीफ कमीश्नर सर हेनरी लॉरेन्स था।
- विद्रोह के समय भारत का गवर्नर लार्ड कैनिंग था।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम : प्रथम चरण

अंग्रेजी राज्य का प्रभाव

भारत के विशाल साम्राज्य को हथिया लेने के बाद इस पर नियंत्रण रखने और शासन चलाने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी और बाद में अंग्रेजी सरकार को कई तरह के हथकंडे इस्तेमाल करने पड़े। 200 वर्षों की इस लम्बी अवधि के दौरान अंग्रेजों की नीति अक्सर बदलती रही। फिर भी अंग्रेजों ने अपना मुख्य लक्ष्य कभी आंखों से ओझल नहीं होने दिया। ये लक्ष्य थे- कम्पनी तथा अंग्रेजों की मुनाफे में बढ़ोत्तरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए फायदेमंद बनाना तथा भारत पर ब्रिटिश पकड़ को कायम रखना और उसे सुदृढ़ करना। इसके अतिरिक्त उनके जितने भी उद्देश्य थे वे इन उद्देश्यों की मदद के लिए थे। यद्यपि अंग्रेजों ने इन उद्देश्यों को कभी स्वीकार नहीं किया, बल्कि उन्होंने 'पितृवाद' (Paternalism) और 'गोरे लोगों का बोझ' (White men's burden) का सिद्धान्त पेश किया। यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाये तो स्पष्ट होता है कि 'भारत का शोषण' और 'चाहे अनचाहे कुछ लाभप्रद प्रभाव' दोनों ही सत्य हैं।

भारतीय जीवन पर अंग्रेजी राज्य के प्रभाव के विषय में वाद-विवाद 19वीं सदी के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ। दादाभाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, डी. ई. वाचा तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे राष्ट्रवादी लेखकों ने भारत में अंग्रेजी राज्य का मूल्यांकन किया और वे इस निश्चय पर पहुंचे कि अंग्रेज हर तरह से भारत का शोषण कर रहे हैं और भारतीय धन की निकासी कर रहे हैं। इस राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विरोध करने के लिए जे.एल.स्टीफन, जॉन स्टैची तथा डब्ल्यू.डब्ल्यू हंटर जैसे अंग्रेज इतिहासकारों ने पितृवाद (Paternalism) तथा प्रन्यासवाद (Trusteeship) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया और कहा कि अंग्रेज तो केवल भारत को 'सभ्य बनाने' का उद्देश्य ही निभा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने भारतीय जीवन पर अंग्रेजी नीतियों के प्रभाव की अनदेखी की थी। भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कुछ ऐसे अंग्रेज इतिहासकार भी हुए हैं जिन्होंने अंग्रेजों की भारत को लूटने तथा रचनात्मक भूमिका के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि अंग्रेजों के राज्य की प्रतिक्रिया के रूप में भारत में राजनीतिक जीवन का उत्थान हुआ और इसी में उस राज्य की सफलता है।

अंग्रेजों की भारत विजय पहले की सभी विजयों से भिन्न तथा अधिक गंभीर थी। पूर्व विजेता अरब, तुर्क तथा मुगल, जिन्होंने भारत को रौंद डाला, अधिक उत्तम भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए लेकिन जब अंग्रेजों ने भारत को विजित किया तो उनका भारतीय संस्कृति से प्रभावित होना कठिन था, क्योंकि वे यूरोप के सबसे समृद्ध देश थे। पहले के विजेताओं, जिन्होंने भारत को ही अपना घर बना लिया, से भिन्न अंग्रेजों ने भारतीय आर्थिक साधनों का अपने देश अर्थात् इंग्लैंड को समृद्ध बनाने के लिए प्रयोग किया। भारत पर प्राचीन आक्रमणों की अंग्रेजी आक्रमण से तुलना करते हुए *कार्ल मार्क्स* ने लिखा था-

"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अंग्रेजों द्वारा भारत पर किया गया अत्याचार इन सभी अत्याचारों से कहीं अधिक कड़ा तथा भिन्न है, जो कि भारत को आज तक सहना पड़ा है.....। इंग्लैंड ने तो भारतीय समाज का सम्पूर्ण ढांचा ही भंग कर दिया है।" पहले के आक्रान्ताओं ने भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक आधार को नहीं बदला था और उनमें से अधिकांश भारतीय जीवन का अंग बन गये थे। अंग्रेजी विजय ने तो भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक आधार ही तोड़ दिया। ये लोग सदैव विदेशी रहे।

भारतीय जीवन में जो भी राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा बौद्धिक परिवर्तन पिछले दो सौ वर्षों में देखने को मिले, वे अंग्रेजों ने परोपकार की भावना से प्रेरित होकर नहीं किये, बल्कि वे तो साम्राज्यवादी शासकों के भारत पर और भी अधिक दृढ़ जकड़ स्थापित करने हेतु किये गये प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप हुआ। दूसरे शब्दों में भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन अंग्रेजों की अनिच्छा से आये अथवा आकस्मिक आये। संक्षेप में अंग्रेजी राज्य का भारत पर प्रभाव इस प्रकार का था :

(1) आर्थिक प्रभाव (Economic impact) : भारत में अंग्रेजी राज्य का आर्थिक प्रभाव काफी हानिप्रद एवं घिनौना है। जब अंग्रेज भारत से लौटे तो भारत आर्थिक रूप से अविकसित देश का चित्र प्रस्तुत करता था जिसमें भुखमरी, निर्धनता तथा बहुत कम राष्ट्रीय आय थी। अंग्रेजी राज के कारण 19वीं शताब्दी के अंत तक भारत एक विशेषवर्गीय उपनिवेश बन गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक जीवन अंग्रेजी अर्थव्यवस्था तथा समाज के अधीन हो गया। 1760 के पश्चात् ही जब इंग्लैंड का विकास संसार के सबसे प्रमुख पूंजीपति देश के रूप में हो रहा था, तब भारत संसार का सबसे पिछड़ा हुआ उपनिवेशीय देश बनने की ओर अग्रसर हो रहा था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन भारतीय कृषि की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया, क्योंकि कम्पनी की आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर ही था। कम्पनी ने अधिकाधिक कर प्राप्त करने की इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रयोग किये। उन्होंने 'खुली नीलामी' की पद्धति (वारेन हेस्टिंग्स के समय) अपनायी जिसमें अधिकाधिक कर देने वालों को भूमि दे दी जाती थी। यह पद्धति असफल रही। कार्नवालिस ने 1793 में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में *'स्थायी भूमि कर व्यवस्था'* (Permanent Sattlement) लागू कर दी। इसके पश्चात् बम्बई तथा मद्रास के अधिकतर भागों में 'रैयतवाड़ी व्यस्वस्था' लागू की गयी और फिर यू.पी. में 'महलवाड़ी पद्धति' (जो जमींदारी पद्धति का परिवर्तित रूप था) लागू की गयी। जमींदारी पद्धति ने 'अनुपस्थित भूमिदारों' (Absentee Landlord) को बढ़ावा दिया जिससे सरकार और कृषक के बीच कई मध्यवर्ती कारिन्दे उपस्थित हो गये, जिससे कृषक पर और अधिक बोझ बढ़ गया। रैयतवाड़ी पद्धति में भी कर की दर अधिक थी और समय-समय पर उसे बढ़ा दिया जाता था, जिससे भारतीय ग्रामों में ब्याज खाने वाले साहूकार अस्तित्व में आ गये। ग्रामीण ऋणग्रस्तता (Rural indebtnese), खेती की प्राचीन पद्धति, अपर्याप्त सिंचाई व्यवस्था, इन सभी से ग्रामीण लोग अत्यधिक

CHRONICLE IAS ACADEMY

निर्धन हो गये। सूखे तथा अकाल प्राय: पड़ जाते थे और जान माल की बहुत हानि होती थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 24 बड़े अकाल भारत में पड़े और लगभग 3 करोड़ लोग मर गये। इतना ही नहीं उद्योगों के विनाश से जो लोग बेकार हुए, उनसे भी कृषि पर बोझ बढ़ा। सरकार ने कृषि व्यवस्था में सुधार के लिए कोई प्रयास नहीं किया।

अंग्रेजों के आने से सबसे अधिक हानि उद्योगों को ही हुई। अंग्रेजों ने न सिर्फ भारतीय उद्योगों को समाप्त किया, बल्कि भारतीय बाजार भी अंग्रेजी उत्पादों से पाट दिया। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में व्हिग सरकार ने भारतीय कपड़ों पर अत्यधिक आयात शुल्क लगाये। प्लासी युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने बंगाल की मण्डियों से न सिर्फ अपने प्रतिद्वंद्वियों (फ्रांसीसी, डच आदि) को हटाया, बल्कि भारतीय व्यापारियों को इतना थोड़ा मूल्य देने लगे कि शिल्पियों ने माल ही बनाना बंद कर दिया। जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई तो वहां के मालों को थोड़े से अथवा बिल्कुल नहीं के बराबर आयात शुल्क के साथ भारत में आने दिया गया। इस प्रकार भारतीय उद्योग लगभग समाप्त हो गया।

विलियम बैंटिंक ने भी स्वीकार किया था कि, 'भारतीय शिल्पियों की हड्डियां भारत के मैदानों में सूख रही हैं।' इसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने भी कहा था कि "अंग्रेजी घुसपैठियों ने भारतीय करघों को तोड़ दिया और चरखे का सर्वनाश कर दिया।" भारत का दुर्भाग्य यह था कि पुराना संसार तो समाप्त हो गया और नया बनने नहीं दिया गया। भारतीय औद्योगीकरण की योजना की तो बात ही क्या, अंग्रेजों ने प्रयत्न यह किया कि भारत को अंग्रेजी उद्योगों के लिए एक कृषि क्षेत्र (agricultural farm) बना दिया जाये। अंग्रेजों ने जान-बूझकर भारतीय अर्थव्यवस्था का 'ग्रामीणीकरण' (ruralçation) तथा 'कृषिकरण' (Peasantçation) किया। जो कुछ भी भारतीय उद्योग प्रथम विश्व युद्ध के कारण पनपे, उन्हें 1929-30 के आर्थिक मंदी ने समाप्त कर दिया। क्योंकि बैंकों के धनों पर अंग्रेजों का ही नियंत्रण थ। यह सत्य है कि कपड़ा, सीमेंट, पटसन, कागज, चीनी, कच्चा लोहा आदि उद्योग भारत में आरंभ हो चुका थे परंतु देश इस्पात, भारी इंजीनियरिंग तथा धातु उद्योगों में बहुत पीछे था। भारत में इंग्लैंड की वास्तविक भूमिका केवल साम्राज्यवादी थी। इंग्लैंड का प्रमुख उद्देश्य केवल आर्थिक शोषण था।

(2) राजनीतिक प्रभाव (Political Impact) अंग्रेजी इतिहासकारों ने लिखा है कि, अंग्रेजी शक्ति ने भारत की तीन अमूल्य सेवाएं कीं। प्रथम यह कि इसने भारत को एक पक्की राजनीतिक एकता प्रदान की, जो कि भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं थी। दूसरे, इसने भारत को अखण्ड शांति का युग दिया और तीसरे, इस साम्राज्य ने भारतीय लोगों को "विधि के राज्य" (Rule of Law) के अधीन निष्पक्ष तथा अपरिवर्तनशील न्याय दिलाया जो कि स्वस्थ राजनीतिक जीवन का आधार है और जिसने असंख्य मनमानी करने वाले निरंकुश राजाओं का स्थान ले लिया है।

एक दृढ़ केन्द्रीय सरकार के अधीन भारत की राजनीतिक एकता स्थापित होना संभवत: अंग्रेजी राज्य की सबसे प्रमुख देन थी। यदि अंग्रेजी भारतीय प्रांत प्रत्यक्ष साम्राज्यीय शासन में थे तो भारतीय रियासती प्रदेश उनके अप्रत्यक्ष शासन में थे। अंग्रेज सत्य में ही यह गर्व कर सकते थे कि उनके अधीन मौर्य अथवा मुगल साम्राज्य से अधिक प्रदेश थे। ब्रिटेन ने भारत को शांति भी दी क्योंकि उसके पास एक सुदृढ़ सेना तथा पुलिस दल था। यह अलग बात है कि इसका आर्थिक बोझ भारतीयों को ही वहन करना पड़ता था तथा इनका प्रयोग लोकप्रिय आन्दोलनों को दबाने के लिए भी किया जाता था।

अंग्रेजी राज्य का एक अन्य प्रभाव भारतीय राष्ट्रवाद की भावना का उत्पन्न होना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का पनपना था। साम्राज्यवादी शासकों को समस्त देश के लिए एक-सी शासन प्रणाली स्थापित करने पर बाध्य होना पड़ा और उन्होंने सैनिक संरक्षण तथा आर्थिक शोषण के लिए सड़कों, रेलों तथा डाक-तार की सुचारू व्यवस्था स्थापित की। इससे भारत में एकता स्थापित हुई। शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय हुआ और समाचार पत्रों का विकास हुआ। इन सभी ने राष्ट्रवाद, जातीयता, राजनीतिक अधिकार इत्यादि आधुनिक धारणाओं को बढ़ावा दिया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी सम्पूर्ण भारत के लिए एक राजनीतिक संस्था के लिए आधार बनाया।

यह भी सत्य है कि साम्राज्यवादियों का यह प्रयत्न रहा था कि कांग्रेस एक राजभक्त तथा अहानिकर संस्था बनी रहे, लेकिन जब इसने अंग्रेजों को भारत पर राज्य करने को ही चुनौती देनी आरंभ कर दी तो वे इसके घोर विरोधी हो गये। भारतीय राष्ट्रवाद का विकास अंग्रेजों के मन को कभी नहीं भाया। उन्होंने अनेक तरह से इसे दबाने का प्रयत्न किया। अंग्रेज शासक वर्ग कांग्रेस को हिन्दू संस्था ही मानता रहा और उन्होंने मुसलमानों को राजनीतिक आन्दोलन से दूर रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने आरक्षण आदि के नाम पर राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को विषैला बनाने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय राजनीतिक जीवन में भारतीय राजाओं को एक तीसरी इकाई के रूप में लाकर खड़ा किया। इस प्रकार अंग्रेजी नीतियों ने भारतीय राष्ट्रीयता के मूल पर ही कुठाराघात किया और अंग्रेज जो एक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली भारत के निर्माण पर गर्व करते थे, जाने के पहले इसके टुकड़े-टुकड़े कर गये।

इंग्लैंड ने यह भी दावा किया कि उसने महान प्रजातंत्रीय उद्देश्य से भारत में संसदीय प्रणाली प्रारंभ की। उन्होंने पूर्वी निरंकुशता के स्थान पर उदारवादी प्रणाली का विकास किया, जिसका प्रारंभ वे विलियम बैंटिक के काल से मानते हैं। उनके अनुसार भारत में प्रतिनिधि प्रणाली 1861, 1892 तथा 1909 के एक्टों द्वारा तथा स्वशासन की ओर प्रयत्न भारत सरकार अधिनियम 1919 तथा भारत सरकार अधिनियम 1935, द्वारा किये गये। सत्य तो यह है कि पूर्वी निरंकुशता का स्थान अंग्रेजी निरंकुशता ने ले लिया। उपनिवेशवादी शासकों ने अंग्रेजी निरंकुशतावाद को एक वैधानिक रूप देकर इसे 'संवैधानिक निरंकुशवाद' (Constitutional Autocracy) बना दिया।

संभवत: अंग्रेजी राज्य का सबसे अधिक स्थायी प्रभाव विधि तथा प्रशासन के क्षेत्र में है। अंग्रेजों ने अपने प्रदेशों में 'विधि का शासन' (Rule of Law) लागू किया। सभी व्यक्तियों को निजी स्वतंत्रता (Personal Liberty) प्राप्त थी। जाति-पांति में बंधे हुए समाज में यह अनोखी बात थी कि कानून की नजर में सभी व्यक्ति समान हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने विधि को संहिताबद्ध भी किया। 1859 में व्यवहार संहिता (Civil Procedure code) तथा 1861 की दण्ड प्रक्रिया संहिता (code of criminal procedure) में स्पष्ट तथा निश्चित शब्दों में लिख दिया गया और सभी बड़े छोटे लोगों पर जाति, वर्ग, धर्म के भेदभाव रहित समान रूप पर लागू है। इसी प्रकार अंग्रेजों ने श्रेणीबद्ध रूप से न्यायालयों का गठन किया, जिनमें उच्च न्यायालयों तथा प्रिवी कौन्सिल तक अपील करने की अनुमति थी। इस व्यवस्था में कुछ त्रुटियां भी थीं। यह जटिल थी तथा साधारण व्यक्ति की समझ से परे थी। यह बहुत महंगी व्यवस्था थी जिसनें छल-कपट का बोलबाला था। विलम्ब इस व्यवस्था का सबसे त्रुटिपूर्ण पक्ष था। फिर भी इस व्यवस्था का सबसे घृणित पक्ष था यूरोपीय लोगों के मामलों को निपटाने के लिए विशेष प्रावधान। *इलबर्ट बिल* ने इस घृणित व्यवस्था को दूर करने का प्रयत्न किया, जिससे यह और भी अस्पष्ट हो गया।

भारतीय जनपद सेवा (India Cicil Service) का गठन तथा पुलिस व्यवस्था को अंग्रेजी देन ही माना जाता है। यह सही है कि भारतीय जनपद सेवा के अधिकारी कई बार सत्य और निष्ठा के ऊंचे मानदण्डों का प्रमाण देते रहे हैं। फिर भी इसमें भारतीय दृष्टिकोण से कई त्रुटियां थीं जैसे परीक्षा का केवल लन्दन में होना, आयु का कम होना, पाठ्यक्रम का अंग्रेजी प्रतियोगिता के अनुरूप होना आदि। उसी प्रकार जब कार्नवालिस ने यहां पुलिस व्यवस्था

CHRONICLE IAS ACADEMY

को आधुनिक बनाया तो यह व्यवस्था तत्कालीन ब्रिटेन से भी आगे हो गयी। उस समय तक ब्रिटेन में भी पुलिस व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। लेकिन यहां भी भारतीय को सभी ऊंचे पदों से अलग रखा गया। जब राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय हुआ तब पुलिस का इस्तेमाल उसे दबाने के लिए किया गया। लोगों के साथ व्यवहार में भारतीय पुलिस ने असहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया।

3. सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव (Social and Cultural Impact) : भारतीय सामाजिक जीवन में पश्चिमी प्रभाव अधिक व्यापक है। इसने कला, स्थापत्य, चित्रकला, साहित्य, काव्य, नाटक तथा उपन्यास के साथ-साथ भारतीय धर्मों तथा दर्शन को भी प्रभावित किया है। इन क्षेत्रों में मार्गदर्शक तो अंग्रेज सार्वजनिक अधिकारी (Public Servents) तथा साहित्यकार थे और यह भावना आगे ले जाने वाला मुख्यत: अंग्रेज शिक्षित वर्ग था, जिसमें प्राय: पत्रकार, अध्यापक, वकील तथा डाक्टर थे जो भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के अगुआ थे। पाश्चात्य प्रतिमान (Model) नहीं बल्कि आधुनिक संसार के प्रतिमान यथा सामाजिक शिष्टाचार, पहनावा, भोजन, गृह उपस्कर, आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन सभी में हमने इन प्रतिमानों को न केवल स्वीकार कर लिया है, अपितु ये हमारे जीवन के अंग बन गये हैं। यद्यपि गांवों में अभी भी थोड़ी बहुत पारंपरिक पद्धति चल रही है। यहां भी स्मरण रहे कि परिवर्तन एक प्राकृतिक क्रिया है और भारत में भी सामाजिक तथा दैनिक जीवन की प्रक्रिया में परिवर्तन आते ही, भले ही अंग्रेजों से हमारा संबंध स्थापित होता अथवा नहीं। जिन देशों में अंग्रेज नहीं भी गये वहां भी पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव देखने को मिलता है। इसी प्रकार स्थापत्य, साहित्य एवं भाषा पर भी पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पड़ा तथापि यह सत्य है कि यह अंग्रेजों से संबंध के ही कारण नहीं था।

(4) शिक्षा, इतिहास लेखन तथा भारतीय पुनर्जागरण बौद्धिक रूप से 18वीं शताब्दी का भारतीय समाज प्रवाहहीन (stagnant) था। इस काल की राजनीतिक अस्थिरता के कारण परंपरागत शिक्षा प्रणाली की बहुत हानि हुई थी। पुनर्जागरण की भावना जिसमें वैज्ञानिक अनुसंधान, तर्क, मानवतावाद तथा भौतिकवाद प्रधान था यूरोपीय हस्तक्षेप के कारण यह प्रक्रिया और भी मन्द हो गयी थी और भारत में प्रगतिवादी विचार नहीं पहुंच पाये थे। सीरमपुर के ईसाई पादरी पहले लोग थे जिन्होंने भारतीय बालकों के लिए पाठशालाएं खोलीं, का मुख्य उद्देश्य ईसाइयत का प्रचार करना था। प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण ही अंग्रेजों ने 1813 के चार्टर एक्ट में शिक्षा के सुधार के लिए 1 लाख रुपया वार्षिक का प्रावधान किया। लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में लोक शिक्षा की सामान्य समिति (General Committee of Public Instruction) ने यह निश्चय किया कि यह धन 'केवल अंग्रेजी शिक्षा' पर ही व्यय किया जाये। मैकाले का उद्देश्य एक ऐसी श्रेणी (वर्ग) उत्पन्न करना था जो, 'रक्त और रंग से भारतीय हों परन्तु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मानदंडों तथा प्रज्ञा से अंग्रेज हो। अर्थात् वह ब्राउन रंग का अंग्रेज पैदा करना चाहता था।

कुछ अंग्रेज विद्वानों ने संस्कृत, भाषा विज्ञान, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय इतिहास का गहन अध्ययन किया। सर विलियम जोन्स ने यूनानी इतिहासकारों के सैंड्रोकोट्स (Sandrokottus) को चन्द्रगुप्त निश्चित किया, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के काल निर्णय में काफी सहायक हुआ। इसी प्रकार जेम्स प्रिंसेप तथा हेनरी स्पैंसर बाह्मी लिपि को पढ़ने में सफल हुए और उन्होंने अशोक के शिलालेखों तथा कुछ बौद्ध ग्रन्थावलियों का अनुवाद किया। इसी प्रकार विलियम जोन्स, जो बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (Bengal Asiatic Society) के संस्थापक थे, तथा जेम्स डंकन जैसे अन्य प्राच्यविदों के प्रयत्नों के फलस्परूप प्राचीन भारतीय साहित्य में रुचि उत्पन्न हुई।

अंग्रेज लेखक इस बात पर गर्व करते हैं तथा लिखते हैं कि, "अंग्रेजों ने भारत में जो कुछ भी अच्छा-बुरा किया, उनका यह दावा तो सत्य ही है कि उन्होंने भारत में -पुनर्जागरण' का प्रादुर्भाव किया।" यह विश्वास करना बहुत ही कठिन है कि आधुनिक राजनीतिक विचार तथा 18वीं और 19वीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगतियां भारत में न पहुंच पाती, यदि यहां अंग्रेजी शासन न होता। आरम्भिक काल से ही भारत ने 'खुले द्वार' (Open door) की नीति अपनायी थी और यद्यपि परिवहन के साधन प्राचीन भी थे तो भी यहां से पूर्व और पश्चिम से व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता था। तो इस प्रकार पश्चिम की नवीन धारणाएं यहां अवश्य आतीं चाहे अंग्रेजी शासन न भी होता।

अंग्रेजों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्रसार पर अत्यधिक बल देना तथा 'विप्रवेशन सिद्धान्त (Infitration theory) में विश्वास करने से शिक्षा प्रसार केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा और जनसाधारण की शिक्षा की अनदेखी की गयी। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षित और जनसाधारण वर्ग में एक खाई बन गयी यही नहीं, सरकार ने 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब यह देखा कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से उनके साम्राज्यवादी हितों की हानि होती है, तो इसने अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से मुंह मोड़ लिया। दूसरे, उदारवादी शिक्षा पर अधिक बल देकर तथा तकनीकी शिक्षा की पूर्णरुपेण अवहेलना से, शिक्षित बेकारों के प्रश्न ने बहुत विकट रूप धारण कर लिया।

अंग्रेजी उदारवादी शिक्षा से कुछ आन्तरिक विरोध उत्पन्न हुए। आधुनिक राजनीतिक जागृति, राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना, तथा राजनीतिक आन्दोलनों का चलना, आदि में अंग्रेजी शिक्षा का उतना ही हाथ था, जितना कि साम्राज्यवादी नीतियों के विरोध का। यह अंग्रेजी शिक्षित वर्ग ही था जिसने अंग्रेजी राज्य के सच्चे स्वरूप को सामने लाया तथा आधुनिक राजनीतिक आन्दोलनों को नेतृत्व प्रदान किया। यदि ऐसे देखा जाये तो मैकाले की शिक्षा पद्धति का लाभ ही हुआ।

नि:सन्देह अंग्रेज भारत में अमिट छाप, चाहे वह अच्छी है अथवा बुरी है, प्रत्येक भारतीय पर छोड़ गये हैं। स्वतंत्र भारत एक ही झटके से अंग्रेजी साम्राज्यवाद की दो शताब्दियों के प्रभाव को समाप्त नहीं कर सकता। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि भारत में अंग्रेजी प्रभाव दोनों ही रूपों में स्पष्ट है। जहां इसके कुछ अच्छे लक्षण भारतीय समाज तथा राजव्यवस्था में दिखते हैं, तो इसके कुछ प्रभाव ऐसे हैं, जिनसे भारत को निजात पाने में काफी समय लगेगा, उदाहरणस्वरूप गरीबी, सांप्रदायिकता आदि।

राष्ट्रीय संचेतना का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना बहुत तेजी से विकसित हुई और भारत में एक संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का आरंभ हुआ। दिसम्बर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम से एक अखिल भारतीय संस्था का जन्म हुआ। आगे चलकर इसी के नेतृत्व में विदेशी शासन से स्वतंत्रता के लिए भारतीयों ने एक लम्बा और साहसपूर्ण संघर्ष चलाया, और अंत में 15 अगस्त 1947 को भारत मुक्त हो गया।

सिंहावलोकन से इस राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन प्रमुख अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं :-

1. 1885 से 1905 के पहले चरण में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्येय धुंधला, अस्पष्ट तथा संदिग्ध सा था। यह आन्दोलन केवल थोड़े से शिक्षित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, जो पाश्चात्य उदारवादी (Liberal) और अतिवादी (Redical) विचारधारा से प्रेरणा लेता था।
2. दूसरे दौर (1905-1919) में कांग्रेस प्रौढ़ हो गयी और इसका उद्देश्य तथा इसकी सीमाएं अधिक विस्तृत हो गयीं। अब यह जनता के

CHRONICLE IAS ACADEMY

सर्वतोन्मुखी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयत्नशील थी। राजनीतिक क्षेत्र में उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य था। इसी बीच कुछ उग्रवादी दल के लोगों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए पाश्चात्य क्रांतिकारी ढंग अपनाए।

3. अन्तिम चरण (1919-47) में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक विशेष भारतीय ढंग-अहिंसात्मक असहयोग, अपनाकर आन्दोलन किया और अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाने के लिए मजबूर किया।

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के अनेक महत्त्वपूर्ण कारण थे जिनकी विवेचना निम्न है:-

(1) विदेशी प्रभुत्व का परिणाम : आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद बुनियादी तौर पर विदेशी आधिपत्य की चुनौती के जवाब के रूप में उदित हुआ। ब्रिटिश शासन तथा उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष परिणामों ने ही भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए भौतिक, नैतिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ तैयार की।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय राष्ट्रीय जागरण अंग्रेजी औपनिवैशिक शासकों को नहीं भाया। पहले तो अंग्रेजी विद्वान शासकों ने भारत में राष्ट्रीयता के अस्तित्व को मानने से ही इन्कार कर दिया। 1883 में श्री जे०आर० सीले ने भारत को , ''केवल एक भौगोलिक इकाई'' की संज्ञा दी थी, जिसमें एकता की कोई भावना नहीं थी। 1884 में जान स्ट्रेची, जो एक भूतपूर्व भारतीय जानपद सेवक थे, ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के छात्रों को बताया, ''भारत के विषय में सबसे पहली तथा प्रमुख आवश्यक जानने योग्य बात यह है कि भारत न एक है और न था।'' और अन्त में यह भी भविष्यवाणी की कि भारत कभी भी एक संयुक्त राष्ट्र नहीं होगा। जब 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं सदी के प्रथम दशक में राष्ट्रवाद उभर चुका था, तो अंग्रेजी विद्वानों ने एक नया रुख अपनाया। मान्टफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने भारत में अंग्रेजी ज्ञान को ही राष्ट्रीय भावना के उदय के लिए श्रेय दिया। आर० कुपलैंड ने स्पष्ट कहा कि, ''भारतीय राष्ट्रवाद तो अंग्रेजी राज की ही सन्तति था।'' परन्तु कुपलैंड महोदय यह कहना भूल गये कि यह एक अनैच्छिक सन्तति था,'' जिसे इन्होंने जन्म के समय से ही दूध पिलाने से इन्कार कर दिया और फिर उसका गला घोंटने का प्रयत्न किया। वस्तुतः भारतीय राष्ट्रवाद, कुछ अंश में समूचे संसार में उभरते हुए राष्ट्रवाद तथा आत्मनिर्णय की भावना, जो फ्रांसीसी क्रान्ति से आरंभ हुई थी, का ही भाग था। यह आंशिक रूप से भारतीय पुनर्जागरण का परिणाम, आंशिक रूप में भारत में अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ किए गये आधुनिकीकरण का परिणाम तथा अंशिक रूप में भारत में चल रही अंग्रेजी औपनिवेशिक नीतियों की तीव्र प्रतिक्रिया का ही परिणाम था।

इस आन्दोलन की जड़ें भारतीय जनता के हितों तथा भारत में ब्रिटिश हितों के टकराव में थी। अंग्रेजों ने अपने हितों को पूरा करने के लिए ही भारत को अधीन बनाया था। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर वे भारत का शासन चलाते थे। धीरे-धीरे भारतीयों ने अनुभव किया कि लंकाशायर के उद्योगपतियों तथा अंग्रेजों के दूसरे प्रमुख वर्गों के हितों के लिए, उनके अपने हितों का बलिदान दिया जाता रहा है। स्वयं ब्रिटिश शासन भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण बनता गया और भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का यही तथ्य था। यह भारत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक विकास में प्रमुख बाधक तत्त्व बन चुका था। इससे भी बड़ी बात यद थी कि अधिक संख्या में भारतीय इस तथ्य को स्वीकार करने लगे थे और उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी।

भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समूह ने धीरे-धीरे यह देखा कि उनके हित, अंग्रेजी शासकों के हाथ में असुरक्षित हैं। किसान देख रहे थे कि सरकार जमीन की मालगुजारी के नाम पर उसकी उपज का एक बड़ा हिस्सा उनसे ले लेती थी। सरकार और उनकी पुलिस, उसकी अदालतें और उसके अधिकारी, सभी जमींदारों और भू-स्वामियों के समर्थक थे। वे उन व्यापारियों के समर्थक थे, जो किसानों को धोखा देते, उनका शोषण करते तथा उसकी जमीन छीन लेते थे। किसानों की आवाज को सरकार द्वारा कानून और व्यवस्था के नाम पर कुचल दिया जाता था। दस्तकार और शिल्पी यह महसूस कर रहे थे कि सरकार विदेशी प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देकर उनको तबाह कर रही थी और उनके पुनर्वास के लिए कुछ नहीं कर रही थी। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में आधुनिक कारखानों, खदानों तथा बगानों के मजदूरों ने भी पाया कि सारी जबानी हमदर्दी के बावजूद सरकार पूँजीपतियों का, खासकर विदेशी पूँजीपतियों का ही साथ देती थी। जब कभी मजदूर ट्रेड यूनियन बनाने तथा हड़तालों-प्रदर्शनों के द्वारा अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करते, सरकार का पूरा तंत्र उनके खिलाफ उठ खड़ा होता। इसके अलावा उन्होंने यह भी महसूस किया कि बढ़ती बेरोजगारी का समाधान केवल तीव्र औद्योगीकरण से संभव है, और यह कार्य केवल एक स्वाधीन सरकारी ही कर सकती है।

भारतीय समाज के दूसरे समूह भी कुछ कम असंतुष्ट नहीं थे। शिक्षित भारतीयों का उभरता हुआ वर्ग, अपने देश की दयनीय आर्थिक व राजनीतिक स्थिति को समझने के लिए नए-नए प्राप्त आधुनिक ज्ञान का उपयोग कर रहा था। पहले जिन लोगों ने 1857 में ब्रिटिश शासन का इस आशा में समर्थन किया था कि विदेशी होने के बावजूद यह शासन देश को एक आधुनिक तथा औद्योगिक देश बनाएगा, वे अब धीरे-धीरे निराश होने लगे थे। आर्थिक दृष्टि से उन्हें आशा थी कि ब्रिटिश पूँजीवाद ने जैसे ब्रिटेन में उत्पादक शक्तियों को पैदा किया था, उसी प्रकार वह भारत की उत्पादक शक्तियों को भी विकसित करेगा। लेकिन उन्होंने यह पाया कि ब्रिटेन के पूँजीवाद के इशारों पर भारत में ब्रिटिश शासन ने जो नीतियां अपनाई थीं, वे देश को आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा या अल्प विकसित बनाए हुए थी और उसकी उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक हो रही थी। राजनीतिक स्तर पर शिक्षित भारतीय समुदाय को यह लगा कि पहले अंग्रेजों ने भारत को स्वशासन का मार्ग दिखाने के जो भी वादे किए थे, उन सबको वे भूल चुके थे। अधिकांश ब्रिटिश अधिकारियों तथा राजनीतिक नेताओं ने खुली घोषणा की थी कि अंग्रेज भारत में बने रहेंगे। इसके अलावा भाषण, प्रेस तथा व्यक्ति को और अधिक स्वतंत्रता देने की जगह अंग्रेज, उन पर अधिकाधिक प्रतिबंध लगाते जा रहे थे। अंग्रेज अधिकारियों तथा लेखकों ने भारतीयों को जनतंत्र या स्वशासन की दृष्टि से अयोग्य घोषित कर दिया था। संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रशासक, उच्च शिक्षा और आधुनिक विचारों के प्रसार के बारे में अधिकाधिक नकारात्मक, बल्कि शत्रुतापूर्ण रवैया अपना रहे थे।

उभरते हुए भारतीय पूंजीपति वर्ग में धीरे- धीरे राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई। लेकिन इस वर्ग ने भी अन्ततः पाया कि वह साम्राज्यवाद के कारण नुकसान उठा रहा था। सरकार की व्यापार, चुंगी कर तथा यातायात संबंधी नीतियों के कारण इनके विकास में भारी बाधाएं आ रही थीं। नया तथा कमजोर वर्ग होने के नाते इसे अपनी कमजोरियों की भरपाई के लिए सरकार की सक्रिय सहायता की जरूरत थी। इसके बजाय सरकार और उसकी नौकरशाही विदेशी पूंजीपतियों का साथ दे रही थी, जो भारत के सीमित औद्योगिक क्षेत्र को हथिया रहे थे। भारतीय पूंजीपतियों का विशेष विरोध विदेशी पूंजीपतियों की सख्त प्रतियोगिता के प्रति था। इस तरह भारतीय पूँजीपतियों ने भी महसूस किया कि उनके अपने स्वतंत्र विकास तथा साम्राज्यवाद के बीच एक अंतर्विरोध था और यह कि एक राष्ट्रीय सरकार ही भारतीय व्यापार और उद्योगों के तीव्र विकास की परिस्थितियां तैयार कर सकती थी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारतीय समाज में केवल जमींदार, भूस्वामी और राजे-महाराजे ही ऐसे वर्ग थे, जिनके हित विदेशी शासकों के हितों से मेल खाते थे और इसलिए वे अंत तक विदेशी शासन का साथ देते रहे। लेकिन इन वर्गों में भी बहुत से लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में आए। उस समय के राष्ट्रवादी वातावरण में देशभक्ति की भावना ने बहुतों को प्रभावित किया। इसके अलावा प्रजातीय भेदभाव तथा श्रेष्ठता की नीतियों ने प्रत्येक विचारशील, स्वाभिमानी भारतीय में घृणा जगाकर उसे उठ खड़ा किया, चाहे वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं ब्रिटिश शासन के विदेशी चरित्र ने भी राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया को जन्म दिया।

संक्षेप में विदेशी साम्राज्यवाद के चरित्र तथा भारतीय जनता पर उसके हानिकारक प्रभाव के कारण ही भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन का जन्म और धीरे-धीरे विकास हुआ। यह आन्दोलन एक राष्ट्रीय आन्दोलन था क्योंकि यह समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों के लोगों को प्रेरित कर रहा था कि वे अपने मतभेद भूलकर अपने शत्रु के खिलाफ एकजुट हों।

2. भारत में प्रशासनिक और आर्थिक एकता की स्थापना : उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भारत का एकीकरण हो चुका था और वह एक राष्ट्र के रूप में उभर चुका था। इसलिए भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावना का विकास आसानी से हुआ। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे पूरे देश में सरकार की एक समान आधुनिक प्रणाली लागू कर दी थी और इस तरह इसका प्रशासनिक एकीकरण हो चुका था। ग्रामीण और स्थानीय आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के विनाश और अखिल भारतीय पैमाने पर आधुनिक व्यापार तथा उद्योग की स्थापना के कारण, भारत का आर्थिक जीवन निरंतर एक इकाई के रूप में ढलता चला गया तथा देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के आर्थिक हित परस्पर सम्बद्ध हुए। इसके अलावा रेलवे, तार तथा एकीकृत डाक व्यवस्था के आरंभ ने भी देश को एकजूट बना दिया था और जनता खासकर नेताओं के पारस्परिक सम्पर्क को इसने बढ़ावा दिया था। इस सिलसिले में भी विदेशी शासन का अस्तित्व ही एकता का कारण बन गया। हालांकि यह शासन समाजिक वर्ग, जाति, धर्म या क्षेत्र का भेद किए बिना पूरी भारतीय जनता का दमन करता था। पूरे देश के लोगों ने देखा कि वे एक ही शत्रु अर्थात् ब्रिटिश शासन के हाथों पीड़ित थे। इस तरह साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष तथा उस संघर्ष के दौरान उपजी एकजुटता की भावना ने भारतीय राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3. पश्चिमी विचार तथा आधुनिक शिक्षा का प्रचलन : आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रचलन से आधुनिक पाश्चात्य विचारों को अपनाने में सहायता मिली जिससे भारतीय राजनीतिक सोच को एक नई दिशा मिली। पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार यद्यपि प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए किया गया था, परन्तु इससे नवशिक्षित वर्ग के लिए पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गये थे। मिल्टन, शैली, बेन्थम, मील, स्पेन्सर, रूसो, वाल्तेयर आदि विद्वानों ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनाएँ जगा दीं, तो मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा आयरलैंड के राष्ट्रवादी नेता उनके राजनैतिक आदर्श बन गये।

नए बुद्धिजीवी लोग प्राय: कनिष्ठ प्रशासक, वकील, डॉक्टर, अध्यापक इत्यादि ही थे। इनमें से कुछ लोग इंग्लैंड में भी शिक्षा ग्रहण कर चुके थे। उन्होंने वहाँ अपनी आँखों से इन राजनीतिक संस्थाओं का प्रचलन भी देखा था। यहाँ लौटने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनके मौलिक अधिकार शून्य के बराबर हैं और वातावरण में दासता ही दासता है। विदेशी दासता के अपमान की चुभन को सबसे पहले इन्हीं शिक्षित भारतीयों ने महसूस किया। विचारों से आधुनिक बनकर इन लोगों ने विदेशी शासन की बुराइयों के अध्ययन की योग्यता भी प्राप्त कर ली। उन्हें एक आधुनिक, मजबूत, समृद्ध और एकताबद्ध भारत की कल्पना से प्रेरणा प्राप्त होती रही। कालांतर में इन्हीं में से बेहतरीन तत्व राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता और संगठनकर्त्ता बने।

भारत के सभी भागों में अंग्रेजी भाषा के प्रसार और लोकप्रियता के कारण शिक्षित भारतीयों को यह एक सम्पर्क भाषा के रूप में मिल गयी थी, जिसके माध्यम से वे एक दूसरे को अपने विचारों से अवगत करा सकते थे तथा सम्मेलनों में भाग ले सकते थे।

हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राष्ट्रीय आन्दोलन आधुनिक शिक्षा प्रणाली का उपज नहीं था, बल्कि यह ब्रिटेन तथा भारत के हितों के टकराव से उत्पन्न हुआ था। इस प्रणाली ने सिर्फ शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य विचार अपनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व संभालने तथा उसे एक जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा देने में समर्थ बनाया। वास्तविक यह है कि स्कूलों तथा कॉलेजों में अधिकारीगण विदेशी शासन के प्रति विनम्रता और सेवा भाव ही जगाने का प्रयत्न करते थे। राष्ट्रवादी विचार तो आधुनिक विचारों के सामान्य प्रसार के कारण आए। चीन तथा इंडोनेशिया जैसे दूसरे एशियाई देशों एवं पूरे अफ्रीका में भी आधुनिक और राष्ट्रवादी विचार फैले, हालांकि वहाँ आधुनिक स्कूलों और कॉलेजों की संख्या बहुत ही कम थी। पहले तो अंग्रेजी ने सम्पर्क भाषा के रूप में कार्य किया, लेकिन जल्द ही यह साधारण जनता में आधुनिक ज्ञान के प्रसार में बाधक भी बन गयी। यह शिक्षित नागरिक वर्गों को साधारण जनता से अलग रखने का कार्य भी करने लगी। भारत के राजनीतिक नेताओं ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझा। दादा भाई नौरोजी, सैयद अहमद खान और जस्टिस रानाडे से लेकर तिलक और गाँधीजी तक सभी ने शिक्षा प्रणाली में भारतीय भाषाओं को एक बड़ी भूमिका दिए जाने की मांग पर आन्दोलन किए। वास्तव में जहाँ तक साधारण जनता का सवाल था, आधुनिक विचारों का प्रसार विकासमान भारतीय भाषाओं, उनमें विकसित हो रहे साहित्य तथा सबसे अधिक तो भारतीय भाषाओं के लोकप्रिय प्रेस के कारण हुआ।

4. आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना : भारत में अंग्रेजी राज्य का एक अन्य प्रभाव आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना था। ये यूरोपीय लोग ही थे, जिन्होंने भारत में मुद्रणालय स्थापित किए और समाचार पत्र तथा साहित्य प्रकाशित करना शुरू किया। शनै: शनै: भारतीय भाषाओं में भी समाचार पत्र निकलने लगे। वह प्रमुख साधन प्रेस था जिसके द्वारा भारतीय राष्ट्रवादियों ने देशभक्ति की भावनाओं का, आधुनिक राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक विचारों का प्रचार किया तथा एक अखिल भारतीय चेतना जगाई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी समाचार पत्र निकले। उनके पन्नों पर राष्ट्रीय नीतियों की लगातार आलोचना होती थी, भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखा जाता था, लोगों को एकजुट होकर राष्ट्रीय कल्याण के काम करने को कहा जाता था तथा जनता के बीच स्वशासन, जनतंत्र, औद्योगीकरण आदि के

राष्ट्रीय चेतना में योगदान देने वाले समाचार पत्र

समाचार पत्र	*क्षेत्र*
बंगाली	बंगाल,
अमृत बाजार पत्रिका	बंगाल
संजीवनी	बंगालं
मराठा	बम्बई
केसरी	बम्बई
नेटिव ओपीनियन	बम्बई
हिन्दू	मद्रास
आंध्र पत्रिका	मद्रास
केरल पत्रिका	मद्रास
हिन्दुस्तान	संयुक्त प्रांत
आजाद	संयुक्त प्रांत
ट्रिब्यून	पंजाब
अखबार-ए-आम	पंजाब

CHRONICLE IAS ACADEMY

विचारों को लोकप्रिय बनाया जाता था। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले राष्ट्रवादी कार्यकर्त्ताओं को भी परस्पर विचारों के आदान-प्रदान करने में प्रेस ने समर्थ बनाया।

उपन्यासों, निबंधों, देशभक्तिपूर्ण काव्य आदि के रूप में राष्ट्रीय साहित्य ने भी राष्ट्रीय चेतना जगाने में प्रमुख भुमिका निभाई। बंगाल में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा रवीन्द्र नाथ टैगोर, असमी में लक्ष्मीनाथ बेजबरूआ, मराठी में विष्णु शास्त्री चिपलुणकर, तमिल में सुब्रमण्यम भारती, हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उर्दू में अल्ताफ हुसैन हाली इस काल के कुछ प्रमुख राष्ट्रवादी लेखक थे।

दि इण्डियन मिरांर, दि बंगाली, दि अमृत बाजार पत्रिका, दि बाम्बे क्रानिकल, दि हिन्दू पेट्रियाट, दि केसरी, दि हिन्दू आदि इस काल के महत्वपूर्ण समाचार पत्र थे।

5. इतिहास के शोध का प्रभाव : अनेक भारतीय उस समय इस कदर पस्त हो चुके थे कि वे अपनी स्वशासन की क्षमता में एकदम भरोसा खो बैठे थे। इसके अलावा उस समय के अधिकांश ब्रिटिश अधिकारी और लेखक लगातार यह बात दोहराते रहते थे कि भारतीय लोग कभी भी अपना शासन चलाने के योग्य नहीं थे, कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा आपस में लड़ते रहे हैं, कि उनका धर्म और सामाजिक जीवन पतित और असभ्य रहा है और इस कारण वे लोकतंत्र या स्वशासन तक के काबिल नहीं हैं।

सर विलियम जोन्स, ओनियर विलियम्ज जैसे विदेशी विद्वानों के शोध के फलस्वरूप भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा का ज्ञान होने लगा। इस क्षेत्र में विशेष रूप से कनिंघम जैसे पुरातत्वविदों की खुदाइयों ने भारत की महानता तथा गौरव का वह चित्र प्रस्तुत किया, जो रोम तथा यूनान की प्राचीन सभ्यताओं से किसी भी पक्ष में कम गौरवशाली नहीं था। इन यूरोपीय विद्वानों ने वेदों तथा उपनिषदों की साहित्यिक श्रेष्ठता और मानव मन के सुन्दर विश्लेषण के लिए उनका गुणगान किया। बहुत से यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि भारतीय आर्य उसी मानव शाखा के लोग हैं जिससे यूरोपीय जातियाँ उपजी हैं।

भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं और विद्वानों ने भी जनता में आत्म विश्वास और आत्म सम्मान जगाने के प्रयत्न किए। वे गर्व से भारत की सांस्कृतिक धरोहर की ओर संकेत करते और आलोचकों का ध्यान अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य जैसे राजाओं की उपलब्धियों की ओर ले जाते। विद्वानों ने कला, स्थापत्य, साहित्य, दर्शन, विज्ञान और राजनीति में भारत की राष्ट्रीय धरोहर की फिर से खोज करने में जो कुछ किया, उससे इन राष्ट्रवादी नेताओं को बल तथा प्रोत्साहन मिला।

दुर्भाग्य से कुछ राष्ट्रवादी नेता दूसरे छोर तक चले गये तथा भारत के अतीत की कमजोरियों और पिछड़ेपन से आँखें चुराकर गैर-आलोचनात्मक ढंग से उसे महिमामंडित करने लगे। खासकर प्राचीन भारत की उपलब्धियों का प्रचार करने तथा मध्यकालीन भारत की उपलब्धियों को अनदेखा करने की प्रवृत्ति ने भी बहुत नुकसान पहुंचाया। इसके कारण हिन्दुओं में सांप्रदायिक भावनाओं के विकास को प्रोत्साहन मिला। साथ ही इसकी जवाबी प्रवृत्ति के रूप में मुसलमान सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रेरणा पाने के लिए अरबों तथा तुर्कों के इतिहास की ओर नजर करने लगे। इसके अलावा पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की चुनौती का जवाब देते समय बहुत से भारतीय यह भी भूल जाते थे कि भारत की जनता कई क्षेत्रों में सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी थी। इससे गर्व तथा आत्मसंतोष की झूठी भावना पनपी, जो भारतीयों को अपने समाज के आलोचनात्मक मूल्यांकन से रोकती थी। इसके कारण सामाजिक-सांस्कृतिक पिछड़ेपन के खिलाफ संघर्ष कमजोर हुआ तथा अनेक भारतीय दूसरी जातियों की स्वस्थ और नई प्रवृत्तियों और नए विचारों से विमुख रहे।

6. शासकों का जातीय दंभ : भारत में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास का एक गौण परन्तु महत्वपूर्ण कारण जातीय श्रेष्ठता का वह दंभ था, जो भारतीयों के प्रति अनेक अंग्रेजों के व्यवहार में पाया जाता था। इस जातीय दंभ का एक कड़वा और प्रचलित रूप तब देखने को मिलता था, जब कोई अंग्रेज किसी भारतीय से किसी विवाद में उलझा होता था और न्याय व्यवस्था अंग्रेजों का पक्ष लेती थी। नन्दकुमार पर अभियोग प्रकरण, इल्बर्ट बिल विवाद, तिलक शिरोव विवाद, इसके ज्वलंत उदाहरण थे। यह जातीय दंभ जाति, धर्म, प्रांत या वर्ग का भेदभाव किए बिना तमाम भारतीयों को एक समान हीन करार देता था। वे यूरोपीय लोगों के क्लबों में नहीं जा सकते थे और अक्सर उन्हें किसी गाड़ी के उस डिब्बे में यात्रा की अनुमति नहीं थी जिसमें यूरोपीय यात्री जा रहे हों। इससे उनमें राष्ट्रीय अपमान का बोध हुआ तथा अंग्रेजों के मुकाबले वे अपने आपको एक जनगण के रूप में देखने लगे।

7. समकालीन यूरोपीय आन्दोलनों का प्रभाव : राष्ट्रवाद की उन तेज लहरों ने, जो समकालीन समस्त यूरोप तथा दक्षिण अफ्रीका को प्रभावित कर रही थीं, भारतीय राष्ट्रवाद को भी स्फूर्ति प्रदान की। स्पेन तथा पुर्तगाल के दक्षिणी अमरीका के साम्राज्यों के खण्डहरों पर अनेक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो रहे थे। यूरोप में भी यूनान तथा इटली के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम और आयरलैंड के स्वतंत्रता संग्राम ने विशेषत: भारतीयों के मनोभावों को अत्यधिक प्रभावित किया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा लाला लाजपात राय ने मेजिनी तथा उसके द्वारा आरंभ किए गये तरूण इटली आन्दोलन पर तथा गैरीबाल्डी और कार्बोनेरी आन्दोलनों पर व्याख्यान दिए तथा लेख लिखे।

8. समाज तथा धार्मिक सुधार आन्दोलनों का प्रगतिशील रूप : 19वीं शताब्दी के शिक्षित भारतीयों ने पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान के प्रकाश में अपने धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा सामाजिक प्रथाओं का पुन:परीक्षण करना आरंभ कर दिया। इसके फलस्वरूप कई सुधारवादी संस्थाएं जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि अस्तित्व में आए। उसी प्रकार मुसलमानों, सिक्खों तथा पारसियों की भी सुधारवादी संस्थाएं बनीं।

धार्मिक क्षेत्र में इस सुधार आन्दोलनों ने अंधविश्वास, मूर्तिपूजा आदि को चुनौती दी, तो समाजिक क्षेत्र में इन्होंने जातिप्रथा, अस्पृश्यता, बाल विवाह आदि का कड़ा प्रतिरोध किया। ये सभी आन्दोलन उन्नतिशील थे तथा चाहते थे कि समाज का गठन प्रजातंत्र, सामाजिक तथा व्यक्तिगत समानता, तर्क, बुद्धिवाद एवं उदारवाद आदि आधारों पर किया जाया। इन संस्थाओं का यद्यपि कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था, फिर भी भारतीय समाज को जगाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा।

9. लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियाँ : लार्ड लिटन ने भारत में कुछ ऐसे कार्य किए जिनसे भारत में राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ। आई०सी०एस० के भर्ती होने की आयु 21 से घटाकार 19 वर्ष कर दी गयी ताकि भारतीय शिक्षित युवक परीक्षा ही न दे सके। 1877 के भीषण अकाल के समय दिल्ली में एक भाग्यशाली दरबार लगाकर लाखों रुपए नष्ट करना एक ऐसा कार्य था जिस पर कलकत्ता के एक पत्रकार ने कहा था कि,''नीरो वंशी बजा रहा था, जब रोम जल रहा था।'' उसके द्वारा पारित भारतीय भाषा समाचार पत्र अधिनियम तथा भारतीय शस्त्र अधिनियम से जातीय कटुता और बढ़ गयी। फलस्वरूप, भारत में अनेक राजनीतिक संस्थाएं बनीं ताकि सरकार विरोधी आन्दोलन चलाया जा सके।

10. इलबर्ट बिल का विवाद : रिपन की सरकार ने ''जाति भेद पर आधारित न्यायिक असमर्थताएं'' समाप्त करने का प्रयत्न किया। इलबर्ट बिल ने जनपद सेवा के भारतीय जिला तथा सत्र न्यायाधीशों को वही शक्तियां तथा अधिकार देने का प्रयत्न किया, जो कि उसके समकक्ष यूरोपीय जजों

CHRONICLE IAS ACADEMY

को मिले हुए थे। यूरोपीय लोगों की प्रतिक्रिया इतनी कटु थी कि वायसराय को यह अधिनियम बदलना पड़ा। भारतीयों की इस झगड़े से आँखें खुल गयीं। उन्होंने देखा कि जहाँ यूरोपीय लोगों के विशेषाधिकार का प्रश्न है उन्हें न्याय नहीं मिल सकता। दूसरे यह भी अनुभव हुआ कि संगठित आन्दोलन का क्या प्रभाव है।

1870 के दशक तक यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि भारतीय राष्ट्रवाद इतनी ताकत और गति अर्जित कर चुका है कि वह भारतीय राजनीति में एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर सके। दिसम्बर 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में अखिल भारतीय पैमाने पर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली संगठित अभिव्यक्ति हुई। लेकिन इसके पहले भी अनेक संस्थाएं स्थापित हो चुकी थीं।

संघों का निर्माण

1836 के बाद देश के विभिन्न भागों में अनेक सार्वजनिक समितियाँ स्थापित हुईं। इन सभी समितियों पर धनी तथा अभिजात्य लोगों का प्रभुत्व था, जिनको तब गणमान्य व्यक्ति कहा जाता था, और इसका चरित्र प्रांतीय तथा स्थानीय था। इन्होंने प्रशासन में सुधार तथा भारतीय लोगों की भागीदारी के लिए काम किया तथा ब्रिटिश संसद को लम्बे-लम्बे प्रार्थना पत्र भेजे, जिनमें भारतीयों की माँगे रखी जाती थीं।

बंगाल प्रेसिडेंसी में राजनीतिक संगठन : भारत में राजनीतिक आन्दोलन के प्रर्वतक राजा राममोहन राय थे। वे पाश्चात्य विचारों से बहुत प्रभावित हुए थे। 1821 में उन्होंने स्पेन में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना पर एक उत्सव मनाया था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीयों की शिकायतों की ओर अंग्रेजों का ध्यान आकर्षित कराने का प्रयत्न किया और उसका समाधान भी माँगा। उन्होंने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता, सिविल न्यायालयों में भारतीयों की नियुक्ति तथा अन्य ऊँचे पदों आदि की माँग की। परन्तु राजनीतिक संस्थाओं के संगठन का श्रेय उनके साथियों को मिला जिन्होंने 1836 में ''बंग भाषा प्रकाशक सभा'' की स्थापना की। 1838 में''जमींदार एसोसिएशन'' बनी, जिसे प्राय: भूमिपतियों की सभा भी कहा जाता है, ताकि भूमिपतियों के हितों की रक्षा की जा सके। सही अर्थों में यह प्रथम राजनीतिक संगठन था, जिसने अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए संवैधानिक उपचारों का प्रयोग किया। 1843 में एक अन्य राजनीतिक सभा ''बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी'' बनाई गयी जिसका उद्देश्य अंग्रेजों के अधीन भारत के लोगों की वास्तविक अवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त करना था। 1851 में जमींदार एसोसिएशन तथा बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी को मिलाकर ''ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन'' बना दिया गया। वस्तुत: इस सभा में भूपति ही मुखिया थे और यह उन्हीं के हितों के लिए थी, परन्तु इस संस्था ने एक उदारवादी प्रयत्न अवश्य किया और 1853 में चार्टर के नवीनीकरण के समय ब्रिटिश संसद को एक प्रार्थना पत्र भेजा, जिसमें लोकप्रिय प्रकार की विधान सभा, न्यायिक और दण्डनायक कार्य अलग करने, बड़े अधिकारियों के वेतन कम करने, नमक, आबकारी और स्टाम्प कर इत्यादि समाप्त कर दिए जाने की माँग की गयी। इसी के प्रभावस्वरुप गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में 6 सदस्य कानून बनाने के लिए जोड़ दिए गये।

1875 मे बाबू शिशिर कुमार घोष ने ''इण्डियन लीग'' बनाई जिसका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रवाद की भावना को जगाना और राजनीतिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना था। 1876 में इण्डियन लीग का स्थान ''इण्डियन एसोसिएशन'' ने ले लिया, जिसकी स्थापना आनन्द मोहन बोस और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने की थी। कांग्रेस पूर्व राष्ट्रवादी संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण यही संगठन था। इसकी स्थापना कलकत्ता में की गयी थी। बंगाल के कम अवस्था के राष्ट्रवादी ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन की रूढ़िवादी और जमींदार समर्थक नीतियों से धीरे-धीरे ऊब रहे थे। वे व्यापक सार्वजनिक महत्व के सवाल पर लम्बा राजनीतिक आन्दोलन छेड़ना चाहते थे। प्रतिभाशाली लेखक और वक्ता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के रूप में उन्हें एक नेता भी मिल गया। बनर्जी अपने अधिकारियों द्वारा बहुत ही अन्यायपूर्ण ढंग से इण्डियन सिविल सर्विस से बाहर कर दिए गये थे क्योंकि ये अधिकारी अपनी सर्विस में किसी स्वतंत्र विचारों वाले भारतीय की उपस्थिति नहीं बर्दाश्त कर सके।

बनर्जी ने 1875 में कलकत्ता के छात्रों के सामने राष्ट्रवादी विषयों पर प्रभावशाली भाषण देकर अपना राजनीतिक जीवन शुरू किया। इण्डियन एसोसिएशन ने अपने सामने राजनीतिक प्रश्नों पर भारतीय जनता को एकताबद्ध करने का लक्ष्य रखा। अपनी ओर बड़ी संख्या में जनता को खींचने के लिए इसने निर्धन वर्गों के लिए कम सदस्यता शुल्क निर्धारित किए। बंगाल के शहरों और गाँवों तथा इसके बाहर अनेक शहरों में भी इस एसोसिएशन की कई शाखाएँ खोली गयीं। लिटन ने जब आई०सी०एस० के लिए प्रवेश की आयु घटाकर 19 वर्ष कर दी थी, तब इण्डियन एसोसिएशन ने इसके विरूद्ध एक जबर्दस्त आन्दोलन किया, जिसे प्राय:''भारतीय जनपद सेवा आन्दोलन'' कहते हैं। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने देश में एक चक्रवात के समान तीव्र गति से

कांग्रेस पूर्व राष्ट्रीय संगठन

वर्ष	*संगठन नाम*	*स्थान*	*संस्थापक*
1836	लैंडहोल्डर्स सोसाइटी	कलकत्ता	द्वारका नाथ टैगोर
1839	ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी	लन्दन	विलियम एडम
1843	बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी	कलकत्ता	–
1851	ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन	कलकत्ता	देवेन्द्र नाथ टैगोर
1852	मद्रास नेटीव एसोसिएशन	मद्रास	–
1852	बाम्बे एसोसिएशन	बम्बई	जगन्नाथ शंकर सेठ
1866	ईस्ट इंडिया एसोसिएशन	लन्दन	दादा भाई नौरोजी
1867	नेशनल इंडियन एसोसिएशन	लन्दन	मेरी कारपेन्टर
1876	पूना सार्वजनिक सभा	पूना	एस०एच चिपलुणकर, जी०वी० जोशी तथा एम०जी० राणाडे
1872	इंडियन सोसाइटी	लन्दन	आनन्द मोहन बोस
1876	इंडियन एसोसिएशन	कलकत्ता	आनन्द मोहन बोस एवं एस०एन० बनर्जी
1884	मद्रास महाजन सभा	मद्रास	जी०एस०अय्यर, एम० वीराघवाचारी आनन्द चारलु आदि
1885	बाम्बे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन	बम्बई	फिरोजशाह मेहता, के०टी०तेलंग, बदरुद्दीन तैयबजी आदि

नोट : *(1) ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना लैंडहोल्डर्स सोसाइटी एवं ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी को मिलाकर की गयी थी।*
(2) मेरी कारपेन्टर राममोहनराय की जीवनी लेखिका भी हैं।

CHRONICLE IAS ACADEMY

दौरे किए और बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, अलीगढ़, दिल्ली, मेरठ, अमृतसर, लाहौर इत्यादि नगरों में घूमे।

बम्बई प्रेसिडेन्सी में राजनीतिक संस्थाएं : कलकत्ता के ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन के नमूने पर 1852 में बम्बई में भी एक ''बम्बई एसोसिएशन'' की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य सरकार को समय-समय पर ज्ञापन देना था ताकि जिस सरकारी नीति या नियमों को वे हानिकारक समझते थे उनके विरूद्ध सरकार को सुझाव दे सके। इस संस्था ने भी ब्रिटिश संसद को ज्ञापन भेजे। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियों और इल्बर्ट बिल पर हुए विवाद का बम्बई के राजनीतिक क्षेत्रों में भी बहुत प्रभाव हुआ। 1885 में ''बम्बई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन'' बुलाई गयी जिसका श्रेय फिरोजशाह मेहता, के०टी० तेलंग और बदरूद्दीन तैयबजी (जो बम्बई के तीनों प्रमुख संप्रदायों से थे) को है। पूना में 1867 में ''पूना सार्वजनिक सभा'' की स्थापना जस्टिस रानाडे तथा उनके साथियों द्वारा की गयी, जिसका उद्देश्य सरकार और जनता के बीच एक सेतु के रूप में कार्य करना था।

मद्रास प्रेसिडेंसी में राजनीतिक संस्थाएं : कलकत्ता की ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की शाखा के रूप में ''मद्रास नेटिव एसोसिएशन'' बनाई गयी। परन्तु इसका न तो जनता पर ही कुछ प्रभाव था और न ही शासक वर्ग पर। रिपन के कार्यकाल में यहाँ भी कुछ संगठन बने। 1884 में ''मद्रास महान जन सभा'' की स्थापना एम०वी० राघवाचारी, जी० सुब्रमण्यम अय्यर, आनन्द चारलु तथा अन्य द्वारा की गयी। इसका उद्देश्य स्थानीय संगठनों के कार्यों को समन्वित करना था।

भारत के बाहर भी कई संगठन बने। 1866 में लंदन में दादा भाई नौरोजी ने 'ईस्ट इण्या एसोसिएशन' की स्थापना की। इसका उद्देश्य भारतीय प्रश्नों पर विचार करना तथा भारत के कल्याण की दिशा में ब्रिटेन के नेताओं को प्रभावित करना था। बाद में उन्होंने प्रमुख भारतीय नगरों में भी इसकी शाखाएँ स्थापित कीं 1825 में जन्में दादा भाई ने अपना पूरा जीवन राष्ट्रीय आन्दोलन को समप्रित कर दिया। जल्द ही उन्हें भारत का पितामह (ग्रेंड ओल्ड मैन ऑफ इण्डिया) कहा जाने लगा। वे भारत के पहले आर्थिक विचारक भी थे। अपने अर्थशास्त्रीय लेखन में उन्होंने सिद्ध किया कि भारत की गरीबी का कारण अंग्रेजों द्वारा उसका शोषण तथा यहाँ का धन ब्रिटेन भेजना था। दादा भाई को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने तीन बार अपना अध्यक्ष चुनकर उनका सम्मान किया।

इस तरह जो राष्ट्रवादी एक साझे शत्रु अर्थात् विदेशी शासन और शोषण के खिलाफ राजनीतिक एकता की आवश्यकता महसूस कर रहे थे, उनके लिए एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की स्थापना का समय आ चुका था। तब तक मौजूद संगठनों ने एक महत्वपूर्ण उद्देश्य पूरा किया था, परन्तु उसका क्षेत्र और क्रियाकलाप बहुत सीमित थे। वे अधिकतर स्थानीय प्रश्नों को उठाते थे तथा उनकी सदस्यताऔर नेतृत्व एक शहर या एक प्रांत के ही थोड़े से लोगों तक सीमित था। यहाँ तक कि इण्डियन एसोसिएशन भी एक अखिल भारतीय संस्था नही बन सकी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तथा इसका नरमपंथी चरण

1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। 1860 और 1870 के दशक से ही भारतीयों में राजनीतिक चेतना पनपने लगी थी। कांग्रेस की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी। 1870 के दशक के अंत और 1880 के दशक के शुरू में भारतीय जनता राजनीतिक तौर पर काफी जागरूक हो चुकी थी। 1885 में इस राजनीतिक चेतना ने करवट बदली। भारतीय राजनीति में सक्रिय

कांग्रेस अधिवेशन

क्र. सं.	वर्ष	स्थान	अध्यक्ष	कुछ महत्वपूर्ण अधिवेशन की विशेषता
प्रथम	1885	बम्बई	व्योमेश चन्द्र बनर्जी	प्रथम अध्यक्ष, मात्र 72 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया
दूसरा	1886	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	जनप्रतिनिधियों की संख्या बढ़कर 436 हुई
तीसरा	1887	मद्रास	सैय्यद बदरुद्दीन तैयबजी	प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष
चौथा	1888	इलाहाबाद	जार्ज यूले	प्रथम अंग्रेज अध्यक्ष
पांचवा	1889	बम्बई	सर विलियम वेडरबर्न	मताधिकार की आयु सीमा को 21 वर्ष निश्चित किया गया
छठा	1890	कलकत्ता	फिरोजशाह मेहता	
सातवां	1891	नागपुर	पी. आनंद चार्लू	'राष्ट्रीय' शब्द कांग्रेस के नाम में जोड़ा गया
आठवां	1892	इलाहाबाद	व्योमेशचन्द्र बनर्जी	
नौवां	1893	लाहौर	दादाभाई नौरोजी	
दसवां	1894	मद्रास	अलफ्रेड वेब	
ग्यारहवां	1895	पूना	सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	
बारहवां	1896	कलकत्ता	मोहम्मद रहीमतुल्ला सयानी	बंकिम चंद्र द्वारा रचित गान 'वंदेमातरम्' को स्वयं उनके द्वारा ही गाया गया
तेरहवां	1897	अमरावती	शंकरन् नायर	
चौदहवां	1898	मद्रास	आनंदमोहन बोस	
पन्द्रहवां	1899	लखनऊ	रमेशचन्द्र दत्त	
सोलहवां	1900	लाहौर	नारायण गणेश चन्दावरकर	
सत्रहवां	1901	कलकत्ता	दीनशा ईदलजी वाचा	
अठारहवां	1902	अहमदाबाद	सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	
उन्नीसवां	1903	मद्रास	लालमोहन घोष	
बीसवां	1904	बम्बई	सर हेनरी कॉटन	
इक्कीसवां	1905	बनारस	गोपालकृष्ण गोखले	
बाईसवां	1906	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा अपने भाषण में प्रथम बार 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया गया
तेईसवां	1907	सूरत	रासबिहारी घोष	कांग्रेस का विभाजन नरम और गरम दल में
चौबीसवां	1908	मद्रास	रासबिहारी घोष	कांग्रेस के संविधान का निर्माण
पच्चीसवां	1909	लाहौर	पं. मदनमोहन मालवीय	
छब्बीसवां	1910	इलाहाबाद	विलियम वेडरबर्न	
सत्ताईसवां	1911	कलकत्ता	पं. विशन नारायण दर	रवीन्द्र नाथ टैगोर रचित राष्ट्रगान 'जन-गण-मन' गाया गया
अट्ठाईसवां	1912	पटना	आर. एस. मधुलकर	

CHRONICLE IAS ACADEMY

बुद्धिजीवी, संकीर्ण हितों के लिए आवाज उठाने के बजाय राष्ट्रीय हितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करने को छटपटाने लगे थे। उनके इसी प्रयास की चरम परिणति थी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन।

इस राष्ट्रीय दल के गठन के लिए जो गतिविधियाँ हो रही थीं, अंग्रेज खासकर उससे बखूबी परिचित थी। उन्हें लगता था कि असहयोग, देशद्रोह और आयरलैंड की तरह के आन्दोलनों का दौर शुरू होने वाला है। अंग्रेजी सरकार के संदेह का ठोस ऐतिहासिक आधार भी था। उस समय की राष्ट्रीय मांगें थीं अयातित सूती वस्त्रों पर शुल्क में कमी न करना, हथियार रखने का अधिकार देना, प्रेस की आजादी, सेना खर्च में कमी, प्रशासनिक सेवा का भारतीयकरण, भारतीय न्यायाधीशों के अधिकार में वृद्धि, अंग्रेज मतदाताओं के बीच इस तरह का प्रचार करना कि उसी दल को वोट दें जो भारतीयों के हितों का ख्याल रखे। अंग्रेजी सरकार को लगता था कि यदि इनकी माँगे मान ली गयी तो भारतीय जनता पर अंग्रेजी हुकूमत का शिकंजा ढीला हो जायेगा।

1875 से 1885 के दौरान जो राजनीतिक चेतना पनपी, वह मुख्यत: युवा वर्ग की देन थी। वे युवा ज्यादा लड़ाकू और राष्ट्रवादी थे। उन्हें लगता था कि पुराने संगठन दकियानूसी हो गये हैं, उनका जनाधार भी ठोस नहीं है। न उनके पास कोई ठोस कार्यक्रम है न नीतियां। यही वह कारण था कि बंगाल में ''इंडियन एसोसिएशन'' का गठन हुआ, मद्रास में ''मद्रास महाजन सभा'' तो महाराष्ट्र में ''बाम्बे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन'' का। 1885 तक आते-आते एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन का जन्म अवश्यंभावी हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि कांग्रेस की स्थापना 1885 के पहले के कुछ वर्षों से देश में चल रहे राजनीतिक क्रियाकलाप और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का श्रेय एक सेवानिवृत अंग्रेज प्रशासक ए०ओ० ह्यूम को जाता है। उन्होंने प्रमुख भारतीय नेताओं से सम्पर्क किया और उनके सहायोग से दिसम्बर 1885 में बम्बई में भारतीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन का आयोजन किया। इसकी अध्यक्षता डब्ल्यू०सी० बनर्जी ने की तथा इसमें 72 प्रतिनिधि शामिल थे। वास्तव में कांग्रेस शब्द उत्तरी अमेरिका के इतिहास से लिया गया है जिसका अर्थ है 'लोगों का समूह'। कांग्रेस का गठन संसद की तरह हुआ था जिसकी सत्र की कार्यवाही लोकतांत्रिक ढंग पर आधारित थी।

राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्य इस प्रकार घोषित किए गये- ''देश के विभिन्न भागों के राष्ट्रवादी

क्रम संख्या	वर्ष	स्थान	अध्यक्ष	कुछ महत्वपूर्ण अधिवेशन की विशेषता
उन्तीसवां	1913	कराची	सैयद मुहम्मद बहादुर	
तीसवां	1914	मद्रास	भूपेन्द्र नाथ बोस	
इकतीसवां	1915	बम्बई	सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह	
बत्तीसवां	1916	लखनऊ	अम्बिका चरण मजूमदार	कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौता (लखनऊ समझौता), नरम और गरम दल पुन: एक हुए
तैंतीसवां	1917	कलकत्ता	ऐनी बसेंट	प्रथम महिला अध्यक्ष
चौंतीसवां	1918	बम्बई	सैयद हसन इमाम	विशेष अधिवेशन
''	''	दिल्ली	मदनमोहन मालवीय	नियमित अधिवेशन, एस. एन. बनर्जी सहित अनेक नरमपंथियों का इस्तीफा
पैंतीसवां	1919	अमृतसर	मोतीलाल नेहरू	
छत्तीसवां	1920	कलकत्ता	लाला लाजपतराय	विशेष अधिवेशन, सहयोग असहयोग प्रस्ताव गांधीजी द्वारा रखा गया
''	''	नागपुर	सी. विजयराघवाचारी	कांग्रेस के संविधान में परिवर्तन, 15 सदस्यीय कार्यकारिणी का गठन, तिलक स्वराज्य फंड की स्थापना की घोषणा
सैंतीसवां	1921	अहमदाबाद	हकीम अजमल खां (कार्यकारी)	सी. आर. दास का चुनाव अध्यक्ष पद के लिए परन्तु उनके जेल में होने के कारण हकीम अजमल खां ने अध्यक्षता की
अड़तीसवां	1922	गया	सी. आर. दास	स्वराज पार्टी की स्थापना
उन्तालीसवां	1923	दिल्ली	अबुल कलाम आजाद	विशेष अधिवेशन, सबसे कम उम्र के कांग्रेस अध्यक्ष
''	''	काकीनाडा	मौलाना मोहम्मद अली	स्वराज पार्टी को परिषद चुनावों में भाग लेने की अनुमति, अखिल भारतीय खादी बोर्ड की स्थापना का निर्णय, नियमित अधिवेशन
चालीसवां	1924	बेलगांव	महात्मा गांधी	प्रथम व अंतिम बार कांग्रेस अध्यक्ष बने।
इक्तालीसवां	1925	कानपुर	सरोजिनी नायडू	प्रथम भारतीय महिला कांग्रेस अध्यक्षा
बयालीसवां	1926	गुवाहटी	श्रीनिवास अय्यर	कांग्रेस कार्यकर्ता के लिए खद्दर पहना अनिवार्य
तैंतालीसवां	1927	मद्रास	एम. ए. अंसारी	साइमन आयोग के लिए विरोध का निर्णय, इसमें गांधी ने हिस्सा नहीं लिया, पहली बार स्वतंत्रता प्रस्ताव पारित
चौवालीसवां	1928	कलकत्ता	मोतीलाल नेहरू	प्रथम अखिल भारतीय युवा कांग्रेस, नेहरू रिपोर्ट प्रस्तुत
पैंतालीसवां	1929	लाहौर	जवाहर लाल नेहरू	पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित
छियालीसवां	1931	कराची	बल्लभ भाई पटेल	मौलिक अधिकार तथा राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम से संबंद्ध प्रस्ताव पारित
सैंतालीसवां	1932	दिल्ली	आर. डी. अमृतलाल	
अड़तालीसवा	1933	कलकत्ता	श्रीमति नलिनी सेन गुप्ता	
उन्चासवां	1934	बम्बई	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना

CHRONICLE IAS ACADEMY

राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित करना, जाति, धर्म, प्रांत का भेद किए बिना राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित तथा मजबूत करना, जनप्रिय मांगों का निरूपण तथा उन्हें सरकार के सामने रखना, और सबसे महत्वपूर्ण यह कि देश में जनमत को प्रशिक्षित और संगठित करना।''

कहा जाता है कि कांग्रेस की स्थापना के पीछे ह्यूम का प्रमुख उद्देश्य शिक्षित भारतीयों में बढ़ रहे असंतोष की सुरक्षित निकासी के लिए एक 'सेफ्टी वॉल्ब' बनाना था। वे असंतुष्ट राष्ट्रवादी शिक्षित वर्गों तथा असंतुष्ट किसान जनता के आपसी मेल को रोकना चाहते थे। मिथक यह है कि ह्यूम और उनके साथियों ने अंग्रेज सरकार के इशारे पर ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी थी। तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन के निर्देश, मार्गदर्शन और सलाह पर ही ह्यूम ने इस संगठन को जन्म दिया था ताकि उस समय भारतीय जनता में पनपते-बढ़ते असंतोष को हिंसा के ज्वालामुखी के रूप में फूटने से रोका जा सके और ''असंतोष की अग्नि'' को बिना किसी खतरे के बाहर निकलने के लिए सुरक्षित, सौम्य, शांतिपूर्ण और संवैधानिक निकास या 'सुरक्षा वॉल्ब' उपलब्ध कराया जा सके। यानी इस मिथक का सार संक्षेप यह है कि उस समय एक हिंसक क्रान्ति दस्तक दे रही थी, जो कांग्रेस की स्थापना के कारण टल गयी। भारतीय इतिहास के ज्यादातर लेखकों ने यह बात स्वीकार की है। इसी निष्कर्ष के कारण उदारवादी लेखक कांग्रेस की स्थापना को सही कदम बताते हैं, तो प्रगतिशील इसका इस्तेमाल यह साबित करने के लिए करते हैं कि कांग्रेस अगर साम्राज्यवाद के प्रति निष्ठावान नहीं रही तो भी कम से कम वह समझौतावादी तो रही है। जबकि दक्षिणपंथियों द्वारा इसका इस्तेमाल यह सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है कि कांग्रेस शुरू से ही गैर-राष्ट्रवादी रही हैं। ये सभी लोग एक बात पर सहमत है, वह यह कि कांग्रेस का जन्म जिस तरीके से हुआ, उस तरीके ने इसके बुनियादी चरित्र और भविष्य में इसके कार्यों पर निर्णायक प्रभाव डाला।

1916 में 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित अपने लेख में गरमपंथी नेता लाला लाजपत राय ने 'सुरक्षा वॉल्ब' की इस परिकल्पना का इस्तेमाल कांग्रेस के नरमपंथी पक्ष पर प्रहान करने के लिए किया था। सुरक्षा वॉल्ब पर लम्बी बहस करते हुए अपने लेख में उन्होंने कहा था कि,''कांग्रेस लार्ड डफरिन के दिमाग की उपज है।'' इसके बाद आगे लिखा था कि ''कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य राजनीतिक आजादी हासिल करने से कहीं ज्यादा यह था कि उस समय ब्रिटिश शासन पर आसन्न खतरों से उसे बचाया जा सके।'' इसके करीब 20-25 वर्ष बाद रजनी पाम दत्त ने तो सुरक्षा वॉल्ब के मिथक को वामपंथी विचारधारा के कच्चेमाल के रूप में ही स्थापित कर दिया तथा कांग्रेस के दोहरे चरित्र पर टिप्पणी की। इसके पहले 1939 में ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघ चालक एम०एस० गोलवलकर ने भी कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता के कारण उसे गैर राष्ट्रवादी ठहराने के लिए सुरक्षा वाल्ब की इस परिकल्पना का इस्तेमाल किया था।

सुरक्षा वाल्ब की इस परिकल्पना को ऐतिहासिक साक्ष्य बना देने में सात खंडों वाली उस गोपनीय रिपोर्ट की निर्णायक भूमिका रही जिसके बारे में ह्यूम का कहना था कि 1878 की गर्मियों में शिमला में उन्होंनें इसे पढ़ा था और इसे पढ़ने के बाद उन्हें इसका पक्का यकीन हो गया कि भारत में असंतोष उबल रहा है और एक बड़ी साजिश रची जा रही है। निचले तबके के लोग ब्रिटिश शासन को हिंसा के द्वारा उखाड़ फेंकने वाले हैं। इस सात खंडों की

क्रम संख्या	वर्ष	स्थान	अध्यक्ष	कुछ महत्वपूर्ण अधिवेशन की विशेषता
पचासवां	1936	लखनऊ	जवाहर लाल नेहरू	
इक्यावनावां	1937	फैजपुर	जवाहर लाल नेहरू	पहला अधिवेशन जो गांव में हुआ, कांग्रेस ने अगले चुनाव में हिस्सा लेने का निर्णय किया
बावनवां	1938	हरिपुरा	सुभाषचन्द्र बोस	
तिरपनवां	1939	त्रिपुरी	सुभाषचन्द्र बोस	गांधीजी के निरंतर विरोध के कारण सुभाष चन्द्र बोस का इस्तीफा, राजेन्द्र प्रसाद शेष अवधि के लिए अध्यक्ष, बोस द्वारा 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना
चौवनवां	1940	रामगढ़	मौलाना अबुल कलाम आजाद	
पचपनवां	1946	मेरठ	जे. बी. कृपलानी	
छप्पनवां	1948	जयपुर	पट्टाभि सीतारमैय्या	स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अध्यक्ष

स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित पुस्तकें

पुस्तक	*लेखक*
1. बंदेमातरम	अरविंद घोष
2. न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड	अरविंद घोष
3. भवानी मंदिर	अरविंद घोष
4. हिन्द स्वराज	महात्मा गांधी
5. गोरा	रविन्द्रनाथ टैगोर
6. घेर बायरे	रविन्द्रनाथ टैगोर
7. भारत एक खोज	जवाहर लाल नेहरू
8. ऐसेज इन इंडियन इकॉनोमिक्स	महादेव गोविन्द रानाडे
9. राइज ऑफ द मराठा पावर	महादेव गोविन्द रानाडे
10. आर्कटिक होम आफ दि बेदाज	बाल गंगाधर तिलक
11. गीता रहस्य	बाल गंगाधर तिलक
12. पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया	दादाभाई नौरोजी
13. वी	एम. एस. गोलवलकर
14. दुर्गेश नंदिनी	बंकिम चन्द्र चटर्जी
15. बंग दर्शन	बंकिम चन्द्र चटर्जी
16. आनंद मठ	बंकिम चन्द्र चटर्जी
17. इंडिया इन ट्रांजिशन	एम. एन. राय
18. इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया	आर. सी. दत्त
19. द इंडियन स्ट्रगल	सुभाषचन्द्र बोस
20. इंडियन मुसलमान्स	हंटर
21. गणदेवता	ताराशंकर बंद्योपाध्याय
22. फिलास्फी ऑफ द बम्ब	भगवतीचरण बोहरा
23. व्हाई सोशलिज्म	जयप्रकाश नारायण
24. गांधी वर्सेज लेनिन	एस. ए. डांगे
25. प्राब्लम ऑफ द ईस्ट	लार्ड कर्जन
26. नील दपर्ण	दीनबंधु मित्र
27. इंडिया टुडे	आर. पी. दत्त
28. इंडिया वीन्स फ्रीडम	अबुल कलाम आजाद
29. ठाकुरमार झोली	डी. एम. मजूमदार
30. इंडिया अनरेस्ट	वेलेन्टाइन शिरोल

CHRONICLE IAS ACADEMY

गोपनीय रिपोर्ट की चर्चा सर्वप्रथम वेडरवर्न द्वारा लिखित ह्यूम की जीवनी में हुई थी जो 1913 में प्रकाशित हुई। इस गोपनीय रिपोर्ट की उत्पति कहाँ से हुई, यह ह्यूम तक कैसे पहुँची तथा इसके सत्य होने की क्या संभावना है आदि तथ्यों पर अभी भी शोध जारी है।

कुल मिलाकर यह ''सेफ्टी वॉल्ब'' का सिद्धान्त सच्चाई का बहुत छोटा अंश है और यह पूरी तरह अपर्याप्त और भ्रामक है। राष्ट्रीय कांग्रेस, सबसे बढ़कर राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीयों की इस आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती थी कि उनकी आर्थिक और राजनीतिक प्रगति के लिए कार्यरत एक पूर्णकालिक राष्ट्रीय संगठन बनाया जाय। हम पहले ही देख चुके हैं कि कुछ जबर्दस्त शक्तियों के कार्यरत होने के परिणामस्वरूप देश में राष्ट्रीय आन्दोलन पहले से ही फैल रहा था। इस आन्दोलन के जन्म के लिए किसी एक व्यक्ति या कुछेक व्यक्तियों को श्रेय नहीं दिया जा सकता। ह्यूम के अपने उद्देश्य भी मिले जुले थे। वे सेफ्टी वॉल्व बनाने के विचार से कहीं अधिक श्रेष्ठ विचारों से प्रेरित थे। वे भारत तथा उसके गरीब किसानों से सचमुच प्यार करते थे। कुछ भी हो, राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म देने में जिन भारतीय नेताओं ने ह्यूम से सहयोग किया वे ऊँचे चरित्र वाले देशभक्त लोग थे। उन्होंने जानबूझकर ह्यूम की सहायता इसलिए की थी कि वे राजनीतिक कार्यकलापों के आरंभ में ही अपने प्रयासों के प्रति सरकार की शत्रुता मोल नहीं लेना चाहते थे। उन्हें आशा थी कि एक सेवानिवत्त प्रशासक की उपस्थिति अधिकारियों की आशंकाओं का समाधान करेगी। अगर ह्यूम कांग्रेस का उपयोग एक 'सेफ्टी-वॉल्ब' के रूप में करना चाहते थे तो कांग्रेस के आरंभिक नेताओं को आशा थी कि वे हयूम का उपयोग एक ''तड़ित चालक'' के रूप में कर सकेंगे।

इस तरह 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ छोटे पैमाने पर लेकिन संगठित रूप में विदेशी शासन से भारत की मुक्ति का संघर्ष आरंभ हो गया। आरंभ से ही कांग्रेस ने एक पार्टी नहीं, बल्कि आन्दोलन का काम किया। 1886 में कांग्रेस के 436 प्रतिनिधि विभिन्न स्थानीय संगठनों तथा समूहों द्वारा चुने गये थे। इसके बाद कांग्रेस हर वर्ष दिसम्बर में और हर बार देश के एक नए भाग में अपने अधिवेशन करती रही। जल्द ही इसके प्रतिनिधियों की संख्या बढ़कर हजारों में पहुँच गयी। इसके प्रतिनिधियों में अधिकांश लोग वकील, पत्रकार, व्यापारी, उद्योगपति, अध्यापक और जमींदार होते थे। 1890 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की पहली महिला स्नातक कार्दबिनी गांगुली ने कांग्रेस के अधिवेशन को संबोधित किया। यह इस बात का प्रतीक था कि भारत का स्वाधीनता संग्राम स्त्रियों को उस पतित अवस्था से उबारेगा जिसमें वे सदियों के कालक्रम में पहुँचा दी गयी थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कोई एक धारा नहीं थी जिसमें राष्ट्रवाद ही नही, आगे बढ़ी। प्रांतीय सम्मेलन और स्थानीय समितियों और राष्ट्रवादी समाचार पत्र भी बढ़ते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलन के प्रमुख उद्घोषक थे। खासकर प्रेस राष्ट्रवादी विचारों तथा राष्ट्रवादी आन्दोलन को फैलाने का प्रमुख साधन बन गया था।

कांग्रेस का नरमपंथी चरण

1905 तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर उन लोगों का वर्चस्व था जिनको प्राय: नरमपंथी राष्ट्रवादी कहा जाता है। इस युग में दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशा वाचा, वोमेश चन्द्र बनर्जी और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेता कांग्रेस की राजनीति पर छाए हुए थे और वे लोग उदारवादी तथा परिमित राजनीति (Moderate politics) में विश्वास करते थे।

''कानून की सीमा में रहकर संवैधानिक आंदोलन तथा धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से राजनीतिक प्रगति,'' इन शब्दों में नरमपंथियों की राजनीतिक

31.	प्राच्य और पाश्चात्य	स्वामी विवेकानंद
32.	निबंधमाला	विष्णुकृष्ण चिपलुंकर
33.	गौ करूणानिधि	स्वामी दयानंद
34.	लेटर्स फ्रॉम रसिया	रवीन्द्र नाथ टैगोर
35.	विदर इंडिया	जवाहर लाल नेहरू
36.	सोवियत एशिया	जवाहर लाल नेहरू
37.	पाथेर दावी	अवनीन्द्र नाथ टैगोर
38.	हिस्ट्री आफॅ हिन्दू कैमिस्ट्री	पी. सी. राय
39.	पीजेंट्री ऑफ बंगाल	आर. सी. दत्त

पद्धति को संक्षेप में रखा जा सकता है। उनका विश्वास था कि यदि जनमत को उभारा और संगठित किया जाये और प्रार्थनापत्रों, सभाओं, प्रस्तावों तथा भाषणों के द्वारा अधिकारियों तक जनता की माँगों को पहुँचाया जाये तो वे धीरे-धीरे एक-एक करके इन माँगों को पूरा करेंगे।

इसलिए उनके राजनीतिक कार्य की दो दिशाएं थी। प्रथम, भारत की जनता में राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना जगाने के लिए एक शक्तिशाली जनमत तैयार करना तथा जनता को राजनीतिक प्रश्नों पर शिक्षित तथा एकताबद्ध करना। राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव तथा प्रार्थना पत्र भी मूलत: इसी लक्ष्य द्वारा निर्देशित थे। हालांकि देखने में तो उनके स्मरण पत्र और प्रार्थना पत्र सरकार को संबोधित थे, मगर उनका वास्तविक उद्देश्य भारतीय जनता को शिक्षित करना था। दूसरे, आरंभिक राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करना चाहते थे ताकि जिस प्रकार के सुधार राष्ट्रवादियों द्वारा सुझाए गये थे उनको लागू किया जाये। नरमपंथी राष्ट्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिश जनता और संसद भारत के साथ न्याय तो करना चाहती थी, मगर उन्हें यहाँ की वास्तविक स्थिति की जानकारी नहीं थी। इसलिए भारतीय जनमत को शिक्षित करने के साथ-साथ नरमपंथी राष्ट्रवादी ब्रिटिश जनमत को भी शिक्षित करने के प्रयास कर रहे थे। इस उद्देश्य से उन्होंने ब्रिटेन में जमकर प्रचार कार्य किया। भारतीय पक्ष को सामने रखने के लिए प्रमुख भारतीयों के दल को ब्रिटेन भेजा गया। 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति बनाई गयी। इस समिति ने 1890 में ''इंडिया'' नामक एक पत्रिका भी निकालनी प्रारंभ की। दादा भाई नौरोजी ने अपने जीवन तथा आय का एक बड़ा हिस्सा इंग्लैड में रहकर वहाँ की जनता में भारत की माँगों का प्रचार करने में लगा दिया। यह भी निर्णय लिया गया था कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन 1892 में लन्दन में किया जाये परन्तु 1891 में अंग्रेजी चुनाव होने की घोषणा की गई, अतएव मामला स्थागित कर दिया गया और फिर कभी नहीं उठाया गया।

वस्तुत: समकालीन कांग्रेसी विश्वास करते थे कि अंग्रेज न्यायप्रिय लोग हैं और वे भारत से न्याय ही करेंगे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के हित में है, अतएव वे लोग अंग्रेजी सरकार को शत्रु नहीं अपना मित्र समझते थे। वे आशा करते थे कि कालांतर में अंग्रेज उन्हें अपनी परम्पराओं के अनुसार स्वशासन करने में योग्य बना देंगे। वे यह समझते थे कि भारत की उन्नति में बाधा अंग्रेजी उपनिवेशवादी नीति नहीं अपितु भारतीयों का समाजिक और आर्थिक पिछड़ापन है या प्रतिक्रियावादी नौकरशाही। 1866 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए अंग्रेजी राज्य के लोगों का सविस्तार वर्णन किया तो 1898 में अध्यक्ष पद से आनंद मोहन बोस ने कहा कि, ''शिक्षित भारतीय इंग्लैड का शत्रु नहीं, अपितु उसके सम्मुख बड़े कार्य में उसका प्राकृतिक और आवश्यक सहयोगी है।'' लेकिन बाद में जब उन्होंने ब्रिटिश शासन की बुराइयों तथा सुधार की राष्ट्रवादी माँगों को स्वीकार करने में सरकार की असफलता को समझा तो उनमें से अनेक ने ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी की कसम खाना बंद करके भारत के

CHRONICLE IAS ACADEMY

लिए स्वशासन की माँग उठाना प्रारंभ कर दिया। इसके अलावा उनमें से अनेक इसलिए नरमपंथी थे क्योंकि वे समझते थे कि विदेशी शासकों को खुलकर चुनौती देने का समय अभी नहीं आया है।

कार्यक्रम और कार्यकलाप

आरंभ के राष्ट्रवादी नेताओं का विश्वास था कि देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए सीधी लड़ाई लड़ना अभी व्यवहारिक नहीं है। जो कुछ व्यवहारिक था वह यह था कि राष्ट्रीय भावना को जगाया तथा मजबूत किया जाये, बड़ी संख्या में भारतीय जनता को राष्ट्रवादी राजनीति की धारा में लाया जाये और राजनीतिक आन्दोलन के लिए उन्हें शिक्षित किया जाय। इस संबंध में पहला महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक प्रश्नों में जनता की रूचि विकसित करना तथा देश में जनमत का संगठन करना था। दूसरे राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय माँगों का निरूपण किया जाना था ताकि उभरते हुए जनमत को एक अखिल भारतीय स्वास्थ्य मिल सके। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि पहले पहल राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीयों तथा राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं और नेताओं में राष्ट्रीय एकता पैदा की जाय।

आरंभिक राष्ट्रीय नेता इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि भारत अभी हाल में एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में पहुँचा है; दूसरे शब्दों में भारत अभी एक नवोदित राष्ट्र था। भारत के राष्ट्रीय स्वास्थ्य को बहुत सावधानी से निखारने की जरूरत थी। भारतीयों को बहुत होशियारी से एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया जाना था। राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीयों को क्षेत्र, जाति या धर्म के भेदों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित और मजबूत करने के लिए लगातार उठकर काम करना पड़ रहा था। आरंभिक राष्ट्रवादियों ने अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक माँगों का निर्धारण इस बात को दृष्टि में रखकर किया कि भारतीय जनता को एक साझे आर्थिक राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठित करना है।

1. साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना : साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना आरंभिक राष्ट्रवादियों का संभवत: सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य था। उन्होंने तत्कालीन औपनिवेशिक आर्थिक शोषण के सभी तीनों रूपों, अर्थात् व्यापार, उद्योग तथा वित्त के द्वारा शोषण पर ध्यान दिया। उन्होंने अच्छी तरह समझा कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद का मूल तत्व भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन बनाना था। भारत में एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों को विकसित करने के ब्रिटिश प्रयासों का उन्होंने तीखा विरोध किया। ये तत्व थे-कच्चा माल पैदा करने वाले देश, ब्रिटिश उद्योगों में तैयार माल के लिए मंडी तथा विदेशी पूँजी के निवेश के क्षेत्र के रूप में भारत का रूपांतरण। उन्होंने औपनिवेशिक ढाँचे पर आधारित सरकार की लगभग सभी महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों के खिलाफ एक शक्तिशाली आन्दोलन खड़ा किया।

आरंभिक राष्ट्रवादी भारत की बढ़ती गरीबी तथा आर्थिक पिछड़ेपन और यहाँ तक कि आधुनिक उद्योग-धंधों तथा कृषि के विकास की असफलता को लेकर दु:खी थे। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। दादा भाई नौरोजी ने 1881 में ही कहा था कि ब्रिटिश शासन ''एक स्थायी तथा लगातार बढ़ता हुआ विदेशी आक्रमण है जो धीरे-धीरे सही मगर पूरी तरह देश को नष्ट कर रहा है।'' भारत के परम्परागत हस्त उद्योगों को नष्ट करने तथा आधुनिक उद्योगों के विकास में बाधा डालने के लिए सरकार की नीतियों की राष्ट्रवादियों ने आलोचना की। उनमें अधिकांश ने भारतीय रेलवे, बगानों, तथा उद्योगों में विदेशी पूँजी के भारी निवेश का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि इससे भारतीय पूँजीपतियों का उत्पीड़न होगा और भारत की अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक प्रणाली पर ब्रिटेन का दबदबा और मजबूत होगा। उन्हें विश्वास था कि विदेशी पूँजी के निवेश से मौजूदा पीढ़ी ही नहीं, बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी गंभीर आर्थिक और राजनीतिक खतरे पैदा होंगे। उन्होंने बताया कि भारत की निर्धनता को दूर करने का प्रमुख उपाय आधुनिक उद्योगों का तीव्र विकास है। वे चाहते थे कि सरकार चुंगी द्वारा संरक्षण तथा प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर आधुनिक उद्योगों को प्रोत्साहन दे। भारतीय उद्योग को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने स्वदेशी, अर्थात् भारतीय मालों के उपयोग तथा ब्रिटिश मालों के बहिष्कार के विचार को प्रोत्साहित किया। उदाहरण के लिए 1896 में एक व्यापक स्वदेशी कार्यक्रम के अंग के रूप में पूना तथा महाराष्ट्र के दूसरे नगरों में विदेशी वस्त्रों की खुलेआम होली जलाई गयी

राष्ट्रवादियों को शिकायत थी कि भारत की दौलत इंग्लैंड ले जाई जा रही है और उन्होंने इस दोहन को रोकने की माँग की। किसानों पर करों का बोझ कम करने के लिए उन्होंने जमीन की मालगुजारी घटाने के सवाल पर निरंतर आन्दोलन चलाया। इनमें से कुछ ने उस अर्द्ध स्वामी कृषि संबंधों की भी आलोचना की जिनको अंग्रेज बनाए रखना चाहते थे। बगान मजदूरों के काम की परिस्थितियों में सुधार के लिए राष्ट्रवादियों ने आन्दोलन किए। उन्होंने भारी करों को भारत की गरीबी का एक कारण बताया और नमक कर खत्म करने तथा जमीन की मालगुजारी घटाने की माँग की। उन्होंने भारत सरकार के भारी फौजी खर्च की निन्दा की तथा इसे घटाने की माँग की। समय गुजरने के साथ-साथ अधिकाधिक राष्ट्रवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचते गये कि विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा देश का आर्थिक शोषण, उसे निर्धन बनाना तथा उसके आर्थिक पिछड़ेपन की बनाए रखना, ये ऐसी बाते थीं जो विदेशी शासन के कुछ लाभकारी पहलुओं पर पानी फेर देती थी।

आर्थिक प्रश्नों पर राष्ट्रवादी आन्दोलन के कारण अखिल भारतीय स्तर पर यह विचार फैला कि ब्रिटिश शासन भारत के शोषण पर आधारित है, भारत को गरीब बना रहा है तथा आर्थिक पिछड़ापन और अंधविश्वास पैदा कर रहा है। ब्रिटिश शासन से परोक्ष ढंग से जो भी लाभ हुए हों, उनके मुकाबले हानियाँ बहुत अधिक थीं।

2. संवैधानिक सुधारों की माँग : राष्ट्रवादियों का आरंभ से ही यह विश्वास था कि भारत में अंतत: लोकतांत्रिक स्वशासन लागू होना चाहिए। लेकिन उन्होंने इस लक्ष्य को तुरन्त प्राप्त किए जाने की माँग नहीं की। उनकी तत्कालिक माँगे अत्यंत साधारण थी। वे एक एक कदम उठाकर स्वाधीनता की मंजिल तक पहुँचना चाहते थे। वे इस बात से सावधान भी थे कि कहीं सरकार उनकी गतिविधियों को कुचल न दे। उन्होंने 1885 से 1892 तक विधायी परिषदों के प्रसार और सुधार की ही माँगें उठाई।

उन्हीं के आन्दोलनों के दबाव से सरकार को 1892 का भारतीय परिषद कानून पास करना पड़ा। इस कानून द्वारा शाही विधायी परिषद तथा प्रांतीय परिषदों में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। इनमें से कुछ सदस्यों को भारतीय अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुन सकते थे, मगर बहुमत सरकारी सदस्यों का ही रहता। राष्ट्रवादी 1892 के सुधार से पूरी तरह असंतुष्ट थे तथा उन्होंने उसे मजाक बतलाया।

उन्होंने परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाने तथा उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने की मांग उठाई। खास तौर पर उन्होंने सार्वजनिक धन पर भारतीयों के नियंत्रण की मांग की तथा वह नाम दिया जो इससे पहले अमरीकी जनता ने अपने स्वाधीनता युद्ध के दौरान लगाया था। वह नारा था ''प्रतिनिधित्व नहीं तो कर भी नही'' पर साथ ही साथ वे अपने लोकतांत्रिक मांगों के आधार को व्यापक बनाने में असफल रहे, उन्होंने जनता या स्त्रियों के लिए मताधिकार की माँग नहीं की। बीसवीं सदी के आरंभ तक राष्ट्रवादी नेता और आगे बढ़ चुके थे और उन्होंने आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज पर ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर ही स्वशासन

CHRONICLE IAS ACADEMY

(स्वराज्य) का दावा पेश किया। कांग्रेस के मंच से इस मांग को 1905 में गोखले और 1906 में दादा भाई नौरोजी ने उठाया।

3. प्रशासकीय सुधारों की मांग : आरंभिक राष्ट्रवादी व्यक्तिवादी प्रशासकीय फैसलों के निर्भीक आलोचक थे। उन्होंने भ्रष्टाचार, निकम्मापन और दमन से ग्रस्त शासन प्रणाली के सुधार के लिए अथक प्रयास किए। जो सबसे महत्वपूर्ण प्रशासकीय सुधार वे चाहते थे, वह यह था कि प्रशासकीय सेवाओं के उच्चतर पदों का भारतीयकरण हो। उन्होंने आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक आधार पर यह मांग उठाई। आर्थिक दृष्टि से उच्चतर पदों पर यूरोपीय एकाधिकार दो कारणों से हानिकारक था–

(1) यूरोपीय लोगों को बहुत ऊँचे वेतन दिए जाते थे और इससे भारत का प्रशासन बहुत खर्चीला हो जाता था, जबकि समान योग्यता वाले भारतीयों को कम वेतन पर रखा जा सकता था।

(2) यूरोपीय लोग अपने वेतन का एक बड़ा भाग भारत के बाहर भेज देते थे और उनको पेंशन भी इंग्लैंड में दिया जाता था। इससे भारत की संपत्ति का दोहन और बढ़ता था।

(3) राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों का मत था कि इन सेवाओं का भारतीयकरण करने पर प्रशासन भारत की आवश्यकताओं के प्रति सजग होता। उनका मानना था कि भारतीय प्रशासकों को भारतीय समस्याओं का अधिक ज्ञान होने के कारण वे बेहतर प्रशासक हो सकते थे।

नैतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों का मानना था कि भारत का प्रशासन भारतवासियों के द्वारा ही चलाया जाय।अन्यथा उनकी प्रशासकीय और सैनिक योग्यताएं उपयोग के बिना धीरे-धीरे नष्ट हो जायेंगी और वे अपने ही देश में मात्र मजदूर बनकर रह जायेंगे।

(4)न्यायिक सुधार की मांग : राष्ट्रवादियों की मांग थी कि न्यायिक अधिकारों को कार्यकारी अधिकारों से अलग किया जाय ताकि पुलिस और नौकरशाही के मनमाने अत्याचारों से जनता को कुछ सुरक्षा मिले। उन्होंने जनता के साथ पुलिस और दूसरे सरकारी अमलों के दमनकारी और निरंकुश व्यवहार के खिलाफ आन्दोलन किए। उन्होंने कानूनी प्रक्रिया में लगने वाली देरी तथा न्याय व्यवस्था के ऊँचे खर्च की आलोचना की।

(5)नागरिक अधिकारों की रक्षा की मांग : आरंभ में ही राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीय लोकतंत्र ही नहीं, बल्कि भाषण, प्रेस, विचार तथा संगठन की स्वतंत्रता जैसे आधुनिक नागरिक अधिकारों के प्रति भी आकर्षित थे। जब भी सरकार इन नागरिक अधिकारों को सीमित करने का प्रयास करती, वे जमकर उनका विरोध करते। यही वह काल था जिसमें राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्य के फलस्वरूप आम तौर पर पूरी भारतीय जनता तथा खासतौर पर शिक्षित वर्गों में लोकतांत्रिक विचार अपनी जड़ें जमाने लगे।

वास्तव में लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का संघर्ष स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष का अभिन्न अंग बन गया। 1897 में बम्बई की सरकार ने तिलक तथा दूसरे कई नेताओं तथा समाचार पत्रों के सम्पादकों को सरकार के खिलाफ असंतोष भड़काने के लिए गिरफ्तार कर लिया और उन पर मुकदमा चलाया। उनको लम्बी कैद की सजायें दी गयी। इसी के साथ पूना के दो नाटु भाइयों को बिना किसी मुकदमे के अण्डमान भेज दिया गया। जनता की स्वतंत्रता पर इस हमले का पूरे देश में विरोध हुआ। इसी घटना ने तिलक को अखिल भारतीय नेता बना दिया।

(6)सरकार की विदेश नीति की आलोचना : राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत के पड़ोसी देशों के प्रति सरकार की आक्रामक विदेशी नीति का विरोध किया। उन्होंने बर्मा के अधिग्रहण, अफगानिस्तान पर हमले तथा पश्चिमोत्तर भारत की आदिवासी जनता के दमन का भी विरोध किया।

(7)कल्याणकारी उपायों की मांग : राष्ट्रवादियों ने सरकार से आग्रह किया कि वह राज्य की ओर से कल्याणकारी गतिविधियां चलाए। उन्होंने जनता में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर बहुत अधिक जोर दिया। उन्होंने तकनीकी और उच्च शिक्षा की सुविधाएं बढ़ाने की भी मांग उठाई।

सूदखोरों के चुंगल से किसानों को बचाने के लिए उन्होंने कृषि बैंकों की स्थापना की मांग की। वे चाहते थे कि सरकार खेती का विकास तथा देश को अकाल से बचाने के लिए बड़े पैमाने पर सिंचाई योजनाएं लागू करे।

उन्होंने चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने की मांग की। उन्होंने पुलिस को ईमानदार, कुशल ओर जनप्रिय बनाने के लिए पुलिस व्यवस्था में सुधार की मांगें उठाई।

राष्ट्रवादियों ने उन भारतीय मजदूरों के पक्ष में भी आवाज उठाई जो गरीबी से मजबूर होकर रोजगार की तलाश में दक्षिण अफ्रीका, मलाया, मारीशस, वेस्टइंडीज या ब्रिटिश गुयाना चले जाते थे। इनमें से अधिकांश देशों में उन्हें निर्मम दमन तथा जातीय भेदभाव का सामना करना पड़ता था। यह बात दक्षिण अफ्रीका के बारे में खासतौर पर महत्वपूर्ण थी, जहाँ भारतीयों के मूलभूत मानव अधिकारों की रक्षा के लिए मोहनदास करमचन्द गांधी एक जनसंघर्ष चला रहे थे।

कांग्रेस के प्रति अधिकारी वर्ग का स्वरूप: आरंभ से ही ब्रिटिश अधिकारी उभरते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति शंकालु थे। वायसराय डफरिन ने ह्यूम को यह सुझाव दिया कि कांग्रेस राजनीतिक नहीं, बल्कि सामाजिक मामलों को देखे और इस तरह उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को दिशाभ्रष्ट करना चाहा। डफरिन ने 1886 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के प्रतिनिधियों को 'उद्यान भोज' दिया था जिसमें स्पष्ट किया गया था कि यह निमन्त्रण कांग्रेस के प्रतिनिधियों को नहीं, अपितु कलकत्ता आए हुए दर्शकों को है। जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस अधिकारियों के हाथों का खिलौना नही बन सकती और यह धीरे-धीरे भारतीय राष्ट्रवाद का केन्द्र बिन्दु बनती जा रही थी। अत: 1887 के बाद सरकार का रुख कठोर होता चला गया तथा ब्रिटिश अधिकारी खुलकर राष्ट्रीय कांग्रेस तथा दूसरे राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं की आलोचना और निन्दा करने लगे। डफरिन से लेकर नीचे तक के सभी ब्रिटिश अधिकारी राष्ट्रवादी नेताओं को 'बेवफा बाबू', 'राजद्रोही ब्राह्मण' तथा 'हिंसक खलनायक' कहने लगे। कांग्रेस को ''राजद्रोह का कारखाना'' कहा जाने लगा। डफरिन ने कांग्रेस के राष्ट्रीय चरित्र को चुनौती दी और कहा कि यह तो केवल एक ''सूक्ष्मदर्शी अल्पसंख्या'' का प्रतिनिधित्व करती है और कांगेस की मांगों को अज्ञान में छलांग की संज्ञा दी। 1890 में सरकारी सेवकों को कांग्रेस में सम्मिलित होने की आज्ञा नहीं रही।

लार्ड कर्जन ने 1890 में विदेश सचिव को बतलाया कि, ''कांग्रेस को महल भरभरा रहा है और भारत में रहते हुए मेरी मुख्य महत्वाकांक्षा यह है कि मैं शांति के साथ इसे मरने में सहयोग दे सकूं।'' भारतीय जनता की बढ़ती एकता उनके शासन के लिए बड़ा खतरा है, यह महसूस करके अंग्रेज अधिकारियों ने ''बांटो और राज करो'' के साथ-साथ 'डांट पुचकार' की नीति भी अपनाई। उन्होंने सैय्यद अहमद खान, बनारस के राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द', हैदराबाद के निजाम, सर दिनाश मानकजी तथा दूसरे ब्रिटिश समर्थक व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया कि वे कांग्रेस के खिलाफ आन्दोलन चलाएं। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में भी फूट डालने की कोशिश की। डांट और पुचकार की नीति के अन्तर्गत नाममात्र के सुधारों का दिखावा कर नरमपंथियों को संतुष्ट करने का प्रयास हुआ तो दूसरी तरफ भय और बल का भी प्रदर्शन किया गया। एल्गिन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि ''भारतवर्ष तलवार के बल पर जीता गया था और तलवार के बल पर ही उसे ब्रितानी कब्जे में रखा जायेगा।''

CHRONICLE IAS ACADEMY

सरकार शिक्षा और प्रेस पर अंकुश लगाकर राष्ट्रीयता की भावना कुचलने का प्रयास करती रही, परन्तु प्रत्येक दमनात्मक कार्यवाही ने राष्ट्रीयता की भावना विकसित ही की।

जनता की भूमिका : संकुचित समाजिक आधार आरंभिक राष्ट्रीय आन्दोलन की बुनियादी कमजोरी थी। अभी जनता में इस आन्दोलन की पैठ नहीं हुई थी। वास्तव में जनता में नेताओं की कोई राजनीतिक आस्था नहीं थी। नरमपंथी नेताओं का विश्वास था कि औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जुझारू जनसंघर्ष तभी छेड़ा जा सकता है जबकि भारतीय समाज के बहुविध तत्वों को एक राष्ट्र के रूप में बांधा जा चुका हो। परन्तु वास्तव में यही तो वह संघर्ष था जिसके दौरान भारतीय राष्ट्र का निर्माण हो सकता था। जनता के प्रति इस गलत दृष्टिकोण का नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन के आरंभिक चरण में जनता की एक निष्क्रिय भूमिका ही रही। इससे राजनीतिक नरमी का जन्म हुआ। जनता के समर्थन के अभाव में वे जुझारू राजनीतिक उपाय नहीं अपना सकते थे। फिर भी आरंभिक राष्ट्रीय आन्दोलन के संकुचित सामाजिक आधार से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि यह उन्हीं सामाजिक वर्गों के संकुचित हितों तक सीमित था जो इसमें शामिल थे। इसके कार्यक्रम तथा इसकी नीतियाँ भारतीय जनता के सभी वर्गों के हितों से जुड़ी थी और औपनिवेशिक वर्चस्व के विरूद्ध उदीयमान भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करती थी।

आलोचनात्मक मूल्यांकन : कुछ आलोचकों का विचार है कि राष्ट्रवादी आन्दोलन और राष्ट्रीय कांग्रेस को आरंभिक चरण में अधिक सफलता नहीं मिली। जिन सुधारों के लिए राष्ट्रवादियों ने आन्दोलन छेड़े उनमें से सरकार ने बहुत थोड़े सुधार ही लागू किए।

यद्यपि इस आलोचना में बहुत कुछ सच्चाई है फिर भी आरंभिक राष्ट्रीय आन्दोलन को असफल घोषित करना भी ठीक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो जो काम उन्होंने हाथ में लिए थे, उसकी तात्कालिक कठिनाइयों को देखते हुए इस आन्दोलन का इतिहास बहुत उज्जवल है। यह अपने समय की सबसे प्रगतिशील शक्ति का सूचक था। यह एक व्यापक राष्ट्रीय जागृति लाने तथा जनता में एक ही भारतीय राष्ट्र का सदस्य होने की भावना जगाने में सफल रहा। इसने भारतीय जनता को उनके साझे राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों से जुड़े होने तथा साम्राज्यवाद के रूप में एक साझे शत्रु के आस्तित्व के प्रति जागरूक किया और इस प्रकार उनको एक राष्ट्र में एकताबद्ध किया। इसने जनता को राजनीतिक कार्य में प्रशिक्षित किया, उनमें जनतंत्र, नागरिक स्वतंत्रताओं, धर्म निरपेक्षता तथा राष्ट्रवाद के विचारों को लोकप्रिय बनाया, उनमें आधुनिक दृष्टिकोण जगाया तथा ब्रिटिश शासन की बुराइयों को उनके सामने रखा।

सबसे बड़ी बात यह है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सही चरित्र को निर्ममतापूर्वक उजागर करने में आरंभिक राष्ट्रवादियों ने अग्रणी भूमिका निभाई। उन्होंने लगभग प्रत्येक महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न को देश की राजनीतिक रूप से पराधीन स्थिति से जोड़ा। साम्राज्यवाद की शक्तिशाली अर्थशास्त्रीय आलोचना, ब्रिटिश शासन के खिलाफ बाद में हुए सक्रिय जनसंघर्ष के दौरान राष्ट्रवादी आन्दोलन का एक प्रमुख अस्त्र बन गयी। आरंभिक राष्ट्रवादी आन्दोलन ने एक साझा राजनीतिक आर्थिक कार्यक्रम भी पेश किया जिसके आधार पर भारतीय जनता एकजुट होकर बाद में राजनीतिक संघर्ष चला सकी। इसने यह राजनीतिक सत्य सामने रखा कि भारत का शासन भारतीयों के हित में चलना चाहिए। इसने राष्ट्रवाद के प्रश्न को भारतीय जीवन का एक प्रमुख प्रश्न बना दिया। इनके अलावा नरमपंथियों का राजनीतिक कार्यधर्म भावुकता की खोखली भावना का दुहाई न देकर जनता के जीवन की ठोस वास्तविकता के अध्ययन और विश्लेषण पर आधारित था।

आरंभिक आन्दोलन की कमजोरियों को तो बाद की पीढ़ियों ने दूर कर दिया और उसकी उपलब्धियाँ आगे के वर्षो में एक और जोरदार राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बन गयी। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अपनी तमाम कमियों के बावजूद आरंभिक राष्ट्रवादियों ने वह बुनियाद बनाई जिस पर राष्ट्रीय आन्दोलन आगे और भी विकसित हुआ। अतः आरंभिक राष्ट्रवादियों को आधुनिक भारत के निर्माताओं में ऊँचा स्थान मिलना चाहिए।

आर्थिक राष्ट्रीयता

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य उनका साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन था। उन्होंने उस वक्त के आर्थिक शोषण के तीनों रूपों यानि व्यापार, उद्योग और वित्त पर नजर रखी। वे अच्छी तरह समझ गये कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद के पीछे सार दृष्टि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रितानी अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। इन राष्ट्रवादियों ने भारत की गरीबी के लिए सरकारी नीतियों को उत्तरदायी माना राजाराम मोहनरायस ने 1831 में हॉउस ऑफ कॉमन्स की प्रवर समिति के समक्ष इस मुद्दे को उठाया था। उन्होंने संपत्ति के दोहन की राशि के अनुमान लगाने का भी प्रयास किया था। दादा भाई नौरोजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के आर्थिक दुष्परिणामों की विवेचना की। धन निष्कासन के परिणामों की गंभीरता को समझकर राष्ट्रवादियों ने सरकारी आर्थिक नीतियों में बदलाव की मांग की। संपदा के निष्कासन पर रोक लगाने, किसानों पर करों का बोझ कम करने, विदेशी पूंजी के भारत आने पर रोक लगाने, भारतीय उद्योगों को विकसित करने की मांग सरकार के सामने रखी गयी। इन राष्ट्रवादियों की अन्य मांगें थी- बगानों के मजदूरों के काम करने की स्थितियों को सुधारा जाय, नमक कर समाप्त किया जाय तथा भारतीय शासन के अत्यधिक सैनिक व्यय में कमी की जाय।

कांग्रेस के अधिकांश नेताओं ने आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही धारणाओं से व्यापक स्तर पर रेलवे, बगानों तथा उद्योगों में विदेशी पूंजी के लगाए जाने का विरोध किया। साथ ही उन्होंने सरकार द्वारा इन क्षेत्रों में विदेशी पूंजी लगाए जाने के लिए दी गयी विशेष सुविधाओं का भी विरोध किया तथा नागरिक सेवाओं पर किए जाने वाले व्यय की आलोचना करके अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के औचित्य को ही चुनौती दे डाली। भू-राजस्व तथा कर नीतियों की भर्त्सना करके उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन के वित्तीय आधार को ही दुर्बल करने का प्रयास किया।

भारतीय नेतागण छुटपुट क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति के बजाय देश के समग्र आर्थिक विकास के लिए चिन्तित थे। उनके लिए सबसे बड़ा सवाल भारत की आर्थिक खुशहाली था। राष्ट्रवादी नेताओं की इस बात के लिए तारीफ की जाएगी कि शहरी, सुशिक्षित मध्यमवर्ग से संबद्ध होते हुए भी वे केवल अपने वर्ग के हितों के लिए ही नहीं सोचते थे। उनका दृष्टिकोण व्यापक व आमजनता की भलाई का था, न कि संकुचित और संकीर्ण स्वार्थसिद्धि का। उनकी आर्थिक नीतियां अवसरवादी मध्यमवर्गीय संकुचित दृष्टिकोण से ऊपर थी।

कुछ महत्वपूर्ण कथन :-

दादा भाई नौरोजी - 'भारत भूख से मर रहा हैं'

आर. सी. दास - 'अगर भारत आज गरीब है तो इसके पीछे सिर्फ आर्थिक कारण है।'

महादेव गोविंद रानाडे - 'स्कूलों और कॉलेजों के बजाय कारखाने कहीं ज्यादा प्रभावशाली ढंग से राष्ट्रीय गतिविधियों को नया जन्म दे सकते हैं।'

लार्ड कर्जन - 'भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए विदेशी पूंजी एक अनिवार्य शर्त है।'

CHRONICLE IAS ACADEMY

हिंदू पत्र (1889) – 'जिस देश में विदेशी पूंजी अपनी जड़ें जमा लेती है, उस देश का प्रशासन तत्काल विदेशी पूंजीपतियों की चिंता का विषय बन जाता है।'

दादा भाई नौरोजी (1867) – 'ब्रिटेन भारत का खून चूस रहा है।'

कांग्रेस के प्रमुख नरमपंथी नेता

कांग्रेस के शैशव काल में उसकी नीतियों को संचालित करने की जिम्मेदारी मुख्यत: दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता और ए०ओ०ह्यूम पर थी।

(1) दादा भाई नौरोजी (Grand Oldman of India): दादा भाई नौरोजी कांग्रेस के विख्यात वयोवृद्ध नेता थे। कांग्रेस की स्थापना से अपनी मृत्यु तक वे इस संस्था से सम्बद्ध रहे। उनका जन्म 4 सितम्बर, 1825 को बम्बई में हुआ था। शिक्षा विभाग में प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य करते हुए भी उन्होंने जनसेवा का काम किया। फलस्वरूप 1805 ई० में उन्हें बम्बई की व्यवस्थापिका सभा का सदस्य निर्वाचित किया गया। वे कलकत्ता में हुए कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन (1886) के अध्यक्ष बनाए गये। 1892 से 1895 तक ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। 1893 तथा 1906 में भी वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने। 1866 में उन्होंने लन्दन में ''ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन'' की स्थापना की। दादा भाई नौरोजी भी फिरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले की तरह अंग्रेजी साम्राज्य को न्याय और नैतिकता पर आधारित मानते थे, परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक दुष्परिणामों को जनता के सामने रखा। अपनी पुस्तक ''पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया'' में धन निष्कासन की प्रक्रिया एवं उसके परिणामों की उन्होंने चर्चा की। 1906 में कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने लोकसेवाओं में भारतीयों की अधिक नियुक्ति करने की मांग की। वे बाद में भारत में स्वशासन की मांग का भी समर्थन करने लगे। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा के विकास का भी आह्वन किया। 1917 में उनकी मृत्यु हो गयी। वे पश्चिम भारत के पारसी परिवार के सदस्य थे।

(2)फिरोजशाह मेहता (1845-1915): फिरोजशाह मेहता दादा भाई नौरोजी के प्रमुख अनुयायियों में थे। इनका जन्म 1845 में बम्बई में हुआ था। वे बम्बई के प्रख्यात वकील थे। विद्यार्थी जीवन में ही इग्लैंड में वे दादा भाई नौरोजी के सम्पर्क में आए। उनके प्रभाव में आकर वे जनसेवा के कार्य में लग गये। उनका राजनीतिक जीवन 1870 के आसपास आरंभ हुआ। 1872 में वे बम्बई कारपोरेशन के सदस्य और 1886 में वे बम्बई विधायिका के सदस्य बनाए गये। सर मेहता भी अंग्रेजों की न्यायप्रियता सत्यता तथा ईमानदारी में विश्वास रखते थे। अंग्रेजी साम्राज्य को वे प्रगति का सूचक तथा भारत के लिए ईश्वरीय देन मानते थे।

(3)गोपाल कृष्णगोखले (1866-1915): भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को वे भी प्रगति का सूचक और भारत के लिए ईश्वरीय देन मानते थे। गोखले महादेव गोविन्द रानाडे, जिन्हें महाराष्ट्र का सुकरात कहा जाता है, के अनुयायी थे। गोखले जी 1884 में रानाडे द्वारा स्थापित दक्कन शिक्षा समिति के सदस्य भी रहे। गोखले ने पहली बार 1889 में इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन के मंच से राजनीति में भाग लिया। 1897 में इन्हें और वाचा को भारतीय व्यय के लिए नियुक्त वेल्बी आयोग के सम्मुख साक्ष्य देने को कहा गया। 1902 में वह बम्बई विधान परिषद के लिए तथा कालान्तर में शाही विधान परिषद के लिए चुने गये। 1905 में वे बनारस कांग्रेस के अध्यक्ष बने। 1906 में वे इग्लैंड गये और 1909 में मार्ले मिन्टो रिपोर्ट बनाने में विशेष भूमिका निभाई। 1910 में वे पुन: शाही विधान परिषद के लिए चुने गये। 1912 से 1915 तक उन्होंने भारतीय लोक सेवा आयोग के सदस्य के रूप में काम किया। 1913 में उन्होंने समस्त भारत में नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा लागू करने के प्रयास किए।

गोखले ने प्राय: शासक और शासित वर्ग के बीच एक मध्यस्थ की कठिन भूमिका निभाई। उन्होंने जनता की आकांक्षा को वायसराय तक और सरकार की कठिनाइयों को कांग्रेस को बताने का प्रयास किया। उग्रवादी दल ने उनकी संयम की बड़ी आलोचना की और प्राय: उन्हें ''शिथिल उदारवादी'' (Faint-hearted moderate) बताया। दूसरी ओर सरकार ने उन्हें कई बार उग्रवादी विचारों वाला व्यक्ति बताया और ''छदम वेशीय विद्रोही'' (A Seditionist in disguise) की संज्ञा दी। मार्ले गोखले को ताल देने वाला चिमटा (Funning fork) कहता था।

1905 में गोखले ने ''भारत सेवक मंडल'' की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारत की सेवा के लिए राष्ट्रीय प्रचारक तैयार करना था और संवैधानिक ढ़ंग से भारतीय जनता के सच्चे हितों को प्रोत्साहन देना था।

गोखले नौरोजी से बहुत प्रभावित थे तभी तो उन्होंने कहा कि, ''यदि मनुष्यों में कहीं देवत्व है तो वह दादा भाई में ही है।'' दादा भाई निश्चय ही अभूतपूर्व व्यक्ति थे, वे भारत के ग्लैडस्टन थे।

(4)सुरेन्द्र नाथ बनर्जी (1848-1925): इनका जन्म 1848 ई० में बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे लंदन में आयोजित होने वाली आइ०सी०एस० की परीक्षा में 1869 में शमिल हुए। वे पहले भारतीय थे जिन्हें इस परीक्षा में सफलता मिली परन्तु सरकार ने उन पर कुछ आरोप लगाकर उन्हें सेवा मुक्त कर दिया। 1876 में उन्होंने कलकत्ता में आनन्द मोहन बोस के साथ मिलकर ''इण्डियन एसोसिएशन'' की स्थापना की। ''बंगाली'' पत्रिका का भी उन्होंने सम्पादन किया। राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए पूरे देश का दौरा किया। कांग्रेस की स्थापना में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। वे बंगाल प्रांतीय विधानसभा के सदस्य भी बने। उन्हें दो बार कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। वे बंग विभाजन के दौरान हुए उपद्रवों के कटु आलोचक थे जिससे उनकी प्रतिष्ठा में कमी आई। गाँधीजी द्वारा आरम्भ किए गये असहयोग आन्दोलन (1920-21) को भी उन्होंने अपना समर्थन नहीं दिया। इसलिए सरकार द्वारा उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की गयी। वे 1921 से 23 तक बंगाल सरकार के मंत्री भी रहे। उन्होंने, ''ए नेशन इन द मेकिंग'' नामक पुस्तक लिखी।

(5)ए०ओ० ह्यूम (1829-1912) : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एवं इसके प्रारंभिक विकास में स्काटलैंड निवासी ए०ओ०ह्यूम का महत्वपूर्ण योगदान है। वे एक उदारवादी थे और भारतीयों से उन्हें गहरी सहानुभूति थी। उन्होंने भारतीयों की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न किए। उन्होंने ''जनता के मित्र'' (Poeple's Friend) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया जिसमें भारतीय समस्याओं से संबंधित लेख छापे गये। 1849 में वे बंगाल सिविल सर्विस में सम्मिलित हुए थे। 1885 से 1906 तक वे कांग्रेस के सचिव भी रहे।

आरंभिक अर्थशास्त्रीय पुस्तक जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषक चरित्र को उजागर किया:

1. Essay In Indian Economic – राणाडे
2. Indian Poverty and UnBritish Rule in India – दादा भाई नरौजी
3. Economic History of India – आर०सी० दत्त

''Drain of Wealth'' की व्याख्या नौरोजी की पुस्तक में की गयी है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

स्वदेशी आंदोलन तथा उग्रवाद में वृद्धि

बंग-भंग आन्दोलन

संभवत: कर्जन का सबसे घृणित कार्य बंगाल का दो भागों में विभाजन करना था। यह कार्य बंगाल और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के कड़े विरोध की उपेक्षा करके किया गया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत सरकार तथा लन्दन स्थित गृह सरकार भारत के लोकमत की उपेक्षा ही नहीं करते, बल्कि धर्म के नाम पर कलह फैलाने से भी नहीं चूकते हैं। इस कार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि याचना तथा प्रतिरोध प्रकट करने से कुछ नहीं होने वाला।

20 जुलाई, 1905 को लार्ड कर्जन ने एक आज्ञा जारी करके बंगाल को दो भागों में बांट दिया। उस समय बंगाल प्रांत में आधुनिक बंग्ला देश, प. बंगाल, बिहार और उड़ीसा सम्मिलित थे। इसका क्षेत्रफल 1,89,000 वर्ग मील और जनसंख्या 8 करोड़ थी, जिसमें बिहार और उड़ीसा की जनसंख्या 2 करोड़ 10 लाख थी। बंटवारे के बाद पूर्वी बंगाल और असम का एक नया प्रांत बनाया गया जिसमें राजशाही, चटगांव और ढाका के तीन डिवीजन सम्मिलित थे। इसका क्षेत्रफल 1,06,540 वर्ग मील और जनसंख्या 3 करोड़ 10 थी, जिसमें से 1 करोड़ 80 लाख मुसलमान थे और 1 करोड़ 20 लाख हिन्दू। इस प्रांत का मुख्य कार्यालय ढाका में था और यह एक लेफ्टिनेन्ट गर्वनर के अधीन था। दूसरी ओर पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा थे जिनका क्षेत्रफल 1,41,580 वर्गमील था और जिनकी जनसंख्या 5 करोड़ 40 लाख थी, जिसमें 4 करोड़ 20 लाख हिन्दू और केवल 90 लाख मुसलमान थे। इसमें बंगाली अल्पसंख्यक थे।

बंगाल के विभाजन के पीछे स्थित कारणों को लेकर व्यापक विवाद रहा है। इतिहासकारों ने इसके अलग-अलग कारण बताये हैं-

1. प्रशासनिक सुविधा के दृष्टिकोण से: सरकारी तौर पर यह दावा किया गया था कि बंगाल का विभाजन प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखकर किया गया। कुछ हद तक इस दावे में दम था। बंगाल का प्रांत काफी बड़ा था और समय-समय पर इसे छोटा करने के सुझाव दिए जाते रहे थे। 1874 में असम और सिलहट को अलग किया गया था। यह दावा किया गया था कि विभाजन से असम के और अधिक विकास में सहायता मिलेगी, साथ ही इससे बंगाल का बोझ भी कम होगा। कर्जन ने इसके स्पष्टीकरण में बताया कि मैमनसिंह और बाकरगंज डिवीजनों के व्यक्ति प्राय: अव्यवस्था और अपराधों के लिए कुख्यात थे और पुलिस इन लोगों से निपटने में असमर्थ थी। एक उप गर्वनर इन विस्तृत प्रदेशों की देखभाल करने में असमर्थ था। इसके अतिरिक्त पहले भी इस प्रकार के प्रदेश विभाजन हो चुके थे, जैसे 1865 में आधुनिक उत्तर प्रदेश को उत्तर पश्चिमी प्रांत बनाकर तथा 1874 में असम का प्रदेश अलग किया जाना।

लेकिन आंतरिक रूप से सरकार या ब्रिटिश शासन के उद्देश्य कुछ और ही थे। अगर सिर्फ प्रशासनिक सुविधा की बात होती तो बंगाल से गैर-बंगालीभाषी बिहार और उड़ीसा को भी अलग किया जा सकता था, लेकिन इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। कर्जन ने कहा था कि, "बंगाल से बाह्य घटकों को अलग करने से तो बंगाली तत्वों की स्थिति और सुदृढ़ हो जायेगी और ठीक वही स्थिति पैदा हो जायेगी जिससे हम बचना चाहते हैं। हमारा प्रस्ताव राजनीतिक रूप से लाभदायक है जिसका प्रमाण है-काँग्रेस का इसे नापसंद करना।" वस्तुत: विभाजन का कारण राजनीतिक था।

2. फूट डालो और राज करो की नीति: राष्ट्रवादी इतिहासकारों की धारणा है कि बंगाल विभाजन का कदम जान-बुझकर, 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अर्न्तगत उठाया गया था। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के प्रारंभ में भारत में राष्ट्रीय चेतना तेजी से विकसित हो रही थी और जुझारू रूख अख्तियार कर रही थी। भारतीय राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र था- बंगाल। अंग्रेजों ने इसी राष्ट्रीय चेतना पर आघात करने के उद्देश्य से ही बंगाल के बंटवारे का निर्णय लिया। लॉर्ड कर्जन के अनुसार- "अंग्रेजी हुकूमत का यह प्रयास कलकत्ता को सिंहासन च्यूत करना, बंगाली आबादी का बंटवारा करना, एक ऐसे केन्द्र को समाप्त करना था जहाँ से सारे देश में व बंगाल में कांग्रेस पार्टी का संचालन होता था तथा साजिशें रची जाती थीं।" यह एक महत्वपूर्ण राजनीतिक चाल थी जिसका उद्देश्य था पश्चिमी और पूर्वी बंगाल के हिन्दू राजनीतिज्ञों के बीच दरार डालना। *रिजले* ने कहा था, "अविभाजित बंगाल एक बड़ी ताकत है। विभाजित होने से यह कमजोर हो जायेगी और हमारा मुख्य उद्देश्य बंगाल का बंटवारा करना है जिससे हमारे दुश्मन बंट जायें, कमजोर पड़ जायें।"

3. सांप्रदायिक भेद का बढ़ावा देना: विभाजन का एक और उद्देश्य जान-बूझकर हिन्दू-मुस्लिम तनावों को बढ़ावा देना था। राष्ट्रवादियों ने यह आरोप लगाया कि बंगाल विभाजन का उद्देश्य बंगाल को धार्मिक तौर पर बांटना था, क्योंकि पूर्वी बंगाल में मुसलमानों और पश्चिमी बंगाल में हिन्दुओं का बहुमत था। इस आक्षेप को *कर्जन* की उस टिप्पणी से बल मिलता है, जो उसने ढाका में भाषण करते हुए की थी-"बंगाली मुसलमानों को एकता का ऐसा अवसर दिया जा रहा है जो मुसलमान सूबेदारों और बादशाहों के समय से उन्हें नसीब नहीं हुआ था।"

4. बंगालियों को अल्पसंख्यक बनाना : बंगाल विभाजन का सिर्फ यह उद्देश्य नहीं था कि बंगालवासियों को दो प्रशासनिक हिस्सों में बांटकर उनके प्रभाव को कम किया जाये। अंग्रेजी हुकूमत का मूल मकसद बंगाल में बंगालियों की आबादी कम करके उन्हें अल्पसंख्यक बना देना था। मूल बंगाल में 1 करोड़ 70 लाख बंगाली और 3 करोड़ 70 लाख उड़ीया व हिन्दीभाषी लोगों को रखने की योजना थी।

इस प्रकार बंगाल विभाजन की योजना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर एक सुनियोजित हमला थी। भारतीय राष्ट्रवदियों ने इसका कड़ा विरोध किया और अंतत: 1911 में वे इसे वापस करवाने में सफल हुए।

परिणाम-बंगाल के विभाजन और उससे उपजी राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के कई दूरगामी परिणाम हुए :

1. तीव्र राष्ट्रीय प्रतिरोध का जन्म : बंगाल के विभाजन को एक राष्ट्रीय अपमान के तौर पर लिया गया और विरोध प्रदर्शनों की बाढ़ आ गयी। शुरुआती दौर में विरोध प्रदर्शन का सहारा लिया गया। विभाजन के दिन को *शोक दिवस* के रूप में मनाने की घोषणा की गयी। कलकत्ता में एक व्यापक विरोध प्रदर्शन का आयोजन हुआ और प्रतिनिधि आन्दोलन को फैलाने के लिए पूरे देश में फैल गये। हिन्दू-मुस्लिम एकता को दर्शाने के लिए हिन्दू-मुसलमानों ने एक-दूसरे की कलाइयों पर राखियां बांधीं।

2. स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन का जन्म : बंग-भंग के विरोध में *'स्वदेशी'* और *'बहिष्कार'* आन्दोलन का जन्म हुआ। बंगाल के नेताओं को लगा कि केवल प्रदर्शनों, सार्वजनिक सभाओं और प्रस्तावों से शासकों पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। इसके लिए और सकारात्मक उपाय करने होंगे, जिनसे जनता की भावनाओं की तीव्रता का अच्छी तरह पता चले। इसका परिणाम था *'स्वदेशी'* और *'बहिष्कार'*। पूरे बंगाल में जनसभाएं की गयीं, जिनमें स्वदेशी अर्थात भारतीय वस्तुओं के उपयोग तथा ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के निर्णय किये गये। अनेक जगहों पर विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी और विदेशी कपड़े बेचने वाली दुकानों पर धरने दिए गये। स्वदेशी आन्दोलन पर्याप्त सफल रहा। इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष था आत्मनिर्भरता पर दिया जाने वाला जोर। आत्मनिर्भरता का

CHRONICLE IAS ACADEMY

मतलब था राष्ट्र की गरिमा, सम्मान और आत्म-विश्वास की घोषणा। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ देशी उद्योग एवं अन्य उद्यमों को बढ़ावा देना था। अनेक कपड़ा मिलें, साबुन और दियासलाई के कारखाने, हैण्डलूम, राष्ट्रीय बैंक और बीमा कंपनियां खुलीं। आचार्य *पी.सी. राय* ने प्रसिद्ध *बंगाल केमिकल स्वदेशी स्टोर्स* की स्थापना की।

3. सांस्कृतिक प्रगति-बंगाल विभाजन और उससे उभरे स्वदेशी आन्दोलन का एक परिणाम सांस्कृतिक प्रगति के रूप में सामने आया। राष्ट्रवादी काव्य, गद्य और पत्रकारिता का विकास हुआ।

4. राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार-साहित्यिक, तकनीकी और शारीरिक शिक्षा देने के लिए राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की। उनका मानना था कि तत्कालीन शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त और राष्ट्रवाद से विमुख करने वाली है। 15 अगस्त, 1906 को एक *राष्ट्रीय शिक्षा परिषद* की स्थापना की गयी। कलकत्ता में एक राष्ट्रीय कॉलेज आरंभ हुआ, जिसके प्रधानाचार्य *अरविंद घोष* थे।

5. राष्ट्रीय आन्दोलन में छात्रों और स्त्रियों का बड़े पैमाने पर प्रवेश : स्वदेशी आन्दोलन में एक प्रमुख भूमिका बंगाल के युवकों ने निभायी। उन्होंने स्वदेशी का प्रचार और प्रसार किया। विदेशी वस्त्रों की होली जलायी। छात्रों का व्यापक दमन भी किया गया, परंतु उन्होंने झुकने से इंकार कर दिया।

स्वदेशी आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता थी स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी। शहरी मध्यम वर्ग की सदियों से घरों में कैद महिलाएं जुलूसों और धरनों में शामिल हुईं। इसके बाद से राष्ट्रवादी आन्दोलन में वे बराबर सक्रिय रहीं।

6. उग्र राष्ट्रवाद का विकास : बंग विभाजन और उससे उपजे विरोध आन्दोलन का स्वाभाविक परिणाम उग्र राष्ट्रवाद के विकास के तौर पर सामने आया। नरमपंथी आन्दोलन का कोई परिणाम सामने नहीं आया था, अत: आन्दोलन धीरे-धीरे उग्रपंथी नेताओं के हाथ में आ गया। इन्होंने स्वदेशी और बहिष्कार के अलावा 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का आह्वान भी किया। उन्होंने जनता से आग्रह किया कि वे सरकार के साथ सहयोग न करें और सरकारी सेवाओं, अदालतों, विद्यालयों, विधानमंडलों का बहिष्कार करें। उन्होंने आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाना चाहा और विदेशी शासन से मुक्ति का नारा दिया। *अरविंद घोष* ने खुलकर यह घोषणा की कि, 'राजनैतिक स्वतंत्रता किसी भी राष्ट्र की प्राणवायु है।' इस तरह बंगाल विभाजन का प्रश्न गौण हो गया और भारत की स्वतंत्रता का प्रश्न भारतीय राजनीति का केन्द्रीय प्रश्न बन गया। उग्र राष्ट्रवादियों ने आत्म बलिदान का आह्वान किया और घोषणा की कि इसके बिना कोई भी महान उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता था। फिर भी उग्र-राष्ट्रवादी जनता को सकारात्मक नेतृत्व देने में विफल रहे।

7. क्रान्तिकारी आतंकवाद का विकास : सरकार का दमन और साथ में जनता को कुशल नेतृत्व देने में नेताओं की असफलता के कारण उपजी कुंठा जैसी बातों ने क्रान्तिकारी आतंकवाद को जन्म दिया। युवकों ने देखा कि शांतिपूर्ण प्रतिरोध और राजनीतिक कार्यवाही के सारे रास्ते बन्द हैं, तो हताश होकर उन्होंने व्यक्तिगत बहादुरी के कार्यों और बम की राजनीति का सहारा लिया। अब उन्हें भरोसा नहीं रहा था कि निष्क्रिय प्रतिरोध से राष्ट्रवादी उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि बारीसाल सम्मेलन के बाद समाचार पत्र *युगांतर* ने 1906 में लिखा कि-'समस्या का समाधान जनता के अपने हाथों में है। उत्पीड़न के इस अभिशाप को रोकने के लिए भारत के तीस करोड़ लोगों को अपने साठ करोड़ हाथ ऊपर उठाने होंगे। ताकत का सामना ताकत से करना होगा।' लेकिन उन्होंने कोई जन क्रांति लाने के बदले, अलोकप्रिय अधिकारियों की हत्या और व्यक्तिगत हिंसा का सहारा लिया। 1907 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर को जान से मारने की कोशिश की गयी। अप्रैल 1908 में *खुदीराम बोस* और *प्रफुल्ल चाकी* ने मुजफ्फरपुर के बदनाम जज को मारने की कोशिश की। आंतकवादी युवकों ने कई गुप्त संगठन भी बनाये, लेकिन यह आन्दोलन धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया।

8. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन: बंग-भंग विरोधी आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर एक गहरा प्रभाव छोड़ा। *नरमपंथी* और *गरमपंथी* राष्ट्रवादियों के बीच जमकर सार्वजनिक बहसें हुईं और मतभेद उभरे। गरमपंथी *स्वदेशी* और *बहिष्कार* को बंगाल से बाहर पूरे देश में फैलाने तथा औपनिवेशिक सरकार के साथ किसी भी रूप में जुड़ने का बहिष्कार करना चाहते थे। नरमपंथी बहिष्कार को सिर्फ बंगाल तक और वहां भी केवल विदेशी मालों तक सीमित रखना चाहते थे। समय के साथ उनके मतभेद बढ़ते ही गये और अंत में 1907 में सूरत अधिवेशन में राष्ट्रीय कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये। नरमपंथी नेता कांग्रेस संगठन पर कब्जा करने तथा उससे गरमपंथियों को निष्कासित करने में सफल रहे। लेकिन अंतत: इस विभाजन से लाभ किसी भी दल को नहीं हुआ। नरमपंथियों का राष्ट्रवादियों की नयी पीढ़ी से सम्पर्क टूट गया। ब्रिटिश सरकार ने भी 'बांटो और राज करो' की नीति का खूब खेल खेला तथा गरमपंथी राष्ट्रवादियों का दमन और नरमपंथियों को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बंग विभाजन और उससे उपजे संघर्ष से देश के बड़े तबके में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ, औपनिवेशिक विचारधारा को धक्का पहुंचा और सांस्कृतिक प्रगति हुई। इस आन्दोलन ने जनमत तैयार करने के कई नये तरीके ईजाद किये। यही संघर्ष भावी राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव बना तथा विभाजन ने भावी संघर्ष का बीज बो दिया। वास्तव में विभाजन विरोधी आन्दोलन के कारण भारतीय राष्ट्रवाद में एक महान और क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस पूँजी का खूब उपयोग किया।

उग्रवाद में वृद्धि

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक कांग्रेस की नरमपंथी नीतियों के विरूद्ध असंतोष बढ़ता जा रहा था। कांग्रेस के पुराने नेताओं और उनकी भिक्षा-याचना की नीति ने कांग्रेस की स्थिति हास्यास्पद बनाकर रख दी थी। इसलिए कांग्रेस में एक नए तरूण दल का उदय हुआ जो पुराने नेताओं के ढोंग एवं आदर्शों का कड़ा आलोचक बन गया। फलत: कांग्रेस दो गुटों में बंटने लगी - उदारवादी और उग्रवादी या नरमपंथी और गरमपंथी। इस फूट की प्रक्रिया 1895 में प्रारंभ हुई, जब तिलक और उनके सहयोगियों ने गोखले और राणाडे से झगड़ा कर उनके अधिकारों को चुनौती दी। धीरे-धीरे दोनों ही दलों में यह विभेद बढ़ता ही गया। यह विभेद बंगाल विभाजन और उस कांग्रेस की प्रतिक्रिया से और भी तीव्र हो चला।

1907 ई० में सूरत अधिवेशन में कांग्रेस स्पष्टत: दो दलों- नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गयी। इस विभाजन ने भारत में उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। इसी उग्र राष्ट्रीयता से अंतत: क्रांतिकारी आन्दोलन का भी विकास हुआ, जिसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उग्र राष्ट्रवाद के विकास के लिए कई कारण उत्तरदायी थे :

(1) ब्रिटिश शासन के सही चरित्र की पहचान : नरमपंथी राष्ट्रवादियों की राजनीति इस विश्वास पर अधारित थी कि ब्रिटिश शासन को अंदर से सुधारा जा सकता है। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों से संबंधित ज्ञान जब फैला तो धीरे-धीरे यह विश्वास टूट गया। आरंभिक काल के नेताओं ने अपने अध्ययन तथा लेखों द्वारा लोगों को भारत में अंग्रेजी राज्य के सच्चे स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि अंग्रेजी राज तथा उसकी नीतियाँ ही भारत में दरिद्रता के

CHRONICLE IAS ACADEMY

मूल कारण हैं। राजनीतिक रूप से चेतन भारतीयों को विश्वास था कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना, अर्थात् भारत की संपत्ति से इंग्लैंड को समृद्ध बनाना है।

उन्होंने महसूस किया कि जब तक भारतीयों द्वारा नियंत्रित और संचालित कोई सरकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जगह नहीं ले लेती, आर्थिक क्षेत्र में भारत शायद ही कुछ प्रगति कर सके। राष्ट्रवादियों ने खासकर यह भी देखा कि भारत के उद्योग तब तक फल फूल नहीं सकते, जब तक कि उन्हें सुरक्षा और प्रोत्साहन देने वाली कोई भारतीय सरकार न हो।

भारत में 1896 और 1900 के बीच भयानक अकाल आए जिसमें 90 लाख से ऊपर लोग मरे थे, वे जनता की दृष्टि में विदेशी शासन के आर्थिक दुष्परिणामों के जीते जागते प्रतीक थे।

1892 और 1905 के बीच जो राजनीतिक घटनाएँ घटीं, उन्होंने भी राष्ट्रवादियों को काफी निराश किया तथा उन्हें और भी उग्र राजनीति के बारे में सोचने को बाध्य किया। 1892 का ''भारतीय परिषद कानून'' घोर निराशा का कारण सिद्ध हुआ। दूसरी ओर जनता को जो थोड़े से राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे, उन पर प्रतिबंध लगाने के प्रयास किए गये। 1898 में एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार ''विदेशी शासन के प्रति असंतोष की भावना'' फैलाने को अपराध घोषित किया गया। 1899 में कलकत्ता नगर निगम में भारतीय सदस्यों की संख्या घटा दी गयी। 1904 में इण्डियन ऑफिशियल सेक्रेट एक्ट बनाकर प्रेस की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया गया। 1897 में नाटु भाइयों को बिना मुकदमा चलाए देश बाहर कर दिया गया तथा उन पर लगाए गये आरोपों को भी जनता को नहीं बतलाया गया। उसी वर्ष तिलक और दूसरे समाचार पत्र सम्पादकों को विदेशी सरकार के प्रति जनता को भड़काने के आरोप में लम्बी-लम्बी जेल की सजाये दी गयीं। इन सब बातों से जनता को लगा कि सरकार राजनीतिक छूट देने के बजाय पहले से मिले छूटों को भी नियंत्रित करना चाहती है। लार्ड कर्जन के कांग्रेस विरोधी दृष्टिकोण ने अधिकाधिक लोगों को विश्वास दिलाया कि भारत में ब्रिटिश शासन के रहते राजनीतिक और आर्थिक प्रगति की आशा करना व्यर्थ है।

समाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी ब्रिटिश शासन अब प्रगतिशील नहीं रहा था। प्राथमिक और तकनीकी शिक्षा में कोई प्रगति नहीं हो रही थी। साथ ही अधिकारीगण उच्च शिक्षा के प्रति शंकित हो रहे थे और उसके प्रसार में बाधा डालने की कोशिश कर रहे थे। 1904 भारतीय विश्वविद्यालय कानून से राष्ट्रवादियों को लगा कि भारत के विश्वविद्यालयों पर और भी सख्त सरकारी नियंत्रण स्थापित करने तथा उच्च शिक्षा का प्रसार रोकने का प्रयास किया जा रहा है। इस तरह अधिकाधिक संख्या में भारतीयों को विश्वास होता जा रहा था कि देश की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिए स्वशासन आवश्यक है।

(2) आत्म विश्वास का संदेश : 19वीं सदी के अंत तक भारतीय राष्ट्रवादियों का आत्म विश्वास और आत्म सम्मान बहुत बढ़ा था। उन्हें अपना शासन स्वयं कर पाने तथा देश का विकास कर सकने की अपनी क्षमता में विश्वास हो चुका था। तिलक, अरविंद घोष और विपिन चन्द्र पाल जैसे नेताओं ने राष्ट्रवादियों को आत्मविश्वास का संदेश दिया और उनसे आग्रह किया कि वे भारतीय जनता के चरित्र और क्षमताओं पर विश्वास करें। उन्होंने जनता को बताया कि उनकी समस्या का हल उनके हाथ में है और इसके लिए उन्हें निर्भय और बलवान होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा, ''दुनिया में अगर कोई पाप है तो वह निर्बलता है, निर्बलता का त्याग करो''। उन्होंने जनता से यह भी कहा कि अतीत के महिमामंडन के भरोसे जीना छोड़ो और मर्द की तरह अपने भविष्य का निर्माण करो। यह भी विचार फैला कि जनता की राजनीतिक चेतना को उभारा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए विवेकानन्द ने कहा कि, ''भारत की एक मात्र आशा उसकी जनता है। ऊँचे वर्ग के लोग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मृतप्राय हैं।''

(3) शिक्षा और बेरोजगारी में वृद्धि : 19वीं सदी के अंत तक शिक्षित भारतीयों की संख्या में स्पष्ट वृद्धि हुई। इसका एक बड़ा भाग प्रशासन में बहुत ही कम वेतन पर कार्य कर रहा था और दूसरे बहुत से लोग बेरोजगार घूम रहे थे। अपनी आर्थिक स्थिति के कारण ये लोग ब्रिटिश सरकार के चरित्र को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे। उनमें से अनेक उग्र राष्ट्रवादी नीतियों की ओर आकर्षित हुए। शिक्षित भारतीयों की संख्या जितनी बढ़ी, उतना ही लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और आमूल परिवर्तन के पश्चिमी विचारों का प्रभाव भी फैला। ये शिक्षित भारतीय उग्र राष्ट्रवाद के बेहतरीन प्रचारक और अनुयायी सिद्ध हुए।

(4) कांग्रेस की उपलब्धियों से असंतोष : कांग्रेस के पहले के 15-20 वर्षों की उपलब्धियों से तरूण लोग संतुष्ट नहीं थे। उनका अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा बराबरी की भावना पर कोई विश्वास नहीं रह गया था। वे लोग शांतिपूर्ण और संवैधानिक ढंगों के आलोचक बन गये थे और समझते थे कि याचना, प्रार्थना तथा प्रतिवाद करने की नीति से कुछ नहीं मिलने वाला। उन्होंने साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए यूरोपीय तरीके अपनाने पर बल दिया।

1905 में लाला लाजपत राय ने इंग्लैंड से लौटने पर कहा कि, ''अंग्रेजी प्रजातंत्र अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा हुआ है कि उनके पास हमारी समस्याओं के लिए कोई समय नहीं।'' कांग्रेस के तरूण दल के अनुसार कांग्रेस का राजनीतिक धर्म, केवल क्राउन के प्रति राजभक्ति प्रकट करना, उद्देश्य केवल अपने लिए प्रांतीय अथवा केन्द्रीय विधान परिषदों में सदस्यता प्राप्त करना और कार्यक्रम, केवल अत्यधिक भाषण देना था। उन पर यह दोष लगाया गया कि वे केवल मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के लिए कार्य करते हैं, उन्हें भय है कि यदि जनसाधारण इस आंदोलन में आ गया, तो उनका नेतृत्व समाप्त हो जायेगा। तिलक ने कांग्रेस को 'चापलूसों का सम्मेलन' और इसके अधिवेशन को, 'छुट्टियों का मनोरंजन' बतलाया, तो लाला लाजपत राय ने कांग्रेस सम्मेलनों को ''शिक्षित भारतीयों का वार्षिक राष्ट्रीय मेला'' कहा। तिलक ने तो यहाँ तक कहा कि, ''यदि हम इसी तरह वर्ष में एक बार मेढ़क की भाँति टर्राएंगें तो हमें कुछ नहीं मिलेगा।''

(5) कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियाँ : कर्जन के भारत का 7 वर्ष का शासन शिष्टमंडलों, भूलो और आयोगों (Missions, Omissions and Commissions) के लिए प्रसिद्ध था, जिसकी भारतीयों में कड़ी प्रतिक्रिया हुई। कर्जन ने भारत को कभी एक राष्ट्र नहीं माना। उसकी दृष्टि में भारतीय चरित्र का मूल्य बहुत कम था। वह भारत में ब्रिटिश सत्ता की जड़ें मजबूत करने आया था। वह कांग्रेस और राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल दुश्मन था। उसने भारतीयों को संवैधानिक और प्रशासनिक अधिकार देने के बदले सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करने का प्रयास किया।

उसने भारतीयों को उच्च सरकारी पदों के अयोग्य करार दिया, कलकत्ता कारपोरेशन एक्ट द्वारा इसके सदस्यों की संख्या घटा दी, भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट द्वारा उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण और अधिक बढ़ा दिया तथा आफिशियल सेक्रेट एक्ट द्वारा समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लाद दिया। उसका सबसे विवादास्पद कार्य बंगाल विभाजन था। यह योजना सिर्फ राजनीतिक आधार पर तैयार की गयी थी, इसका कोई वैधानिक या सैद्धान्तिक आधार नहीं था। इसका मुख्य उद्देश्य बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना को कुचलना था। इस घटना ने बंगाल में उग्रवादी और सरकार विरोधी गतिविधियां तेज कर दीं। लार्ड कर्जन की वैदेशिक नीतिएं भी असंतोष को बढ़ावा मिला।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(6) समकालीन अर्न्तराष्ट्रीय प्रभाव : इस काल की अनेक विदेशी घटनाओं ने भी भारत में उग्र-राष्ट्रवाद के विकास को प्रोत्साहित किया। 1858 में 'मैईजी पुनर्स्थापना' के बाद आधुनिक जापान के उदय ने दिखा दिया कि एक पिछड़ा हुआ एशियाई देश भी पश्चिमी सहायता के बिना अपना विकास कर सकता है। कुछ ही दशकों में जापान एक औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बन गया। व्यापक प्राथमिक शिक्षा का आरंभ किया गया था और सक्षम और आधुनिक प्रशासन खड़ा किया गया था। 1896 में इथियोपिया द्वारा इटली की हार तथा 1905 में जापान के हाथों रूस की पराजय ने यूरोपीय श्रेष्ठता के भ्रम को तोड़ दिया। एशिया के एक छोटे से देश के हाथों यूरोप की सबसे बड़ी सैन्य शक्ति की पराजय ने लोगों में नए उत्साह एवं आत्मविश्वास का संचार किया। आयरलैंड, रूस, मिस्र, तुर्की और जापान के क्रान्तिकारी आन्दोलनों तथा दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध ने भारतीयों को विश्वास दिला दिया कि अगर जनता एकजुट होकर बलिदान के लिए तैयार हो, तो शक्तिशाली निरंकुश सरकारों को भी चुनौती दे सकती है। जिस बात की सबसे अधिक आवश्यकता थी वह थी देशभक्ति और आत्मबलिदान की भावना।

(7) उग्र विचारों से प्रेरित नेताओं का प्रादुर्भाव : राष्ट्रीय आन्दोलन के लगभग आरंभ से ही उग्र-राष्ट्रवादी विचारधारा विकसित हो रही थी। बंगाल में राज नारायण बोस, अश्विनी कुमार दत्त और महाराष्ट्र में विष्णु शास्त्री चिपुलणकर उग्र विचारधारा का प्रसार कर रहे थे। इसे बाल गंगाधार तिलक (लोकमान्य) ने और आगे बढ़ाया। उन्होंने महाराष्ट्र में अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा छत्रपति शिवाजी को आदर्श बनाकर अंग्रेजों के विरूद्ध विरोध की प्रक्रिया तीव्र कर दी। इस कार्य में उनके दो समाचार पत्रों - ''मराठा'' (अंग्रेजी में) तथा ''केसरी'' (मराठी में) ने अत्यधिक योगदान दिया। 1893 में उन्होंने ''गणपति उत्सव'' का उपयोग राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार के लिए किया। इसी तरह 1895 में उन्होंने ''शिवाजी उत्सव'' का आयोजन आरंभ किया।

इसका उद्देश्य महाराष्ट्रीय युवकों के आगे अनुकरण के लिए शिवाजी का उदाहरण पेश कर उनमें राष्ट्रवाद की भावना पैदा करना था। 1896-97 में उन्होंने महाराष्ट्र के अकाल पीड़ित किसानों से कहा कि अगर उनकी फसल चौपट हो जाये तो वे मालगुजारी न दें। जब सरकार के खिलाफ घृणा और असंतोष भड़काने के आरोप में सरकार ने उन्हें 1897 में गिरफ्तार किया, तो उन्होंने दिलेरी और बलिदान का एक शानदार उदाहरण पेश किया। उन्होंने सरकार से क्षमा मानने से इंकार कर दिया और उन्हें 18 महीने कैद की सजा हुई। इस तरह वे आत्म बलिदान की राष्ट्रीय भावना के जीते जागते प्रतीक बन गये।

20वीं सदी के आरंभ में उग्र राष्ट्रवादियों को एक अनुकूल राजनीतिक वातावरण प्राप्त हुआ। तिलक के अलावा उग्र राष्ट्रवाद के दूसरे महत्वपूर्ण नेता विपिनचन्द्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपत राय थे।

उग्रवादी दल के उद्देश्य तथा कार्यक्रम : उनका मत था कि भारतीयों को मुक्ति स्वयं अपने प्रयासों से प्राप्त करनी होगी। उन्होंने घोषणा की कि इस कार्य के लिए बड़े-बड़े बलिदान करने होंगे और तकलीफें सहनी होंगी। उनके भाषण, लेख और राजनीतिक कार्य दिलेरी और आत्मविश्वास से भरपूर थे और अपने देश की भलाई के लिए किसी भी व्यक्तिगत बलिदान को कम समझते थे।

उन्होंने नरमपंथियों की इस मान्यता को कि भारत अंग्रेजों के ''कृपापूर्ण मागदर्शन और नियंत्रण'' में ही प्रगति कर सकता है, मानने से इंकार कर दिया। वे विदेशी शासन से दिल से नफरत करते थे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि ''राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य स्वराज्य या स्वाधीनता है। यह स्मरण रहे कि इन राष्ट्रवादियों के लिए स्वराज्य का अर्थ ''विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता था, जिसमें राष्ट्र की नीतियों तथा प्रबन्ध में पूर्णतया स्वतंत्रता हो।'' उदारवादी दल के लिए स्वराज्य का अर्थ, साम्राज्य के अन्दर औपनिवेशिक स्वशासन था।

उन्हें जनता की शक्ति में असीम विश्वास था और उनकी योजना जनता की कार्यवाही के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने की थी। इसलिए उन्होंने जनता के बीच राजनीतिक कार्य पर और जनता की सीधी राजनीतिक कार्यवाही पर जोर दिया।

उग्रवादियों के कार्यक्रमों में विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी माल के अंगीकार के अलावा राष्ट्रीय शिक्षा और सत्याग्रह पर जोर दिया गया था।

उनका मानना था कि विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी माल के प्रयोग से अंग्रेजों को वित्तीय हानि होगी और बंगाल विभाजन रद्द करने के लिए सरकार पर दबाव डाला जा सकेगा। सरकार नियंत्रित शिक्षा संस्थाओं के स्थान पर एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना बनायी गयी। उग्रवादी दल की योजना थी कि विद्यार्थियों को देश सेवा में लगाया जाये। जब सरकार ने विद्यार्थियों के विरूद्ध अनुशासनिक कार्यवाही करने की धमकी दी, तो विद्यार्थियों को यह कहा गया कि वे इन विश्वविद्यालयों को छोड़ दें। सर गुरुदास बनर्जी ने बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा परिषद बनाई। मद्रास में पछैप्पा राष्ट्रीय कॉलेज स्थापित किया गया। पंजाब में डी०ए०वी० आन्दोलन ने जोर पकड़ा। उग्रवादियों ने सहकारी संगठनों को भी बढ़ावा दिया। ग्राम्य सफाई, प्रतिबन्धक पुलिस कार्य, मेलों का आयोजन इत्यादि के लिए स्वयंसेवी संस्थाएं स्थापित की गईं। दीवानी मामलों तथा छोटे-छोटे झगड़ों की सुलझाने को लिए पंच निर्णय समितियाँ बनाई गयी।

कांग्रेस में 1907 ई. का विभाजन

भारतीय राजनीति में उग्रवाद का विकास दो रूपों में हुआ- कांग्रेस के भीतर उग्रवाद का उदय और कांग्रेस पर इसका अधिपत्य तथा आतंकवादी एवं क्रान्तिकारी दलों का उदय।

कांग्रेस की नरमपंथी नीतियों के खिलाफ 1895 से ही असंतोष व्यक्त किया जाने लगा था। बनारस कांग्रेस में प्रिंस आफ वेल्स (जार्ज पंचम) के भारत आगमन के समय उनके स्वागत के प्रश्न को लाजपत राय और तिलक ने कड़ी चुनौती दी थी। तिलक ने बंग विभाजन के विरूद्ध सत्याग्रह करने का आग्रह किया तथा इसे पूर्णत: वैधक और न्यायसंगत बताया। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन के समय दोनों दलों में दरार और बढ़ गयी। 'बहिष्कार' के अस्त्र को पूरे भारत में लागू किया जाये या सिर्फ बंगाल में, उस प्रश्न पर दोनों दल उलझ पड़े। सूरत कांग्रेस अधिवेशन (1907) में कांग्रेस स्पष्टत: दो दलों, नरमपंथी और गरमपंथी अथवा उदार तथा उग्रवादी में विभक्त हो गयी। दोनों दलों ने अलग-अलग रास्ते अख्तियार कर लिए। उदारवादियों ने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग और समझौते का रास्ता अपनाया, जबकि उग्रवादियों ने संघर्ष का रास्ता चुना। धीरे-धीरे कांग्रेस पर से उदारवादियों का प्रभाव समाप्त होता चला गया और उनकी जगह उग्रवादियों ने ले ली। बाद की घटनाओं और सरकार के कार्यों से उदारवादी भी क्षुब्ध हो गये। उन लोगों ने भी सरकार के साथ सहयोग करने की निरर्थकता को समझ लिया। फलत: 1916 ई० में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में दोनो दलों में पुन: एकता कायम हो गयी।

उग्रवाद का मूल्यांकन : उग्रवादी विचार और राजनीति के मूल्यांकन में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह एक सुसंगठित राजनीतिक दर्शन नहीं था। इसके समर्थकों में सक्रिय क्रान्तिकारी से लेकर, गुप्त समर्थक तक सम्मिलित थे। इसी प्रकार इस दर्शन के सभी प्रमुख नेता - अरविन्द, तिलक, पाल तथा लाजपत राय अपने राजनीतिक आदर्शों तथा कार्यप्रणाली में भिन्न थे। यही नहीं नेताओं के अपने विचार भी समयानुसार बदलते रहे। उदाहरण

CHRONICLE IAS ACADEMY

के रूप में तिलक का स्वराज्य एक प्रकार का ''स्वशासन'' था, जबकि अरविन्द का स्वराज्य अंग्रेजों के नियंत्रण से पूर्णतया स्वतंत्र था।

उग्रवादी नेता प्रजातंत्र, संविधान और प्रगति की बात करते थे और यह भी चाहते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन का सामाजिक आधार अधिक बड़ा हो जाये। ये नगरवासी प्राय: निम्न मध्यम वर्गों के लोग थे, जो चाहते थे कि कांग्रेस का सन्देश जनता तक पहुँचे। इन लोगों ने अपने विचारों को जनता में प्रसारित करने के लिए भरसक प्रयत्न किए।

ये लोग भारत में अंग्रेजों की भूमिका को भलीभांति समझते थे और वे चाहते थे कि भारतीयों को भारत के प्रशासन में अधिक भाग मिले तथा अंग्रेजों शोषण बन्द हो। वे यह भी अनुभव करते थे कि अंग्रेजों का भारत छोड़ना किसी न किसी प्रकार की प्रत्यक्ष क्रिया (Direct Action) के और दबाव के बिना संभव नहीं है। अतएव सहयोग के स्थान पर असहयोग और सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरूद्ध प्रतिरोध की नीति अपनाई। इन लोगों ने जनता को ''असहयोग, अहिंसात्मक प्रतिरोध, सामूहिक आन्दोलन, आत्मनिर्भरता और दु:ख'' सहने का पाठ पढ़ाया। इन लोगों ने देशभक्ति को विद्या विनोद (Academic Pastime) से परिवर्तित कर ''देश सेवा तथा दु:ख सहना'' बना दिया।

इस नीति का लाभ भी हुआ। 1911 में बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया। इससे देश में एक नए आत्मविश्वास का उद्भव हुआ। ''स्वराज्य'' का उद्देश्य मामलों ने तो पूरा नहीं किया, परन्तु अब वह क्रान्तिकारी माँग नहीं रह गयी और प्रथम विश्वयुद्ध के समय सरकार ने यह घोषणा की कि ''भारतीय संवैधानिक सुधारों का उद्देश्य स्वशासन संस्थाएँ स्थापित करना है।''

उदारवादी तथा उग्रवादी विचारों की तुलना : तिलक ने लिखा है कि हमारी नीतियों के प्रति दो शब्दों का प्रयोग होने लगा है: उदारवादी और उग्रवादी। ये शब्द समय से सम्बन्धित हैं। इसलिए ये समय के अनुसार बदल जायेंगे, जैसे कल के उग्रवादी आज के उदारवादी बन गये हैं, उसी प्रकार आज के उदारवादी कल के उग्रवादी बन जायेंगे। तिलक की उपरोक्त विवेचना के बावजूद यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो हमें उदारवादी तथा उग्रवादी विचारों में कुछ मूलभूत अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उदारवादी दल और उग्रवादी दल के लोग दोनों ही मध्यम वर्ग से सम्बन्धित थे और दोनों ही अंग्रेजी शासन के विरूद्ध भारतीयों की शिकायतों को उद्घोषित कर रहे थे, फिर भी उनके विचारों तथा कार्य प्रणाली में काफी असमानताएँ थीं :-

1. उदारवादी दल सामाजिक बराबरी और भारत के अंग्रेजी शासन में हिस्सेदारी मांगते थे, क्योंकि वे कहते थे कि हम भी अंग्रेजी प्रजा हैं। उग्रवादी दल यह अधिकार इसलिए मांगता था यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।
2. उदारवादी दल इंग्लैंड में रहने वाले लोगों से प्रार्थना करते थे और उन्हें अंग्रेजी इतिहास और राजनीतिक विचारों पर विश्वास था जबकि उग्रवादी दल के लोग भारतीय परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण करते थे।
3. उदारवादी दल अंग्रेजों की दैवी देखरेख में राजनीतिक प्रशिक्षण में विश्वास करते थे। उग्रवादी दल अंग्रेजों के दैवी मिशन को केवल एक मायाजाल ही समझते थे।
4. उग्रवादी दल के लोग उदारवादी आन्दोलन को राजनीतिक भिक्षावृति समझते थे। इसकी जगह लोग अहिंसात्मक प्रतिरोध और सामूहिक आन्दोलन में विश्वास करते थे।
5. उदारवादियों के लिए स्वराज्य का अर्थ ''साम्राज्य के अन्दर औपनिवेशिक स्वशासन'' था, जबकि उग्रवादियों के लिए स्वराज्य का अर्थ ''विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता'' था।
6. उदारवादियों का जन आन्दोलन में विश्वास नहीं था जबकि उग्रवादियों ने आरंभ से ही जन आन्दोलन छेड़ने का प्रयास किया।

प्रमुख उग्रवादी नेता

उग्रवादी आन्दोलन के मुख्य नेता बाल, पाल एवं लाल थे। श्री अरविंद ने भी इस आन्दोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। इन लोगों ने भारतीय राजनीति को एक नई दिशा दी तथा स्वतंत्रता संग्राम को जुझारू स्वरूप प्रदान किया।

(1)बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) : कांग्रेस के उग्रवादी नेताओं में सर्वप्रथम स्थान बाल गंगाधर तिलक को दिया जाता है। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्रता और गति प्रदान की। भारतीय इन्हें श्रद्धा और प्यार से 'लोकमान्य' कहते थे। उनका जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नगीरि नगर में एक उच्च चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तिलक के कार्यकाल को सुविधानुसार दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- 1880 से 1900 तक तथा 1900 से 1920 तक। प्रथम चरण में तिलक की गतिविधियाँ मुख्यत: महाराष्ट्र तक ही सीमित रहीं, परन्तु दूसरे चरण में उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति में अग्रणी भूमिका निभाई। सर्वप्रथम उन्होंने भारतीयों के दिमाग से हीनता की भावना मिटाने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से उन्होंने देशभक्ति और नैतिकता की शिक्षा पर बल दिया। उन्हीं के प्रयासों से ''दक्कन एजुकेशन सोसायटी'' एवं ''फरग्यूसन कॉलेज'' की स्थापना हुई। शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के अतिरिक्त उन्होंने जनमत को जाग्रत करने के लिए केसरी (मराठी दैनिक) और मराठा (अंग्रेजी सप्ताहिक) का प्रकाशन आरंभ किया। इन समाचार पत्रों में उन्होंने भारतीय संस्कृति की सराहना की तथा पश्चिमी सभ्यता के अंधाधुंध अनुकरण की प्रवृत्ति की खिल्ली उड़ाई। भारतीयों के गौरव को बढ़ाने के लिए आर्यों की जन्मभूमि पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे। वे भारतीयों को नैतिकता और कर्म मार्ग की शिक्षा देने के लिए गीता की व्याख्या भी करते थे। बाद में जब वह मांडले जेल में थे तब उन्होंने मराठी में गीता पर टीका लिखी, जो 'गीता रहस्य' के नाम से जानी जाती है। तिलक ने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति एवं जनता को संगठित करने के लिए धार्मिक मनोभावना को भी उभारने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से उन्होंने 'गणपति उत्सव' एवं 'शिवाजी उत्सव' बड़े संगठित पैमाने पर मनाने की व्यवस्था की। उन्होंने गोहत्या विरोधी समितियाँ, लाठी और अखाड़ा क्लब भी स्थापित किए।

1900 में तिलक कांग्रेस से प्रभावित होकर इसमें सम्मिलित हुए, परन्तु आरंभ से ही उन्हें कांग्रेस की नरमपंथी नीतियों में विश्वास नहीं था। उनका विचार था कि कांग्रेस का लक्ष्य अपने लिए स्वयं कानून बनाने का अधिकार प्राप्ति होना चाहिए, न कि ऐसे सामाजिक सुधार जिन्हें स्वाधीनता मिलने तक टाला जा सकता था। तिलक ने कांग्रेस पर ऐसे कार्यक्रम रखने के लिए दबाव डाला, जिससे उसे जन समर्थन प्राप्त हो सके। वे यह भी मानते थे कि जनता को और कांग्रेस को बड़े पैमाने पर अंग्रेजी सरकार का प्रतिरोध करने के लिए तैयार होना चाहिए। तिलक ने इस उद्देश्य से राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी, बहिष्कार और स्वराज्य का चार सूत्री कार्यक्रम पेश किया। 1897-98 में जब सरकार ने तिलक को 18 मास के कारावास की सजा दी, तो उन्होंने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया।

1907 के कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के बाद तिलक को अपने साथियों सहित कांग्रेस छोड़कर अलग होना पड़ा। उन्होंने कांग्रेस से अलग उग्रवादी आन्दोलन जारी रखा। कांग्रेस की आर्तरिक फूट का लाभ उठाकर 1908 में सरकार ने तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। उन्हें 6 वर्ष के कारावास की सजा दी गयी और मांडले निर्वासित कर दिया गया। 1910 ई० में तिलक ने लन्दन के टाइम्स अखबार के वैदेशिक संवाददाता तथा 'इंडिया अनरेस्ट' के लेखक वैलेंटाइन शिरोल के विरूद्ध मानहानि का मुकदमा दायर किया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

तिलक 1914 में मांडले से वापस आए। उस समय भारत और विश्व की राजनीतिक स्थिति अत्यंत गंभीर थी। प्रथम विश्वयुद्ध का खतरा मंडरा रहा था। मुस्लिम लीग का भारतीय राजनीति में उदय हो चुका था, कांग्रेस निष्क्रिय हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में तिलक आपसी फूट को समाप्त कर पुन: स्वतंत्रता आन्दोलन की गति तीव्र करना चाहते थे। अत: एनी बेसेंट के प्रयासों के फलस्वरूप तिलक अपने सहयोगियों के साथ पुन: 1916 में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस में शामिल हुए। वे कांग्रेस के अंदर ही एक ''होमरूल लीग'' बनाना चाहते थे, परन्तु कांग्रेस की अस्पष्ट नीति के कारण उन्हें सितम्बर 1916 में एक अलग होमरूल लीग बनाने को बाध्य होना पड़ा। उन्होंने अपने समाचार पत्रों द्वारा जनता को इसके उद्देश्यों से परिचित कराया तथा महाराष्ट्र और मध्य भारत में गृह शासन आन्दोलन (Home rule Movement) को बढ़ावा दिया। उन्होंने घोषणा की कि, ''स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे मैं लेकर रहूँगा।'' जब सरकार ने 1917 में संवैधानिक सुधारों की घोषणा की, तो उन्होंने इसका स्वागत किया। उनका विचार था कि सरकार के साथ सहयोग कर गृह शासन को प्राप्त किया जा सकता था। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन को भी समर्थन दिया, परन्तु जब गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन आरंभ करने का निश्चय किया तो तिलक ने अप्रैल 1920 में आगामी चुनाव लड़ने के लिए ''कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी'' की स्थापना की। वे अचानक बीमार हो गये और 1 अगस्त 1920 को उनकी मृत्यु हो गयी। 1 अगस्त को ही गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन की घोषणा की। एक युग का अंत और एक नए युग का आरंभ एक ही साथ हुआ।

नि:संदेह तिलक भारत की एक महान विभूति थे। स्वयं गाँधीजी ने उनका महत्व स्वीकार किया था। तिलक की मृत्यु के पश्चात ''यंग इण्डिया'' के अपने लेख में गाँधीजी ने स्वीकार किया कि उनके समय में जनसाधारण पर जितना प्रभाव तिलक का था, उतना अन्य किसी का नहीं। जिस दृढ़ता और स्थिरता से लोकमान्य ने स्वराज्य के संदेश का प्रचार किया, वैसा किसी ने नहीं किया। वस्तुत: तिलक एक यर्थाथवादी राजनीतिज्ञ और उच्चकोटि के दार्शनिक थे।

(2)लाला लाजपत राय (1865- 1928) : पंजाब में लाला लाजपतराय ने नई सामाजिक व राजनीतिक चेतना लाने का प्रयास किया। पंजाब निवासी श्रद्धा से उन्हें 'शेरे पंजाब' और 'पंजाब केसरी' कहते थे। लाजपत राय का जन्म पंजाब के लुधियाना जिले के एक वैश्य परिवार में हुआ था। वे स्वामी दयानन्द के प्रभाव से कट्टर आर्य समाजी बन गये थे। वे डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर की स्थापना से भी संबंधित थे। वे एक निर्भीक पत्रकार थे। उन्होंने 'पंजाबी' और 'वन्दे मातरम्' समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया और एक अंग्रेजी पत्र-द पीपुल (The people) भी आरंभ किया। वे देश के लिए कई बार जेल गये।

1905 में वह गोखले के साथ अंग्रेजी लोकमत को, भारतीय समस्याओं तथा इच्छाओं से अवगत कराने के लिए इंग्लैंड भी गये। लेकिन वे वहाँ से निराश ही लौटे। 1914 में वे फिर इंग्लैंड गये और वहां से अमेरिका गये, ताकि भारत की स्वतंत्रता के लिए समर्थन प्राप्त कर सकें और साम्राज्यवाद के विरूद्ध लोकमत तैयार कर सकें। 1920 में वे कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। 1922 में वे गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन वापस लेने के विरूद्ध थे, फलस्वरूप उन्होंने ''स्वराज्य दल'' बनाने में सी०आर०दास और मोती लाल नेहरू के साथ सहयोग किया। वे केन्द्रीय विधानसभा में स्वराज दल की ओर से चुने गये। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता में पक्का विश्वास रखते थे, परन्तु वह अल्पसंख्यकों को प्रसन्न करने के लिए हिन्दुओं के हितों का बलिदान करने के लिए तैयार नहीं थे। इसी कारण उन्होंने पण्डित मदन मोहन मालवीय के साथ मिलकर 'हिन्दू सभा' का गठन किया। 1928 में उन्होंने साइमन कमीशन के विरूद्ध प्रदर्शन किया और उन पर पुलिस ने लाठी से प्रहार किया, जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। महात्मा गाँधी ने उनकी मृत्यु पर कहा था, ''भारतीय सौरमंडल का एक सितारा डूब गया है।''

(3)विपिनचन्द्र पाल (1858-1932) : विपिन चन्द्र पाल का जन्म 1858 में असम के सिलहट जिला में हुआ था। बंगाल विभाजन विरोधी आन्दोलन में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के प्रसार में भी भाग लिया। 1908 ई० में उन्हें श्री अरविंद घोष पर चलाए जा रहे मुकदमे में गवाही देने को कहा गया, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। फलत: सरकार ने उन पर अदालत की मान हानि करने का मुकदमा चलाया और 6 माह कारावास की सजा दी। उन्हें गाधीजी की शांतिपूर्ण नीतियों और असहयोग आन्दोलन के सिद्धान्त में आस्था नहीं थी। अत: असहयोग आन्दोलन के समय वे कांग्रेस से अलग हो गये। 1932 में उनकी मृत्यु हो गयी।

(4)अरविंद घोष (1872-1950) : अरविंद घोष एक महान दार्शनिक और राजनीतिज्ञ थे। इनका जन्म 15 अगस्त, 1872 को बंगाल में हुआ था। वे बंग्ला और संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन और इटालवी भाषा भी जानते थे। भाषा और साहित्य के माध्यम से वे इतिहास से प्रभावित हुए। विश्व की महान क्रान्तियों ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने बंकिम चन्द्र चटर्जी की पुस्तक आनन्द मठ से प्रेरणा लेकर भारत माता की पूजा एवं वंदे मातरम् को अपना आदर्श बनाया। 1889 में उन्होंने उच्च शिक्षा के लिए कैंब्रिज विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। लंदन में वे आई०सी०एस० की परीक्षा में बैठे किन्तु असफल रहे। लंदन में ही उन्होंने ''कमल एवं कटार'' (Lotus and Daggar) नामक गुप्त संस्था की सदस्यता ग्रहण की तथा आजीवन देश सेवा का व्रत लिया। बंगाल विभाजन के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों का विरोध करने एवं स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे क्रान्तिकारी कार्यों से सम्बद्ध गुप्त समितियों से भी जुड़े हुए थे। अलीपुर बम केस में उन्हें भी अभियुक्त बनाया गया। उन्होंने अपने समाचार पत्र ''वन्दे मातरम'' द्वारा घर-घर में क्रान्ति का संदेश पहुँचाया। उन्होंने 'युगान्तर' नामक पत्रिका भी निकाली, 'सावित्री' इनकी महत्वपूर्ण पुस्तक है।

1910 में वे कलकत्ता छोड़कर पांडिचेरी चले गये। जहां उन्होंने एक आश्रम की स्थापना कर अपना सारा समय आध्यात्मिक चिंतन में लगाया। अपने दर्शन को उन्होंने ''कर्म'' नामक पत्रिका के सहारे प्रचारित किया। पांडिचेरी में रहकर भी वे पूर्णत: राजनीति से अलग नहीं हुए। उन्होंने 1932 में कांग्रेस द्वारा सांप्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार किए जाने की आलोचना की, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन का पक्ष लिया एवं क्रिप्स को भारत आने पर बधाई का संदेश दिया। स्वाधीनता की प्राप्ति पर उन्होंने राष्ट्र को संबोधित करते हुए प्रसन्नता व्यक्त की। पांडेचेरी में ही 1950 में इनकी मृत्यु हो गयी।

स्मरणीय तथ्य

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख कारण

- विदेशी प्रभुत्व का परिणाम
- भारत का प्रशासनिक और आर्थिक एकीकरण
- पश्चिमी विचार तथा आधुनिक शिक्षा का प्रचलन
- आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना
- इतिहास के शोध का प्रभाव
- शासकों का जातीय दंभ
- समकालीन यूरोपीय आन्दोलन का प्रभाव
- सुधार आन्दोलनों का प्रगतिशील स्वरूप
- लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियाँ

CHRONICLE IAS ACADEMY

- इल्बर्ट बिल विवाद
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति की स्थापना 1889 में की गयी, जिसने 1890 में 'इण्डिया' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरंभ किया।
- कांग्रेस द्वारा 1892 का अधिवेशन लन्दन में करना तय हुआ था परन्तु अंग्रेजी चुनाव के कारण यह विचार स्थागित करना पड़ा।
- नमरपंथियों ने भारत की गरीबी को दूर करने का प्रमुख उपाय तीव्र औद्योगीकरण बताया।
- 1896 में स्वदेशी कार्यक्रम के अन्तर्गत पूना तथा महाराष्ट्र में विदेशी वस्त्रों की खुलेआम होली जलाई गयी।
- 1892 के भारतीय परिषद कानून द्वारा शाही विधायी परिषद तथा प्रांतीय परिषदों में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। इनमें से कुछ सदस्यों को भारतीय, अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुन सकते थे, फिर भी बहुमत सरकारी सदस्यों का ही रहा।
- कांग्रेस के मंच से स्वशासन (स्वराज्य) की मांग 1905 में गोखले और 1906 में दादाभाई नौरोजी द्वारा उठाया गया।
- नरमपंथियों ने स्त्रियों के लिए मताधिकार की मांग कभी नहीं की।
- नरमपंथियों द्वारा सुझाया गया सबसे महत्वपूर्ण प्रशासकीय सुधार था, ''प्रशासकीय सेवाओं के उच्चतर पदों का भारतीयकरण।''
- 1886 में डफरिन ने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के प्रतिनिधियों को ''उद्यान भोज'' (GARDEN PARTY) दिया था।
- कांग्रेस के प्रति 1887 के बाद सरकार का रुख कठोर होता चला गया। वे लोग राष्ट्रवादी नेताओं को ''बेवफा बाबू'' ''राजद्रोही बाह्मण'' तथा ''हिंसक खलनायक'' कहने लगे। कांग्रेस को ''राजद्रोह का कारखाना'' कहा जाने लगा।
- डफरिन ने कांग्रेस को केवल एक ''सूक्ष्मदर्शी अल्पसंख्या'' का प्रतिनिधित्व करने वाला बताया। कांग्रेस की मांगों को ''अज्ञात में छलांग'' की संज्ञा दी।
- 1890 में कर्जन ने कहा कि, ''कांग्रेस का महल भरभरा रहा है और भारत में रहते हुए मेरी मुख्य महत्वाकांक्षा यह है कि मैं शांति के साथ उसे मरने में सहयोग दे सकूं।''
- एल्गिन ने कहा था कि, ''भारतवर्ष तलवार के बल पर जीता गया था और तलवार के बल पर ही उसे ब्रितानी कब्जे में रखा जायेगा।''
- आरंभिक राष्ट्रीय आन्दोलन की बुनियादी कमजोरी थी, इसका संकुचित सामाजिक आधार।
- आरंभिक राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सही चरित्र को उजागर करना तथा जनता को राजनीतिक रूप से प्रशिक्षित करना।
- दादाभाई नौरोजी को वयोवृद्ध (Grand Old Man of India) कहा जाता था।
- वे 1886 (कलकत्ता), 1893 (लाहौर) तथा 1906 (कलकत्ता) में कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये।
- 1892 में वह पहले भारतीय थे, जो उदारवादी दल की ओर से फिन्सबरी से ब्रिटिश संसद के सदस्य चुने गये।
- 1852 में स्थापित हुई बम्बई की पहली राजनीतिक संस्था, 'बम्बई एसोसिएशन' का श्रेय भी उन्हीं को है।
- 1866 में इन्होंने लंदन में ''ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन'' की स्थापना की।
- उन्होंने अपनी पुस्तक ''पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया'' में 'धन के निष्कासण' की प्रक्रिया की चर्चा की थी।
- फिरोजशाह मेहता बम्बई के प्रसिद्ध वकील थे।
- 1872 में बम्बई कार्पोरेशन के सदस्य तथा 1886 में बम्बई विधायिका के सदस्य बनाए गये।
- के०टी० तेलंग और बदरूद्दीन तैयबजी के साथ इन्होंने बम्बई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन की स्थापना की।
- गोखले, माधव गोविन्द राणाडे, जिन्हें महाराष्ट्र का सुकरात कहा जाता है, के अनुयायी थे।
- 1897 में ये तथा वाचा (दिनशा) भारतीय व्यय के लिए नियुक्त वेल्बी आयोग के सम्मुख साक्ष्य देने इंग्लैंड गये।
- उग्रवादी दल के लोग इन्हें ''शिथिल उदारवादी'' कहते थे।
- सरकार द्वारा इन्हें ''छद्मवेशीय विद्रोही'' की संज्ञा दी गयी थी।
- 1905 में इन्होंने ''भारत सेवक मंडल'' की स्थापना की।
- वे दादा भाई नौरोजी से बहुत प्रभावित थे और कहते थे, ''यदि मनुष्यों में कहीं देवत्व है तो वह दादा भाई में ही है।''
- सुरेन्द्र नाथ बनर्जी प्रथम भारतीय थे जिन्हें आई.सी.एस. में सफलता मिली, किन्तु सरकार द्वारा उन पर आरोप लगाकर उन्हें सेवामुक्त कर दिया गया।
- 1876 में आनन्द मोहन बोस तथा अन्य के साथ मिलकर 'इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापनाकी।
- 'बंगाली' पत्रिका का सम्पादन किया।
- 'ए नेशन इन द मेकिंग' नामक पुस्तक लिखी।
- कांग्रेस के 1895 (पूना) तथा 1902 (अहमदाबाद) के अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गये।
- असहयोग आन्दोलन को अपना समर्थन नहीं दिया अतएव सरकार द्वारा उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की गयी।
- ए०ओ० ह्यूम ने ''जनता के मित्र'' (People's Friend) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जिसमें भारतीयों की समस्याओं का उल्लेख किया गया।
- बंग-भंग की पहली योजना 1903 के अंत में प्रकाशित की गयी। संशोधित योजना की घोषणा 7 जुलाई, 1905 को शिमला से की गयी। 16 अक्टूबर, 1905 को इसे लागू कर दिया गया।
- बंग-भंग के फलस्वरूप ढाका, चटगांव व राजशाही को असम के साथ मिलाकर पूर्वी बंगाल व असम प्रांत का गठन हुआ।
- जुलाई 1905 में 70,000 लोगों के हस्ताक्षर से आवेदन-पत्र देकर योजना को समाप्त करने को कहा गया।
- 7 अगस्त, 1905 को टाउन हॉल सभा में अंग्रेजी माल के बहिष्कार का संकल्प लिया गया। 28 सितम्बर को कालीघाट के मंदिर में इस संकल्प को दुहराया गया।
- 16 अक्टुबर, 1905 को शोक दिवस के रूप में मनाया गया तथा रवीन्द्र नाथ टैगोर के आह्वान पर राखी दिवस मनाया गया।
- बंगाल में नेशनल स्कूल तथा प्राइमरी स्कूल स्थापित करने में 'डॉन सोसाइटी' की मुख्य भूमिका रही।
- कलकत्ता अधिवेशन 1906 का प्रस्ताव- "इस कांग्रेस का मत है कि बंग-भंग के प्रतिवाद के रूप में बंगाल में आरंभ किया गया बायकाट आंदोलन न्यायसंगत था और है।" तथा "यह कांग्रेस स्वेदशी आंदोलन का सर्वाधिक हार्दिक समर्थन करती है और देश की जनता से अपील करती है कि वह इसे सफल बनाने के लिए परिश्रम करे।"
- इस आंदोलन के प्रमुख परिणाम निम्न हैं-
  - तीव्र राष्ट्रीय प्रतिरोध का जन्म
  - स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन का जन्म

CHRONICLE IAS ACADEMY

- सांस्कृतिक प्रगति
- राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार
- राष्ट्रीय आंदोलन में छात्रों और स्त्रियों का बड़े पैमाने पर प्रवेश
- उग्र-राष्ट्रवाद का विकास
- क्रांतिकारी आतंकवाद का विकास
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन

- बंगाल विभाजन के अवसर पर ही रवन्द्रनाथ टैगोर ने अपना प्रसिद्ध गीत 'आमार सोनार बांगला' लिखा था। यह गीत अभी बांग्लादेश का राष्ट्रीय गान है।
- इसी के विरोध में आनन्द मोहन बोस ने बंगाल की अटूट एकता जतलाने के लिए फेडरेशन हाथ की बुनियाद रखी।
- स्वदेशी आंदोलन को देश के दूसरे भागों तक पहुंचाने में प्रमुख भूमिका 'तिलक' की रही।
- 1905 में पहला राष्ट्रीय स्कूल रंगपुर में स्थापित किया गया था।
- 1905 में प्रथम औद्योगिक सम्मेलन रमेश चन्द्र दत्त की अध्यक्षता में बनारस में आयोजित किया गया था।
- सूरत अधिवेशन (1907) में कांग्रेस स्पष्टत: दो दलों - नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गयी। इस अधिवेशन के अध्यक्ष रास बिहारी घोष थे। इसी अधिवेशन में कांग्रेस का संविधान भी बना।
- 1897 में नाटु भाईयों को देश-निकाला की सजा दी गयी।
- विवेकानन्द की उक्तियां : "दुनिया में अगर कोई पाप है तो वह निर्बलता है, निर्बलता का त्याग करो।"
- "भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँचे वर्ग के लोग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मृतप्राय हैं।"
- तिलक ने कांग्रेस को 'चापलूसों का सम्मेलन' और अधिवेशन को 'छुट्टियों को मनोरंजन' कहा था। तिलक ने तो यहाँ तक कहा कि, ''यदि हम वर्ष में एक बार मेढ़कों की भाँति टर्राएं, तो हमें कुछ नहीं मिलेगा।''
- लाला लाजपत राय ने कांगेस सम्मेलनों को 'शिक्षित भारतीयों का वार्षिक राष्ट्रीय मेला' कहा।
- कर्जन के कार्यकाल को शिष्टमंडलों, भूलों और आयोगों (Missions, Omissions and Commissions) का काल कहा जाता है।
- उग्रवादियों के कार्यक्रमों में विदेशी माल के बहिष्कार, स्वदेशी के अलावा राष्ट्रीय शिक्षा और सत्याग्रह पर जोर दिया गया।
- सर गुरुदास बनर्जी ने बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद बनायी।
- ''जैसे कल के उग्रवादी आज के उदारवारी बन गये हैं वैसे ही आज के उग्रवादी कल के उदारवादी बन जायँगे-'' तिलक
- तिलक ने सम्मति आयु विधेयक (Age of Consent Act) का विरोध किया क्योंकि उनका मानना था कि विदेशियों को हमारे समाज सुधार के लिए कानून बनाने का अधिकार नहीं है।
- बाल गंगाधर तिलक लोकमान्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।
- दक्कन एजुकेशन सोसाइटी और फरग्युसन कॉलेज की स्थापना में सहयोग।
- केसरी (मराठी दैनिक) तथा मराठा (अंग्रेजी साप्ताहिक) का प्रकाशन।
- गीता रहस्य-मराठी में गीता पर टीका तथा Arctic Home of Aryans भी लिखे।
- गणपति महोत्सव एवं शिवाजी महोत्सव का प्रचलन।
- गोहत्या समितियों, लाठी और अखाड़ा क्लब की स्थापना।
- लन्दन के टाइम्स अखबार के वैदेशिक संवाददाता तथा 'इण्डिया अनरेस्ट' के लेखक वैलेंटाइन शिरोल पर मानहानि का मुकदमा चलाया। शिरोज ने उन्हें भारत में 'अशान्ति का जन्मदाता' कहा था।
- सितम्बर 1916 में 'होमरूल लीग' की स्थापना की तथा ''स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'' का नारा दिया।
- कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना 1920 में।
- लाला लाजपत राय को 'शेरे पंजाब' 'पंजाब केसरी' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।
- प्रमुख आर्यसमाजी।
- 'पंजाबी' और 'वन्दे मातरम' समाचार पत्र प्रकाशित किए तथा एक अंग्रेजी पत्र 'The People' का प्रकाशन भी प्रारंभ किया।
- केन्द्रीय विधानसभा के लिए स्वराज दल की ओर से चुने गये।
- मदन मोहन मालवीय के साथ मिलकर 'हिन्दू सभा' का गठन, अत: उन पर सांप्रदायिक होने का आरोप लगा।
- उनकी मृत्यु पर गाँधीजी ने कहा, 'भारतीय सौरमंडल का एक सितारा डूब गया है।'
- विपिन चन्द्र पाल का जन्म असम के सिलहट जिले में हुआ था।
- अरविंद घोष ने बंकिम चन्द्र की पुस्तक आनन्दमठ से प्रेरणा लेकर भारत माता की पूजा और वन्दे मातरम को अपना आदर्श बनाया।
- लंदन में 'कमल एवं कटार' नामक गुप्त संस्था के सदस्य बने।
- उन्हें अलीपुर बम केस में अभियुक्त बनाया गया।
- उन्होंने 'वन्दे मातरम्- नामक समाचार पत्र तथा 'युगान्तर' नामक पत्रिका का संपादन किया।
- उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक का नाम 'सावित्री' है।
- उन्होंने पांडेचेरी में अपने आश्रम की स्थापना की।
- कांग्रेस के संबंध में उन्होंने कहा था, ''कांग्रेस क्षयरोग से मरने ही वाली है।''
- उन्होंने कहा था, ''राजनीतिक स्वतंत्रता, एक राष्ट्र का जीवन श्वास है।''

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत में प्रतिनिधि सरकार

1861 का भारतीय परिषद अधिनियम
(The Indian Council Act-1861)

1858 के अधिनियम द्वारा केवल गृह सरकार में ही परिवर्तन हुए थे। भारतीय प्रशासन में कोई भी परिवर्तन नहीं किये गये थे। इस बात की बहुत तीव्र भावना थी कि 1857-58 के महान संकट के पश्चात भारतीय संविधान में महान परिवर्तनों की आश्यकता है। 1861 के पश्चात अधिनियम के साथ *'सहयोग की नीति'* का आरंभ हुआ। भारतीयों को प्रशासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाने लगा। 1861 के अधिनियम के पारित होने के प्रमुख कारण निम्न थे:

(I) ब्रिटिश नीति में परिवर्तन : 1857 के विद्रोह का महत्वपूर्ण प्रभाव ब्रिटिश सरकार के रुख पर पड़ा। इंग्लैंड के बहुत से लोगों को यह विश्वास हो गया कि सन 1857 की क्रान्ति का कारण शासक और शासित के बीच घनिष्ठ संबंध का अभाव तथा देश की व्यवस्थापिका सभाओं में भारतीयों की अनुपस्थिति थी। भारतीय लोग सरकार के विषय में क्या सोचते हैं, इनकी जानकारी तभी हो सकती है जब प्रमुख भारतीयों को कौंसिलों तथा सरकार में हाथ बंटाने का मौका दिया जाए। दूसरी ओर सैयद अहमद खाँ जैसे वफादार भारतीयों ने भी इस बात पर जोर दिया कि भारतीयों को विधायिका परिषद में स्थान दिया जाना चाहिए।

(II) **परिषद में दोष :** 1853 के चार्टर ऐक्ट से कानून बनाने की व्यवस्था का केन्द्रीयकरण कर दिया गया था। केवल केन्द्रीय विधान परिषद को ही संपूर्ण देश के लिए कानून बनाने का अधिकार था। देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां थीं जिसका ज्ञान एक संस्था को होना संभव नहीं था।

इसके अलावा विधान परिषद अपने कार्यकरण में संसदीय प्रक्रियाओं का अनुकरण करने लगी। उसकी शक्ति काफी बढ़ गयी। यहां तक कि वह सरकार के गुप्त मामलों में प्रश्न पूछती थी जिससे केन्द्रीय सरकार के कार्यों में कठिनाई होती थी। अत: इसकी शक्ति और अधिकार को नियंत्रित करना आवश्यक समझा जाने लगा।

(III) **गवर्नर जनरल का अनावश्यक अधिकार :** गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह अधिनियमित प्रान्तों (Non Regulation Provinces) के लिए कार्यकारी आदेश जारी कर सकता था। उन आदेशों का वही महत्व होता था जो एक कानून का। इस संवैधानिक त्रुटि को दूर करना आवश्यक था।

(IV) **भारतीयों की इच्छापूर्ति :** भारतीय जनता भी शासन में सुधार करने की मांग कर रही थी। वह शासन में भाग लेना चाहती थी। अत: लोकप्रिय आकांक्षा की पूर्ति के लिए संसदीय अधिनियम को पारित किया जाना आवश्यक समझा जाने लगा।

अधिनियम के उपबंध

1861 के भारतीय परिषद अधिनियम में भूतपूर्व अधिनियमों को एक जगह संचित किया तथा उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन लाया। यह विकेन्द्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। भारतीयों को कानून निर्माण से संबंधित कर इसने प्रतिनिधि मूलक संस्थाओं की नींव डाली।

(I) वायसराय की कार्यकारी परिषद में एक पांचवां सदस्य सम्मिलित कर दिया गया, जो एक विधि वृत्ति (Iegal profession) का व्यक्ति था, एक विधिवेत्ता न कि एक वकील।

(II) वायसराय की परिषद में अधिक सुविधा से कार्य करने के लिए नियम बनाने की अनुमति दे दी गई। इस नियम द्वारा लार्ड कैनिंग ने विभागीय प्रणाली की शुरुआत की। इस प्रकार भारत सरकार की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की नींव रखी गई। इस व्यवस्था के अनुसार प्रशासन का प्रत्येक विभाग एक व्यक्ति के अधीन होता था। वह उस विभाग का प्रतिनिधि, प्रशासन के लिए उत्तरदायी और उसका संरक्षक होता था। अत: अब समस्त परिषद के सम्मुख केवल नीति संबंधी मामले ही आते थे। निश्चय ही यह प्रणाली अधिक सफल थी।

(III) कानून बनाने के लिए वायसराय की कार्यकारी परिषद में न्यूनतम 6 और अधिकतम 12 अतिरिक्त सदस्यों को नियुक्त कर कार्यकारी परिषद का विस्तार किया गया। इन सदस्यों को वायसराय द्वारा नियुक्त होना था तथा वे दो वर्षों तक अपने पद पर बने रह सकते थे। इनमें से न्यूनतम आधे सदस्य गैर सरकारी होंगे। यद्यपि भारतीयों के लिए कोई वैधानिक प्रावधान नहीं था, परन्तु व्यवहार में कुछ गैर सरकारी सदस्य 'ऊंची श्रेणी के भारतीय' थे। इस विधान परिषद का कार्य केवल कानून बनाना था।

(IV) इस अधिनियम के अनुसार बम्बई तथा मद्रास प्रांतों को अपने लिए कानून बनाने तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार पुन: दे दिया गया। इन कानूनों को गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। ऐसी विधान परिषदें बंगाल, उत्तर-पश्चिमी प्रांत तथा पंजाब में 1862, 1886 तथा 1897 में क्रमश: इस ऐक्ट के अनुसार स्थापित की गयी।

(V) गर्वनर जनरल को संकटकालीन अवस्था में विधान परिषद की अनुमति के बिना ही अध्यादेश जारी करने की अनुमति दे दी गयी। ये अध्यादेश अधिकाधिक 6 मास तक लागू रह सकते थे।

अधिनियम के दोष

(I) सर्वप्रथम तो विधान निर्माण के लिए जो गैर सरकारी सदस्यों को सम्मिलित किया गया, वे निर्वाचित सदस्य नहीं थे। वे वायसराय के पिछलग्गु थे। वे भारतीय जनता के विचारों और आकांक्षाओं का

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। ये सदस्य कानून निर्माण में भी दिलचस्पी नहीं दिखाते थे, साथ ही कौंसिलों की बैठकों में कभी-कभी ही उपस्थित होते थे।

(II) 1961 के अधिनियम द्वारा निर्मित विधान परिषद केवल नाम मात्र की कानून बनाने वाली संस्थाएं थीं। न तो संगठन और न ही कार्य के दृष्टिकोण से उसे विधान सभा कहा जा सकता था। यह केवल कानून बनाने के लिए समितियां मात्र थीं उनकी विधायिनी शक्ति बहुत सीमित थी और यह न तो प्रश्न पूछ सकती थी और न ही पेश कर सकती थी। इस संबंध में राज्य सचिव सर चार्ल्स वुड ने विधेयक को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि उनकी भारत में सामान्य प्रतिनिधि परंपरा द्वारा कानून बनाने की प्रणाली आरंभ करने की कोई इच्छा नहीं है। उन्होंने इन प्रस्तावित विधान परिषदों की उपमा भारतीय राजाओं के दरबारों से दी जहां सामन्त वर्ग अपने विचार व्यक्त करते हैं, परन्तु राजा उनका परामर्श मामने को बाध्य नहीं है।

(III) गर्वनर जनरल को प्रांतीय और केन्द्रीय विधानमंडलों द्वारा पारित विधेयकों को वीटो करने का अधिकार दिया गया था। सबसे अनुचित बात यह थी कि उसे शांति स्थापना और उत्तम सरकार के लिए अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार गर्वनर को कानून बनाने के संबंध में विशेषाधिकार प्रदान किया गया।

1861 का अधिनियम भारत के संवैधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसके साथ भारतीयों से *'सहयोग की नीति'* की शुरुआत हुई। इसके अतिरिक्त विधायी क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण की नीति शुरू हुई। बम्बई तथा मद्रास के प्रांतों को विधि निर्माण की शक्ति दी गई। इस अधिनियम का अन्य संवैधानिक महत्व यह है कि इसके प्रवर्त्तन से भारत में उत्तरदायी संस्था का सूत्रपात हुआ और जनता को अपने कष्टों को सरकार के समक्ष रखने का अवसर मिला।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892
(INDIAN COUNCIL ACT, 1892)

1861 के पश्चात भारत की अर्थव्यवस्था, सार्वजनिक सेवाओं, स्थानीय-स्वशासन आदि क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं। इन घटनाओं के फलस्वरूप भारतीयों में बड़ी उत्तेजना फैली और उनमें राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीयता का विकास हुआ। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। इसने संवैधानिक सुधारों की मांग की। इन घटनाओं तथा मांगों के फलस्वरूप ब्रिटिश संसद ने 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम को पारित करने का प्रमुख कारण निम्न हैं :

(I) 1861 में स्थापित विधान परिषदों में जो भी गैर सरकारी तत्व थे, वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इनमें केवल बड़े-बड़े जमींदार, अवकाश प्राप्त अधिकारी अथवा भारतीय राजे होते थे जो कि जनता की समस्याओं को समझने का दावा नहीं कर सकते थे।

(II) राष्ट्रीयता का विकास तथा कांग्रेस का जन्म इस अधिनियम को पारित होने का एक प्रमुख कारण था। 1857 में स्थापित कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों ने शिक्षा के प्रसार में योगदान दिया जिससे राष्ट्रीयता की भावना उभरी। 1857 के बाद की सरकार की दमनकारी नीति एवं लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति से भारतीयों में प्रशासन के प्रति कटुता बढ़ती गयी। इन्हीं परिस्थितियों में 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस ने जनता की मांगों को सूचिबद्ध किया तथा उन्हें सरकार के समक्ष रखा। उसने विधायिका सभाओं के प्रश्न को उठाया और कौंसिलों में भारतीयों की संख्या में वृद्धि की मांग की। इसने कौंसिलों के कानून निर्माण तथा आर्थिक शक्तियों में वृद्धि की मांग की जिससे वे सही रूप में भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके।

(III) **डफरिन का सुझाव :** आरंभ में कांग्रेस के प्रति अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार सहानुभूति तथा मित्रतापूर्ण था, परन्तु 1888 तक यह पूर्णतया परिवर्तित हो गया। उस वर्ष तो लार्ड डफरिन ने कांग्रेस पर सीधा प्रहार किया और यह कहा कि "यह एक सूक्ष्म अल्पसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है" और कांग्रेस की मांग एक "अज्ञात में बड़ी छलांग है।" यद्यपि डफरिन ने कांग्रेस के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया, फिर भी उसने आन्दोलन के महत्व को समझा और उसने गुप्त रूप से परिषदों को उदार बनाने के सुझाव इंग्लैंड भेजे। उसने अपनी परिषद की एक समिति की भी नियुक्ति की जो कि प्रांतीय परिषदों के विस्तार के लिए, उनके पद को ऊंचा करने के लिए, उनके कार्यक्षेत्र को बढ़ाने के लिए, उनमें आंशिक प्रतिनिधित्व प्रणाली आरंभ करने के लिए और एक राजनैतिक संस्था के रूप में उनका प्रसार करने की योजना बनाए।

1890 में इंग्लैंड की रूढ़िवादी दल की सरकार ने भारत सचिव लार्ड क्रॉस के सुझाव पर, इन सुझावों के आधार पर लार्डस सभा में एक विधेयक रखा, जिसे 1892 में संसद द्वारा पारित की गई। इसे भारतीय परिषद अधिनियम 1892 की संज्ञा दी गई।

अधिनियम के मुख्य उपबंध

इस अधिनियम द्वारा तीन दिशाओं में परिवर्तन लाए गए परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि तथा पार्षदों के संसदीय अधिकार में वृद्धि।

(I) केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। केन्द्रीय परिषद में इनकी संख्या कम से कम 10 एवं अधिकाधिक 20 हो सकती थी। बम्बई और मद्रास की परिषदों की संख्या में कम से कम 8 और अधिकाधिक 20 निश्चित की गयी।

(II) चुनाव के सिद्धांत को सीमित रूप से स्वीकार कर लिया गया। सपरिषद गर्वनर जनरल को भारत सचिव की स्वीकृति से अतिरिक्त सदस्यों के नामांकन के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया। इन नियमों के अनुसार गर्वनर जनरल और गवर्नर कतिपय संस्थाओं की सिफारिश पर कुछ गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत कर सकते थे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली शुरू की गई तथापि उसमें निर्वाचन शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नहीं किया गया था। केन्द्रीय विधान मंडल के गैर सरकारी सदस्यों को प्रांतीय विधान मंडल के गैर सरकारी सदस्य तथा कलकत्ता के वाणिज्य मंडल के सदस्य निर्वाचित करते थे जबकि प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्यों को नगरपालिकाएं, जिला बोर्ड, विश्वविद्यालय तथा वाणिज्य मंडल निर्वाचित करते थे। परन्तु निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष थी और इन निर्वाचित सदस्यों को 'मनोनीत' की संज्ञा दी जाती थी।

(III) विधान मंडलों के सदस्यों के अधिकार भी दो क्षेत्रों में बढ़ा दिये गये। उन्हें वार्षिक वित्त विवरण (बजट) पर वाद-विवाद का अधिकार मिला, यद्यपि इस विषय पर कोई प्रस्ताव रखने या सदन के मत विभाजन कराने का अधिकार उन्हें नहीं था। दूसरे, उन्हें सार्वजनिक हितों के मामलों में 6 दिन की सूचना देकर प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

अधिनियम का लेखा-जोखा

1892 का भारतीय परिषद अधिनियम 1861 के अधिनियम से निश्चय ही उन्नति की ओर एक कदम था। इस अधिनियम से विधान मंडलों के कार्य विस्तृत कर दिए गए। सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे, सूचना प्राप्त कर सकते थे, बजट पर वाद-विवाद कर सकते थे। केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों की सदस्य संख्या भी बढ़ा दी गई। इस अधिनियम में चुनाव प्रणाली को स्वीकार करना यद्यपि निहित था, स्पष्ट नहीं, यह एक अत्यधिक वैधानिक महत्व की बात थी। यद्यपि प्रतिनिधि सरकार बहुत दूर की बात थी, फिर भी कुछ न कुछ प्रारंभ तो हो ही चुका था। इस अधिनियम में बहुत सी त्रुटियां थीं जिसके कारण भारतीय राष्ट्रवादी इससे असंतुष्ट रहे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ऐक्ट की बार-बार आलोचना की गई। विधान मंडलों की शक्तियां बहुत सीमित थीं, निर्वाचन की पद्धति भी टेढ़ी मेढ़ी थी। सदस्य अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते था। चुनाव के नियम बहुत असंतोष जनक थे। कुछ वर्गों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला तथा कुछ को अत्यधिक। बम्बई में दो स्थान यूरोपीय व्यापारियों को दिए गए भारतीय व्यापारियों को एक भी नहीं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 1892 का अधिनियम यद्यपि कांग्रेस की मांगों से बहुत ही कम था, फिर भी पहले की व्यवस्था से बहुत अच्छा था। प्रतिनिधियों के चुनाव तथा विधान मंडलों को कार्यकारिणी पर थोड़ा नियंत्रण देकर इस अधिनियम ने संसदीय उत्तरदायी सरकार के आरंभ करने के लिए मार्ग का निर्माण किया।

भारतीय परिषद एक्ट 1909 (मार्ले मिंटो सुधार)

भारतीय परिषद अधिनियम 1909 भारत के संवैधानिक विकास का अगला कदम था। यह पूर्ववर्ती भारतीयों के 'सहयोग की नीति' के क्रियान्वयन की दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयास था। इसके जन्मदाता भारत सचिव मॉर्ले तथा गवर्नर जनरल लार्ड मिण्टो थे। इन्हीं के नाम पर इसे मॉर्ले-मिण्टो सुधार कहते हैं।

अधिनियम को पारित करने के मुख्य कारण निम्न थे:

(I) 1892 के सुधार से असंतोष : 1892 के सुधार अधिनियम से भारतीयों की आकांक्षा की पूर्ति नहीं हुई। व्यवस्थापिका सभा केवल वाद-विवाद का स्थल बना रहा, सरकार के निर्णयों पर उनका प्रभाव नाम मात्र का पड़ता था। निर्वाचन की व्यवस्था भी एक दिखावा मात्र थी। परिषदों के अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्य भी आंसू पोंछने के समान थे। परिषदों के कार्यों एवं अधिकारों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लागाये गए थे। इन त्रुटियों के कारण भारतीयों को बहुत निराशा हुई।

(II) राष्ट्रीय आपदाओं का प्रभाव : 1896-97 का अकाल बहुत ही विस्तृत तथा भयंकर था जिसने हजारों लोगों की जानें लीं। इसी बीच बम्बई में अनावृष्टि के कारण बहुत बड़ा अकाल पड़ा। सरकार द्वारा जनता के लिए उठाए गए कदम बहुत तुच्छ थे। उल्टे उसकी आर्थिक नीति के कारण जनता के दुखों में वृद्धि हुई। भारतीयों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध फैले असंतोष ने इसमें और वृद्धि की। यहां तक कि प्लेग कमीश्नर को गोली मार दी गई।

(III) कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीति : लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादी तथा कठोर नीतियों ने आग में तेल का काम किया इससे बुद्धिजीवी लोगों में विदेशी सरकार के प्रति अधिक विरोध उत्पन्न हुआ। कर्जन के मन में भारतीयों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। उसने कलकत्ता निगम को पूर्णरूपेण सरकारी प्रभाव के अधीन बना दिया और इनमें 1899 में एक तिहाई सदस्य कम करके यूरोपियनों को बहुमत दे दिया गया। पांच वर्ष बाद ऐसी ही नीति भारतीय विश्वविद्यालयों में भी लागू की गई जिससे उसकी प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। उसी वर्ष 1904 में राजकीय सदस्य अधिनियम लागू की गई। परन्तु सबसे बड़ी ठोकर बंगाल के विभाजन से लगी, जिसको बंगाल की उभरती हुई राष्ट्रीयता पर एक प्रहार माना गया। इसे समाप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न आंदोलन किये गये।

(IV) विदेशों में भारतीयों का अपमान : समुद्र पार भारतीयों के साथ, विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में बहुत अपमानपूर्वक व्यवहार किया जा रहा था, संभवत: इसलिए कि वे एक दास जाति के सदस्य हैं। अतएव लोगों में यह भावना जागी कि जब तक वे स्वतंत्र नहीं हो जाते, उन्हें उचित व्यवहार की आशा नहीं करनी चाहिए और इससे राष्ट्रवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला।

(V) विदेशी घटनाओं का प्रभाव : इस अवधि में विदेशों में कुछ ऐसी राजनीतिक घटनाएं घटीं जिनका भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 1896 में छोटे से देश अबिसीनिया ने इटली को हराया और 1905 में जापान ने रूस को। इन घटनाओं ने यूरीपियनों की सर्वोच्चता के रहस्य का भंडाफोड़ कर दिया और एशियावासियों के हृदय में नवस्फूर्ति एवं नवप्रेरणा जागृत की। एशिया में नये युग का उद्भव हुआ।

(VI) प्रेस द्वारा प्रचार : प्रेस ने राष्ट्रीय जागरण के उद्भव तथा सुधार की मांग के लिए सराहनीय कार्य किया। केशरी, काल, वैधव, न्यू इण्डिया, वन्देमातरम्, युगान्तर आदि पत्रों ने ब्रिटिश साम्राज्य का पर्दाफाश किया और भारतीयों में नव जागरण का सन्देश फैलाया। तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपत राय जैसे उग्रवादी नेताओं ने देश का भ्रमण कर भारतीयों में राष्ट्रीयता का संदेश पहुंचाया तथा उन्हें अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण नीति के प्रति सचेष्ट बनाया।

(VII) उग्रवाद तथा आतंकवाद का विकास : सरकार की प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी नीति के परिणामस्वरूप नवयुवकों में क्रांति और आतंकवाद की भावना फैली। भारतीयों में यह विश्वास फैल गया कि उदारवादियों की भिक्षावृत्ति की नीति से स्वतंत्रता की प्राप्ति संभव नहीं है। कांग्रेस पर उदारवादियों का प्रभाव घटने लगा। सरकार डर गयी कि कांग्रेस की बागडोर उग्रवादियों के हाथों में जा सकती है। अत: उसने शासन में सुधार लाना आवश्यक समझा। दूसरी तरफ आतंकवादी संवैधानिक तरीकों में विश्वास नहीं करते थे और अहिंसात्मक तरीकों को अपनाने के पक्ष में थे। बम फेंकना या राजनीतिक षड्यंत्रों की रचना करना आम बात बन गई। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने आतंकवादियों को दबाने के लिए अपना दमन चक्र जोरों से चलाया, फिर भी गैर क्रांतिकारियों को जीतने के लिए उसने संवैधानिक सुधार लाना आवश्यक समझा।

(VIII) कांग्रेस की मांग : 1905 में कांग्रेस ने अपने उद्देश्य के संबंध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि भारत का शासन भारतीयों के हित में होना चाहिए और कालान्तर में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य स्वशासित उपनिवेशों की भांति भारत में सरकार का संगठन होना चाहिए। कांग्रेस अध्यक्ष गोखले ने यह भी मांग की कि प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान परिषदों में सुधार लाया जाना चाहिए।

CHRONICLE IAS ACADEMY

उन्होंने स्वयं भारत सचिव मार्ले से भेंट की और कांग्रेस की मांग को उनके समक्ष रखा। मॉर्ले ने औपनिवेशिक स्वशासन पर अपनी स्वीकृति नहीं दी, पर उनको न्यायोचित सुधार का वचन दिया।

(IX) सांप्रदायिकता का उदय : भारत में राष्ट्रीयता के प्रभाव को रोकने के लिए अंग्रेजों ने *'फूट डालो और शासन करो'* की नीति अपनायी। इस हेतु उन्होंने मुसलमानों को प्रोत्साहित कर भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता का बीज बोना शुरू कर दिया। लार्ड मिन्टो के निजी प्रोत्साहन पर आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमंडल वायसराय से मिला और आगामी सुधारों में मुसलमानों के लिए जातीय प्रतिनिधित्व की मांग की। लार्ड मिण्टो ने शिष्टमंडल के सदस्यों का स्वागत किया और उन्हें उनकी मांगों को पूरा करने का आश्वासन दिया। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसने पृथक निर्वाचन मंडल की मांगों को दुहराया। इस तरह 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को क्रियान्वित करने के लिए भी सुधार की आवश्यकता पड़ी।

(X) इंग्लैंड में उदारवादी दल की विजय : दिसम्बर 1905 में इंग्लैंड में उदारवादियों का मंत्रिमंडल बना। मार्ले भारत का सचिव हुआ। वह भारतीयों तथा भारतीय समस्याओं से पूर्ण सहानुभूति रखता था। तत्कालीन वायसराय मिण्टो भी समान विचार का पोषक था। लार्ड मिण्टो ने कार्यपालिका परिषद की एक समिति का गठन कर उसे सुधार संबंधी प्रस्तावों का प्रारूप तैयार करने के लिए कहा। अन्त में एक विधेयक बनाया गया जो 1919 में कानून के रूप में पास हुआ।

यदि 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम इसलिए पारित किया गया कि कांग्रेस आन्दोलन को हानि पहुंचे तो 1909 का अधिनियम कांग्रेस के संयतमार्गियों तथा मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिए पारित किया गया।

अधिनियम के मुख्य उपबंध

(I) विधान परिषदों के आकार में वृद्धि : 1910 के अधिनियम द्वारा प्रत्येक परिषद के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद (Imperial Legislative Council) की अधिकतम संख्या 60 निर्धारित की गयी। विभिन्न प्रांतीय विधान परिषदों की अधिकतम निर्धारित सदस्य संख्या इस प्रकार थी। बम्बई, बंगाल, मद्रास, संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा के लिए 50 तथा पंजाब-20, बर्मा-30 और असम-30, पदेन सदस्य इसके अतिरिक्त थे।

(II) सर्वोच्च व्यवस्थापिका परिषद में सरकारी बहुमत : प्रत्येक परिषद में तीन प्रकार के सदस्य थे- नामांकित सरकारी सदस्य, नामांकित गैर सरकारी सदस्य और निर्वाचित सदस्य। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद में सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। अब विधान मंडल में 69 सदस्य थे जिनमें से 37 शासकीय सदस्य तथा 32 अशासकीय वर्ग के थे। शासकीय में से केवल 9 पदेन सदस्य थे अर्थात गर्वनर जनरल तथा उसके सात कार्यकारी पार्षद और एक असाधारण सदस्य तथा 28 सदस्य गर्वनर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते थे। 32 अशासकीय सदस्यों में से 5 गर्वनर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते थे और शेष 27 निर्वाचित किये जाते थे।

इन निर्वाचित सदस्यों के विषय में यह कहा गया कि प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व तो भारत में उपुयक्त नहीं है। अतएव देश में वर्ग तथा विशेष हितों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इस प्रकार 1909 के अधिनियम में विभिन्न वर्गों के आधार पर निर्वाचित सदस्यों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी। 5 मुसलमानों द्वारा, 6 जमींदारों द्वारा, 1

रेग्युलेटिंग ऐक्ट से आरंभ करके केन्द्रीय परिषद का विकास

ऐक्ट का नाम तथा वर्ष	आकार	संरचना	कार्यक्षेत्र
1773- रेग्युलेटिंग ऐक्ट	4	गनर्वर जनरल की परिषद के सदस्य	कार्यकारिणी (Executive) तथा विधानमंडल में कोई अन्तर नहीं।
1781-बंगाल जुडिकेचर अधिनियम	4	गनर्वर जनरल की परिषद के सदस्य	कार्यकारिणी (Executive) तथा विधानमंडल में कोई अन्तर नहीं।
1784-पिट्स इंडिया अधिनियम	3	गनर्वर जनरल की परिषद के सदस्य	कार्यकारिणी (Executive) तथा विधानमंडल में कोई अन्तर नहीं।
1793-चार्टर अधिनियम	3	गनर्वर जनरल की परिषद के सदस्य	कार्यकारिणी (Executive) तथा विधानमंडल में कोई अन्तर नहीं।
1813- चार्टर अधिनियम	4	गनर्वर जनरल की परिषद के सदस्य	सभी क्षेत्रों के लिए कानून बनाने की अनुमति बम्बई तथा मद्रास को अपने कानून बनाने की अनुमति नहीं रही।
1833- चार्टर अधिनियम	10	गवर्नर जनरल की परिषद के तीन सदस्य तथा एक विधि सदस्य	विधि बनाना पहली बार सरकार का कर्त्तव्य निर्धारित किया गया, जिसके लिए विशेष व्यवस्था तथा विशेष प्रणाली अपनानी होगी।
1853- चार्टर अधिनियम	17	कार्यकारिणी के चार सदस्य (विधि सदस्य अब पूर्ण सदस्य, 1 कलकत्ता उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, 1 उसी न्यायालय का छोटा सदस्य तथा 4 (बम्बई, मद्रास, बंगाल तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांत) के प्रतिनिधि।	विधान मंडल को अब एक छोटी प्रतिनिधि सभा का रूप मिल गया। कार्य क्षेत्र केवल कानून बनाने के लिए परामर्श देना। वित्तीय विवेचना संभव नहीं।
1861- भारतीय परिषद अधिनियम			

CHRONICLE IAS ACADEMY

मुसलमान जमींदारों द्वारा, एक एक बंगाल तथा बम्बई के वाणिज्य मंडल द्वारा तथा 13 नौ प्रांतीय परिषदों के गैर सरकारी निर्वाचित सदस्यों द्वारा।

(III) लार्ड मिण्टो ने प्रांतीय विधान परिषदों में गैर सरकारी बहुमत को हानिप्रद नहीं समझा। फिर भी इसका अर्थ चुने हुए सदस्यों का बहुमत नहीं था क्योंकि इनमें कुछ गैर-सरकारी सदस्यों को गर्वनर मनोनीत करता था। इस प्रकार इन 47 सदस्यों में से 26 गैर सरकारी थे, परन्तु इनमें से केवल 21 ही निर्वाचित होते थे और शेष 5 गर्वनर द्वारा मनोनीत। ये मनोनीत सदस्य सदैव ही सरकार का पक्ष लेते थे।

(IV) सांप्रदायिक और पृथक निर्वाचन पद्धति : 1909 के अधिनियम द्वारा पृथक एवं सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी। सामान्य निर्वाचन एवं क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को भारत के लिए अनुपयुक्त समझा गया। विभिन्न वर्गों, हितों और जातियों के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था की गयी।

(V) विधान परिषद के कार्यक्षेत्र का विस्तार : विधान परिषदों की शक्ति में वृद्धि की गयी। पहला-इसके पूर्व सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं था। इस अधिनियम द्वारा मूल प्रश्न करने वाले सदस्य को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। दूसरा, सदस्यों को सार्वजनिक हित संबंधी प्रस्ताव प्रस्तुत करने तथा उन पर मत देने का अधिकार मिला। ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए 15 दिनों की सूचना आवश्यक थी। वाद-विवाद के समय इनमें संशोधन लाया जा सकता था। सरकार इन प्रस्तावों को मानने के लिए बाध्य थी, चाहे ये प्रस्ताव जनता के लिए हों अथवा वित्तीय विवरण के लिए हों। तीसरा, वित्तीय मामलों में परिषदों की शक्ति में वृद्धि की गयी। बजट पर गैर-सरकारी प्रभाव बढ़ा दिया गया। सदस्यों को बजट पर विचार करने, बजट संबंधी प्रस्ताव पेश करने तथा राजस्व और व्यय के मूल विषयों पर मत देने का अधिकार दिया गया, लेकिन व्यय की कुछ मदों पर मतदान नहीं हो सकता था, जिसका निश्चय सरकार करती थी।

(VI) कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति : इस अधिनियम में कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति की इच्छा व्यक्त की गयी थी। परिषदों तथा ब्रिटिश नौकरशाही के विरोध के बावजूद ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने इस संबंध में अपनी स्वीकृति दे दी। इसके फलस्वरूप दो भारतीयों के.जी. गुप्ता तथा सैय्यद हुसैन बिलग्रामी को भारत सचिव के कौंसिल का सदस्य और एक भारतीय श्री सत्येन्द्र सिंह को गर्वनर जनरल की कार्यकारिणी परिषद का सदस्य मनोनीत किया गया। निस्सन्देह यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

1892-भारतीय परिषद अधिनियम	22	कार्यकारी परिषद के 5 सदस्य (पांचवां सदस्य अब बनाया गया), न्यूनतम 6 और अधिकतम 12 अतिरिक्त सदस्य जो गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किया जाता था। इसमें कम से कम आधे अशासनिक होते थे। अब प्रांतीय प्रतिनिधि नहीं रहा।	वार्षिक वित्तीय विवरण पर, कुछ परिधियों के साथ, विवेचना करने का अधिकार। जनहित मामलों पर सदस्य सरकार से प्रश्न पूछ सकते थे, परन्तु पूरक प्रश्न की अनुमति नहीं। कार्यकारिणी की निंदा करने का अधिकार नहीं अथवा इनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव नहीं रख सकते थे।
		कार्यकारी परिषद के 6 सदस्य। न्यूनतम 10 तथा अधिकतम 16 'अतिरिक्त सदस्य' (शासनिक 6, मनोनीत अशासनिक 5, चुने हुए अशासनिक 5 जो इस प्रकार चुने गए व्यापार मंडल द्वारा एक, 4 प्रांतों की परिषदों के चुने हुए सदस्यों द्वारा निर्वाचित 4 सदस्य। प्रांतीय प्रतिनिधित्व पुनः स्थापित।	

अधिनियम का लेखा-जोखा

1909 के सुधारों से भारतीय राजनीतिक प्रश्न का न कोई हल हो सकता था न ही इससे वह निकला। सीमित मताधिकार, अप्रत्यक्ष चुनाव, विधान परिषद की सीमित शक्तियों ने प्रतिनिधि सरकार को खिचड़ी सा बना दिया। वास्तविक शक्ति सरकार के पास ही रही और परिषदों को केवल आलोचना के अधिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। अधिनियम के प्रमुख दोष निम्न थे:

(II) भारतीयों को निराशा : भारतीय देश में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए आन्दोलन कर रहे थे, लेकिन अधिनियम ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। इस अधिनियम के द्वारा अंग्रेजों ने शक्ति संतुलन के सिद्धांत को अपनाया और भारतीय समाज के कुलीन तत्वों तथा विशेष वर्गों को अपनी ओर मिलाकर राष्ट्रवादी तत्वों के विरुद्ध एक नयी शक्ति का सृजन करना चाहा। इसका मुख्य उद्देश्य *'संवैधानिक निरंकुशवाद'* (Constitutional autocracy) की स्थापना करना था। संक्षेप में 1909 के सुधारों से जनता को केवल छाया मात्र सुधार ही प्राप्त हुए, वास्तविक रूप से कुछ नहीं, इससे प्रभाव तो मिला शक्ति नहीं।

(III) संप्रदायवाद को प्रोत्साहन : भारतीय राष्ट्रीयता के प्रभाव को अवरुद्ध करने के लिए अंग्रेजों ने देश के दो बड़े संप्रदायों के बीच फूट डालने की नीति अपनाई। इससे समस्याएं भी उत्पन्न हुईं। एक ऐसी ही समस्या मुसलमानों के लिए पृथक मताधिकार तथा निर्वाचन क्षेत्रों की थी। मुसलमानों के राजनैतिक महत्त्व के लिए उन्हें न केवल पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया अपितु उनकी साम्राज्य की सेवा के लिए उन्हें अपनी संख्या से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया गया। देश की अन्य धार्मिक इकाइयां इस अन्याय को कैसे सहन कर सकती थीं। इस प्रकार सिखों ने अपने अधिकारों के लिए लड़ाई की और 1919 में उन्हें भी विशेष प्रतिनिधित्व मिल गया। 1935 के अधिनियम में हरिजनों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपीयों तथा ऐंग्लो-इण्डियन को भी पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया। शताब्दियों से बनायी राष्ट्रीय एकता एक ही चोट में समाप्त हो गयी। महात्मा गांधी ने भी यही कहा कि मार्ले-मिण्टो सुधारों ने हमारा सर्वनाश कर दिया।

(III) दोषपूर्ण निर्वाचन प्रणाली : 1909 के अधिनियम द्वारा अपनाई गई निर्वाचन प्रणाली दो दृष्टिकोण से दोषपूर्ण थी। प्रथम-मताधिकार का क्षेत्र बहुत सीमित था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सबसे बड़े निर्वाचन क्षेत्र में केवल 650 मतदाता थे तथा सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में औसत केवल 22 मतदाता। प्रांतीय विधान परिषदों के निर्वाचन क्षेत्रों

CHRONICLE IAS ACADEMY

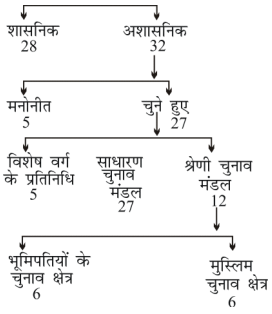

टिप्पणी : *आकार के आंकड़ों में गवर्नर जनरल तथा प्रधान सेनापति सम्मिलित नहीं, क्योंकि वे तो पदेन ही सदस्य होते थे।*

में भी मतदाताओं की संख्या 100 से अधिक नहीं थी। दूसरे - निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष तथा कभी-कभी दोहरी अप्रत्यक्ष थी। फलतः मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों के बीच सम्पर्क नहीं हो पाता था। इन कारणों से केन्द्रीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाएं सच्ची प्रतिनिधि संस्थाओं का रूप न ले सकी।

(IV) प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में गैर सरकारी बहुमत एक माखौल : प्रांतीय विधान परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत था, लेकिन उसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं थी। गैर सरकारी सदस्य दो प्रकार के थे- निर्वाचित और नामांकित। नामांकित गैर सरकारी सदस्य सरकार के पिट्ठू थे, अतः निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य व्यवहार में अल्पमत में थे। इसके अतिरिक्त गैर सरकारी सदस्य परिषदों की बैठक में बहुत कम उपस्थित होते तथा उनकी कार्यवाहियों में कम दिलचस्पी लेते थे। इन कारणों से प्रांतीय परिषदें रबर की मुहर बन गईं जो सरकारी आदेशों को केवल औपचारिकता प्रदान करती थीं।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद मार्ले-मिण्टो सुधारों को एकदम निरर्थक नहीं कहा जा सकता है। यह योजना कई प्रकार से उपयोगी सिद्ध हुआ। पहला, इससे भारतीयों को संसदीय शासन व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण मिला। दूसरा, व्यवस्थापिका सभाओं के आधार तथा शक्तियों में वृद्धि की गयी, जो बाद में विकसित होकर पूर्ण संसद बन गयी। तीसरा, संवैधानिक विकास के वृहद् दृष्टिकोण से भारतीय स्वशासन की दिशा में यह एक आवश्यक और उपयोगी कदम था।

चौथा, अधिनियम ने भारतीय संविधान को उस स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया जिसके बाद उत्तरदायी सरकार की स्थापना स्वाभाविक कदम था। 1909 का सुधार 1892 के अधिनियम के बाद निश्चित रूप से एक विकसित रूप था। पहली बार, अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धांत को औपचारिकता प्रदान की गयी। प्रांतीय विधान परिषदों में गैर सरकारी बहुमत रखा गया। विधान परिषदों का विस्तार किया गया। कार्यकारिणी परिषदों में प्रथम बार भारतीयों को स्थान दिया गया। निस्सन्देह ये परिवर्तन प्रगतिशील थे। फिर भी यह अधिनियम 1861 के अधिनियम द्वारा अपनाई गयी *'सहयोग की नीति'* का केवल विस्तार मात्र था।

स्मरणीय तथ्य

- 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम के साथ *'सहयोग की नीति'* का आरंभ हुआ। भारतीयों को प्रशासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाने लगा।
- 1861 के आधार पर ही लार्ड कैनिंग ने विभागीय प्रणाली की शुरुआत की। इस प्रकार भारत सरकार की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की नींव रखी गयी।
- 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम में बम्बई तथा मद्रास प्रांतों को अपने लिए कानून बनाने का अधिकार तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार पुनः दे दिया गया। उल्लेखनीय है कि चार्टर ऐक्ट 1833 द्वारा यह अधिकार ले लिया गया था।
- लार्ड डफरिन ने कांग्रेस के संबंध में कहा कि, *"यह एक सूक्ष्म अल्पसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है"* और कांग्रेस की मांग *"अज्ञात में बड़ी छलांग है।"*
- 1892 के भारतीय परिषद अधिनियम में चुनाव प्रणाली का स्वीकार करना यद्यपि निहित था स्पष्ट नहीं, एक अत्यधिक वैधानिक महत्व की बात थी।
- 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम के जन्मदाता भारत सविच मोर्ले तथा गवर्नर जनरल लॉर्ड मिण्टो थे। इन्हीं के नाम पर इसे मार्ले-मिण्टो सुधार कहते हैं।
- 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत की स्थापना की गयी।
- 1909 के अधिनियम द्वारा सांप्रदायिक और पृथक निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी। मुस्लिमों के लिए अलग निर्वाचक मंडल की व्यवस्था की गयी। इसी प्रकार की व्यवस्था सिखों के लिए 1919 के अधिनियम द्वारा की गयी।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रथम विश्व युद्ध से गोलमेज सम्मेलन तक

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ होने पर ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी युद्ध में शामिल कर लिया। ब्रिटेन ने बिना भारतीयों की अनुमति के भारतीय जनशक्ति तथा संसाधनों का युद्ध में व्यापक इस्तेमाल किया। इससे भारत पर राष्ट्रीय ऋण में 30% की बढ़ोतरी हो गयी, जिससे भारतीय जनता के कष्टों में अपार वृद्धि हुई। इन सबका भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुआयामी प्रभाव पड़ा। प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटेन के युद्ध प्रस्तावों का स्वागत किया और उसे व्यापक समर्थन दिया। ऐसा इस उद्देश्य से किया गया कि ब्रिटिश सरकार इस वफादारी के पुरस्कार स्वरूप उनके राजनीतिक सुधार की माँग को पूरा करेगी। ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन का लक्ष्य भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना है। लेकिन युद्ध के बाद घोषित सुधारों से नेताओं और जनता को व्यापक निराशा हुई। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यापक प्रगति हुई।

1. होमरूल आन्दोलन का जन्म : प्रथम विश्व युद्ध ने होमरूल आन्दोलन के जन्म और विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय नेताओं के सामने यह स्पष्ट होता जा रहा था कि सरकार तब तक कोई वास्तविक अधिकार नहीं देगी, जब तक कि एक वास्तविक राजनीतिक आन्दोलन के जरिए उसके ऊपर जनता का दबाव न डाला जाये। युद्ध ने, जिसमें साम्राज्यवादी शक्तियाँ आपस में लड़ रही थीं, उनकी जातीय श्रेष्ठता की धारणा को समाप्त कर दिया जिससे भारतीयों का नैतिक मनोबल बढ़ा। इसके अलावा युद्ध के कारण करों की दर बढ़ गयी एवं मूल्यों में काफी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप समाज के कमजोर तबके की परेशानियाँ बढ़ गयी थीं।

इन्हीं परिस्थितियों में 1915-16 में दो होमरूल लीग की स्थापना हुई। एक के नेता तिलक थे और दूसरे की नेता थी *श्रीमती एनी बेसेंट।* दोनों ने आपसी सहयोग से पूरे देश में इस मांग को प्रचारित किया कि युद्ध के बाद भारत को स्वशासन दिया जाये। इन दोनों लीगों ने तेजी से प्रगति की और होमरूल की मांग पूरे देश में गूँजने लगी। कांग्रेस की निष्क्रियता से दुखी अनेक नरमपंथी राष्ट्रवादी भी होमरूल आन्दोलन में शामिल हो गये। सरकार ने व्यापक दमन चक्र का सहारा लिया और धीरे-धीरे यह आन्दोलन बिखर गया।

तिलक ने अप्रैल 1916 में मुम्बई के बेलगाँव में अपने होमरूल लीग का गठन किया। इसका गठन बम्बई प्रांतीय सभा में किया गया। इसकी गतिविधियाँ मध्य प्रांत, महाराष्ट्र (बम्बई को छोड़कर), कर्नाटक और बरार तक सीमित थीं। तिलक के लीग में निम्नलिखित योजनाएं थीं-

(1) स्वराज्य की मांग
(2) भाषायी राज्य
(3) शिक्षा में देशी भाषा का प्रयोग
(4) जातिवाद के विरुद्ध धर्मयुद्ध

तिलक का नारा था "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।"

श्रीमती एनी बेसेंट ने सितम्बर 1916 में मद्रास के गोखले सभागार में अपना होमरूल लीग प्रारंभ किया। *जॉर्ज अरुंडेल* इसके संगठन मंत्री बनाये गये। इसकी गतिविधियों में मुख्य बल स्वराज्य के लिए आन्दोलन शुरू करने पर दिया गया। एनी बेसेंट का लीग तिलक के लीग के प्रभाव वाले क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में सक्रिय था। यद्यपि दोनों लीगों का विलय नहीं हुआ था, परन्तु इन्होंने आपसी सहयोग के द्वारा कार्य किया। 1916 के कांग्रेस अधिवेशन के अंत में इन्होंने एक संयुक्त सभा की।

होमरूल आन्दोलन सरकारी दमन का शिकार हुआ। तिलक गिरफ्तार कर लिए गये, परन्तु कुछ समय बाद इन्हें छोड़ दिया गया। उधर मद्रास सरकार ने एनी बेसेंट तथा उनके सहयोगियो बी. *पी. वाडिया* और *अरुंडेल* को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बढ़ती हुई राष्ट्रवादी भावना को देखकर सरकार ने समझौतावादी रूख अपनाया। धीरे-धीरे इस आन्दोलन का पतन होने लगा, जिसके प्रमुख कारण निम्न थे-

(1) श्रीमती एनी बेसेंट सहित उदारवादी नेता सुधारों का आश्वासन मिलने के बाद शांत हो गये। इससे राष्ट्रवादियों का विभाजन हो गया।
(2) वेलेन्टाइन शिरोल (इंडियन अनरेस्ट के लेखक) से संबंधित मुकदमे के सिलसिले में तिलक को इंग्लैंड जाना पड़ गया।
(3) सरकार की दमनकारी नीति।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि यद्यपि होमरूल आन्दोलन बिखर गया, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए समाज में एक व्यापक आधार तैयार कर गया। इसने देश में कट्टर राष्ट्रवादियों के एक दल का निर्माण किया, जो गाँधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वयंसेवक बने।

2. कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच 1916 का समझौता : युग के दौरान भारतीय जनता में उभरे व्यापक आर्थिक और राजनैतिक असंतोष और राष्ट्रवादी भावना तथा राष्ट्रीय एकता की आकांक्षा के कारण 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में राष्ट्रीय महत्व की दो घटनाएँ घटीं-

(1) कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी अपने मतभेद भुलाकर एक हो गये।
(2) कांग्रेस और मुस्लिम लीग में लखनऊ समझौता हुआ और दोनों ने एक होकर संघर्ष का निश्चय किया।

कांग्रेस के नरमपंथियों और गरमपंथियों में जो फूट 1907 के सूरत अधिवेशन में पड़ी थी, वह लखनऊ अधिवेशन में आकर ठीक

CHRONICLE IAS ACADEMY

हो गयी। दोनों ही पक्षों ने यह महसूस किया था कि यदि एक होकर संघर्ष किया जाये तो इसके अच्छे नतीजे होंगे। *गोखले* और *फिरोजशाह मेहता* की मृत्यु ने भी नरमपंथियों का रूख नरम कर दिया था। इसके अलावा श्रीमती एनी बेसेंट गरमपंथी नेताओं तिलक और उनके सथियों को कांग्रेस में लेने के लिए सहमत कराने का प्रयास भी कर रही थी। लखनऊ अधिवेशन में दोनों पक्षों में एकता होने के ये सभी प्रमुख कारण थे। इन्हीं परिस्थितियों में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान को संशोधित किया गया ताकि उग्रपंथियों का प्रवेश सुनिश्चित हो सके। इस प्रकार 1907 के बाद लखनऊ कांग्रेस प्रथम संयुक्त कांग्रेस थी।

कांग्रेस और लीग के बीच जो लखनऊ समझौता हुआ, उसके अनुसार कांग्रेस पृथक मताधिकार को मानने तथा मुस्लिम अल्पसंख्यक को अतिरिक्त महत्त्व देने के लिए सहमत हो गयी। जिन्ना, तिलक तथा एनी बेसेंट ने दोनों धड़ों को मिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जिन्ना और तिलक दोनों ने यह महसूस किया कि भारत को स्वतंत्रता तभी मिल सकती है जब हिन्दू- मुस्लिम एकता स्थापित हो। यद्यपि लखनऊ समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम था, फिर भी पृथक निर्वाचन जैसे मुद्दे पर सहमति जताकर कांग्रेस ने भविष्य में सांप्रदायिकता के उदय के लिए मार्ग खुला छोड़ दिया।

कांग्रेस के दोनो धड़ों में एकता तथा लखनऊ समझौता से देश में व्यापक राजनीतिक उत्साह जागा और ब्रिटिश सरकार भी यह घोषणा करने के लिए मजबूर हुई कि उसकी नीति देश में ब्रिटिश सरकार के अभिन्न अंग के रूप में उत्तरदायी सरकार के लिए स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास करना है।

3. क्रान्तिकारी आन्दोलन का पुनरुत्थान: युद्ध काल के दौरान क्रान्तिकारी आन्दोलन का पुनरुत्थान हुआ। क्रान्तिकारियों ने युद्ध काल को ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने का सबसे अच्छा अवसर देखा। अत: आतंकवादी संगठन बंगाल और महाराष्ट्र से लेकर पूरे उत्तरी भारत में फैल गये। अमरीका और कनाडा में बसे भारतीयों ने सशस्त्र विद्रोह के जरिए ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए *'गदर पार्टी'* की स्थापना की। प्रथम विश्व युद्ध शुरू होते ही गदरपंथी हथियार और धन भारत भेजने लगे। दुर्भाग्य से इस योजना की भनक ब्रिटिश सरकार को लग गयी और व्यापक दमन के द्वारा इस आन्दोलन को दबा दिया गया। इसी तरह बंगाल में एक असफल क्रान्तिकारी प्रयास *जतीन मुखर्जी* के नेतृत्व में हुआ। बाद में वे बालासोर में पुलिस से लड़ते हुए मारे गये। *रास बिहारी बोस, मैडम भीकाजी कामा* तथा अन्य ने यूरोप में क्रान्तिकारी कार्यों की भूमिका का निर्माण किया।

4. खिलाफत आन्दोलन का जन्म : महायुद्ध की समाप्ति पर मित्र राष्ट्रों ने तुर्की के साथ जो अन्याय किया था, उसके विरोध में तथा तुर्की के खलीफा की सम्मान की पुनर्स्थापना के लिए भारत के मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन का संगठन किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में खिलाफत आन्दोलन का बड़ा ही महत्व है क्योंकि इसी के द्वारा मुस्लिम जनता पूर्ण रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ गयी। कांग्रेस के नेता भी इस आन्दोलन में सम्मिलित हुए और उन्होंने सारे देश में इसको संगठित करने में मुस्लिम नेताओं की सहायता की।

5. जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय: महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जुझारू प्रवृत्तियों का विकास किया और उसे एक व्यापक राष्ट्रीय जन-आन्दोलन में बदल दिया। युद्ध के दौरान राष्ट्रवाद की ताकत बढ़ी थी। राष्ट्रवादियों को युद्ध के बाद बड़े राजनैतिक लाभ मिलने की आशाएं थीं और ये आशाएं पूरी न होने पर वे लड़ने को तैयार थे। महायुद्ध के बाद बेरोजगारी और महंगाई तेजी से बढ़ी। इससे मजदूर, दस्तकार, किसान और शिक्षित भारतीय सभी त्रस्त थे। ये सभी राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय होने को तैयार थे।

6. राष्ट्रवाद का प्रसार: प्रथम विश्व युद्ध से एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद को व्यापक बल मिला था। इससे गोरों की नस्ली श्रेष्ठता की भावना को भी धक्का पहुँचा था।

इन सब कारणों से देश राजनीतिक आन्दोलन के लिए पूर्णत: तैयार था। इन सब कारकों का सम्मिलित प्रभाव एक ओर असहयोग आन्दोलन के रूप में सामने आया, तो वहीं बड़े पैमाने पर किसान आन्दोलनों तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन का भी विकास हुआ। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन ने बहुआयामी स्वरूप धारण किया। इसका आधार व्यापक हुआ तथा कई नये तत्वों का इसमें समावेश हुआ।

असहयोग आन्दोलन 1920-22

असहयोग आन्दोलन के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण भी शुरू होता है। इस चरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस चरण में व्यापक जन आंदोलन छेड़े गये तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को गाँधीजी का सशक्त नेतृत्व मिला। इस चरण में असहयोग आन्दोलन के रूप में पहली बार व्यापक जन-आन्दोलन की शुरुआत हुई। इस आन्दोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ इस प्रकार थीं-

1. प्रथम विश्व युद्ध के बाद उभरी राजनैतिक निराशा: प्रथम विश्व युद्ध के बाद उपजी राजनैतिक निराशा इस आन्दोलन को छेड़े जाने का प्रमुख कारण बनी। भारतीय जनता को यह उम्मीद थी कि विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सरकार उसके लिए व्यापक संवैधानिक सुधार करेगी, लेकिन *रॉलेट एक्ट, जलियांवाला कांड, पंजाब में मार्शल लॉ* ने उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। *मांटेग्यू चेम्सफोर्ड* सुधार भी लोगों को संतुष्ट नहीं कर सका। इससे भी असंतोष और उभरा।

2. महायुद्ध के बाद की आर्थिक कठिनाइयाँ: महायुद्ध के दौरान और उसके बाद जारी आर्थिक कठिनाइयों ने भी जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। महायुद्ध के कारण महंगाई काफी बढ़ गयी, जिसने सभी वर्गों को प्रभावित किया। खाद्यानों की कमी तो थी ही, कीमत भी काफी बढ़ गयी। गाँव के लोग सूखा, बाढ़ और महामारी से भी परेशान थे। इस तरह लोगों को काफी कष्टों का सामना करना पड़ रहा था और वे अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ कसमसा रहे थे।

3. खिलाफत तथा मुस्लिम असंतोष: प्रथम विश्व युद्ध के समय मुस्लिमों का सहयोग पाने के लिए अंग्रेजों ने तुर्की के प्रति वफादार रवैया अपनाने का वादा किया था, पर बाद में वे मुकर गये। भारतीय मुसलमान, जो तुर्की के खलीफा को अपना धर्म गुरु मानते थे, वे काफी क्षुब्ध हो गये। उन्हें लगा कि अब तुर्की के धर्म स्थलों पर खलीफा का नियंत्रण नहीं रह जायेगा। अत: उन्होंने खिलाफत आन्दोलन करने का निश्चय किया। गाँधीजी को भी मुसलमानों को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने का यह सुनहरा अवसर लगा और उन्होंने असहयोग आन्दोलन में इस मांग को भी स्वीकार कर लिया।

4. कांग्रेस का सरकार से मोहभंग : गाँधीजी और उनके जैसे तमाम लोग, जो यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि सरकार जलियांवाला

CHRONICLE IAS ACADEMY

बाग और पंजाब में उपद्रवों की निष्पक्ष जांच करवायेगी, धीरे-धीरे निराश हो चले थे। सरकार द्वारा नियुक्त *हंटर* आयोग घटनाओं की लीपापोती करने में लगा हुआ था। ब्रिटिश संसद ने जनरल डायर के कारनामों को उचित करार दिया। अत: अब नेताओं तथा कांग्रेस को यह लगने लगा कि संवैधानिक तौर-तरीकों से कुछ भी नहीं होने वाला। इस वजह से कांग्रेस ब्रिटिश रवैये से क्षुब्ध होकर असहयोग का रास्ता पकड़ने को तैयार थी।

5. जनता की जागृति: पिछले चार दशकों की राजनैतिक प्रगति ने भारतीय जनता को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाया था। अंग्रेजी सरकार की प्रवृत्तियों से वह वाकिफ हो चुकी थी। वह सरकार के दमन और धोखेबाजी से क्षुब्ध थी। उसे लग रहा था कि अब चुप रहना कायरता होगी।

कांगेस के नागपुर अधिवेशन (1920) में अहिंसक असहयोग कार्यक्रम को पूर्णतया या आंशिक रूप से प्रारंभ करने, सरकार से सभी प्रकार के स्वैच्छिक सहयोग त्यागने तथा करों की अदायगी न करने का संकल्प लिया गया। इस प्रकार कांग्रेस द्वारा 'सभी प्रकार के वैधानिक और शांतिपूर्ण साधनों द्वारा स्वराज प्राप्ति' के लक्ष्य की घोषणा की गयी। कांग्रेस के इस आन्दोलन में निम्न कार्यक्रम थे-

(1) उपाधियों एवं प्रशस्ति-पत्रों का परित्याग,
(2) सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार और
(3) कर की अदायगी नहीं करना।

इसके रचनात्मक कार्यक्रमों में निम्न बातें थीं-

(1) राष्ट्रीय शिक्षा,
(2) पंचों द्वारा निर्णय को बढ़ावा देना,
(3) खादी कार्यक्रम,
(4) हिंदू-मुस्लिम एकता बनाये रखना और
(5) अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन चलाना।

नागपुर अधिवेशन में ही कांग्रेस संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किए गये। ये परिवर्तन इस प्रकार थे-

(1) कांग्रेस के रोजमर्रा के कार्यों को देखने के लिए 15 सदस्यीय कार्यकारिणी गठित की गयी।
(2) अधिक महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करने के लिए 350 सदस्यीय अखिल भारतीय कमेटी बनायी गयी, जो कार्यकारिणी समिति के निर्णयों की समीक्षा भी करती थी।
(3) भाषायी आधार पर प्रांतीय कांग्रेस समितियों का गठन किया गया, ताकि वे स्थानीय भाषा का प्रयोग कर जनसम्पर्क बनाये रखें। कांग्रेस ने जहां तक संभव हो, हिन्दी का प्रयोग करने का निर्णय लिया, ताकि शिक्षितों एवं आम जनता के बीच की दीवार को तोड़ा जा सके।
(4) सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने के उद्देश्य से सदस्यता शुल्क घटा दी गयी।

इस प्रकार चार कारणों से 1920 का नागपुर अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है-

1. परिवर्तित साधन : राजनैतिक रियायतें प्राप्त करने के संवैधानिक उपायों को छोड़कर सभी प्रकार के शांतिपूर्ण और वैधानिक उपाय अपनाये गये।

2. परिवर्तित लक्ष्य : ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वशासन पाने के लक्ष्य का परित्याग किया गया।

3. परिवर्तित नेतृत्व : अगस्त 1920 में तिलक की मृत्यु के पश्चात कांग्रेस का नेतृत्व निर्विवाद रूप से गांधी के हाथों में चला गया।

4. परिवर्तित दलीय संरचना-कांग्रेस संगठन को अब अधिक प्रभावकारी, अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण, अधिक युवा तथा राजनीतिक समाजीकरण का साधन बनाया गया।

आन्दोलन की प्रगति

आन्दोलन का प्रथम चरण जनवरी से मार्च 1921 तक माना जाता है, जिसमें गांधीजी एवं अली बंधुओं ने राष्ट्रव्यापी जनसंपर्क अभियान चलाया। इनका आग्रह था कि विद्यार्थी सरकारी नियंत्रण वाले शिक्षण संस्थाओं तथा वकील अदालत छोड़ दें। *सी. आर. दास, मोतीलाल नेहरू, एम. आर. जयकर, वल्लभभाई पटेल* और अन्य लोगों ने वकालत छोड़ दी। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया गया और कई जगहों पर विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी। इस आन्दोलन का एक अत्यंत लोकप्रिय कार्यक्रम था- ताड़ी की दुकान पर धरना।

आन्दोलन के दूसरे चरण (मार्च से जुलाई 1921) में सारा ध्यान कोष इकठ्ठा करने, सदस्य संख्या बढ़ाने तथा चरखा बांटने पर दिया गया। *तिलक स्वराज कोष* भी बनाया गया, जिसमें लक्ष्य 1 करोड़ से भी अधिक धन इकठ्ठा किया गया।

तीसरे चरण (जुलाई से नवम्बर 1921) में और अधिक उग्र रूप अपनाया गया। इसमें विदेशी कपड़े एवं प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन का बहिष्कार किया गया। प्रांतीय समितियों को भी नागरिक अवज्ञा करने की अनुमति दी गयी। गांधीजी ने स्वयंसेवकों से जेल भरने का आह्वान किया। बम्बई में कुछ हिंसक झड़पें भी हुईं।

चौथे चरण (नवम्बर से फरवरी 1922) में सरकार ने दमन का सहारा लिया। गांधीजी को छोड़कर सी. आर. दास सहित सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार ने गांधीजी और खिलाफत के नेताओं में फूट डालने का भी प्रयास किया, परन्तु वे असफल रहे। सर्वदलीय सम्मेलन और वायसराय के नाम गांधीजी के पत्र दोनों का सरकार पर कोई असर नहीं हुआ। गांधीजी ने घोषणा की कि यदि सरकार नागरिक स्वतंत्रता बहाल नहीं करेगी, राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं करेगी तो वे देशव्यापी सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने को बाध्य हो जायेंगे। गांधीजी ने अंत में बारदोली में जन सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने का निर्णय नागरिक स्वतंत्रता पर पाबंदी लगाने के मुद्दे पर लिया। देश के अन्य भागों से यह अपेक्षा की गयी कि वे अनुशासन और शांति बनाये रखकर सहयोग दें, ताकि बारदोली आन्दोलन पर पूरा ध्यान दिया जा सके। परन्तु इसे और इसके साथ-साथ चल रहे पूरे देश के आन्दोलनों को 11 फरवरी को गांधीजी के कहने पर बंद कर दिया गया। इसका कारण 5 फरवरी, 1922 को चौरा-चौरी में एक भीड़ द्वारा 22 पुलिस वालों को जिन्दा जलाया जाना था।

11 फरवरी, 1922 को गांधीजी के आन्दोलन को वापस लेने की घोषणा के साथ ही आन्दोलन वापस ले लिया गया। गांधीजी ने वादा किया था कि यदि उनकी नीतियों पर सही ढंग से अमल किया जाये तो एक साल में स्वराज की स्थापना हो जायेगी। लेकिन स्वराज तो दूर अंग्रेजों ने छोटी-मोटी रियासतें भी नहीं दीं। लेकिन यह आन्दोलन निरर्थक या असफल नहीं रहा। इस आन्दोलन की अनेक सफलताएं और उपलब्धियां हैं।

(1) इस आन्दोलन ने पहली बार देश की जनता को एकताबद्ध किया। इसने दिखाया कि इसे देशभर में भारतीयों के बड़े भाग का समर्थन प्राप्त है। कांग्रेस ने अपने ऊपर लगा 'अल्पमत का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था' के *डफरिन* के आरोप का मुंहतोड़ जवाब दिया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(2) इस आन्दोलन ने देश की जनता को आधुनिक राजनीति से परिचय कराया और उसमें आजादी की इच्छा जगायी। इसने यह दिखाया कि भारत की दीन-हीन जनता भी आधुनिक राष्ट्रवादी राजनीति की वाहक हो सकती है। यह पहला अवसर था जब राष्ट्रीयता ने गांवों, कस्बों, स्कूलों आदि सबको अपने प्रभाव में ले लिया। हालांकि इसकी उपलब्धियां कम थीं, लेकिन जो कुछ हासिल हुआ, वह आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक हुआ।

(3) बड़े पैमाने पर मुसलमानों की भागीदारी और सांप्रदायिक एकता इस आन्दोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। मुसलमानों की भागीदारी ने ही इस आन्दोलन को जन आन्दोलन का स्वरूप दिया।

(4) इस आन्दोलन का एक प्रमुख परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता के मन से भय की भावना समाप्त हो गयी। भारत में ब्रिटिश सत्ता की हैवानी ताकत अब उसके लिए डर का कारण न रही। इससे उनमें आत्म-विश्वास और आत्म- सम्मान जागा।

असहयोग के अप्रत्यक्ष प्रभाव

कांग्रेस द्वारा प्रांतीय कांग्रेस समितियों को उन स्थानों पर, जहाँ लोग आन्दोलन के लिए तैयार थे, *नागरिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन* प्रारंभ करने का अधिकार दिया गया था। मिदनापुर (बंगाल) में संघीय कर बोर्ड के विरुद्ध एक आन्दोलन शुरू किया जा चुका था तथा गुन्टूर (आंध्र प्रदेश) में करबंदी आन्दोलन शुरू होने ही वाला था। असहयोग आन्दोलन द्वारा सत्ता के प्रति उत्पन्न असंतोष एवं अवज्ञा की भावना ने देश के अन्य भागों में अनेक स्थानीय आन्दोलनों के उदय में सहायता की। हालांकि इन स्थानीय आन्दोलनों ने न तो असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रमों और न ही अहिंसा के सिद्धांतों का कड़ाई से पालन किया।

अवध में जवाहर लाल नेहरू एवं अन्य लोगों द्वारा किए जा रहे करबंदी संबंधी प्रचार ने पहले से ही व्याप्त किसान आन्दोलन की उत्तेजना को और भड़का दिया।

केरल के मालाबार में असहयोग और खिलाफत संबंधी प्रचार ने मुस्लिम किसानों को उनके जमींदारों के विरूद्ध खड़ा कर दिया। हालांकि कुछ समय के लिए इस आन्दोलन ने सांप्रदायिकता का रंग भी ले लिया।

असम के बगान मजदूरों ने हड़ताल की तथा इससे स्टीमर सेवा में भी हड़ताल हुई। असम एवं बंगाल रेलवे को भी हड़ताल का सामना करना पड़ा।

आंध्र में जंगल कानून भंग किया गया। यहाँ लोग जंगल पर अपने पारंपरिक अधिकारों की सुरक्षा चाहते थे। राजस्थान में किसानों एवं आदिवासियों ने अच्छी जीवन प्राप्ति के लिए संघर्ष किये।

पंजाब के भ्रष्ट महन्तों से गुरुद्वारे का नियंत्रण छीनने के लिए अकाली आन्दोलन चला, जो असहयोग आन्दोलन का एक हिस्सा बन गया। अकालियों ने घोर दमन के बावजूद भी अहिंसा का मार्ग नहीं छोड़ा।

झारखण्ड के छोटा नागपुर में आदिवासियों ने ताना भगत आन्दोलन में कर व राजस्व नहीं देने की धमकी दी।

इस तरह असहयोग आन्दोलन राजनीतिक तौर पर असफल होते हुए भी व्यापक उपलब्धियों को हासिल करने में सक्षम रहा और भविष्य के आंदोलनों के लिए एक आधार बनाने में सफल रहा।

खिलाफत आन्दोलन

प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की ने मित्र राष्ट्रों के खिलाफ युद्ध किया था। तुर्की के खलीफा को मुस्लिमों के धार्मिक प्रधान के रूप मे देखा जाता था। उन दिनों यह अफवाह फैली थी कि तुर्की पर ब्रिटिश सरकार अपमानजनक शर्तें लाद रही है। इसी के विरोध स्वरूप 1919-20 में अली बन्धु, मौलाना आजाद, हसरत मोहानी तथा हकीम अजमल खान के नेतृत्व में खिलाफत आन्दोलन छेड़ा गया। इनकी तीन मांगें थीं-

(1) मुसलमानों के पवित्र स्थानों पर तुर्की के सुल्तान खलीफा का नियंत्रण रहे।

(2) खलीफा के अधीन इतना भू-भाग रहे कि वह इस्लाम की रक्षा कर सके।

(3) जारीजात उल अरब (अरब, सीरिया, इराक तथा फिलिस्तीन) पर मुसलमानों की संप्रभुता बनी रहे।

प्रथम विश्व युद्ध में मुसलमानों का सहयोग लेने लिए अंग्रेजों ने तुर्की के प्रति उदार रवैया अपनाने का वादा किया था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने यह वादा किया था कि, "हम तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस की उस समृद्ध और प्रसिद्ध भूमि से वंचित करने के लिए युद्ध नहीं कर रहे हैं जो नस्ली दृष्टि से मुख्य रूप से तुर्क है।" लेकिन बाद में अंग्रेज इस वादे से मुकर गये। ब्रिटेन तथा उसके सहयोगियों ने उस्मानिया सल्तनत के साथ अपमानजनक व्यवहार किया तथा उसके टुकड़े-टुकड़े कर थ्रेस को हथिया लिया। इससे भारत के राजनैतिक चेतना प्राप्त मुसलमान काफी क्षुब्ध थे। तुर्की के प्रति ब्रिटिश नीति में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से भारतीय मुसलमानों ने आन्दोलन छेड़ने का निश्चय किया। शीघ्र ही अली भाइयों (मौलाना अली एवं शौकत अली), मौलाना आजाद, हकीम अजमल खान और हसरत मोहानी के नेतृत्व में एक खिलाफत कमेटी गठित हुई और देशव्यापी आन्दोलन छेड़ दिया गया। वस्तुतः इस आंदोलन के साथ मुस्लिम जनता पूर्ण रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ी। कांग्रेस के नेता भी खिलाफत आन्दोलन में शामिल हुए और उन्होंने सारे देश में इसे संगठित करने में मुस्लिम नेताओं की सहायता की।

महात्मा गांधी भी खिलाफत आन्दोलन में सहयोग देने के इच्छुक थे। उनके लिए "खिलाफत आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता में बाधने का एक ऐसा सुअवसर था, जो सैकड़ों वर्षों में नहीं आयेगा।" शीघ्र ही गांधीजी खिलाफत आन्दोलन के एक मान्य नेता के रूप में उभरे। नवम्बर 1919 में गांधीजी खिलाफत आन्दोलन के अध्यक्ष चुने गये। सम्मेलन में उन्होंने मुसलमानों से कहा कि वे मित्र राष्ट्रों की विजय के उपलक्ष्य में आयोजित सार्वजनिक उत्सवों में भाग न लें। उन्होंने धमकी दी कि यदि ब्रिटेन ने तुर्की के साथ न्याय नहीं किया तो बहिष्कार और असहयोग आन्दोलन शुरू किया जायेगा। मौलाना आजाद, अकरम और फजलुल हक ने खिलाफत आन्दोलन और हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्ष में बंगाल का दौरा किया।

1920 के प्रारंभ में ही हिन्दुओं और मुसलमानों का एक संयुक्त प्रतिनिधि मंडल वायसराय से मिला, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि उन्हें ऐसी उम्मीद छोड़ देनी चाहिए। एक प्रतिनिधि मंडल उसके बाद इंग्लैंड गया, लेकिन प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने रूखा उत्तर दिया कि "पराजित ईसाई शक्तियों के साथ किए जाने वाले बर्ताव से भिन्न बर्ताव तुर्की के साथ नहीं किया जायेगा।" 1920 तक ब्रिटिश हुकूमत ने खिलाफत नेताओं से यह स्पष्ट कह दिया कि वे अब और अधिक उम्मीद नहीं रखें। तुर्की के साथ पेरिस सम्मेलन में 1920 में की गयी

CHRONICLE IAS ACADEMY

'सेव्रे की संधि' इस बात का सबूत थी कि तुर्की के विभाजन का फैसला अंतिम है। इससे नेताओं में जबर्दस्त रोष फैला। गांधीजी ने खिलाफत कमेटी को अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ अहिंसक आन्दोलन छेड़ने की सलाह दी। 9 जून, 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी ने इस सलाह को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया और गांधीजी को इस आन्दोलन का नेतृत्व करने का दायित्व सौंपा गया।

असहयोग का चार चरणों वाला एक कार्यक्रम घोषित किया गया जिसमें उपाधियों, सिविल सेवाओं, सेना और पुलिस का बहिष्कार और अंततः करों को न देना शामिल था। गांधीजी ने कांग्रेस को भी खिलाफत और अन्य मुद्दों पर असहयोग आन्दोलन छेड़ने के लिए मना लिया। इस तरह दोनों संगठनों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। खिलाफत कमेटी ने मुसलमानों से कहा कि वे सेना में भर्ती न हों। इसके लिए अली बंधुओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस पर कांग्रेस ने सारे भारतीयों से अपील की कि वे किसी भी रूप में सरकार की सेवा न करें। आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने व्यापक दमन चक्र का सहारा लिया।

खिलाफत आन्दोलन अपने मूलभूत उद्देश्यों में सफल नहीं रहा। खिलाफत का प्रश्न जल्दी ही अप्रासंगिक हो गया। तुर्की की जनता मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में उठ खड़ी हुई। 1922 में सुल्तान को सत्ता से वंचित कर दिया गया। कमाल पाशा ने तुर्की के आधुनिकीकरण के लिए तथा इसे धर्मनिरपेक्ष स्वरूप देने के लिए कई कदम उठाये। उसने खिलाफत समाप्त कर दी और संविधान से इस्लाम को निकालकर उसे धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण हुआ, स्त्रियों को व्यापक अधिकार मिला और उद्योग धंधों का विकास हुआ। इन कदमों से खिलाफत आंदोलन की बुनियाद ही नष्ट हो गयी। अपने मूलभूत उद्देश्यों को पूरा नहीं करके भी परोक्ष परिस्थितियों की दृष्टि से यह आन्दोलन काफी सफल रहा।

आन्दोलन के परोक्ष परिणाम

1. मुसलमानों का राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होना-इस आन्दोलन के फलस्वरूप देश के मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हुए तथा राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़े। उन दिनों देश में जो राष्ट्रवादी उत्साह तथा उल्लास का वातावरण था, उसे बनाने में काफी हद तक इस आन्दोलन का भी योगदान था।

2. हिन्दू-मुस्लिम एकता को बलः इस आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना को बल मिला। दोनों ने मिलकर विदेशी सरकार से संघर्ष किया तथा एक-दूसरे की भावनाओं का आदर किया।

3. सांप्रदायिकता को बल मिलाः ऐसा कहा जाता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा केवल मुसलमानों की एक मांग उठाने से धार्मिक चेतना का राजनीति में समावेश हुआ और अंततः सांप्रदायिक शक्तियां मजबूत हुई। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा यह मांग उठाना गलत नहीं था। उस समय यह जरूरी था कि समाज के विभिन्न अंग अपनी विशिष्ट मांगों और अनुभवों द्वारा स्वतंत्रता की आवश्यकता को समझें। फिर भी मुसलमानों की धार्मिक चेतना को ऊपर उठाकर उसे धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना तक ले जाने में राष्ट्रवादी नेतृत्व कुछ सीमा तक असफल रहा।

इस आन्दोलन के फलस्वरूप मुसलमानों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं का प्रचार हुआ। इस आंदोलन ने खलीफा के प्रति मुसलमानों की चिंता से भी अधिक साम्राज्यवाद विरोधी भावना का ही प्रतिनिधित्व किया और इसे ठोस अभिव्यक्ति दी। इस तरह खिलाफत आन्दोलन अपने मूलभूत उद्देश्यों में असफल रहा, लेकिन इसके परोक्ष परिणाम महत्वपूर्ण सिद्ध हुए।

स्वराज दल

1919 से 1921 तक कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अहिसंक युद्ध की स्थिति में थी और इस स्थिति ने कांग्रेस के विभिन्न नेताओं के विचार संबंधी मतभेद समाप्त कर दिए थे। लेकिन फरवरी 1922 में चौरर-चौरा घटना के बाद असहयोग आन्दोलन के स्थगन के साथ ही परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी। अनिश्चितता और गतिहीनता के इस वातावरण में कांग्रेस में आपसी फूट दृष्टिगोचर होने लगी। कुछ लोग कांग्रेस की नीतियों में परिवर्तन चाहते थे और कुछ लोग किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे। जो अभी तक असहयोग के पक्ष में और कौंसिलों का बहिष्कार चाहते थे, वे *अपरिवर्तनवादी* (No Changers) कहलाये। इस दल में वल्लभ भाई पटेल, डा. अंसारी और डा. राजेन्द्र प्रसाद आदि थे। *परिवर्तनवादी* वे थे जो महात्मा गांधी के कार्यक्रम से मतभेद रखते थे और निर्वाचनों में भाग लेकर कौंसिलों में प्रवेश चाहते थे। इस दल में पण्डित मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास, विट्ठल भाई पटेल और हकीम अजमल खां प्रमुख थे। इस प्रकार 1922 ई. में पुनः ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी, जिससे मालूम पड़ने लगा कि कांग्रेस 1907 की भांति दो दलों में विभक्त हो जायेगी। 1922 के गया अधिवेशन में यह मतभेद खुलकर स्पष्ट रूप से सामने आ गया। इस अधिवेशन में परिवर्तनवादी पराजित हो गये फिर भी वे हताश नहीं हुए।

कांग्रेस से त्याग पत्र देकर 1 जनवरी, 1923 को देशबंधु चितरंजन दास एवं मोती लाल नेहरू ने 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' की स्थापना की। इसे 'स्वराज दल' भी कहा जाता है। कांग्रेस में बढ़ती हुई फूट को देखकर मौलाना आजाद ने मध्यस्थता की। सितम्बर, 1923 में मौलाना आजाद की अध्यक्षता में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। कांग्रेस को कौंसिल के आगामी निर्वाचनों में भाग लेने की अनुमति दी गयी। यह प्रस्ताव पारित किया गया कि, 'जिन कांग्रेसियों को कौंसिल प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या और किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हें अगले निर्वाचन में खड़े होने और अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की स्वतंत्रता है।' इस प्रस्ताव से स्वराजवादी काफी उत्साहित हुए। इन्होंने गांधीजी का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। यद्यपि गांधीजी को स्वराजवादियों की नीति और कार्यक्रम में विश्वास नहीं था, फिर भी उन्होंने स्वराज दल को अपना आशीर्वाद दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि, 'हमारे बीच में वास्तविक और मौलिक भेद हैं, फिर भी मैं भाग नहीं ले सकता, लेकिन ऐसी योजना को मैं सक्रिय सहायता नहीं कर सकता जिसमें मुझे स्वयं विश्वास न हो।' इस प्रकार स्वराज दल कांग्रेस का एक राजनीतिक दल बन गया, जिसका उद्देश्य था संसदीय कार्यों में भाग लेना। इससे कांग्रेस में पुनः विभाजन होने से रुक गया।

स्वराज दल के उद्देश्यः स्वराज दल का मूल उद्देश्य था स्वराज प्राप्त करना। गांधीवादियों का भी यही उद्देश्य था। लेकिन दोनों में स्वराज प्राप्ति के साधनों में अन्तर था। स्वराजवादी गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि असहयोग की नीति को अपनाया जाये, लेकिन कौंसिल में प्रवेश कर

CHRONICLE IAS ACADEMY

क्रियान्वित किया जाये। अर्थात् स्वराजवादियों का लक्ष्य कौंसिल में प्रवेश कर सरकार के कार्य में अड़ंगा लगाना और अन्दर से उसे नष्ट करना था। स्वराजवादियों के उद्देश्यों को संक्षेप में निम्न रूप से रखा जा सकता है-

(1) भारत के लिए स्वराज प्राप्ति।
(2) उस परिपाटी का अन्त करना, जो अंग्रेजी सत्ता के अधीन भारत में विद्यमान थी।
(3) कौंसिल में प्रवेश कर असहयोग के कार्यक्रम को अपनाना और असहयोग आन्दोलन को सफल बनाना।
(4) सरकार की नीतियों का घोर विरोध कर उसके कार्यों में अड़ंगा लगाना, जिससे उसके कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सके और सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने को विवश हो।

स्वराज दल के कार्यक्रम: स्वराज दल ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निश्चित किया-

(1) सरकारी बजट रद्द करना,
(2) उन प्रस्तावों का विरोध करना, जो नौकरशाही को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे,
(3) उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को कौंसिलों में प्रस्तुत करना, जिनके द्वारा राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि हो तथा नौकरशाही की शक्तियों में कमी हो,
(4) कौंसिल के बाहर रचनात्मक कार्यो में सहयोग करना,
(5) समस्त प्रभावशाली स्थानों पर अधिकार और
(6) आवश्यक होने पर पदों का त्याग।

स्वराज दल के कार्य: मॉण्टफोर्ड सुधारों को नष्ट करने के उद्देश्य से स्वराजवादियों ने मोती लाल नेहरू और चित्तरंजन दास के नेतृत्व में 1923 के निर्वाचन में भाग लिया। मध्य प्रांत में इसे पूर्ण बहुमत तथा बंगाल में आशातीत सफलता मिली। मध्यप्रांत और बंगाल में उन्होंने द्वैध शासन को निष्क्रिय बना दिया। इन प्रांतों मे मंत्रिमंडल का निर्माण असंभव हो गया क्योंकि स्वराज दल जिसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त था, न तो स्वयं सरकार का निर्माण करना चाहता था न दूसरे दलों को मंत्रिमंडल का निर्माण करने देना चाहता था।

केन्द्रीय विधान सभा में स्वराजवादियों को 145 में से केवल 45 स्थान प्राप्त हुए, फिर भी कुछ निर्दलीय सदस्यों की सहायता से उन्होंने सरकार का डटकर मुकाबला किया। ऐसा मौका भी आया जब उन्होंने सरकार को पराजित किया। 1925 में वे विट्ठल भाई पटेल को केन्द्रीय विधायिका का अध्यक्ष निर्वाचित करवाने में सफल रहे। उन्होंने कई बार असेम्बली से 'वाक आउट' किया और सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाया।

स्वराज दल की नीति में परिवर्तन : प्रारंभ में स्वराज दल ने सरकार के साथ असहयोग की नीति अपनायी और उसके कार्यों मे अड़ंगे लगाये। लेकिन उसे इस नीति में विशेष सफलता नहीं मिली। अत: उसकी नीति में स्वत: परिवर्तन आने लगे। उन्होंने असहयोग के स्थान पर उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग (Responsive Co-operation) की नीति अपनानी शुरू कर दी। यहाँ तक कि चित्तरंजन दास अपने जीवन काल में यह अनुभव करने लगे थे कि असहयोग की नीति लाभप्रद नहीं है। 1924 ई. में फरीदपुर सम्मेलन में उन्होंने सरकार से समझौता करने के लिए कुछ प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए थे। लेकिन कुछ स्वराजवादी अभी भी 'अड़ंगा' की नीति में विश्वास करते थे। अत: स्वराज दल में फूट दिखायी पड़ने लगी। सरकार ने इस मौका का फायदा उठाया और सहयोगवादियों को विभिन्न समितियों में स्थान देकर खुश करना शुरू कर दिया। 1924 में कुछ प्रमुख स्वराजवादियों को 'इस्पात सुरक्षा समिति' में स्थान दिया। 1925 में स्वयं मोतीलाल नेहरू ने 'स्कीन समिति' सदस्यता स्वीकार कर ली तथा विट्ठल भाई पटेल केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अध्यक्ष चुने गये। थोड़े समय में स्वराज दल की नीति में पूर्णतया परिवर्तन हो गया। असहयोग का स्थान उत्तरदायी सहयोग ने ले लिया। फलत: स्वराज दल कमजोर हो गया और इसका आकर्षण जाता रहा। अत: 1926 में निर्वाचन में इसे बहुत कम सफलता प्राप्त हुई।

स्वराज दल का पतन-1926 ई. तक स्वराज दल की शक्ति समाप्त हो गयी। उसके पतन के प्रमुख कारण निम्न थे :

(1)नीति में परिवर्तन : स्वराज दल ने देखा कि उसकी असहयोग नीति सफल नहीं हो रही है। अत: उन्होंने सरकार के साथ सहयोग की नीति अपनानी शुरू कर दी। फलत: उसका राष्ट्रवादी रूप धीमा पड़ गया और उसका आकर्षण जाता रहा।

(2)चित्तरंजन दास की मृत्यु : श्री चित्तरंजन दास स्वराज दल के जन्मदाता तथा उसके प्रमुख स्तम्भ थे। 1925 में उनकी मृत्यु के बाद दल लड़खड़ा गया।

(3)हिन्दू-मुस्लिम दंगा : हिन्दू-मुस्लिम दंगे ने दल की एकता को नष्ट कर दिया। 1925 में जिन्ना और मोतीलाल नेहरू के बीच मतभेद हो जाने से भी केन्द्रीय विधान सभा में स्वराज दल का प्रभाव कम हो गया।

(4) कांग्रेस में एक अन्य दल की स्थापना : स्वराज दल के अतिरिक्त कुछ नेताओं ने कांग्रेस के अन्दर ही एक अन्य स्वतंत्र दल की स्थापना की। इसके नेता पंडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय थे। इस दल ने हिन्दुत्व का नारा लगाया, जिसके झण्डे के नीचे उत्तर भारत के हिन्दू संगठित होने लगे। फलत: स्वराज दल के अनुयायियों की संख्या तेजी से घटने लगी।

(5) दल में फूट : आपसी मतभेद के कारण स्वराज दल में फूट पड़ गयी। कुछ स्वराजवादी नीति में परिवर्तन और सरकार के साथ सहयोग के पक्ष में थे, जबकि कुछ असहयोग की मौलिक नीति पर डटे रहना चाहते थे। फरीदपुर सम्मेलन में स्वराजवादियों की आपसी फूट स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी।

स्वराज दल के कार्यों का महत्व : स्वराजवादियों के कार्यों की तीखी आलोचना की जाती है। अनेक कांग्रेसी नेताओं का विचार था कि 'अड़ंगा डालने की नीति' अव्यावहारिक और निरर्थक थी। *डॉ. जकारिया* का विचार है कि 'स्वराजवादियों की स्थिति उन व्यक्तियों जैसी थी, जो अपनी रोटी को रखना भी चाहते हैं और खाना भी।' स्वराज दल अपने उद्देश्यों में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर सका। इनके विरोध के बावजूद सरकारी नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं हो सका। इसके बावजूद इस दल के कार्यों का महत्व इस बात में है कि इसने असहयोग आन्दोलन के बाद की शिथिलता के समय जनता में उत्साह और साहस का वातावरण तैयार किया। जिस समय कांग्रेस रचनात्मक कार्यों में व्यस्त थी और गांधीजी राजनीतिक निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय स्वराजवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व संभाला तथा अपनी अड़ंगावादी नीतियों के परिणामस्वरूप द्वैध शासन को व्यर्थ कर दिया। साइमन कमीशन ने भी यह स्वीकार किया था कि उस समय स्वराज दल ही एक सुसंगठित और अनुशासित दल था, जिसके पास एक सुनिश्चित कार्यक्रम था। संक्षेप में, स्वराज

CHRONICLE IAS ACADEMY

दल ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्धकारपूर्ण समय में आशा की किरण प्रज्वलित की और जनता में उत्साह तथा नवजीवन का संचार किया।

साइमन कमीशन

1927 में राष्ट्रीय आन्दोलन अपने निम्नतम स्तर पर था। स्थिति ऐसी थी कि हिन्दू-मुस्लिम दंगो के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन या संवैधानिक सुधारों की दिशा में सोचा भी नहीं जा सकता था। लेकिन इसी समय ब्रिटिश शासन के द्वारा एक ऐसा कार्य किया गया जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को नवजीवन और गति प्रदान की। 1919 के अधिनियम में *मांटेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम* के पारित होने के 10 वर्ष पश्चात् भारत में उत्तरदायी सरकार की प्रगति की दिशा में किये गये कार्यों की समीक्षा का प्रावधान किया गया था। इसके अनुसार सरकार को 1931 ई. में इस कार्य के लिए एक आयोग नियुक्त करना था, लेकिन सरकार ने 1927 ई. में ही इस आयोग की नियुक्ति कर दी। इस आयोग के अध्यक्ष थे *सर जॉन साइमन*। उनकी अध्यक्षता में 'भारतीय संवैधानिक आयोग या इंडियन स्टेचुटरी कमीशन' बहाल किया गया। अध्यक्ष सहित इसमें कुल 7 सदस्य थे। इसमें ब्रिटेन के तीनों प्रमुख राजनीतिक दलों (कंजर्वेटिव, लिबरल और लेबर) के प्रतिनिधि रखे गये, परंतु किसी भी भारतीय सदस्य को इसमें नहीं लिया गया। यह प्रजातीय विभेद का एक जीता-जागता उदाहरण था। कमीशन में भारतीयों को सम्मिलित न करने का कारण यह बतलाया गया कि क्योंकि कमीशन को अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश संसद को देनी होगी, इसलिए उसमें ब्रिटिश संसद के सदस्यों को ही सम्मिलित किया जाना उचित था। किन्तु सरकार का यह स्पष्टीकरण एक भुलावा था, क्योंकि इस समय दो भारतीय *लॉर्ड सिन्हा* और *मि. सकलातवाला* भी ब्रिटिश संसद के सदस्य थे।

यों तो ब्रिटिश सरकार का कहना था कि भारतीयों की मांगों के अनुसार शासन में जल्द से जल्द सुधार लाने के उद्देश्य से आयोग की नियुक्ति समय से पूर्व की गयी थी, लेकिन वास्तविक कारण कुछ और ही थे।

(1) ब्रिटेन की अनुदार सरकार उस समय भारत में आयोग भेजना चाहती थी, जबकि देश में सांप्रदायिक दंगे जोरों पर थे और भारत की एकता नष्ट हो चुकी थी। सरकार चाहती थी कि आयोग भारतीयों के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के विषय में बुरा विचार लेकर लौटे।

(2) इंग्लैंड में आम चुनाव 1929 में होने वाला था। अनुदार दल को हार जाने का भय था। वे यह नहीं चाहते थे कि भारतीय समस्या को सुलझाने का मौका मजदूर दल को दिया जाये क्योंकि उसके हाथ में वे साम्राज्य के हितों को सुरक्षित नहीं समझते थे।

(3) स्वराज दल ने सुधार की जोरदार मांग की। ब्रिटिश सरकार ने इस सौदे को बहुत सस्ता समझा क्योंकि इससे यह संभावना थी कि यह दल आकर्षणहीन हो जायेगा और धीरे-धीरे उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

(4) प्रो. कीथ के अनुसार भारत में जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कारण ब्रिटिश सरकार ने यथाशीघ्र राजकीय आयोग की नियुक्ति करना उचित समझा।

कमीशन के गठन तथा उसके सीमित उद्देश्यों के कारण कमीशन के प्रति भारतीयों में क्षोभ उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। कमीशन के प्रति क्षोभ प्रकट करने में कांग्रेस के द्वारा पहल की गयी। कांग्रेस ने दिसम्बर 1927 ई. के मद्रास अधिवेशन में साइमन कमीशन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा नीति को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया- "चूँकि ब्रिटिश सरकार ने भारत के आत्म-निर्णय के अधिकार की पूर्ण उपेक्षा करके एक शाही कमीशन (Royal Commission) नियुक्त किया है, अतः कांग्रेस यह निश्चय करती है कि भारत के लिए एकमात्रआत्म-सम्मानपूर्ण मार्ग यही है कि वह कमीशन का हर हालत में और हर प्रकार से बहिष्कार करे।"

कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और लिबरल फेडरेशन ने एक स्वर से कमीशन का विरोध किया। केवल *सर मोहम्मद शफी* के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के एक वर्ग ने कमीशन का स्वागत करने का निश्चय किया।

यह कमीशन 3 फरवरी, 1928 को बम्बई में आकर उतरा। इसी दिन सम्पूर्ण भारत में हड़ताल रखते हुए कमीशन के बहिष्कार का श्री गणेश कर दिया गया। स्थान-स्थान पर काले झण्डों व 'साइमन वापस जाओ'' के नारों से कमीशन का विरोध किया गया। अनेक स्थानों पर पुलिस तथा जनता के मध्य संघर्ष भी हुए। लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में कमीशन के विरोध में एक विशाल जुलूस का आयोजन किया गया। पुलिस द्वारा लाला लाजपत राय पर लाठियों और डण्डों की भीषण वर्षा की गयी, जिससे उन्हें संघातिक चोट लगी और उनकी मृत्यु हो गयी। इस घटना से कमीशन के प्रति और अधिक विरोध प्रदर्शित किया गया तथा बंगाल व पंजाब में इससे आंतकवादी कार्यों को प्रोत्साहन मिला। भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने भारतीय भावनाओं को प्रकट करने के लिए केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम फेंका और लालाजी पर लाठी प्रहार के लिए उत्तरदायी *मि. सॉण्डर्स* की लाहौर में हत्या कर दी गयी। केन्द्रीय विधानसभा ने भी कमीशन का स्वागत करने से इंन्कार कर दिया। पटना, कलकत्ता, मद्रास और अन्य जगहों पर साइमन विरोधी नारे लगाये गये। सरकार ने प्रदर्शनकारियों पर अत्याचार किये और हरेक प्रकार से इसे दबाने की कोशिश की, परन्तु असफलता ही हाथ लगी। दूसरी तरफ विरोधों के बावजूद आयोग ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी जो मई 1930 में प्रकाशित हुई। कमीशन दो बार भारत आया तथा अपनी रिपोर्ट तैयार करने में इसे दो वर्ष से अधिक समय लगा। इस रिपोर्ट की सिफारिशें निम्न थीं-

(1) प्रांतों में द्वैध शासन की समाप्ति और प्रांतीय स्वायत्तत्ता की स्थापना : रिपोर्ट में कहा गया कि 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित प्रांतों में द्वैध शासन अनेक आन्तरिक दोषों और भारतीय दंगों के कारण सफल नहीं हो सकता है, अतः इसे समाप्त करके प्रांतों को स्वायत्तता दी जाये। समस्त प्रांतीय शासन मंत्रियों को सौंप दिया जाये और उन्हें प्रांतीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी बनाया जाये। लेकिन इसके साथ ही यह भी सिफारिश की गयी कि प्रांतीय गवर्नर को कुछ विशेषाधिकार अवश्य प्रदान किये जायें, जिससे वह कतिपय महत्वपूर्ण मामलों में आवश्यकतानुसार मंत्रियों के निर्णय की उपेक्षा कर सके।

(2) मताधिकार और विधान सभाओं का विस्तार : 1926 में भारत की लगभग 3 प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त था। इसलिए रिपोर्ट में मताधिकार के विस्तार की सिफारिश करते हुए कहा गया कि कम से कम 10 प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त

CHRONICLE IAS ACADEMY

होना चाहिए। रिपोर्ट में कहा गया कि प्रांतों की विधान सभाओं का विस्तार किया जाये और उसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए।

(3)संघ शासन की स्थापना : रिपोर्ट में भविष्य में भारत के लिए एक संघ शासन की स्थापना करने की सिफारिश की गयी, जिसमें प्रत्येक प्रांत जहां तक संभव हो, अपने क्षेत्र में स्वामी हो। इस संघ में ब्रिटिश भारत के समस्त प्रांत और समस्त भारतीय देशी राज्य शामिल होंगे।

(4) सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का पूर्ववत् जारी रहना : रिपोर्ट में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को पूर्ववत् जारी रखने की सिफारिश की गयी।

(5) केन्द्रीय क्षेत्र में अनुत्तरदायी शासन: कमीशन ने केन्द्रीय क्षेत्र में उत्तरदायी शासन के मांग की पूर्ण उपेक्षा की। यहाँ तक कि उसने केन्द्र में द्वैध शासन व्यवस्था की भी सिफारिश नहीं की। उसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को नियंत्रण से पूर्णतया स्वतंत्र रखने की सिफारिश की। किन्तु कमीशन का विचार, केन्द्र में सदैव के लिए अनुत्तरदायी सरकार बनाये रखने का नहीं था। 'रक्षा का प्रश्न' संतोषजनक ढंग से हल हो जाने के उपरांत वह केन्द्र में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना के पक्ष में था।

(6) केन्द्रीय व्यवस्थापिका का पुनर्गठन- कमीशन ने सिफारिश की कि संघीय आधार पर केन्द्रीय व्यवस्थापिका का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। केन्द्रीय विधान सभा में भावी संघ में शामिल होने वाले प्रांतों के प्रतिनिधि शामिल हों व उसमें देशी रियासतों के प्रतिनिधि भी उस समय शामिल किए जा सकते हैं, जब वे संघ में मिलने के लिए तैयार हो जायें। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन राज्यसभा को संघीय आधार पर गठित किया जाना चाहिए। रिपोर्ट में दोनों सदनों के गठन हेतु अप्रत्यक्ष चुनाव की सिफारिश की गयी।

(7) वृहत्तर भारतीय परिषद की स्थापना: कमीशन ने सिफारिश की कि भारतीय संघ की स्थापना के पूर्व भारत में एक वृहत भारतीय परिषद की स्थापना की जाये, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रांतों तथा भारत के देशी रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इस परिषद के माध्यम् से वे अपनी सामान्य समस्याओं का निराकरण करें।

(8) अन्य सिफारिशें: कमीशन ने सिफारिश की कि भारत मंत्री को परामर्श देने के लिए भारत परिषद को कायम रखा जाये, परन्तु उसकी शक्ति में कुछ कमी की जाये। कमीशन के द्वारा सेना के भारतीयकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। रिपोर्ट में बर्मा को भारत से व सिन्ध को बम्बई से पृथक कर देने की सिफारिश की गयी। यह भी कहा गया कि उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के पिछड़े होने के कारण उसे अभी प्रांतीय स्वशासन नहीं दिया जाना चाहिए। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि प्रति 10 वर्ष के बाद भारत की संवैधानिक प्रगति की जांच करने की पद्धति छोड़ दी जाये और इसके स्थान पर नवीन संविधान में स्वयं ही विकसित होने की व्यवस्था रखी जाये।

मूल्यांकन : साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय राजनीति की समस्त कठिनाइयों और समस्याओं पर प्रकाश डाला। किन्तु उसने तत्कालीन भारत और जनता की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। भारतीय कमीशन की रिपोर्ट से भारतीय नेता बहुत असंतुष्ट हुए, क्योंकि (1) रिपोर्ट में भारतीयों की औपनिवेशिक स्वराज की मांग की पूर्ण उपेक्षा की गयी थी। (2) इसने भारतीयों की केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने की मांग को स्वीकार नहीं किया। (3) प्रांतों में यद्यपि इसने उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्थापना करने की व्यवस्था की, लेकिन इसके साथ ही प्रांतीय गर्वनरों को कुछ ऐसी विशेष शक्तियां प्रदान करने की सिफारिश की गयी, जिससे उत्तरदायी शासन का महत्व बहुत कम हो जाता। निस्सन्देह रिपोर्ट निरर्थक तथा रद्दी कागज के समान थी, फिर भी भारतीय समस्याओं के अध्ययन के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण प्रलेख था। साइमन कमीशन का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने अप्रत्यक्ष और अस्थायी तौर पर ही सही देश, के विभिन्न समूहों और दलों को एकजुट कर दिया।

नेहरू रिपोर्ट

जिस समय पूरा देश साइमन कमीशन का बहिष्कार कर रहा था, उसी समय भारतीय मामलों के मंत्री *लॉर्ड बर्कनेहेड* ने स्वराजवादियों को चुनौती देते हुए कहा था कि, 'वह एक ऐसा संविधान तैयार करें, जिसमें ऐसी व्यवस्थाएं हों कि भारत की (महान) जनता आमतौर पर उससे सहमति व्यक्त करे।' निश्चय ही इस व्यंग्यात्मक चुनौती के पीछे यह कारण काम कर रहा था कि भारतीयों के वर्गीय, दलीय, और जातिगत स्वार्थ कभी एक सर्वमान्य संविधान के लिए तैयार नहीं होंगे। भारत सचिव ने भारत के नब्ज को ठीक से पकड़ा था, बाद की घटनाओं ने यह साबित कर दिया।

भारत सचिव की चुनौती का जवाब देने के लिए कांग्रेस ने फरवरी 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन (All party conference) का आयोजन किया। इसकी अनेक बैठकें हुई। इन बैठकों में निश्चित किया गया कि श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में 8 व्यक्तियों की एक समिति बनायी जाये जो 1 जुलाई, 1928 के पहले भारत के लिए संविधान का एक प्रारूप तैयार कर सके। 29 राजनीतिक संगठनों ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। कमेटी ने, जिसके सदस्यों में अली ईमाम, तेज बहादुर सप्रु, सुभाष चन्द्र बोस, श्री एम. एस. अणे, सरदार मंगरू सिंह, श्री शोएब कुरैशी तथा श्री जी. आर. प्रधान शामिल थे, शीघ्र ही अपना काम पूरा कर अपना प्रतिवेदन अगस्त 1928 मे पेश कर दिया। यह प्रारूप *'नेहरू रिपोर्ट'* के नाम से जाना जाता है।

नेहरू रिपोर्ट के प्रमुख सुझाव

(1) भारत को औपनिवेशिक स्वराज प्रदान किया जाना चाहिए और उसका स्थान ब्रिटिश शासन के अर्न्तगत अन्य उपनिवेशों के समान होना चाहिए।

(2) केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना होनी चाहिए। भारत के गवर्नर जनरल को लोकप्रिय मंत्रियों के परामर्श पर और संवैधानिक प्रधान के रूप मे कार्य करना चाहिए।

(3) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा द्वि-सदनीय (bi-camerial) हो और मंत्रिमंडल उसके प्रति उत्तरदायी हो। निम्न सदन का निर्वाचन, वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से तथा उच्च सदन का परोक्ष रीति से हो।

(4) प्रांतों में भी केन्द्र की भांति उत्तरदायी शासन की स्थापना हो।

(5) केन्द्र और प्रांतों के मध्य शक्ति वितरण की एक योजना प्रस्तुत की गयी, जिसमें अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को प्रदान की गयीं।

(6) सांप्रदायिक निर्वाचन का अन्त कर उसके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था का सुझाव दिया गया। साथ-साथ यह भी सिफारिश की गयी कि अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर उनको आरक्षण प्रदान किया जाये।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(7) उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत को ब्रिटिश भारत के अन्य प्रांतों के समान वैधानिक स्तर प्राप्त होना चाहिए।
(8) सिन्ध को बम्बई से अलग कर उसको एक पृथक प्रांत बनाया जाये।
(9) रिपोर्ट में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया और उन्हें संविधान में स्थान देने की सिफारिश की गयी।
(10) रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि देशी राज्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की रक्षा की व्यवस्था की जाये। साथ-साथ उन्हें यह चेतावनी भी दी गयी कि भारतीय संघ में उन्हें तभी सम्मिलित किया जायेगा, जब उनके राज्य में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था हो जाये।

मूल्यांकन : नेहरू रिपोर्ट पर विचार करने के लिए 1928 में ही लखनऊ और दिल्ली में सर्वदलीय सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों में भारतीय नेताओं का विरोध उभरकर सामने आया। सम्मेलन में मोहम्मद अली ने रिपोर्ट की आलोचना की, जिन्ना ने अधिक प्रतिनिधित्व की मांग की, तो आगा खां ने देश के हर प्रांत को स्वाधीनता दिए जाने की मांग की। मुसलमानों के अड़ंगा लगाने पर हिन्दू संप्रदायवादी भी अकड़ गये। सिक्खों ने पंजाब में विशेष प्रतिनिधित्व की मांग की। जिन्ना ने बाद में अपनी '14 सूत्री मांगें' रखी। इसके विपरित राष्ट्रवादी मुसलमानों का दल (डा. अंसारी, अली इमाम इत्यादि) *'नेहरू रिपोर्ट'* को स्वीकार करने के पक्ष में थे। स्वयं कांग्रेस में भी इस रिपोर्ट पर मतभेद था। कांग्रेस का वामपंथी युवा वर्ग जिसका नेतृत्व जवाहर लाल नेहरू और सुभाष बोस कर रहे थे, और जो औपनिवेशिक स्वतंत्रता से संतुष्ट नहीं थे, ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग को कांग्रेस का उद्देश्य बनाना चाहा था। उन लोगों ने नवम्बर 1928 में 'इंडिपेंडेन्स लीग' (Independence League) की स्थापना भी की तथा युवा वर्ग में स्वतंत्रता के प्रति रुझान पैदा करने में सफल रहे। कलकत्ता अधिवेशन में भी इस वर्ग ने कांग्रेस नेतृत्व से अपने लक्ष्य में परिवर्तन करने की मांग ठुकरायी। गांधीजी के प्रयासों से विद्रोह दब गया, परंतु यह तय हुआ कि अगर एक वर्ष के अन्दर सरकार ने 'डोमिनियन स्टेटस' प्रदान नहीं किया तो कांग्रेस का लक्ष्य *'पूर्ण स्वाधीनता'* की प्राप्ति बन जायेगा। कांग्रेस ने यह भी स्वीकार किया कि अगर सरकार नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत कर देगी, तो पुनः असहयोग आन्दोलन प्रारंभ कर दिया जायेगा।

यद्यपि नेहरू रिपोर्ट स्वीकृत नहीं हो सकी, लेकिन इसने अनेक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को जन्म दे दिया। सांप्रदायिकता की भावना जो अंदर-अंदर ही थी, अब उभर कर सामने आ गयी। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों ने इसे फैलाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 1928 ई. की घटनाओं ने पुनः गांधीजी को देश और कांग्रेस की राजनीति के शीर्ष पर आसीन कर दिया। वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के निर्विवाद नेता बनकर प्रकट हुए।

जिन्ना के 14 सूत्र

जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट की संवैधानिक योजना को अस्वीकार कर दिया और अपनी चौदह-सूत्री योजना प्रस्तुत की, जिसमें निम्न बातें थीं:
(1) संविधान का स्वरूप संघात्मक हो, जिसमें अवशिष्ट शक्तियां प्रांतों में निहित हों।
(2) सभी प्रांतों को एक समान स्वायत्तता प्राप्त हो।
(3) सभी व्यवस्थापिका सभाओं और निर्वाचित संस्थाओं का गठन अल्पसंख्यकों के पर्याप्त तथा प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व के आधार पर हो।
(4) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम से कम एक-तिहाई हो।
(5) सांप्रदायिक समूहों को प्रतिनिधित्व देने के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था हो।
(6) किसी भी प्रकार का क्षेत्रीय पुनर्गठन पंजाब, बंगाल और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में मुसलमानों के बहुमत में परिवर्तन न लाये।
(7) सभी संप्रदायों को विश्वास, पूजा, प्रचार, संघ और शिक्षा की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो।
(8) किसी भी व्यवस्थापिका सभा या निर्वाचित निकाय में कोई भी ऐसा प्रस्ताव पास न हो जिसका विरोध किसी संप्रदाय के दो-तिहाई सदस्य करें।
(9) सिन्ध को बम्बई प्रांत से अलग कर दिया जाये।
(10) सीमांत और बलूचिस्तान में अन्य प्रांतों की भांति सुधार लाये जायें।
(11) कार्यकुशलता को ध्यान में रखते हुए मुसलमानों को सभी सेवाओं में पर्याप्त स्थान दिया जाये।
(12) मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म और व्यक्तिगत कानूनों की सुरक्षा और उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण की व्यवस्था हो।
(13) केन्द्रीय या प्रांतीय मंत्रिमंडलों में कम से कम एक-तिहाई मुसलमान हों।
(14) संविधान में संशोधन लाने के लिए संघ के सभी प्रांतों की स्वीकृति आवश्यक हो।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

1928 ई. में सर्वदलीय सम्मेलन के *'नेहरू रिपोर्ट'* अस्वीकार किये जाने के समय से घटना चक्र तेजी से चला। इस रिपोर्ट से कांग्रेस और लीग दोनों ही असंतुष्ट थे। एक तरफ भारत में नयी राजनीतिक शक्तियों का उदय हो रहा था, तो दूसरी ओर कांग्रेस के अन्दर ही विद्रोह की भावना पनप रही थी। आतंकवादी और क्रांतिकारी गतिविधियाँ बढ़ रही थीं। छात्र शक्ति का उदय हो रहा था, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट विचारधाराएँ पनप रही थीं, किसानों और मजदूरों के आन्दोलन हो रहे थे, सांप्रदायिकता का उदय हो रहा था और साथ-साथ सरकार का दमन-चक्र भी चल रहा था। स्वतंत्रता की मांग कांग्रेस के अन्दर और बाहर बढ़ रही थी। इस भावना को सही दिशा देने और उसका सही ढंग से उपयोग करने के लिए ठोस कार्यक्रम बनाना आवश्यक था। अतः कांग्रेस के सर्वमान्य नेता गांधीजी ने अपने नये हथियार *'सविनय अवज्ञा आन्दोलन'* का सहारा लिया। मार्च 1930 से महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नयी दिशा अख्तियार की, जिसकी शुरुआत सविनय अवज्ञा आन्दोलन और डांडी मार्च से हुई। इस आन्दोलन को शुरू करने के कारणों को हम संक्षेप में निम्न रूप से रख सकते हैं-

(1) ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत कर भारतीयों के लिए संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं छोड़ा। उनके पास संघर्ष के अलावा और कोई चारा नहीं था।

(2) देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी थी। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से भारत भी अछूता नहीं रहा। एक तरफ विश्व की

CHRONICLE IAS ACADEMY

महान आर्थिक मंदी ने, तो दूसरी तरफ सोवियत संघ की समाजवादी सफलताओं और चीन की क्रान्ति के प्रभाव ने दुनिया के विभिन्न देशों में क्रान्ति की स्थिति पैदा कर दी थी। किसानों और मजदूरों की स्थिति बहुत ही दयनीय हो गयी थी। फलस्वरूप देश का वातावरण तेजी से ब्रिटिश सरकार विरोधी होता गया। गांधीजी ने इस मौके का लाभ उठाकर इस विरोध को सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तरफ मोड़ दिया।

(3) भारत की विप्लवकारी स्थिति ने भी आन्दोलन को शुरू करने को प्रेरित किया। आंतकवादी गतिविधियाँ बढ़ रही थीं। 'मेरठ षड्यंत्र केस' और 'लाहौर षड्यंत्र केस' ने सरकार विरोधी विचारधाराओं को उग्र बना दिया। किसानों, मजदूरों और आंतकवादियों के बीच समान दृष्टिकोण बनते जा रहे थे। इससे हिंसा और भय का वातावरण व्याप्त हो गया। हिंसात्मक संघर्ष की संभावना अधिक हो गयी थी।

(4) सरकार राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना से त्रस्त हो चुकी थी। अत: वह नित्य दमन के नये-नये उपाय ढूंढ़ती थी। इसी संदर्भ में सरकार ने जनवरी 1929 में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' या 'काला कानून' पेश किया, जिसे विधानमंडल पहले ही अस्वीकार कर चुका था। इससे भी जनता में असंतोष फैला।

(5) 31 अक्टूबर, 1929 को वायसराय लार्ड इर्विन ने यह घोषणा की कि, "मुझे ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषित करने का यह अधिकार मिला है कि सरकार के मतानुसार 1917 की घोषणा में यह बात अंतर्निहित है कि भारत को अन्त में औपनिवेशिक स्वराज प्रदान किया जायेगा।" लॉर्ड इर्विन की घोषणा से भारतीयों के बीच एक नयी आशा का संचार हुआ। फलत: वायसराय के निमंत्रण पर गांधीजी, जिन्ना, तेज बहादुर सप्रु, विट्ठल भाई पटेल इत्यादि कांग्रेसी नेताओं ने दिल्ली में उनसे मुलाकात की। वायसराय डोमिनियन स्टेट्स के विषय पर इन नेताओं को कोई निश्चित आश्वासन नहीं दे सके। दूसरी तरफ, ब्रिटिश संसद में इर्विन की घोषणा (दिल्ली घोषणा पत्र) पर असंतोष व्यक्त किया गया। इससे भारतीय जनता को बड़ी निराशा हुई और सरकार के विरुद्ध घृणा की लहर सारे देश में फैल गयी।

(6) उत्तेजनापूर्ण वातावरण में कांग्रेस का अधिवेशन दिसम्बर 1929 में लाहौर में हुआ। अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे जो युवक आन्दोलन और उग्र राष्ट्रवाद के प्रतीक थे। इस बीच सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया था। महात्मा गांधी ने राष्ट्र के नब्ज को पहचान लिया और यह महसूस किया कि हिंसात्मक क्रान्ति को रोकने के लिए *'सविनय अवज्ञा आन्दोलन'* को अपनाना होगा। अत: उन्होंने लाहौर अधिवेशन में प्रस्ताव पेश किया कि भारतीयों का लक्ष्य अब 'पूर्ण स्वाधीनता' है न कि औपनिवेशिक स्थिति की प्राप्ति, जो गत वर्ष कलकत्ता अधिवेशन में निश्चित किया गया था।

वल्लभभाई पटेल (1875-1950)

वल्लभभाई पटेल का जन्म सन् 1875 में गुजरात में नाडियाड तालुका में हुआ था। विधि में उपाधि ग्रहण करने के पश्चात उन्होंने एक 'फौलादी वकील' (Criminal Lawer) के रूप में ख्याति प्राप्त की। सन् 1915 में उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इस वर्ष वे 'गुजरात सभा' सदस्य बने। इस सभा के अध्यक्ष उस वक्त गांधी जी थे। वल्लभाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने रॉलेट एक्ट के खिलाफ प्रदर्शन किया तथा *'सत्याग्रह'* पत्रिका के प्रकाश की बागडोर संभाली। उन्होंने असहयोग आंदोलन में हिस्सा लिया तथा *'गुजरात विद्यापीठ'* की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

जल्द ही उनकी ख्याति तथा लोकप्रियता में वृद्धि हुई। एक संगठक, वक्ता, अथक अभियानकर्ता तथा साधारण नर-नारी के प्रेरणा स्रोत के रूप में उनकी क्षमता अद्वितीय थी। *खेड़ा सत्याग्रह, नागपुर झण्डा सत्याग्रह* तथा *बोरसाड़ दण्डात्मक कर सत्याग्रह* में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने के बाद उनकी गणना गांधीजी के बाद गुजरात के सबसे बड़े नेता के रूप में होने लगी।

वल्लभभाई पटेल के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए उन्हें *बारदोली* में भूमिकर में वृद्धि के विरोध में किये जाने वाले कृषक आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए आमंत्रित किया गया। यहां भी उन्होंने अपनी कार्यकुशलता का परियच देते हुए सांकेतिक विजय दर्ज की। यहीं बारदोली की महिलाओं ने उन्हें *'सरदार'* की उपाधि प्रदान की।

सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेने के कारण उन्हें जेल जाना पड़ा। 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में उन्होंने अध्यक्ष का परभार संभाला। 1935 में विभिन्न प्रांतों में बनी कांग्रेस की सरकारों के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से बनायी गयी संसदीय उप-समिति के सदस्य के रूप में उन्होंनं महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1940 के *'व्यक्तिगत सत्याग्रह'* में उन्होंने भाग लिया। 1942 के *'भारत छोड़ो आंदोलन'* के दौरान उन्हें अममदनगर तथा यरवदा जेल में रखा गया। 1942 के क्रिप्स मिशन, 1945 के शिमला सम्मेलन तथा 1946 के केबिनेट मिशन से हुई वार्ताओं में उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई। सितंबर 1946 में बनी अंतरिम सरकार में उन्हें गृहमंत्री बनाया गया। 1947 से 1950 तक वे भारत के उप-प्रधानमंत्री रहे।

भारत के विभाजन के प्रश्न पर उनका मानना था कि यदि वे भारत का विभाजन स्वीकार नहीं करते तो भारत छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाता तथा हमें एक पाकिस्तान नहीं कई पाकिस्तान मिलते।

देश में विभाजन के पश्चात भारतीय रियासतों का भारत में विलय कराने के लिए सरदार वल्लभभाई पटेल की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। उन्होंनं अपने दृढ़ संकल्प तथा कूटनीति से इस गंभीर समस्या का समाधान किया। उन्होंने लोकप्रिय आंदोलन तथा धमकी का सहारा लेकर अनेक रियासतों का भारत में शामिल होने पर मजबूर किया। इसी उपलब्धि के लिए उन्हें *'लौह पुरुष'* की उपाधि मिली। भारत सरकार ने सन् 1991 में उन्हें *'भारत रत्न'* से सम्मानित किया।

31 दिसम्बर, 1929 की मध्य रात्रि को रावी के तट पर जवाहर लाल रेहरू ने तिरंगा झंडा फहराया तथा 'स्वतंत्रता की घोषणा' का प्रस्ताव पढ़ा। 26 जनवरी, 1930 को *'पूर्ण स्वतंत्रता दिवस'* मनाने की घोषणा की गयी। फरवरी 1930 में कांग्रेस कार्यकारिणी ने महात्मा गांधी को *'सविनय अवज्ञा आन्दोलन'* प्रारंभ करने का अधिकार दे दिया। पूरे देश में उत्साह की एक नयी लहर दौड़ गयी। कांग्रेस कार्यकारिणी ने यह भी निश्चित किया कि प्रतिवर्ष 26 जनवरी को *'स्वतंत्रता दिवस'* मानाया जाये।

गांधीजी ने आन्दोलन प्रारंभ करने के पूर्व वायसराय से बातचीत कर समझौता करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी 11 सूत्री मांग पेश की तथा यह आश्वासन दिया कि अगर सरकार उन्हें स्वीकार कर लेगी, तो वे अपना प्रस्तावित आन्दोलन स्थगित कर देंगे। गांधीजी की 11 सूत्री मांगें निम्न थीं-

1. लगान की राशि आधी कर दी जाये।
2. विनिमय की दर घटाकर 1 शिलिंग 4 पेंस की जाये।
3. सैनिक खर्च में 50 प्रतिशत की कमी की जाये।

CHRONICLE IAS ACADEMY

4. असैनिक कर्मचारियों के वेतन में कमी हो।
5. रक्षात्मक शुल्क लगे और विदेशी वस्तुओं के आयात को नियंत्रित किया जाये।
6. भारतीय समुद्रतट केवल भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रहे।
7. गुप्तचर विभाग या तो समाप्त कर दिया जाये या उस पर सार्वजनिक नियंत्रण हो।
8. भारतीयों को आत्मरक्षा के लिए आग्नेय अस्त्र रखने का अधिकार मिले तथा इसके लिए अनुमति पत्र प्रदान किये जाये।
9. नमक कर समाप्त किया जाये।
10. नशीली वस्तुओं की बिक्री बंद की जाये।
11. सभी राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया जाये और निर्वासित भारतीयों को स्वदेश आने की अनुमति दी जाये।

गांधीजी ने अपने पत्र में इर्विन को यह भी लिखा कि अगर सरकार उनकी मांगों पर ध्यान नहीं देती है, तो वह नमक कानून भंग कर *'सविनय अवज्ञा आन्दोलन'* प्रारंभ कर देंगे। परन्तु वायसराय ने गांधी के पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसी बीच सरकार का दमन चक्र और तेज हो गया। सुभाष चन्द्र बोस एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। बाध्य होकर गांधीजी ने अपना आन्दोलन *'डांडी मार्च'* से आरंभ करने का निश्चय किया।

आन्दोलन का प्रारंभ-दूसरा नागरिक अवज्ञा आन्दोलन (प्रथम असहयोग आन्दोलन था) 12 मार्च, 1930 को प्रसिद्ध *'डांडी मार्च'* के साथ प्रारंभ हुआ। गांधीजी अपने 78 सहयोगियों के साथ साबरमती आश्रम से 200 मील (375 कि.मी.) की दूरी पर समुद्र तट पर बसे गांव दांडी के लिए निकल पड़े। उनकी यात्रा, उनके भाषणों तथा जनता पर उनके प्रभाव की खबर प्रतिदिन समाचार पत्रों में छपती रही। रास्ते में पड़ने वाले सैकड़ों गाँवों के अधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिये। सुभाष चन्द्र बोस ने डांडी यात्रा की तुलना नेपोलियन के 'पेरिस मार्च' और मुसोलिनी के 'रोम मार्च' से की। 6 अप्रैल, 1930 को गांधीजी ने डांडी पहुंचकर समुद्र तट से थोड़ा-सा नमक उठाकर शांतिपूर्ण और अहिंसक ढंग से नमक कानून का उल्लंघन किया।

सारे देश में सनसनी फैल गयी, जो जहाँ था वहीं सरकार से असहयोग करने लगा। हजारों विद्यार्थियों ने स्कूल कॉलेज छोड़ दिये, किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया, मजदूरों ने हड़तालें रखीं और प्रदर्शन किये। विदेशी वस्त्रों की होली जलायी गयी, सरकारी दुकानों पर धरने दिये गये। सरकार ने भी अपना दमन चक्र चलाया। हजारों कार्यकर्ताओं को जेल में भर दिया गया। अनेक व्यक्तियों को सेना और पुलिस के डंडों का शिकार होना पड़ा। कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया और 15 मई को गांधीजी को भी गिरफ्तार कर लिया गया। गांधीजी की गिरफ्तारी से आन्दोलन दबने की बजाय और भड़क उठा। आन्दोलन तेजी से फैला। पूरे देश में नमक कानून तोड़े गये। महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा मध्य भारत में नमक कानून का व्यापक उल्लंघन किया गया। पूर्वी भारत में ग्रामीण जनता ने चौकीदारी कर देने से इंकार कर दिया। आन्दोलन बढ़कर एकदम उत्तर-पश्चिमी छोड़ तक भी पहुँचा जहां, 'सीमांत गांधी' के नाम से जाना वाले खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में पठानों ने *'खुदाई खिदमतगार'* (लाल कुर्ती) नामक संगठन बनाकर स्वाधीनता संघर्ष को आगे बढ़ाया।

इस समय पेशावर में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। गढ़वाली सिपाहियों के दो पलाटूनों ने अहिंसक प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया, इसके नेता चन्द्र सेन गढ़वाली थे। इसके बदले उनका कोर्ट मार्शल किया गया। इसने स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रवाद की भावना सेना में भी फैल चुकी है। इसी तरह आन्दोलन की गूंज देश के पूर्वी कोने में भी सुनाई पड़ी। इसमें मणिपुरी जनता की बहादुरी से भरपूर भागीदारी रही। नागालैंड की अल्पवयस्का रानी *गैंडिल्यु* ने विद्रोह का झंडा उठाया। 1932 में यह युवा रानी पकड़ी गयी और उसे आजीवन कारावास की सजा मिली। बंगाल में चटगांव पर *सूर्यसेन* और उसके साथियों ने अधिकार कर लिया।

इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता स्त्रियों की भागीदारी थी। हजारों स्त्रियों ने घरों से बाहर निकलकर आन्दोलन में सक्रिय सहयोग दिया। यहां यह उल्लेखनीय है कि मुस्लिम लीग को छोड़ भारत के सभी दलों और सभी वर्गों ने इस आन्दोलन का साथ दिया। अब सरकार भी गांधीजी और कांग्रेस के महत्व को समझने लगी। वह समझ गयी कि आन्दोलन को सिर्फ ताकत के बल पर नहीं दबाया जा सकता है। अत: संवैधानिक सुधारों की बात सोची जाने लगी। इसी उद्देश्य से लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन हुआ, लेकिन कांग्रेस के बहिष्कार के चलते वह असफल रहा। बाध्य होकर सरकार को गांधी के साथ समझौता-वार्ता करनी पड़ी, जो 'गांधी-इर्विन पैक्ट' के नाम से विख्यात है।

गोलमेज सम्मेलन
(Round Table Conference)

जिस दौरान पूरे भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रगति पर था और सरकार का दमन चक्र तेजी से चल रहा था, उसी समय वायसराय लार्ड इर्विन और मि. साइमन ने सरकार पर यह दबाव डाला कि वह भारतीय नेताओं तथा विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों से सलाह-मशविरा कर भारत की संवैधानिक समस्याओं का निर्णय करे। इसी उद्देश्य से लन्दन में तीन गोलमेज सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इन सम्मेलनों का कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला। उल्टे इससे भारत के विभिन्न वर्गों और संप्रदायों में मतभेद ही बढ़ा और सांप्रदायिकता के विकास में अत्यधिक वृद्धि हुई।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन (12 नवम्बर, 1930-19 जनवरी, 1931)

प्रथम गोलमेज सम्मेलन लॉर्ड इर्विन के प्रयास से हुआ। सम्मेलन में कुल 86 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिसमें तीन ग्रेट ब्रिटेन, 16 भारतीय देशी रियासतों और शेष 57 अन्य प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों में सर तेज बहादुर सप्रु, श्री निवास शास्त्री, डाक्टर जयकर, सी. वाई. चिंतामणि और डा. अम्बेडकर जैसे व्यक्ति थे। सम्मेलन का उद्घाटन जार्ज पंचम ने किया एवं इसकी अध्यक्षता ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड ने की।

प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने तीन आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की। प्रथम, केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण संघ शासन के आधार पर होगा और ब्रिटिश भारतीय प्रांत तथा देशी राज्य संघ शासन की इकाई का रूप धारण करेंगे। दूसरा, केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होगी, किन्तु सुरक्षा और विदेश विभाग भारत के गवर्नर जनरल के अधीन होंगे। तीसरा, अतिरिक्त काल में कुछ रक्षात्मक विधान (Statutory safeguards) अवश्य होंगे।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री के सुझावों के प्रति प्रतिनिधियों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। संघ शासन के सिद्धान्त को सभी प्रतिनिधियों ने स्वीकार कर लिया। देशी नरेशों ने भी संघ में शामिल होना स्वीकार

CHRONICLE IAS ACADEMY

कर लिया। प्रांतीय स्वतंत्रता के संबंध में भी विचार वैभिन्य नहीं था। भारतीय प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया। केवल संरक्षण और उत्तरदायी मंत्रियों पर नियंत्रण के सबंध में पारस्परिक मतभेद पाया गया। कुछ लोगों ने केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व की जगह पूर्ण उत्तरदायित्व की मांग की। श्री जयकर और श्री सप्रु ने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज की मांग की। सम्मेलन में सांप्रदायिकता की समस्या सर्वाधिक विवादपूर्ण रही। मुसलमान पृथक तथा सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में थे। जिन्ना ने अपने 14 सूत्र को सामने रखा, तो डा. अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की मांग की।

इस प्रकार प्रथम गोलमेज सम्मेलन असफल रहा और 19 जनवरी, 1931 को सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया। वस्तुतः कांग्रेस के बहिष्कार ने इस सम्मेलन को निरर्थक बना दिया था।

भीमराव अंबेडकर (1891-1956)

भीमराव रामजी अंबेडकर का जन्म 1891 में मध्य प्रदेश के महू जिले में '*महार*' नाम के एक हरिजन जाति के परिवार में हुआ। उनकी उच्च शिक्षा इंग्लैंड तथा अमेरिका में हुई। वे महार जाति के प्रथम स्नातक थे। उन्होंने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत भारतीय दलित वर्ग के नेता के रूप में की।

यद्यपि महार जाति को संगठित करने का श्रेय *गोपाल बाबा वलंगकर* को जाता है, पर इसे सक्रिय आंदोलन का रूप अंबेडकर ने दिया। उनकी मांगों में अलग प्रतिनिधित्व, तालाबों का उपयोग करने एवं मंदिर में प्रवेश करने का अधिकार और '*महार वतन*' (मुखियों के यहां किया जाने वाला पारंपरिक सेवा कार्य) की समाप्ति थी। 1927 में *प्रथम महार राजनीतिक सम्मेलन* हुआ।

डॉ. भीमराव अंबेडकर, गांधीजी के आलोचक थे, उन्हें गांधीजी पर विश्वास नहीं था। अंबेडकर का मानाना था कि अछूत जातिप्रथा की ही देन है तथा जातिप्रथा को समाप्त किये बिना अछूतोद्धार असंभव है। इसके विपरीत गांधीजी वर्णाश्रम को पाप नहीं मानते थे, लेकिन उनके विचार में छुआछूत पाप था।

अंबेडकर ने 1930 में लंदन में हुए *प्रथम गोलमेज सम्मेलन* में भाग लिया। 'अलग प्रतिनिधित्व' की मांग को लेकर चल रहे गतिरोध का हल एक समझौते द्वारा किया गया, जिसे '*पूना पैक्ट*' के नाम से जाना जाता है। 1942 से 1946 तक अंबेडकर गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य रहे। उन्होंने '*इंडियन लेबर पार्टी*', '*शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन*' तथा '*पीपुल्स एजुकेशन सोसाइटी*' की गठन किया। वे भारतीय संविधान का मसौदा प्रस्तुत करने वाली उप-समिति के प्रधान थे। हमारे संविधान के निर्माण में उन्होंने उल्लेखनीय योगदान दिया। 1947 से लेकर 1951 तक वे नेहरू जी के मंत्रिमंडल में विधि सदस्य रहे।

1956 में उन्होंने अपने अनुयायियों की विशाल संख्या के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। 1956 में ही इनका देहान्त हो गया। आज भी दलित उन्हें अपना मसीहा और प्रेरक के रूप में जानते हैं। वैसे पूरा देश उनके योगदान का प्रशंसक है।

गांधी इर्विन समझौता (मार्च 1931)

लन्दन में आयोजित प्रथम गोलमेज सम्मेलन की असफलता और असहयोग आन्दोलन की व्यापकता ने सरकार के सामने यह स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस और गांधी के बिना भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान आसान नहीं है। इसलिए लॉर्ड इर्विन ने गांधीजी से समझौता वार्ता प्रारंभ किया। गांधीजी को 26 जनवरी, 1931 को यरवदा जेल से रिहा कर दिया गया और 17 फरवरी से दिल्ली में गांधी और इर्विन के मध्य वार्ता प्रारंभ हो गयी। 5 मार्च, 1931 को *'गांधी-इर्विन पैक्ट'* (दिल्ली पैक्ट) के मसविदे पर हस्ताक्षर किये गये। इस समझौते के अनुसार सरकार ने निम्न वादे किये-

(1) हिंसात्मक अपराधों के बंदियों के अतिरिक्त अन्य समस्त राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया जायेगा।
(2) सरकार द्वारा जब्त संपत्तियों को वापस कर दिया जायेगा।
(3) नमक को निःशुल्क तैयार करने या एकत्रित करने की अनुमति दी जायेगी।
(4) शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शांतिपूर्वक धरना देने की अनुमति दी जायेगी।

दूसरी ओर कांग्रेस ने भी निम्नलिखित बातें स्वीकार की-

(1) वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर देगी।
(2) वह पुलिस ज्यादती के लिए निष्पक्ष जांच की मांग नहीं करेगी।
(3) वह भारत के हित में संरक्षणों तथा रक्षा कवचों सहित उत्तरदायित्व के आधार पर दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी।
(4) वह समस्त बहिष्कारों को बन्द कर देगी।

कांग्रेस के बहुमत ने समझौते का स्वागत किया, परंतु वामपंथियों तथा युवकों ने इसका घोर विरोध किया। सुभाष चन्द्र बोस ने इसे कांग्रेस की पराजय कहा। सरकार ने कांग्रेस की एक भी महत्वपूर्ण मांग नहीं मानी। भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव की फांसी को भी कारावास में नहीं बदला गया। कांग्रेस के स्वतंत्रता के प्रस्ताव और 26 जनवरी का वादा, दोनों की समझौते के दौरान उपेक्षा की गयी। वस्तुतः यह अंग्रेजों की कूटनीतिक विजय थी, क्योंकि इसके द्वारा कांग्रेस आन्दोलन को स्थगित करने को तैयार हो गयी, जो दिन प्रति दिन तीव्र होता जा रहा था और सरकार की स्थिति डाँवाडोल होती जा रही थी।

समझौते के तत्काल बाद 32 मार्च, 1931 को भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को फांसी पर लटका दिया गया। इससे सारे देश में शोक का वातावरण व्याप्त हो गया। अनेक व्यक्तियों ने इसके लिए *'गांधी-इर्विन पैक्ट'* को दोषी ठहराया। फलतः जब गांधीजी 1931 मे करांची अधिवेशन में भाग लेने पहुंचे तब उनके विरुद्ध प्रदर्शन हुए और उन्हें काले झण्डे दिखाये गये तथा *'गांधी वापस जाओ'* के नारे लगाए गये। करांची अधिवेशन में विरोध के वावजूद गांधी-इर्विन समझौते की पुष्टि की गयी। इस अधिवेशन की सबसे उल्लेखनीय घटना थी 'मौलिक अधिकारों' और 'आर्थिक नीतियों' से संबंधित प्रस्ताव का पास होना। यह वस्तुतः नेहरू रिपोर्ट का विस्तृत और संशोधित स्वरूप था। इसी अधिवेशन ने गांधीजी को दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने की भी अनुमति प्रदान कर उन्हें अपना प्रतिनिधि मनोनीत किया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (7 सितम्बर, 1931 से 1 दिसम्बर, 1931)

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन शुरू होने के पूर्व इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मजदूर दल की सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ जिसमें मजदूर, अनुदार तथा उदार

CHRONICLE IAS ACADEMY

तीनों दल सम्मिलित हुए। सर सेमुअल होर भारत सचिव नियुक्त हुआ, जो पक्का अनुदारवादी था। लार्ड इर्विन जैसे उदारवादी के स्थान पर लार्ड वेलिंगटन वायसराय नियुक्त हुआ। इसी बीच प्रथम गोलमेज सम्मेलन के बाद *'गांधी-इर्विन पैक्ट'* हो चुका था और कांग्रेसी प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार थे। सम्मेलन में गांधीजी ने भारतीय हितों की रक्षा करने की भरपूर कोशिश की, परंतु अंत में वे असफल होकर ही लौटे। सम्मेलन में मुख्यतया भारतीय संघ के प्रस्तावित ढांचे और अल्पसंख्यकों के प्रश्नों पर बहस हुई।

गांधीजी ने यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि कांग्रेस पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने भारत में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना और वायसराय के अनावश्यक अधिकारों में कटौती की बात की, परंतु प्रारंभ से ही अंग्रेजों की मंशा ठीक नहीं थी। अत: उन लोगों ने सांप्रदायिक प्रश्नों को ही प्राथमिकता दी। भारतीय सांप्रदायिक वर्ग भी गांधी की बात सुनने को तैयार नहीं थे। सम्मेलन की विफलता का लाभ उठाकर प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड ने अपनी योजना रखी, जो स्वीकार्य नहीं हो सकती थी।

सरकारी रुख से दुखी और निराश होकर गांधीजी दिसम्बर 1931 में भारत लौटे। इस बीच लॉर्ड विलिंगटन कठोरतापूर्वक राष्ट्रीयता की भावना को दबाने में लगे हुए थे। जवाहर लाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन, खान अब्दुल गफ्फार खां आदि प्रमुख नेताओं को गांधीजी के भारत लौटने के पूर्व ही गिरफ्तार कर लिया गया था।

गांधीजी ने पुन: आन्दोलन करने की धमकी दी, अत: गांधी सहित अनेक अन्य नेताओं को भी गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस पुन: गैरकानूनी संस्था घोषित कर दी गयी। पुलिस अत्याचार बढ़ गये, प्रेस पर पाबंदियां बढ़ गयीं और कानून के बदले अध्यादेश द्वारा शासन चलाया जाने लगा। गांधीजी ने बदलती परिस्थितियों में 'व्यक्तिगत अवज्ञा आन्दोलन' की योजना बनायी। लेकिन सरकार के सांप्रदायिक निर्णय से वे हतोत्साहित हो उठे। फलत: मई 1933 में आन्दोलन को कांग्रेस ने स्थगित कर दिया तथा मई 1934 में इसे वापस ले लिया। सारे देश मे उल्लास की जगह निराशा छा गयी। गांधीजी पुन: राजनीति से कटकर हरिजनों की तरफ ध्यान देने लगे।

मैकडोनाल्ड अवार्ड तथा पूना पैक्ट

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास को दबाने के लिए अंग्रेजों ने बल प्रयोग के अतिरिक्त छल-प्रपंच एवं कूटनीति का भी सहारा लिया। भारतीय एकता को कमजोर करने तथा अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए सरकार ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। देशी नरेश और पूंजीपति वर्ग को तो वह पहले ही अपना हिमायती बना चुकी थी। मुस्लिम लीग के नेतृत्व में मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग भी उनका पिट्ठू बन चुका था। इसके अतिरिक्त सिक्ख, हरिजन, एंग्लो इण्डियन, समुदाय भी विशेष सुविधाओं के लिए प्रयास कर रहे थे। फलस्वरूप जब संवैधानिक समस्याओं के निराकरण हेतु द्वितीय गोलमेज सम्मेलन बुलायी गयी तो अंग्रेजों ने सबसे अधिक महत्व सांप्रदायिक प्रश्नों के निबटारे को दिया। इस तरह गोलमेज सम्मेलनों से न तो समस्या का समाधान होना था और न हुआ।

गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के बीच की आपसी खाई को और बढ़ाने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने 14 अगस्त, 1932 को अपनी प्रसिद्ध घोषणा की, जो *'सांप्रदायिक निर्णय'* या *'सांप्रदायिक*

खान अब्दुल गफ्फार खान (1891-1988)

'सीमान्त गांधी' और *'बादशाह खान'* के नाम से विख्यात अब्दुल गफ्फार खान का जन्म 1891 में मुहम्मदजई पठान कबीले के एक सम्पन्न परिवार में पेशावर के उत्तमजई गांव में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा मिशन हाई स्कूल पेशावर में हुई तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें अलीगढ़ भेजा गया। शुरू से ही शिक्षा के प्रसार तथा सामाजिक सुधार में उनकी विशेष रुचि थी। 1941 में उन्होंने उत्तमजई में *आजाद विद्यालय* तथा *अंजुमन-उल-अफगानिस्तान* की स्थापना की। अंग्रेजों ने पठानों के अंदर राष्ट्रीयता जगाने के जुर्म में उन्हें सलाखों के पीछे धकेल दिया।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में उनका प्रवेश 1919 में हुआ, जब उन्होंने रॉलेट कानून का खिलाफ विरोध प्रदर्शन में सक्रिय भूमिका निभाई। 1920 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में हिस्सा लिया तथा खिलाफत आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1929 में उन्होंने *'खुदाई खिदमतगार'* नामक एक संगठन की नींव रखी। यह संगठन अहिंसावादी क्रांतिकारियों का एक दल था, जिन्हें *'लाल कुर्ती या कमीज'* के नाम से जाना जाता था। इस दल ने गफ्फार खान का *'फक्र-ए-अफगान'* की उपाधि से सम्मानित किया। खुदाई खिदमतगार आंदोलन का एक पहलू सुधारवादी भी था, क्योंकि यह सामाजिक बदलाव का पक्षधर तथा कट्टर मुस्लिम विचारधारा का विरोधी था।

अंग्रेजी सरकार ने इनके क्रियाकलापों से भयभीत होकर इस संगठन को 1930 में अवैध घोषित कर दिया तथा गफ्फार खान को कैद कर लिया। इसके फलस्वरूप उनके द्वारा पश्तो भाषा में प्रकाशित पत्रिका *'पख्तून'* का प्रकाशन रोक देना पड़ा। लेकिन कुछ वर्षों बाद यह पत्रिका *'दस रोजा के नाम से पुन: प्रकाशित होने लगी।'*

1931 में गांधी-इरविन समझौते के बाद गफ्फार खान रिहा कर दिये गये। तत्पश्चात कांग्रेस द्वारा चलाये गये प्रत्येक राजनीतिक आंदोलन में वे सक्रिय रूप से जुड़े रहे। हालांकि इस अवधि के 14 वर्ष बाद उन्हें कैदखाने में गुजारने पड़े। जब 1936 में चुनाव हुए तो खुदाई खिदमतगार को उत्तर-पश्चिम प्रांत में प्रांतीय सभा में अभूतपूर्व विजय हासिल हुई। 1940 में सरदर्या के छोर पर गफ्फार खान ने *'मर्कज-ए-अल्लाह-ए-खुदाई खिदमतगार'* नामक एक विशाल खिदमतगार भवन का शिलान्यास किया।

गफ्फार खान ने भारत के विभाजन का कड़ा विरोध किया। उन्होंने सिर्फ इस मकसद से एक स्वतंत्र पठान प्रांत की मांग की, ताकि उस प्रांत को पाकिस्तान में शामिल करने की मुस्लिम लीग की मंशा पर पानी फेरा जा सके। इसी कारण 1943 में जिन्ना ने गफ्फार खान को *'पठानों के हिन्दूकरण तथा उन्हें नपुंसक बनाने के कार्यवाहक'* की संज्ञा दी थी।

दोश के विभाजन के पश्चात उत्तर-पश्चिम प्रांत को पाकिस्तान में मिला दिया गया था, इसलिए *'बादशाह खान'* ने *'पख्तूनिस्तान'* की मांग को लेकर सक्रिय आंदोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप पाकिस्तान की तानाशाही सरकार ने उन्हें कई बार नजरबंद किया। कुछ समय के लिए *'बादशाह खान'* अफगानिस्तान में शरणार्थी के रूप में भी रहे। वापस पाकिस्तान लौटने पर उनके स्वास्थ्य में क्रमिक ह्रास होता गया। काफी लंबे समय से बीमार रहने के बाद अंतत: 1988 में *'बादशाह खान'* का देहान्त हो गया। 1987 में जब वे मृत्यु शैय्या पर थे, तब भारत सरकार ने उन्हें अपने सर्वोच्च सम्मान *'भारत रत्न'* से अलंकृत किया। आज भी भारत में उनका नाम सम्मान से लिया जाता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

पंचाट' (Communal Award or Macdonald Award) के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवार्ड में निम्न प्रावधान थे:

(1) प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या बढ़ाकर दोगुनी कर दी गयी।

(2) अल्पसंख्यक तथा विशेष हितों वाले संप्रदायों की संख्या बढ़ा दी गयी। इसके अन्तर्गत अब मुसलमानों, सिक्खों, दलितों, पिछड़ी जातियों, भारतीय ईसाइयों, एंग्लो इण्डियनों, यूरोपीयन, व्यापारिक एवं औद्योगिक वर्गों को रखा गया।

(3) अल्पसंख्यकों के लिए अलग निर्वाचन की व्यवस्था की गयी।

(4) अछूतों को हिन्दुओं से अलग मानकर उनके लिए भी निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया।

(5) स्त्रियों के लिए भी कुछ स्थान आरक्षित किये गये।

(6) श्रम, वाणिज्य, उद्योग, चाय बगान संघों, जमींदारों और विश्वविद्यालयों के लिए भी पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी तथा स्थान आरक्षित किये गये।

(7) जिन क्षेत्रों में हिन्दू अल्पसंख्या में थे, उन्हें वैसी रियायत नहीं दी गयी जैसी मुसलमानों को दी गयी, जहाँ उनकी जनसंख्या कम थी। जिन प्रांतों में मुसलमानों की संख्या कम थी, वहाँ जनसंख्या के अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया। परन्तु पंजाब और बंगाल जहाँ मुसलमान बहुमत में थे, उनके लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश, बिहार, मद्रास में मुसलमानों को जनसंख्या के अनुपात से दुगुने के लगभग स्थान दिये गये।

सरकार के *'सांप्रदायिक निर्णय'* से वर्ग विशेष के प्रतिनिधि जिनके स्वार्थों की सुरक्षा हुई थी, प्रसन्न थे, जबकि राष्ट्रवादी लोग, कांग्रेस और विशेषकर गांधीजी अत्यंत दुखी हुए। इस निर्णय की योजना इस प्रकार बनायी गयी थी कि प्रांतों में वास्तविक उत्तरदायी सरकार का विकास न हो सके। यह निर्णय पक्षपात पर भी आधारित था, जिसमें मुसलमानों और यूरोपीयन को विशेष रियायतें प्रदान की गयी थी। हिन्दुओं में फूट डालने के उद्देश्य से अस्पृश्यों के लिए अलग निर्वाचन की व्यवस्था की गयी। गांधीजी इस निर्णय से अत्यंत दुखी हुए। इस निर्णय का सबसे दुखद पहलू यह था कि इसने मुस्लिम सांप्रदायिकता के विकास को बढ़ावा दिया। 1931 की जनगणना के अनुसार बंगाल में मुसलमान कुल जनसंख्या का 54.8% और हिन्दू 44.8% थे, लेकिन प्रांतीय विधानमंडल के 250 स्थानों में से 119 स्थान मुसलमानों को तथा 80 स्थान हिन्दुओं को दिये गये। इस तरह हम देखते हैं कि मुसलमानों के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनायी गयी। शीघ्र ही लीग मुसलमानों के लिए और आर्थिक सहुलियतें मांगने लगी और अंततः देश का विभाजन हुआ।

वैसे तो सम्पूर्ण अवार्ड ही अन्यायपूर्ण था, लेकिन अवार्ड का दलित वर्गों (अस्पृश्य) से संबंध रखने वाला उपबंध तो महात्मा गांधी के लिए असहनीय था। 18 अगस्त, 1932 को मैकडोनाल्ड को एक पत्र लिखकर गांधीजी ने इस निर्णय का विरोध किया। उन्होंने यह भी धमकी दी कि सरकार यदि अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली समाप्त नहीं करेगी, तो वे 20 सितम्बर, 1932 से आमरण अनशन आरंभ कर देंगे। सरकार ने इस पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया, उल्टे उन्हीं पर आरोप लगाया कि वे दलितों का उत्थान नहीं चाहते। अतः गांधीजी ने यरवदा जेल में ही अनशन शुरू कर दिया। गांधीजी के अनशन से देश के सार्वजनिक जीवन में हलचल मच गयी। पंडित मदन मोहन मालवीय, डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा अनेक हिन्दू नेता पहले बम्बई में, फिर पूना में एकत्रित हुए। डा. अम्बेडकर से समझौता वार्ता शुरू की गयी तथा 24 सितम्बर को एक हल निकल आया। यह हल ही 'पूना पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे बाद में हिन्दू महासभा और ब्रिटिश सरकार के द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। पूना समझौते की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्न थीं-

(1) अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली समाप्त कर दी गयी। इसके बदले उनके लिए 71 के स्थान पर 148 स्थान आरक्षित कर दिये गये। इन आरक्षित स्थानों के लिए चुनाव दो भागों में कराने की व्यवस्था की गयी। पहले चरण में अछूतों को ही प्रत्येक आरक्षित स्थान के लिए 4 प्रत्याशी चुनने थे। दूसरे चरण में अछूत उच्चवर्गीय हिन्दुओं के साथ मिलकर किसी एक सदस्य का चुनाव कर सकते थे।

(2) केन्द्रीय विधायिका में भी हरिजनों या अछूतों के लिए 18 स्थान आरक्षित किये गये।

(3) अछूतों के लिए स्थानीय संस्थाओं एवं सार्वजनिक सेवाओं में भी उचित प्रतिनिधित्व देने की बात की गयी।

(4) उनके समुचित शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए प्रयास करने की व्यवस्था की गयी।

इस समझौते के पश्चात् गांधीजी का ध्यान मुख्यतः हरिजनोद्धार की तरफ लग गया। उनके प्रयासों से हरिजनों के लिए कल्याणकारी योजनाएं बनायी गयीं। अस्पृश्यता निवारण के प्रयास किये गये। गांधीजी ने अछूतों के लिए उपवास भी रखे।

तीसरा गोलमेज सम्मेलन (17 नवम्बर, 1932 से 24 दिसम्बर, 1932)

1932 में पुनः एक गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुआ। इस सम्मेलन में मुख्यतः प्रतिक्रियावादी तत्वों ने ही भाग लिया। भारत की *कांग्रेस* तथा ब्रिटेन की *लेबर पार्टी* ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया। इस सम्मेलन में भारतीयों के मूल अधिकारों की मांग की गयी तथा गवर्नर जनरल के अधिकारों को प्रतिबंधित करने की मांग रखी गयी, परंतु सरकार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। फलतः यह सम्मेलन भी विफल रहा।

इन गोलमेज सम्मेलनों द्वारा भारत के संवैधानिक प्रश्नों का हल ढूंढ़ने का नाटक किया गया, लेकिन कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। वर्ग विशेष के हितों और सरकारी नीतियों के चलते तीनों ही सम्मेलन विफल रहे। इनकी विफलता के साथ-साथ सांप्रदायिकता का विकराल स्वरूप भी स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ गया, जिसने बाद की घटनाओं को प्रभावित किया।

श्वेत-पत्र

(The white paper–March 1933)

तृतीय गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति के कुछ महीने पश्चात् मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक 'श्वेत-पत्र' प्रकाशित किया। इस श्वेत-पत्र में संवैधानिक सुधारों एवं भारत के लिए एक संविधान के निर्माण की बात कही गयी थी। इसमें जो व्यवस्था थी वह भारतीयों को मान्य नहीं थी। इसके प्रस्ताव प्रतिगामी थे। इसमें गवर्नर जनरल या वायसराय के अधिकारों में ही बढ़ोतरी की बात कही गयी थी, परंतु उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करने की कोई बात नहीं थी। फलतः

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारतीय नेताओं ने इसका विरोध किया। लेकिन सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक समिति गठित की, जिसमें ब्रिटेन के सांसदों एवं भारतीय रियासतों तथा ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के प्रतिनिधियों को रखा गया। इसी समिति की सिफारिश के आधार पर अंततः *'भारतीय सरकार अधिनियम 1935'* पास हुआ।

आन्दोलन का अंत

जिस समय उपर्युक्त घटनाएं घट रही थी, गांधीजी अपना सारा ध्यान हरिजनों के उद्धार के लिए लगाये हुए थे। 8 मई, 1933 को उन्होंने हरिजन समस्या पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए तथा स्वयं एवं अन्य सहयोगियों के शुद्धिकरण के लिए 21 दिनों के उपवास का निश्चय किया। उनकी इस घोषणा ने सरकार को उन्हें जेल से रिहा करने को बाध्य कर दिया। गांधीजी ने सरकार की दमनकारी नीतियों से आम जनता को बचाने के लिए *'नागरिक अवज्ञा आन्दोलन'* को स्थगित कर देने का सुझाव दिया। फलतः मई 1934 में पटना अधिवेशन में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने का निर्णय किया। कांग्रेस एवं गांधीजी की इस नीति की कटु आलोचना हुई।

आन्दोलन की समाप्ति की घोषणा होते ही कुछ कांग्रेसी नेताओं ने पुनः 'कौंसिल प्रवेश' की नीति अपनाने की मांग की। फलतः कांग्रेस ने फिर से कौंसिलों के चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया। 1934 ई. में हुए निर्वाचनों में कांग्रेस ने भाग लिया। पंजाब को छोड़कर अन्य सभी प्रांतों में उसे बहुमत प्राप्त हुआ। इससे कांग्रेस की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हुई।

स्मरणीय तथ्य

- प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटेन के युद्ध प्रस्तावों का स्वागत किया था।
- प्रथम विश्व युद्ध ने *यूरोपियनों* की जातीय श्रेष्ठता की भावना को समाप्त कर दिया।
- तिलक ने अप्रैल 1916 में बम्बई के बेलगांव में अपने होमरूल लीग का गठन किया। इसका गठन बम्बई प्रांतीय सभा में किया गया। इसकी गतिविधियां मध्यप्रांत, महाराष्ट्र (बम्बई को छोड़कर), कर्नाटक और बरार तक सीमित थीं। तिलक का नारा था, 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।'
- श्रीमती एनी बेसेंट ने सितम्बर 1916 में मद्रास के गोखले सभागार में अपना होमरूल लीग प्रारंभ किया। जार्ज अरुण्डेल इसके संगठन मंत्री बनाये गये। एनी बेसेंट का लीग तिलक के लीग के प्रभाव वाले क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में सक्रिय था।
- एनी बेसेंट तथा उनके सहयोगी वी. पी. वाडिया और अरुण्डेल को मद्रास सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था।
- 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में राष्ट्रीय महत्व की दो घटनाएं घटीं-
  (1) कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी नेता अपने मतभेद भूलाकर एक हो गये। अतः 1907 के बाद यह प्रथम संयुक्त कांग्रेस थी।
  (2) कांग्रेस और मुस्लिम लीग में *'लखनऊ समझौता'* हुआ।
- नरमपंथियों और गरमपंथियों को नजदीक लाने में एनी बेसेंट का महत्वपूर्ण योगदान है।
- कांग्रेस और लीग को नजदीक लाने में जिन्ना, तिलक और एनी बेसेंट ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।
- असहयोग आन्दोलन के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरा चरण भी शुरू हुआ, जिसकी विशेषता थी- गांधीजी के नेतृत्व में व्यापक जन आन्दोलन की शुरुआत।
- कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (1920) में असहयोग आन्दोलन की स्वीकृति मिली। इसी अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान में भी परिवर्तन किये गये।
- नागपुर अधिवेशन (1920) चार कारणों से कांग्रेस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है-परिवर्तित साधन, परिवर्तित लक्ष्य, परिवर्तित नेतृत्व और परिवर्तित दलीय संरचना।
- असहयोग आन्दोलन के विभिन्न चरण-
  (1) प्रथम चरण (जनवरी-मार्च 1921)-इसमें विद्यार्थी, अध्यापक, वकील आदि सरकारी व्यवस्था का बहिष्कार करने लगे। व्यापक जनसंपर्क कार्यक्रम चलाया गया।
  (2) द्वितीय चरण (अप्रैल-जून 1921)-इसमें तिलक स्वराज कोष के लिए 1 करोड़ रुपए का लक्ष्य पूरा किया गया। आम लोगों को कांग्रेस का सदस्य बनाने पर जोर दिया गया तथा बड़े पैमाने पर खादी के प्रयोग का प्रचार किया गया।
  (3) तीसरा चरण (जुलाई-नवम्बर, 1921)- इसमें विदेशी वस्तुओं का परित्याग तथा प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन का बहिष्कार किया गया।
  (4) चौथा चरण (नवम्बर 1921 से फरवरी 1922)- इसमें ऐसी घटनाएं घटीं, जिनके कारण सरकार को झुकना पड़ा। दुर्भाग्यवश गोरखपुर जिले में चौरा-चौरी घटना 5 फरवरी, 1922 को घटी। गांधीजी ने 11 फरवरी 1922 के दिन आन्दोलन को रोक देने का आदेश दिया।
- असहयोग आन्दोलन शुरू करते समय गांधीजी ने वादा किया था कि यदि उनकी नीतियों पर सही ढंग से अमल किया जाये, तो एक साल में स्वराज की स्थापना हो जायेगी।
- अली बन्धु (मौलाना अली एवं शौकत अली), मौलाना आजाद, हकीम अजमल खान और हसरत मोहानी के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी का गठन किया गया।
- ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज ने यह वादा किया था कि, 'हम तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस की उस समृद्ध और प्रसिद्ध भूमि से वंचित करने लिए युद्ध नहीं कर रहे हैं जो नस्ली दृष्टि से मुख्य रूप से तुर्क है।''
- महात्मा गांधी के लिए ''खिलाफत आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता में बांधने का एक ऐसा सुअवसर था, जो सैकड़ों वर्षों में नहीं आयेगा।''
- 9 जून, 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी द्वारा गांधीजी की सलाह (अहिंसक आन्दोलन छेड़ने की) को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया और गांधीजी को इस आन्दोलन का नेतृत्व करने का दायित्व सौंपा गया।
- तुर्की में कमाल पाशा के सुधारों ने खिलाफत के प्रश्न को ही अप्रासंगिक बना दिया।
- असहयोग आन्दोलन से प्रभावित आन्दोलन-
  1. मिदनापुर (बंगाल) में संघीय कर बोर्ड के विरुद्ध आंदोलन चला।

CHRONICLE IAS ACADEMY

2. गुंटूर (आंध्र प्रदेश) में कर बंदी आन्दोलन चला।
3. अवध में असहयोग आन्दोलन ने चल रहे किसान आन्दोलन को और भड़काया।
4. केरल के मालाबार में असहयोग और खिलाफत संबंधी प्रचार ने मुस्लिम किसानों को उनके जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दिया। कुछ समय के लिए इस आन्दोलन ने सांप्रदायिकता का भी रंग लिया।
5. पंजाब में भ्रष्ट महन्थों से गुरुद्वारे का नियंत्रण छीनने के लिए अकाली- आन्दोलन चला।
6. झारखण्ड के छोटानागपुर में आदिवासियों ने चौकादारी कर व राजस्व न देने की धमकी दी।

- अपरिवर्तनवादी-वल्लभ भाई पटेल, डा. अन्सारी, डा. राजेन्द्र प्रसाद।
- परिवर्तनवादी-सी. आर. दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठल भाई पटेल
- 1922 के कांग्रेस के गया अधिवेशन मे परिवर्तनवादी पराजित हुए।
- 1 जनवरी, 1923 को सी. आर. दास एवं मोतीलाल नेहरू ने 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज दल' की स्थापना की।
- स्वराजवादियों का भी मूल उद्देश्य स्वराज प्राप्त करना था।
- मध्यप्रांत और बम्बई में स्वराज दल को पूर्ण बहुमत मिला
- मध्यप्रांत और बंगाल में स्वराज दल ने द्वैत शासन को निष्क्रिय बना दिया।
- केन्द्रीय विधानसभा में स्वराज दल को 145 निर्वाचित सीटों में से 45 स्थान प्राप्त हुए।
- 1925 में वे विट्ठल भाई पटेल को केन्द्रीय विधायिका का अध्यक्ष निर्वाचित कराने में सफल रहे।
- आगे चलकर स्वराज दल ने असहयोग की नीति की जगह उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग की नीति अपनायी, जिससे दल में फूट पड़ गया।
- 1925 में चितरंजन दास की मृत्यु हो गयी।
- मॉन्टफोर्ड सुधार 1919 की धारा 84 में यह व्यवस्था थी कि अधिनियम के क्रियान्वित होने के 10 वर्ष पश्चात् भारत में उत्तरदायी शासन की प्रगति की जांच के लिए एक आयोग की नियुक्ति की जायेगी। इसी के तहत साइमन कमीशन की नियुक्ति की गयी।
- इसमें अध्यक्ष सहित 7 सदस्य थे जो सभी अंग्रेज थे। इसमें ब्रिटेन के तीनों प्रमुख राजनीतिक दल (कंजर्वेटिव, लिबरल और लेबर) के प्रतिनिधि थे।
- 1927 में ब्रिटिश संसद में दो भारतीय सदस्य थे-लार्ड सिन्हा एवं मि. सकलातवाला।
- कांग्रेस द्वारा कमीशन के विरोध का निर्णय मद्रास अधिवेशन-(1927) में लिया गया।
- कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और लिबरल फेडरेशन ने एक स्वर से कमीशन का विरोध किया। केवल सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के एक वर्ग ने कमीशन का स्वागत करने का निश्चय किया।
- यह कमीशन 3 फरवरी, 1928 को बम्बई उतरा। इसी दिन सम्पूर्ण भारत में हड़ताल रखते हुए कमीशन के बहिष्कार का श्रीगणेश कर दिया गया।
- भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बम फेंका।
- विरोधों के बावजूद कमीशन ने मई 1930 को अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। इसे दो वर्ष से अधिक समय लगा।
- नेहरू रिपोर्ट, भारत सविच लार्ड बर्किनहेड की चुनौती के जवाब के रूप में अस्तित्व में आया।
- नेहरू रिपोर्ट के लिए बनी समिति में 8 सदस्य थे-मोती लाल नेहरू (अध्यक्ष), अली इमाम, तेज बहादुर सप्रु, सुभाष चन्द्र बोस, श्री एम. एस. अणे, सरदार मंगरू सिंह, श्री शोएब कुरैशी तथा जी. आर. प्रधान।
- 'इंडिपेन्डेन्स लीग' (Independence League) की स्थापना नवम्बर 1928 में जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस द्वारा की गयी थी।
- 'नेहरू रिपोर्ट' में 'डोमिनियन स्टेटस' की मांग की गयी थी न कि 'पूर्ण स्वराज्य' की।
- साइमन कमीशन की नियुक्ति समय से दो वर्ष पूर्व ही कर दी गयी थी। नेहरू रिपोर्ट के विरोध में जिन्ना ने अपने 14 सूत्र सामने रखे।
- जनवरी 1929 में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' प्रस्तुत किया गया, जिसे 'काला कानून' भी कहा जाता है। इसी बिल की विवेचना के समय केन्द्रीय व्यवस्थापिका में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बम फेंका था।
- लॉर्ड इर्विन की घोषणा (दिल्ली घोषणा पत्र) 31 अक्तूबर, 1929 को की गयी।
- पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन में पारित किया गया। अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे।
- सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने के पूर्व गांधीजी ने अपनी 11 सूत्री मांगें प्रस्तुत की थीं।
- सविनय अवज्ञा आन्दोलन 12 मार्च, 1930 को प्रसिद्ध डांडी मार्च के साथ प्रारंभ हुआ। गांधीजी अपने 78 सहयोगियों के साथ साबरमती आश्रम से डांडी के लिए प्रस्थान हुए।
- सुभाष चन्द्र बोस ने डांडी यात्रा की तुलना नेपोलियन के 'पेरिस मार्च' और मुसोलिनी के 'रोम मार्च' से एल्बा से की है।
- खान अब्दुल गफ्फार खां (सीमान्त गांधी) के संगठन का नाम 'खुदाई खिदमतगार' या 'लाल कुर्ती' थी।
- गढ़वाली पलाटून के नेता चन्द्र सेन गढ़वाली ने निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।
- मणिपुर में रानी गौडिल्यु ने विद्रोह का झंडा उठाया और आजीवन कारावास की सजा पायी।
- मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन का साथ नहीं दिया।
- यरवदा जेल से गांधीजी के रिहा होने के बाद मार्च 1931 में गांधी-इर्विन पैक्ट हुआ। इसी के बाद गांधीजी का द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना संभव हुआ। इस पैक्ट की पुष्टि करांची अधिवेशन 1931 में की गयी।
- करांची अधिवेशन की सबसे उल्लेखनीय घटना थी *'मौलिक अधिकारों'* और *'आर्थिक नीतियों'* से संबंधित प्रस्ताव का पास होना।
- प्रथम गोलमेज सम्मेलन (12 नवम्बर, 1930 से 19 जनवरी, 1931) के समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड इर्विन थे तथा ब्रिटेन में रैम्से मैकडोनाल्ड लेबर पार्टी के प्रधान मंत्री थे। ब्रिटिश

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का मनोनयन गवर्नर जनरल द्वारा ही किया गया था। कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया।

- ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने 14 अगस्त, 1932 को 'सांप्रदायिक निर्णय' या 'सांप्रदायिक पंचाट' की घोषणा की। इसमें अछूतों को हिन्दूओं से अलग मानकर उनके लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी थी। गांधीजी ने यरवदा जेल में ही इसके विरोध में आमरण अनशन किया। अंततः *'पूना पैक्ट'* द्वारा इसमें सुधार किया गया।
- द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (7 सितम्बर, 1931 से 1 दिसम्बर, 1931) के समय भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड विलिंगटन थे तथा ब्रिटेन में रैम्से मैकडोनाल्ड ही सर्वदलीय पार्टी के प्रधानमंत्री थे। कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग लिया था, जिसका प्रतिनिधित्व गांधीजी ने किया था।
- तीसरा गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर, 1931 से 1 दिसम्बर, 1931 के बीच हुआ, जो एक बार फिर सफल नहीं हो सका। तीनों गोलमेज सम्मेलनों के असफल हो जाने पर सरकार ने मार्च 1933 मे 'श्वेत पत्र' जारी किया।
- मई 1934 मे पटना अधिवेशन में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापस लेने का निर्णय लिया।
- 1934 के कौंसिलों के चुनाव में कांग्रेस को पंजाब को छोड़कर अन्य सभी प्रांतों में बहुमत प्राप्त हुआ।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारतीय शासन अधिनियम (1919 ई.)

1858 में कम्पनी की सत्ता हस्तगत करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में सहयोग की नीति का अनुसरण किया। इसे कार्य रूप देने के लिए 1861, 1892 एवं 1909 के अधिनियम पारित किये गये। लेकिन यह नीति असफल सिद्ध हुई। अत: ब्रिटिश सरकार ने अपनी भारतीय नीति में परिवर्तन लाया। यह महसूस किया गया कि केवल भारतीयों से सहयोग लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि भारत में क्रमश: उत्तरदायी शासन की स्थापना भी की जानी चाहिए। इस हेतु 1919 में दूसरा अधिनियम पारित कर आंशिक उत्तरदायित्व (partial responsibility) के सिद्धान्त को अपनाया गया। इस अधिनियम के जन्मदाता भारत सचिव मॉण्टेग्यु तथा भारतीय गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड थे। अत: इसे मांट-फोर्ड सुधार या 1919 का भारत सरकार अधिनियम कहते हैं। 1919 में भारत सरकार अधिनियम के पारित होने के निम्नलिखित कारण थे:

(1) मॉर्ले-मिण्टो सुधार से असंतोष (Dissatisfaction with the Morley minto Reforme) : मॉर्ले-मिण्टो सुधार त्रुटिपूर्ण, एवं अपर्याप्त था। उनसे भारतवासियों का कोई भी वर्ग संतुष्ट नहीं हुआ। भारतवासी पूर्ण स्वराज के लिए संघर्ष कर रहे थे। मॉर्ले-मिण्टो सुधार ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। अधिनियम कई अर्थों में प्रतिगामी था, उसने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपनाकर भारत में सांप्रदायिकता का बीज बोया। यद्यपि निर्वाचन की प्रथा अपनायी गयी थी, लेकिन उसका व्यावहारिक महत्त्व नहीं के बराबर रहा। प्रांतीय तथा स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय नियंत्रण को और भी दृढ़ बना दिया गया, जिससे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला। अत: भारतीयों को यह अधिनियम संतोष प्रदान नहीं कर सका जिस कारण सुधारों के लिए उनका आन्दोलन और भी तीव्र हो गया।

(2) सरकार की दमन नीति (Government policy of repression) : ब्रिटिश सरकार ने सुधारों द्वारा उदारवादियों को खुश करने तथा दमनचक्र द्वारा उग्रवादियों को कुचलने की नीति अपनायी। लेकिन वह न तो उदारवादियों को खुश कर सकी न उग्रवादियों को ही कुचल सकी। उसके दमनकारी कार्यों की घोर प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन और भी तीव्र हो गया तथा क्रांतिकारी और आतंकवादी सक्रिय हो गये। स्वभावत: सरकार का ध्यान भारतीयों को संतुष्ट करने की ओर गया।

(3) सरकार के प्रति मुसलमानों के रुख में परिवर्तन (Change in the Muslim attitude towards the government) : शुरू में सरकार के पक्षपाती नीतियों के चलते मुसलमानों को बहुत प्रोत्साहन मिला और वे ब्रिटिश सरकार की ओर काफी झुक गये। पृथक निर्वाचन की मान्यता ने अंग्रेजों और मुसलमानों की मित्रता की घनिष्ठता को भी गाढ़ा बना दिया। लेकिन मॉर्ले-मिण्टो सुधार के बाद कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिनसे मुसलमानों में राष्ट्रीय जागरण हुआ तथा वे अंग्रेज विरोधी हो गये। 1911 में बंगाल विभाजन का अंत कर दिया गया, जिससे मुसलमानों का सरकार पर से विश्वास उठने लगा। तुर्की-इटली युद्ध और बाल्कन युद्ध में अंग्रेजों ने तुर्की के विरुद्ध नीति अपनायी जिससे भारतीय मुसलमान बहुत ही सशंकित हो गये। दूसरी ओर राष्ट्रवादी पत्र पत्रिकाओं ने मुसलमानों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। इसका फल यह हुआ कि मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नजदीक आने लगे, मुस्लिम लीग पर अलीगढ़ आन्दोलन का प्रभाव कम होने लगा तथा कुछ राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रभाव उस पर बढ़ गया। लीग का दृष्टिकोण राष्ट्रवादी तथा प्रगतिवादी हो गया। कांग्रेस और लीग का अधिवेशन लखनऊ में एक ही समय हुआ और दोनों ने सुधार की योजना एक समान तैयार की जो *'लखनऊ समझौता'* के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक महान ऐतिहासिक घटना थी जिसने भारत के बड़े संप्रदायों को एकता के सूत्र में बांध दिया।

(4) प्रथम महायुद्ध का प्रभाव : 1914 में प्रथम महायुद्ध आरंभ हुआ। भारतीयों का युद्ध में सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना शुरू कर दिया और उन्हें जीतने के उद्देश्य से अनेक घोषणाएं की गयीं। भारतीयों ने भी उदारता दिखलायी और ब्रिटिश शासकों की युद्ध में भरपूर सहायता की। लॉर्ड हार्डिंग ने भारतीयों के साथ प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव किया और दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार का विरोध किया। लायड जार्ज ने यह घोषणा की कि "सभी राष्ट्रों को अपना-अपना भाग्य निर्णय करने का अधिकार होगा।" मित्र राष्ट्रों ने भी यह ऐलान किया कि वे निजी स्वार्थों के लिए युद्ध नहीं लड़ रहे हैं, अपितु संसार के जनतंत्र की रक्षा के लिए ही उन्होंने युद्ध में प्रवेश किया है। चूंकि ब्रिटिश सरकार ने बार-बार इस बात पर जोर दिया था कि जनतंत्र की रक्षा करने और पराधीन राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के लिए वह युद्ध कर रही है, इसलिए भारतीयों को यह आशा हुई कि युद्ध के उपरांत भारत को स्वशासन का अधिकार होगा। युद्धकाल में भारतीयों ने स्वतंत्रता और स्वशासन का महत्व भी समझा। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के प्रभाव के अर्न्तगत भारतीयों में राष्ट्रीय जागरण और चेतना आयी।

युद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजों ने अपने आश्वासन को पूरा नहीं किया। इसलिए भारतीयों ने श्रीमती एनी बेसेंट तथा तिलक के नेतृत्व में गृह शासन (Home Rule) आन्दोलन चलाया। यद्यपि इस आंदोलन को दबा दिया गया, फिर भी इससे भारतीयों में चेतना और जागरण की वृद्धि हुई और राष्ट्रीय एकता अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गयी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(5) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों द्वारा ज्ञापन पत्र : जब केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा प्रस्तुत सुधार प्रस्तावों के बारे में पता चला तो 19 निर्वाचित सदस्यों, जिनमें जिन्ना, श्रीनिवास शास्त्री और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आदि शामिल थे, ने सरकार के पास एक ज्ञापन पत्र प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि केवल उत्तम सरकार या कुशल शासन ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि ऐसी सरकार की आवश्यकता है जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो, वह हमें स्वीकार है। उनके कुछ सुझाव इस प्रकार थे-कार्यकारिणी या व्यवस्थापिका परिषदों में कम से कम आधे भारतीय हों, विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो, अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व मिले, भारत सचिव का पद हटा दिया जाए तथा प्रांतों को स्वायत्तता मिले।

(6) मेसोपोटामिया की घटना : मेसोपोटामिया की घटना का भी भारत के संवैधानिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। टर्की के विरुद्ध कार्यवाही की पूरी जिम्मेदारी भारत सरकार पर थी, जिसमें वह पूर्णत: असफल रही, मेसोपोटामिया कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारत सरकार को दोषी ठहराया तथा भारत में राजनैतिक सुधार की मांग की।

(7) ड्यूक द्वारा याचना पत्र 1915: विलियम ड्यूक जो बंगाल का भूतपूर्व लेफ्टिनेन्ट गवर्नर तथा भारतीय परिषद का सदस्य था, ने भारतीय समस्याओं से संबंधित एक याचना पत्र प्रस्तुत किया। उसने प्रांतों में द्वैध शासन लागू करने का सुझाव दिया जो आंशिक रूप से उत्तरदायी होगी। उसके विचार से यह मध्यान्तरिक व्यवस्था होगी, क्योंकि एकाएक पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना भारत में संभव नहीं थी। यद्यपि इस प्रलेख का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया, फिर भी 1919 के सुधार अधिनियम का यह वास्तविक आधार था।

माण्टेग्यू की घोषणा

1917 में मित्र राष्ट्रों की हार पर हार हो रही थी, दूसरी ओर भारत में गृह शासन आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया था। अत: ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या की ओर गम्भीरता पूर्वक ध्यान दिया। मेसोपोटामिया की घटना के कारण चेम्बरलेन ने त्यागपत्र दे दिया और उसके स्थान पर मॉटेग्यू भारत सचिव हुआ। 20 अगस्त, 1917 को उसने लोकसभा में अपनी प्रसिद्ध घोषणा की जिसे *'अगस्त घोषणा'* (August Declaration) कहते हैं। इस घोषणा में कहा गया कि, "सम्राट सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार पूर्णत: सहमत है, यह है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो, जिससे कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में रहे। उन्होंने यह तय कर लिया कि इस दिशा में यथा शीघ्र ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढ़ाये जाएं।"

उसने आगे कहा कि इस दिशा में प्रगति क्रमश: अर्थात सीढ़ी दर सीढ़ी होगी। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार इस बात का निर्णय करेगी कि कब और कैसा कदम आगे बढ़ाना चाहिए। वे उन लोगों के सहयोग को देखकर ही आगे बढ़ने का निश्चिय करेंगे जिन्हें इस तरह सेवा का नया अवसर मिलेगा। साथ ही यह भी देखा जाएगा कि किस सीमा तक अपने उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक निभाया है और इसलिए कितना विश्वास किया जा सकता है।

मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट में इस घोषणा को युगान्तकारी कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि घोषणा में केवल *'उत्तरदायी शासन'* शब्द का प्रयोग किया गया था। *'औपनिवेशिक स्वराज्य'* या *'स्वशासन'* शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया था। फिर भी घोषणा में यह बात निहित थी कि किसी दिन भारत औपनिवेशिक स्वराज अवश्य प्राप्त करेगा। कुल मिलाकर यह घोषणा कई दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण थी, फिर भी यह एक महान संवैधानिक घोषणा थी।

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट : अगस्त घोषणा के तीन महीने बाद मॉण्टेग्यू भारत आये। भारत में उन्हें ब्रिटिश नौकरशाही के विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि अधिकांश अंग्रेजी शासक भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के विरुद्ध थे। माण्टेग्यू ने चेम्सफोर्ड के साथ देश के विभिन्न भागों का दौरा किया अनेक राष्ट्रीय नेताओं से बातचीत की। बहुत से प्रतिनिधि मंडलों से भेंट की और बहुत से सुधार प्रस्तावों पर विचार किया। अन्त में, 1918 में उसने सुधार सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसे *'माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट'* कहा गया और जो 1919 के सुधार अधिनियम का आधार बना।

1919 के अधिनियम की प्रस्तावना

इसकी प्रस्तावना में वे तत्व निर्धारित किये गए जिनके अनुसार भारत में सुधार लाए जाने थे, जो लगभग वही थे जो 20 अगस्त 1917 की घोषणा में कहे गये थे। इसके अनुसार-

(1) भारत को अंग्रेजी साम्राज्य का अभिन्न अंग रहना था।

(2) भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना होनी थी जो कि केवल क्रमश: ही आनी संभव थी।

(3) इसके लिए भारतीयों को प्रशासन के विभिन्न भागों में साहचर्य बढ़ाना चाहिए और धीरे-धीरे स्वायत्त शासन आना चाहिए।

(4) प्रांतों में स्वायत्त शासन के बढ़ने के साथ-साथ यह आवश्यक है कि प्रांतों को भारत सरकार के नियंत्रण से जहां तक संभव हो अधिकाधिक मुक्त किया जाए।

इस प्रस्तावना का मूल उद्देश्य यह था कि जो घोषणा मॉण्टेग्यू ने की थी उसे अब एक वैधानिक रूप दे दिया गया था। अंग्रेजी सरकार का भारत पर नियंत्रण स्पष्ट कर दिया गया और यह भी स्पष्ट हो गया कि भविष्य में किस दिशा में कैसे जाना है।

अधिनियम की मुख्य धाराएं

(क) गृह सरकार में परिवर्तन :

(I) 1793 में भारत राज्य सचिव को भारतीय राजस्व से वेतन मिलता था। वह अब अंग्रेजी राजस्व से मिलने लगा।

(II) राज्य सचिव के कुछ कार्यों को लेकर एक नये पदाधिकारी भारतीय उच्च आयुक्त (Indian High Commissioner) जिसको भारतीय राजस्व से वेतन मिलता था, दे दिये गये। यह उच्च आयुक्त अब सपरिषद गवर्नर जनरल का कार्यकर्त्ता (Agent) बन गया।

(III) प्रांतों में हस्तांतरित विषयों पर भारत सचिव का नियंत्रण कम हो गया, यद्यपि केन्द्र पर उसका नियंत्रण बना रहा।

(ख) भारत सरकार में परिवर्तन :

(I) कार्यकारिणी में परिवर्तन : यद्यपि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, परन्तु भारतीयों को अधिक प्रभावशाली भूमिका दी गयी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में 8 सदस्यों में से 3 भारतीय नियुक्त किये गये और उन्हें विधि, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग इत्यादि सौंपे गये।

(II) विषयों का बंटवारा : इस समय तक सभी विषयों पर केन्द्र का अधिकार था और वह सभी विषयों पर आज्ञा दे सकता था तथा कानून बना सकता था। इन नये सुधारों के अनुसार विषयों को केन्द्र तथा प्रांतों में बांट दिया गया। केन्द्रीय सूची में सम्मिलित विषयों पर सपरिषद गवर्नर जनरल का अधिकार था। इसमें वे विषय सम्मिलित थे जो राष्ट्रीय महत्व के थे अथवा एक से अधिक प्रांतों से संबंध रखते थे; जैसे विदेशी मामले, राजनैतिक संबंध, डाक और तार, सार्वजनिक ऋण, संचार व्यवस्था, दीवानी तथा फौजदारी कानून तथा कार्यप्रणाली इत्यादि। सभी मामले केन्द्रीय सूची में थे, परन्तु जो प्रांतीय महत्व के विषय थे, जैसे; स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा प्रशासन, भूमिकर प्रशासन, जल संभरण, अकाल सहायता, शांति तथा व्यवस्था, कृषि इत्यादि प्रांतीय सूची में थे। जो विषय स्पष्ट हस्तान्तरित नहीं किए गये वे सभी केन्द्रीय माने गये।

(III) विधान संबंधी परिवर्तन : एक सदनीय साम्राज्यिक विधान परिषद (Imperial legislative council) के स्थान पर इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्र में द्विसदनीय व्यवस्था स्थापित की गई। एक सदन राज्य परिषद (Council of State) और दूसरा सदन केन्द्रीय विधान सभा (Central Legislative Assembly) था।

राज्य परिषदों में जो ऊपरी सदन था, उसमें 60 सदस्य होते थे, जिसमें 26 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते थे और 34 निर्वाचित होते थे। 26 मनोनीत सदस्यों में से 19 पदाधिकारी तथा 7 अशासनिक होते थे। 34 निर्वाचितों में से 20 साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते थे, 10 मुसलमानों द्वारा, तीन यूरोपीयों द्वारा तथा एक सिक्खों द्वारा। इस राज्य परिषद का प्रति वर्ष आंशिक रूप से नवीकरण होता था। यद्यपि ये सदस्य प्राय: 5 वर्ष के लिए बनते थे। इसका प्रधान वायसराय द्वारा नियुक्त होता था। सदस्यों को *'माननीय'* (Honourable) की उपाधि दी जाती थी। स्त्रियों को सदस्यता के उपयुक्त नहीं समझा गया। गवर्नर जनरल इस सदन को बुला, स्थगित अथवा भंग कर सकता था।

मताधिकार बहुत सीमित था। केवल वही लोग जिनकी आय 10,000 रुपये वार्षिक थी अथवा जो न्यूनतम 750 रुपये वार्षिक भूमिकर के रूप में देते थे, मत का अधिकार प्राप्त कर सकते थे। दूसरे, प्रत्याशी को किसी विधान मडंल का अनुभव होना चाहिए अथवा उसे किसी विश्वविद्यालय के सीनेट का सदस्य होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त वह उपाधिकारी (title holder) भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त करोड़ की जनसंख्या में से केवल 17,364 व्यक्ति ही मताधिकार प्राप्त कर सके।

प्रांत का नाम	निर्वाचित सदस्य	शासनिक	अशासनिक मनोनीत	कुल संख्या
मद्रास	98	11	23	132
बम्बई	86	19	9	114
बंगाल	114	16	10	140
संयुक्त प्रांत	100	17	6	123
पंजाब	71	15	8	94
बिहार-उड़ीसा	76	15	12	103
मध्य प्रांत	55	10	8	73
असम	39	7	7	53
उ.प. सीमा प्रांत	39	7	7	53

निम्न सदन को केन्द्रीय विधान सभा कहते थे, उसमें 145 सदस्य थे जिनमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत होते थे। मनोनीत सदस्यों में से 26 शासनिक तथा 15 अशासनिक होते थे। 104 निर्वाचित में से 52 साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से, 32 साम्प्रदायिक क्षेत्रों से (30 मुसलमान, 2 सिक्ख) और 20 विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से (7 भूमिपतियों द्वारा, 9 यूरोपीयों द्वारा, और 4 भारतीय व्यापार समुदायों द्वारा) निर्वाचित किये जाते थे।

सभा का कार्यकाल 3 वर्ष का था, परन्तु गवर्नर जनरल की इच्छा पर बढ़ाया भी जा सकता था। यह उल्लेखनीय है कि 1936 में निर्वाचित सभा 10 वर्ष के पश्चात भंग हुई। यहां भी मताधिकार बहुत सीमित था। मतदाता 15 रुपये मासिक किराया देता हो अथवा 15 रुपये वार्षिक नगरपालिका का कर देता हो अथवा न्यूनतम 2000 रुपये वार्षिक आयकर देता हो अथवा 50 रुपए वार्षिक भूमिकर देता हो। ऐसे लोगों की संख्या 1920 में 9 लाख के लगभग ही थी।

प्रांतों में स्थानों का बंटवारा जनसंख्या पर नहीं अपितु उनके महत्व पर था। उदाहरण के रूप में पंजाब (सैनिक महत्व के कारण) तथा बिहार, उड़ीसा को 12, 12 स्थान मिले यद्यपि पंजाब की जनसंख्या बिहार और उड़ीसा का 2/3 थी। मद्रास तथा बम्बई प्रत्येक को 16 स्थान मिले यद्यपि बम्बई की जनसंख्या मद्रास से आधी थी। बम्बई का व्यापारिक महत्व था।

(IV) केन्द्रीय विधान मंडल की शक्तियां : द्विसदनीय केन्द्रीय विधान मंडल को पर्याप्त शक्तियां दी गयीं। यह समस्त भारत के लिए कानून बना सकता था, भारतीय प्रजा तथा सरकारी अधिकारियों के लिए भी, चाहे वे भारत में हो अथवा विदेश में। किसी भी विद्यमान कानून को बदला या रद्द किया जा सकता था। सदस्यों को प्रस्ताव अथवा स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति थी ताकि किसी महत्वपूर्ण विषय पर तुरंत विचार किया जा सके। उन्हें प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने की भी अनुमति थी। अल्पकालिक प्रश्न भी पूछे जा सकते थे। सदस्यों को बोलने का अधिकार तथा स्वतंत्रता थी।

परन्तु विधान मंडल पर कुछ नियंत्रण भी थे। निम्नलिखित विषयों पर विधेयक रखने के पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक थी।

(1) विद्यमान कानून को अथवा गवर्नर जनरल के अध्यादेश को रद्द करना अथवा उसमें संशोधन करने से संबंधित विधेयक।
(2) विदेशी तथा देशी रियासतों से संबंध।
(3) स्थल, नौसेना तथा वायुसेना का अनुशासन बनाये रखना।
(4) सार्वजनिक ऋण तथा कर
(5) जनता के धर्म और धार्मिक रीति-रिवाज
(6) उपर्युक्त के अतिरिक्त यदि गवर्नर जनरल यह समझे कि किसी विधेयक से देश अथवा साम्राज्य की शक्ति तथा रक्षा को भय है तो वह उस पर विचार रोक सकता था।

यदि गवर्नर जनरल के आदेश पर विधान मंडल किसी विधेयक को पारित नहीं करता तो गवर्नर जनरल क्राउन की अनुमति लेकर उसे पारित कर सकता था और वह 6 माह तक लागू रहता। इसे साधारण कानून का महत्व प्राप्त था। गवर्नर जनरल की अनुमति किसी भी कानून के लिए आवश्यक थी। इससे स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल के पास वास्तविक निषेधाधिकार थे।

CHRONICLE IAS ACADEMY

बजट के विषय में यह कहा गया कि सरकार विधान सभा में उसे विनियोग मांगों के रूप में प्रस्तुत करेगी। कुछ मुद्दे सभा के मतों पर निर्भर थे, कुछ मुद्दों पर बहस हो सकती थी और कुछ मुद्दों पर बहस नहीं भी हो सकती थी। वोट को तो छोड़ ही दें।

आलोचना : कार्यकारिणी में परिवर्तनों का कोई महत्व नहीं था। यद्यपि 8 में से 3 भारतीय सदस्य तो थे, लेकिन एक भी महत्वपूर्ण विभाग उनके अधीन नहीं था। ये सदस्य विधान मंडल के प्रति भी उत्तरदायी नहीं थे। जिस परिस्थिति में वे थे, केवल गवर्नर के हां में हां मिलाने वाली ही थी।

विषयों का विभाजन भी ठीक नहीं था। व्यापार तथा सम्पत्ति सम्बन्धी कानून तो केन्द्र के पास रहने दिये गये, परन्तु आबकारी तथा भूमि पट्टे जैसे महत्त्वपूर्ण विषय प्रांत को दे दिये गये। यद्यपि प्रांतीय सूची के सभी विषय प्रशासन की दृष्टि से प्रांतों के अधीन थे, परन्तु कानून बनाने के लिए ऐसा नहीं था। उनमें से कुछ के लिए जहां एक ही प्रकार के कानून होने चाहिए, केवल केन्द्र को ही अधिकार था। उदारहरण के लिए स्थानीय स्वशासनिक निकायों की कर लगाने तथा ऋण लेने की क्षमता, सिंचाई, बिजली, कारखाने इत्यादि ऐसे विषय थे।

प्रमुख कार्यकारी शक्तियां अभी भी गवर्नर जनरल के पास रहीं जो क्राउन के प्रतिनिधि, भारत सचिव के साथ लगातार पत्र व्यवहार करता था। उसे अपने पार्षदों पर पूरा नियंत्रण था, अर्थात उसकी शक्ति में कोई भी कमी नहीं की गयी।

यह कथन सत्य है कि इस ऐक्ट से केन्द्र में उत्तरदायी (responsible) सरकार नहीं अपितु अनुक्रियात्मक (responsive) सरकार बन गई। कार्यकारी पार्षदों को विधान सभा का कोई अविश्वास प्रस्ताव हटा नहीं सकता था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे जो चाहें करें। वास्तव में उन्होंने कई बार सदन अथवा लोकमत के आगे सिर झुकाया। कुछ सदस्यों को सरकार की स्थायी समितियों जैसे वित्त समिति अथवा सार्वजनिक लेखा समिति पर नियुक्त किया गया, जहां वे सरकारी नीतियों को प्रभावित कर सकते थे। प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछकर अथवा स्थगन प्रस्ताव रखकर सरकार की नीतियों को उजागर कर सकते थे। वे बजट को अस्वीकार कर सकते थे तथा सरकार के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर सकते थे। इस प्रकार सबसे अधिक अनुत्तरदायी कार्यकारी पार्षद भी विधान मंडल की अनदेखी नहीं कर सकता था।

(ग) प्रातों में द्वैध शासन (Dyarchy) की स्थापना : 1919 के ऐक्ट से सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रांतीय प्रशासन में आया। जैसा कि माण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था और प्रस्तावना में भी दुहराया गया था। "प्रांत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के लिए कदम उठाए जाने चाहिये जिससे हम अपने उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिकाधिक वैधानिक तथा प्रशासनिक स्वतंत्रता प्रदान कर सकें।" इसी उद्देश्य से प्रांतों में द्वैध प्रशासनिक प्रणाली की स्थापना की गयी। इसके मुख्य बिन्दु निम्न हैं:

(1) द्वैध प्रशासनिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रांतीय विषयों को दो भागों में बांट दिया गया- आरक्षित (Reserved) और हस्तांतरित (Transfered)।

आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर अपने उन पार्षदों की सहायता से करता था जिन्हें वह मनोनीत करता था और वे विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे।

हस्तांतरित विषयों का प्रशासन गवर्नर उन मंत्रियों की सहायता से करता था जिन्हें वह निर्वाचित सदस्यों में से नियुक्त करता था। ये लोग सदन के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु गवर्नर की इच्छा पर ही पदों पर बने रह सकते थे। सपरिषद राज्य सचिव तथा सपरिषद गवर्नर जनरल को इन विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार बहुत सीमित था। परन्तु आरक्षित विषयों में यह अधिकार पूर्ववत बना रहा।

आरक्षित विषय थे:- वित्त, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय, पुलिस, पेन्शन, आपराधिक जातियां, छापाखाने, समाचार पत्र, सिंचाई तथा जलमार्ग, खानें, कारखाने, बिजली, गैस, श्रमिक, कल्याण, औद्योगिक झगड़े, मोटरगाड़ियां, छोटे बन्दरगाह, अपवर्जित क्षेत्र तथा सार्वजनिक सेवाएं।

हस्तांतरित विषय थे :- शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, स्थानीय स्वायत्त शासन, चिकित्सा, कृषि, सहकारी समितियां, पशु चिकित्सा सार्वजनिक निर्माण, आबकारी, उद्योग, मापतौल, मनोरंजन, धार्मिक तथा अग्रहार दान आदि।

(2) प्रांतीय विधान मंडलों में भी परिवर्तन हुए। प्रांतीय परिषदों को अब विधान परिषदों की संज्ञा दी गई। उनका अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिया गया जो कि सभी प्रांतों में भिन्न-भिन्न था। इन प्रांतीय परिषदों में कम से कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होते थे। 20 प्रतिशत से अधिक शासकीय नहीं थे तथा शेष मनोनीत होते थे। प्रांतों में संख्या इस प्रकार थी:

(3) प्रांतीय विधान परिषदों की चुनाव की विधि प्रत्यक्ष (Direct) थी। प्राथमिक मतदाता सदस्यों को चुनते थे, परंतु मतदाताओं के लिए अधिक संपत्ति की योग्यताएं, सांप्रदायिक तथा वर्गीय चुनाव मंडलों को तथा कुछ संप्रदायों को विशेष महत्व देना इन चुनावों की विशेषता थी।

(2) प्रांतीय विधान परिषदों के कार्यक्षेत्र में भी विस्तार हुआ। सदस्यों को बोलने का अधिकार एवं स्वतंत्रता थी। वे प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते थे, प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। किसी भी प्रांतीय विषय पर कानून बनवा सकते थे तथापि प्रत्येक पारित विधयेक पर गवर्नर की सहमति आवश्यक थी। यद्यपि सदस्य बजट को भी अस्वीकार कर सकते थे तथापि गवर्नर चाहे तो उसे उनकी अनुमति के बिना भी पारित कर सकता था।

यह द्वैध शासन प्रणाली, जो पहली अप्रैल 1921 को आरंभ की गई, पहली अप्रैल 1927 तक चलती रही। यद्यपि बंगाल में 1924 से 1926 तक और मध्य प्रांत में 1924 से 1926 तक यह कार्य नहीं कर सकी।

द्वैध शासन प्रणाली से उत्पन्न दोष

(1) प्रशासन को दो स्वतंत्र भागों में बांटना, राजनीति के सिद्धान्तों तथा व्यवहार के विरुद्ध था। विषयों का आरक्षित और हस्तांतरित होना भी अव्यावहारिक था क्योंकि मंत्री अथवा कार्यकारी पार्षद एक-दूसरे से स्वतंत्र रहकर कार्य नहीं कर सकते थे। उदाहरण के लिए सिंचाई तो आरक्षित विषय था, पर कृषि हस्तांतरित; परन्तु स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। इसी प्रकार उद्योग को जो हस्तांतरित था, जलशक्ति, कारखानों एवं खानों जो आरक्षित थे, कैसे पृथक किया सकता था।

(2) दोनों शाखाओं के बीच उद्देश्य की एकता भी नहीं हो सकती थी। उदाहरण के लिए जब सिक्ख गुरुद्वारों का आन्दोलन चल रहा था तो प्रश्न शांति और व्यवस्था का था। परन्तु धार्मिक संस्थान

CHRONICLE IAS ACADEMY

चूंकि हस्तान्तरित विषय था, इसलिए शांति और व्यवस्था को कार्यकारी पार्षद कुछ नहीं कर सकते थे। कई बार तो यह भी स्पष्ट नहीं था कि कौन सा विषय हस्तान्तरित है और कौन सा आरक्षित।

(3) प्राय: प्रशासन के दोनों भाग आपस में विरोधी होते थे। मंत्री लोग जनता के प्रतिनिधि थे और जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आते थे और कार्यकारी पार्षद नौकरशाही के लोग होते थे। कई बार वे सार्वजनिक रूप से एक दूसरे की आलोचना करते थे और गवर्नर सदैव कार्यकारी पार्षदों का ही समर्थन करता था।

(4) एक प्रकार से मंत्री की स्थिति बहुत गंभीर थी। उसे दो स्वामियों को प्रसन्न करना होता था। गवर्नर को जो उसे नियुक्त करता था और जिसकी इच्छा पर वह मंत्री बना रहता था और विधान परिषद को जो उसे अपना प्रतिनिधि समझती थी और जिसकी इच्छा से ही प्राय: वह मंत्री बना रह सकता था। अतएव प्राय: मंत्री लोग गवर्नर की इच्छा के अनुकूल ही कार्य करते थे। चूंकि विधान परिषद में कोई भी शक्तिशाली दल नहीं होता था, इसलिए मंत्री को अपनी स्थिति सुदृढ़ रखने के लिए शासक वर्ग की सहायता लेनी पड़ती थी और मंत्री लोग सरकार के ही पक्षपाती होते थे।

गर्वनरों ने स्वयं ही संयुक्त उत्तरदायित्व को पनपने नहीं दिया। कई बार मंत्री लोग भी आपस में एक दूसरे की आलोचना करते थे।

(5) कई महत्वपूर्ण विषयों में तो मंत्री से मंत्रणा भी नहीं की जाती थी। इसके अलावा मंत्रियों को अपने विभाग पर भी पूर्ण नियंत्रण नहीं होता था। विभागीय सचिव जो नौकरशाही से होता था, गवर्नर से साप्ताहिक बैठक करता था। प्राय: उसका सुझाव (मंत्री का नहीं) गवर्नर को मान्य होता था। जब कभी भी मंत्री और अधिकारियों में मतभेद होता था, मामला गवर्नर के पास जाता, और वह अधिकारी वर्ग का सर्मथन करता।

(6) अखिल भारतीय सेवाओं का वेतन, निलम्बन, पदच्युति अथवा हस्तांतरण भारत सचिव के हाथों में था। हस्तांतरित विभागों में कार्य करते हुए भी वे उसी के अधीन थे, अतएव वे मंत्रियों की रत्तीभर की अपेक्षा नहीं करते थे।

(7) बाह्य रूप से निर्माणकारी विभाग मंत्रियों को दे दिए गए थे, परन्तु उसके लिए प्राय: धन नहीं होता था। अतएव मंत्रियों को वित्त सदस्य के तलवे चाटने पड़ते थे और वित्त सदस्य आरक्षित विभागों की आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देता था और जब चाहे हस्तांतरित विभाग के कार्य में रोड़ा अटका सकता था।

इन सभी त्रुटियों के अतिरिक्त और भी कई रुकावटें थीं। पंजाब में भीषण घटनाओं के कारण सारा वातावरण ही दूषित हो गया था। वर्षा के अभाव में सूखा पड़ा तो दूसरी ओर मण्डी में अत्यधिक मन्दी आ गई। इससे सरकार की आय पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। मेस्टन निर्णय के अनुसार प्रांतों को केन्द्रीय कोष में धन देना होता था। केन्द्र अपना पूरा भाग बांटता था और इस कारण वित्तीय संकट आ गया जिससे प्रांतीय द्वैध शासन को पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिली।

समीक्षा

मुख्य रूप से इस ऐक्ट में तीन त्रुटियां थीं। पहली, यह कि केन्द्र में आंशिक रूप से भी उत्तरदायी सरकार नहीं थी। दूसरी, पृथक मताधिकार को सुदृढ़ किया गया और तीसरे, प्रांतों में द्वैध शासन को लागू करना, जिसे कार्यान्वित करना बहुत ही कठिन कार्य था। परन्तु फिर भी यह ऐक्ट इससे पूर्व की संवैधानिक परिस्थिति से निश्चय ही आगे बढ़ने वाला एक पग था। इसके द्वारा मताधिकार में कुछ उदारता आयी तथा सीधे चुनाव प्रारंभ हुए। इसके अतिरिक्त भारतीयों को एक नया अवसर मिला कि उनका राजनीतिक प्रशिक्षण हो तथा वे शासकीय कार्य को कुछ प्रभावित कर सकें।

आरंभ से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसे 'निराशाजनक तथा असंतोषप्रद' की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि प्रांतों में द्वैध शासन तभी सहन किया जा सकता है, यदि केन्द्र में भी इसे लागू किया जाय। कांग्रेस ने यह भी गारंटी मांगी की पूर्ण स्वायत्त शासन 15 वर्षों में लागू किया जाएगा। गारंटी न मिलने पर कांग्रेस ने 1920 में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया। 1923 में कांग्रेस के स्वराज दल ने चुनावों में भाग लिया ताकि संविधान को विधानमंडलों के अन्दर से तोड़ा जाए। पहला निर्वाचन 1920 में हुआ और द्वैध शासन 1921 से 1937 तक 9 प्रांतों में चलता रहा। केवल बंगाल में 1924 से 1927 तथा मध्य प्रांत में 1924 से 1926 तक निलम्बित रहा। यह ठीक है कि द्वैध शासन भद्दा, भ्रममय तथा जटिल था और इसका असफल होना निश्चित था। परन्तु इस प्रयोग को सर्वथा निष्फल नहीं कह सकते। लोकप्रिय मंत्रियों ने स्थानीय निकायों, शिक्षा तथा समाज सुधारों की ओर ध्यान दिया। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अंग्रेजो का यह कथन कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं, असत्य सिद्ध हो गया। यह संवैधानिक अनुभव उनके लिए बहुत ही लाभप्रद तथा प्रोत्साहन देने वाला था।

स्मरणीय तथ्य

- कांग्रेस के 1916 के प्रस्ताव में कहा गया था कि, "भारत पर शासन दिल्ली और शिमला से होना चाहिए न कि व्हाईटहाल तथा डाउनिंग स्ट्रीट से।"
- 1919 के अधिनियम द्वारा 'आंशिक उत्तरदायित्व' के सिद्धान्त को अपनाया गया।
- इस अधिनियम का जन्मदाता भारत सचिव मॉण्टेग्यू तथा भारतीय गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड थे।
- प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने यह घोषणा की थी कि, "सभी राष्ट्रों को अपना-अपना भाग्य निर्णय करने का अधिकार होगा।" मित्र राष्ट्रों ने भी ऐलान किया कि "वे निजी स्वार्थों के लिए युद्ध नहीं लड़ रहे हैं, अपितु संसार के जनतंत्र की रक्षा के लिए ही उन्होंने युद्ध में प्रवेश किया है।"
- विलियम ड्यूक, जो बंगाल का भूतपूर्व लेफ्टिनेंट गवर्नर तथा भारतीय परिषद का सदस्य था, ने 1915 में अपनी याचना पत्र में प्रांतों में द्वैध शासन लागू करने का सुझाव दिया था।
- *'मॉटेग्यू की घोषणा'* 20 अगस्त, 1917 को लोकसभा में दी गयी, इसे *'अगस्त घोषणा'* (August Declaration) भी कहते हैं। "सम्राट सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार पूर्णत: सहमत है, यह है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली की धीरे-धीरे विकास हो, जिससे कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में रहे।"
- अधिनियम के स्मरणीय उपबंध:

(1) भारत राज्य सचिव का वेतन अब अंग्रेजी राजस्व से
(2) एक नये पदाधिकारी *'भारतीय उच्च आयुक्त'* की नियुक्ति
(3) विषयों का केन्द्र तथा प्रांतों के मध्य बंटवारा
(4) केन्द्र में द्विसदनीय व्यवस्था की स्थापना- राज्य परिषद तथा केन्द्रीय विधान परिषद दोनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत।
(5) प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(6) प्रांतीय परिषदों को अब विधान परिषदों की संज्ञा दी गई। प्रांतीय विधान परिषदों की चुनाव की विधि प्रत्यक्ष (direct) थी।

- द्वैध शासन प्रणाली के अर्न्तगत 1920 में चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस के स्वराज दल ने हिस्सा लिया। यह प्रणाली पहली अप्रैल, 1921 से पहली अप्रैल, 1927 तक चलती रही। यद्यपि बंगाल और मध्य प्रांत में यह कुछ वर्ष निलम्बित रही।
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसे 'निराशाजनक तथा असंतोषप्रद' की संज्ञा दी।
- मुख्य रूप से इस ऐक्ट की तीन त्रुटियां थीं:

(1) केन्द्र में आंशिक रूप से भी उत्तरदायी सरकार नहीं।
(2) पृथक मताधिकार को सुदृढ़ किया जाना।
(3) प्रांतों में द्वैध शासन को लागू करना।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत सरकार अधिनियम, (1935 ई.)

सरकार द्वारा पारित 1935 का अधिनियम एक व्यापक दस्तावेज था। इसके द्वारा भारत में एक संघ बनाने की योजना बनायी गयी। गृह शासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई। वायसराय या गवर्नर जनरल को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। केन्द्र के ही समान प्रांतों में भी द्विसदनात्मक विधान मंडलों की रचना हुई, हालांकि कुछ प्रांतों में एक ही सदन रखा गया। मतदान का सीमित अधिकार दिया गया। प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान की गयी, देशी रियासतों को यह अधिकार दिया गया कि अगर वे चाहें तो भारतीय संघ में सम्मिलित हों। मूलत: ये सारे सुधार भारतीयों को ऊपरी तौर पर संतुष्ट करने के लिए किये गये थे, फलत: इन सुधारों पर भारतीयों की विभिन्न प्रतिक्रियाएं हुई।

अधिनियम के पारित होने की परिस्थितियां

कांग्रेस ने 1919 के मॉन्टफोर्ड सुधारों को "अपर्याप्त, असंतोषजनक तथा निराशापूर्ण" बताया। इसने दिसम्बर 1921 में असहयोग आन्दोलन आरंभ किया जिसमें केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों का बहिष्कार भी सम्मिलित था। यद्यपि 1922 में असहयोग आन्दोलन की वापसी के बाद कांग्रेस के स्वराज दल ने 1923 के चुनाव में हिस्सा लिया तथापि वे चुनाव में हिस्सा विधान मंडलों को अंदर से तोड़ने के लिए लिये। इस प्रकार 1919 के सुधारों को आरंभ से ही विरोधों का सामना करना पड़ा।

स्वराज दल के कार्य : आगे चलकर 1919 के ऐक्ट का विरोध बढ़ता ही गया। उदारवादी लोग भी, जो सदैव सरकार को सहयोग देने के लिए तैयार रहते थे, इन सुधारों को अपर्याप्त और असंतोषजनक मानने लगे। कुछ कांग्रेसी नेताओं ने, जिनमें मोती लाल नेहरू और सी.आर.दास प्रमुख थे, स्वराज दल की नींव रखी। स्वराज दल का उद्देश्य था कि विधान मंडलों में जाकर संविधान को नष्ट करो। ऐसा करो कि सभा और परिषदों द्वारा सरकार चलाना असंभव हो जाए। 1923 के चुनाव में स्वराज दल को बंगाल और मध्य प्रांत में पूर्ण बहुमत मिला और कई प्रांतों में यह सबसे बड़े दल के रूप में सामने आया। अपने चातुर्य से उन्होंने सरकार के पाखंड का भंडाफोड़ कर डाला।

साइमन आयोग (1927-30) : ब्रिटिश सरकार ने 1919 के अधिनियम को पारित करते समय यह घोषणा की थी कि वे 10 वर्ष के पश्चात इन सुधारों की समीक्षा करेंगे। परन्तु उन्होंने नवम्बर 1927 में ही सर साइमन की अध्यक्षता में इसकी समीक्षा के लिए एक आयोग नियुक्त कर दिया। कुछ लोगों का विचार है कि यह शीघ्रता कांग्रेस के आन्दोलन के कारण हुई और दूसरी ओर यह विचार है कि लार्ड बर्केनहैड का रूढ़िवादी दल यह नहीं चाहता था कि यह आयोग उदारवादी सरकार, जो संभवत: नये चुनाव में सत्तारूढ़ होगी, बनाए। साइमन आयोग रिपोर्ट जो 1930 में प्रकाशित हुई उसके मुख्य सुझाव निम्न थे:

(1) प्रांतीय क्षेत्र में सभी क्षेत्रों में उत्तरदायी सरकार गठित की जाए।
(2) केन्द्र में उत्तरदायी सरकार के गठन का समय अभी नहीं आया है।
(3) केन्द्रीय विधान मंडल को पुनर्गठित किया जाए जिसमें संघीय भावना हो और सदस्य परोक्ष (indirect) पद्धति से प्रांतीय विधान मंडलों द्वारा चुने जायें।

नेहरू रिपोर्ट-1928 : सभी भारतीय राजनीतिक दलों ने सर्वदलीय सभा बुलायी, जिसमें पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नियुक्त एक समिति ने भारतीय संविधान का सर्वअनुमोदित रूप प्रस्तुत किया। नेहरू कमेटी के मुख्य सुझाव थे-सांप्रदायिक चुनाव पद्धति को त्यागकर अल्पसंख्यकों के लिए जनसंख्या के आधार पर आरक्षण, एक इकाई वाला संविधान समस्त भारत के लिए तथा प्रांतों में पूर्ण प्रादेशिक स्वायत्तता/मुस्लिम लीग ने भी जिन्ना द्वारा प्रतिपादित 14 सूत्र में अपने आरक्षण प्रस्तुत किये।

लार्ड इर्विन की घोषणा-1929 : अक्टूबर 1929 में लार्ड इर्विन ने रैम्जे मैकडोनल्ड की नवगठित सरकार से मंत्रणा करने के पश्चात यह घोषणा की कि, "भारत की उन्नति का अंतिम चरण *'डोमिनियन स्टेटस'* प्राप्त करना है।" इसके अतिरिक्त यह भी घोषणा की कि इंग्लैंड में एक गोलमेज कांफ्रेन्स में विवेचना की जाएगी जिसमें अंग्रेजी सरकार, भारतीय अंग्रेजी प्रदेश, तथा भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि भाग लेंगे।

गोलमेज कांफ्रेस (1930-32) : गोल मेज कांफ्रेन्स जो क्रमश: 1930, 1931 तथा 1932 में हुए। कांग्रेस उस समय सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला रहा था, गांधी-इर्विन पैक्ट के बाद सिर्फ दूसरे सम्मेलन में भाग लिया। कांग्रेस का प्रतिनिधित्व गांधी जी द्वारा किया गया। इन कांफ्रेन्सों में जिन मुद्दों पर सहमति हुई वे निम्न हैं:

(1) भारत की नयी सरकार का रूप अखिल भारतीय संघ होना चाहिए।
(2) संघीय सरकार कुछ आरक्षणों के साथ, विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी हो।
(3) यदि भारतीय प्रतिनिधि मंडल सांप्रदायिक उलझन को न सुलझा सकें, तो प्रांतों को प्रांतीय स्वशासन मिलना चाहिए।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अलग निर्वाचक मंडलों को बनाए रखा और फिर 1932 में अपना प्रसिद्ध सांप्रदायिक निर्णय (Communal Award) घोषित किया जिसके अनुसार प्रांतीय तथा केन्द्रीय विधान मंडलों में सीटों का विभाजन सांप्रदायिक अनुपात से करने का प्रयत्न किया गया। सबसे प्रमुख बात यह थी कि अनुसूचित जातियों को भी भिन्न संप्रदाय मानकर आरक्षित स्थान दिए गए। महात्मा गांधी ने इस अन्याय को रद्द करवाने के लिए आमरण अनशन रखा और अन्त

CHRONICLE IAS ACADEMY

में पूना समझौता के अनुसार इसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया। अर्थात अनुसूचित जातियों के लिए हिन्दू समुदाय के अन्तर्गत सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गयी।

अधिनियम के मुख्य उपबंध : 1935 का भारत शासन अधिनियम बहुत लम्बा और जटिल था। अधिनियम में 451 धाराएं और 15 परिशिष्ट थे। अधिनियम के इतने लम्बे और पेचीदा होने का मूल कारण यह था कि एक ओर तो भारत में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण भारत के लोगों को सत्ता का पर्याप्त हस्तांतरण आवश्यक हो गया था, दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार शक्ति हस्तांतरण के साथ-साथ अपने हितों की रक्षा की पूरी व्यवस्था कर लेना चाहती थी। इस अधिनियम के लिए निम्नलिखित मसविदों की सहायता ली गयी-

(1) साइमन आयोग रिपोर्ट
(2) सर्वदलीय कांफ्रेन्स (नेहरू समिति) रिपोर्ट एवं जिन्ना का 14 सूत्र
(3) तीनों गोलमेज कांफ्रेन्स में हुए वाद-विवाद
(4) श्वेत पत्र
(5) संयुक्त प्रवर समिति रिपोर्ट
(6) लोथियन रिपोर्ट जिसमें चुनाव संबंधी प्रावधानों का विवरण था।

इस अधिनियम के तीन प्रमुख अंग हैं:

(i) अखिल भारतीय संघ
(ii) संरक्षणों सहित उत्तरदायी सरकार
(iii) भिन्न-भिन्न सांप्रदायिक तथा अन्य वर्गों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व

संघीय ढांचा
(The Federal Structure)

(1) प्रस्तावित संघ : 1935 के अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ की स्थापना की जाय। यह संघ 11 ब्रिटिश प्रांतों, 6 चीफ कमिश्नर के क्षेत्रों और उन देशी रियासतों से मिलकर बनना था, जो संघ में सम्मिलित होना स्वीकार करे। प्रस्तावित संघ में भारतीय प्रांतों तथा चीफ कमिश्नर (मुख्य आयुक्त) के प्रांतों को सम्मिलित होना अनिवार्य था, परन्तु भारतीय रियासतों का संघ में शामिल होना उनकी इच्छा पर निर्भर था। इसलिए संघ उस समय तक अस्तित्व में नहीं आ सकता था जब तक कि-

(1) कम से कम समस्त देशी रियासतों की कुल जनसंख्या की आधी जनसंख्या, की देशी रियासतों के शासक सम्मिलित न हों।
(2) संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में, देशी रियासतों के लिए निर्धारित 104 स्थानों में कम से कम 52 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार सम्मिलित न हो।
(3) जिन शर्तों पर ये रियासतें सम्मिलित होती थीं वे भी सब प्रवेश पत्र (Instrument of Accession) में लिख दी जाती थीं। चूंकि यह नहीं हुआ, अत: संघ अस्तित्व में नहीं आया।

(2) संघीय कार्यकारिणी में द्वैध शासन : जिस द्वैध शासन को साइमन आयोग ने प्रांतों में अवांछनीय बताया था वह केन्द्रीय कार्यकारिणी के लिए निश्चित किया गया। संघीय विषयों में से रक्षा, विदेशी मामले, धार्मिक मामले तथा जनजाति-क्षेत्र गवर्नर जनरल के हाथ में सुरक्षित रखे गये, जिनका प्रशासन वह अधिकाधिक तीन कार्यकारी पार्षदों की सहायता से चलाएगा। जो वह स्वयं मनोनीत करेगा और जो केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होगा।

शेष संघीय विभाग गवर्नर जनरल अधिकाधिक 10 मंत्रियों की सहायता से चलाएगा और ये मंत्री संघीय विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होंगे।

इसके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे भी थे जिसके लिए गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व थे, जैसे कि देश की शांति को खतरा इत्यादि, जिसमें वह मंत्रियों की मंत्रणा स्वीकार करने को बाध्य नहीं था।

(3) गवर्नर जनरल की शक्तियां : केन्द्र में गवर्नर ही समस्त संविधान का केन्द्र बिन्दु था। वह भिन्न-भिन्न तथा प्राय: विरोधी तत्वों को एक सूत्र में बांधने वाला तथा उन्हें दिशा दिखलाने वाला व्यक्ति था। उसकी तीन मुख्य भूमिका थी।

(क) उसे प्राय: मंत्रियों के परामर्श से ही कार्य करना होता था।
(ख) उसे कुछ विषयों में व्यक्तिगत निर्णय लेने का भी अधिकार था, जिसमें वह मंत्रियों के परामर्श स्वीकार करे या न करे। जिन विषयों में वह व्यक्तिगत निर्णय ले सकता था, वे थे-

(i) देश की वित्तीय स्थिति और साख की रक्षा करना।
(ii) भारत या उसके किसी भाग की शांति की रक्षा।
(iii) अल्पसंख्यकों एवं सरकारी सेवकों के हितों की रक्षा।
(iv) अंग्रेजी और बर्मी माल के विरुद्ध किसी भेदभाव से रक्षा करना।
(v) भारतीय राजाओं के हितों तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करना।
(vi) अपनी विवेकाधीन शक्तियों की रक्षा करना इत्यादि।

(ग) तीसरी भूमिका में वह कुछ विषयों में अपने मंत्रियों को पूछे बिना अपने विवेकाधीन शक्ति से कोई भी कार्य कर सकता था। ये विषय थे-

(i) रक्षा, विदेशी मामले, धार्मिक मामले तथा जनजाति क्षेत्र, जिसके लिए उसे अधिकाधिक तीन कार्यकारी पार्षद नियुक्त करने थे।
(ii) मंत्रिपरिषद की नियुक्ति तथा उसे भंग करना।
(iii) अधिनियम बनाने तथा अध्यादेश जारी करने की शक्ति।
(iv) ऐसे मदों का नियंत्रण जिन पर मतदान नहीं हो सकता था जो कि बजट का 80% था।
(v) गवर्नरों को आदेश देना जो उसके विशेष उत्तरदायित्व थे।
(vi) दोनों सदनों की संयुक्त बैठक, विधान मंडल को दिया जाने वाला भाषण अथवा उसको मिली विधेयक के विषय में संदेश भेजना।
(vii) विशेष प्रकार के विधेयकों को केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों में प्रस्तुत करने के पूर्व स्वीकृति प्रदान करना अथवा किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति प्रदान न करके उसे महामहिम सम्राट की स्वीकृति के लिए भेजना इत्यादि।

(4) संघीय विधान मंडल : यह भी द्विसदनीय होना था, राज्य परिषद (Council of States) और संघीय सभा (Federal Assembly)।

राज्य परिषद एक स्थायी सभा थी और उसके 1/3 सदस्य प्रत्येक तीन वर्ष के पश्चात चुने जाने थे। इसमें 260 सदस्य होने थे, जिनमें 156 प्रांतों से चुने हुए प्रतिनिधि और अधिकाधिक 104 रियासतों के प्रतिनिधि होने थे, जिन्हें सम्बद्ध राजाओं को मनोनीत करना था।

संघीय सभा जिसकी अवधि 5 वर्ष थी इसमें 375 सदस्य होने थे, जिनमें प्रांतों के 250 सदस्य तथा रियासतों के अधिकाधिक 125 सदस्य होने थे।

अंग्रेजी प्रांतों के सदस्य प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा चुने जाने थे और रियासतों के सदस्य राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाने थे।

इस संबंध में यह स्मरण रहे कि यह एक विचित्र व्यवस्था थी और लोकतंत्र की साधारण रीति के विपरीत थी कि ऊपरी सदन का चुनाव सीधा मतदाताओं द्वारा किया जाए और निम्न सदन-जो कि अधिक महत्वपूर्ण था, उसका चुनाव अप्रत्यक्ष हो। इसी प्रकार राजाओं

CHRONICLE IAS ACADEMY

को ऊपरी सदन के 40 प्रतिशत और निम्न सदन के 33 प्रतिशत सदस्य मनोनीत करने थे।

इसी प्रकार विषयों का बंटवारा किया गया। केन्द्रीय सूची, प्रांतीय सूची और समवर्ती सूची बनाई गई। केन्द्र केन्द्रीय विषय पर समस्त भारत के लिए कानून बना सकता था और प्रांत प्रांतीय विषयों पर। समवर्ती सूची में दोनों को कानून बनाने की स्वतंत्रता थी, मगर मतभेद की स्थिति में केन्द्रीय कानून ही मान्य होते। अवशिष्ट विधान शक्तियां गवर्नर जनरल में केन्द्रित थी।

इसी प्रकार विधान मंडल की शक्तियां भी सीमित थीं। कुछ विशेष विषय उसकी परिधि से दूर रखे गये थे। उदाहरण के लिए अंग्रेजों के व्यापारिक एवं अन्य हितों के विरुद्ध कानून बनाने की मनाही थी इत्यादि। संघीय बजट का 80 प्रतिशत ऐसा धन था जिस पर विधान मंडल, मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता था और यदि कोई ऐसा मद हो जिसको विधान सभा ने अस्वीकार कर दिया हो, तो भी गवर्नर जनरल यदि चाहे तो उसे वह राज्य परिषद के सम्मुख रख सकता था। यदि दोनों सदनों में असहमति हो तो गवर्नर जनरल दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता था और कोई विधेयक स्वीकृत भी हो जाए तो भी गवर्नर जनरल अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकता था अथवा उसे पुनर्विचार के लिए भेज सकता था अथवा सम्राट के समक्ष विचार के लिए रख सकता था। गवर्नर जनरल के अपने स्वीकृत अधिनियमों को भी सपरिषद सम्राट (King in Council) अस्वीकार कर सकता था। इस प्रकार भारतीय संघीय विधान मंडल को प्रभुसत्ता सम्पन्न विधान मंडल बनाने का कोई विचार नहीं था। यह भारतीय संविधान में संशोधन नहीं कर सकता था। यह अधिकार केवल ब्रिटिश संसद के पास रहा।

प्रांतीय स्वायत्तता
(Provincial Autonomy)

(1) प्रांतीय कार्यकारिणी : बाह्य रूप से प्रांतों को स्वायत्तता दे दी गयी थी, परन्तु वास्तव में समस्त कार्यकारी शक्तियां गवर्नर के पास थीं। उसे भी लगभग गवर्नर जनरल जैसी ही शक्तियां मिली थीं।

प्रांत का समस्त कार्य गवर्नर जनरल को चुने हुए सदस्यों में से बनाये गये मंत्रिमंडल की सहायता से चलाना होता था। यह मंत्रिमंडल भी गवर्नर की इच्छा से ही अपने पद पर बना रह सकता था और इस प्रकार से उसे गवर्नर तथा विधान सभा के प्रति दोहरा उत्तरदायित्व निभाना होता था। गवर्नर जनरल की भांति न केवल वैधानिक मुखिया के रूप में मंत्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करता था बल्कि कुछ विषयों में उसका विशेष उत्तरदायित्व भी था। गवर्नर अपने *'व्यक्तिगत निर्णय'* और अपनी *'विवेकाधीन शक्तियों'* के अनुसार भी कार्य कर सकता था। किस प्रश्न पर उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय अथवा विवेकाधीन शक्तियों के अनुसार कार्य करना है, उसका निर्णय भी वह स्वयं विवेकाधीन शक्तियों से ही करेगा अर्थात हम कह सकते हैं कि *"मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व"* की व्याख्या वही थी जो गवर्नर कर ले। चाहे तो समस्त भार मंत्रियों पर डाल दे और चाहे तो अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करके समस्त शक्ति अपने पास रख ले।

गवर्नर के पास बहुत सी शक्ति थी जिनमें बजट का लगभग 40 प्रतिशत भाग जिस पर मतदान नहीं हो सकता था, उस पर नियंत्रण और बहुत से कानून बनाने की शक्तियां सम्मिलित थीं। वह मंत्रियों को पदच्युत कर सकता था और गवर्नरों ने ऐसा किया भी। यदि वह अनुभव करे कि प्रांत का प्रशासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, तो वह प्रांत का शासन पूर्णतया अपने हाथ में ले सकता था। इससे यह लगता है कि गवर्नर और गवर्नर जनरल की विवेकाधीन शक्तियों और उनके विशेष उत्तरदायित्व ऐसे थे कि जिनसे उत्तरदायी सरकार तो केवल नाममात्र को रह जाती थी। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस अधिनियम के अनुसार मंत्रियों की स्थिति 1919 के अधिनियम से अधिक अच्छी थी। प्रांतों में अब कोई आरक्षित विभाग नहीं थे। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री के सुझाव पर ही होती थी और उसे विधान सभा का विश्वास प्राप्त होता था। गवर्नर को यह देखना होता था कि अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व मिले। वास्तविक व्यवहार में हम देखते हैं कि मंत्रियों तथा गवर्नर के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर होता था।

(2) प्रांतीय विधान मंडल : प्रांतीय विधान मंडलों की आकार तथा रचना अलग-अलग प्रांतों में भिन्न-भिन्न थी। कुछ प्रांतों में द्विसदनीय व्यवस्था भी थी। उच्च सदन को विधान परिषद कहते थे और उनके कुछ सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जाते थे।

विधान परिषदों का उपबंध 6 प्रांतों के लिए था। विधान परिषद की सदस्य संख्या बंगाल में 75, मद्रास में 56, संयुक्त प्रांत में 60, बम्बई और बिहार में 30, और असम में 22 थी।

विधान सभाओं में स्थानों की संख्या इस प्रकार थी- असम-108, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत 50, उड़ीसा तथा सिन्ध में 60, मध्य प्रांत-112, बिहार-152 पंजाब और बम्बई में-175, मद्रास-215, संयुक्त प्रांत-228 तथा बंगाल में 250।

(3) सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व : इस अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि सांप्रदायिक तथा अन्य वर्गों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया। इस प्रकार साधारण, मुस्लिम, यूरोपीय, ऐंग्लो इण्डियन, भारतीय इसाई और सिख के लिए भिन्न-भिन्न मतदाता मण्डल बनाये गये। जहां इन अल्पसंख्यकों के लिए स्थान नहीं थे अथवा वे पृथक निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता नहीं थे, उन्हें साधारण निर्वाचन क्षेत्र में मतदान देने का अधिकार था। साधारण स्थानों में से कुछ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित थे। उन निर्वाचन क्षेत्रों में एक और भी व्यवस्था अपनायी गई। वहां अनुसूचित जातियों के मतदाता, चार प्रत्याशियों का निर्वाचन करते थे और फिर वे चारों प्रत्याशी साधारण निर्वाचन क्षेत्र से खड़े होते थे और साधारण तथा अनुसूचित मतदाता मिलकर उनमें से किसी एक का निर्वाचन करते थे। असम को छोड़ शेष प्रदेशों में भिन्न-भिन्न जातियों के लिए भी स्थान नियत किये गये। इसी प्रकार श्रमिकों, भूमिपतियों और वाणिज्य और उद्योग के लिए भी पृथक-पृथक स्थान थे। इस व्यवस्था ने न सिर्फ लोगों को बांटा बल्कि आगे चलकर देश को भी बांट दिया।

इस अधिनियम की अन्य धाराएं

(I) इस अधिनियम के अनुसार एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गयी जिसको संविधान की व्याख्या का प्राथमिक (original) तथा पुनर्विचार (appellate) अधिकार क्षेत्र दिया गया था। अंतिम निर्णय देने का अधिकार इसके पास नहीं बल्कि प्रिवी कौंसिल को था।

(II) यह नया संविधान अनम्य (rigid) था। इसमें संशोधन का अधिकार केवल ब्रिटिश संसद को ही था। भारतीय विधान मंडल केवल प्रस्ताव द्वारा संविधान संशोधन का विचार प्रकट कर सकता था।

(III) यद्यपि प्रांतीय स्वायत्तता और केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार द्वारा गृह सरकार का भारत पर नियंत्रण कम हो गया था, परन्तु जहां गवर्नर जनरल और गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेकाधीन शक्तियों के अनुसार कार्य करता था तो वह सीधे भारत राज्य सचिव के प्रति उत्तरदायी था।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(IV) उन विषयों के अतिरिक्त जो भारतीय रियासतें अपने प्रवेश पत्र द्वारा संघ को दे दे, रियासतों के क्राउन के प्रति शेष सभी उत्तरदायित्व उसी प्रकार बने रहे और इन सबको क्राउन के प्रतिनिधि गवर्नर जनरल के प्रति निभाने पर बाध्य थी।

(V) भारत राज्य सचिव की परिषद समाप्त कर दी गई और उसे मंत्रणा देने के लिए कुछ परामर्शदाता दे दिये गये। परन्तु वह उसका परामर्श मानने को बाध्य नहीं था। इस परिषद को समाप्त करने का एक कारण यह था कि भारत का लोकमत इस परिषद का कड़ा विरोध करता था।

(VI) इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से पृथक कर दिया गया। अदन को भारत सरकार के निर्णय से मुक्त करके इंग्लैंड के औपनिवेशिक कार्यालय के अधीन कर दिया गया। यद्यपि बरार के ऊपर हैदराबाद के निजाम की नाममात्र की सत्ता स्वीकार कर ली गई, परन्तु उसको शासन की दृष्टि से मध्य प्रांत का अंग बना दिया गया।

मूल्यांकन : जवाहर लाल नेहरू ने इस अधिनियम के संबंध में बिल्कुल ठीक ही कहा था कि *"यह अधिनियम तो दासता का घोषणा पत्र है।"* वस्तुत: यह एक ऐसा अधिनियम था जिसने भारतीयों को शक्ति देने के बदले सम्पूर्ण शक्ति अंग्रेजों के हाथ में ही रखी थी। इसमें प्रस्तावित संघ की रूपरेखा ऐसी बनायी गयी है कि किसी भी प्रकार का वास्तविक विकास असंभव हो जाए। 1935 के अधिनियम में जिस अखिल भारतीय संघ का प्रस्ताव किया गया था, यद्यपि उसमें संघ के सभी आधारभूत लक्षण जैसे शक्तियों का विभाजन, लिखित और कठोर संविधान एवं निष्पक्ष न्यायिक सत्ता की स्थापना विद्यमान थे, लेकिन इसके साथ ही इसमें कुछ ऐसे गंभीर दोष थे जिनके कारण यह स्वीकार्य नहीं हो सकता था। संघ में आकार, जनसंख्या, महत्व और राजनीतिक प्रणाली की दृष्टि से नितान्त भिन्न प्रकार की इकाइयों के मेल का प्रयत्न किया गया था। भारतीय व्यवस्थापिका को विधान में संशोधन करने का अधिकार नहीं था और इससे भी अधिक आपत्तिजनक बात यह थी कि अवशेष शक्तियां गवर्नर के पास थीं।

प्रांतीय व्यवस्थापिका के सभी सदस्य निर्वाचित होते थे और कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था। मताधिकार का भी विस्तार किया गया था। लेकिन वास्तव में यह सब एक भ्रम मात्र था। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के व्यापक व विशेष उत्तदायित्वों के कारण प्रांतीय स्वशासन एक मजाक बनकर रह गया था। प्रांतीय शासन की वास्तविक धुरी मुख्यमंत्री नहीं वरन सम्राट द्वारा नियुक्त और उसका प्रतिनिधि गवर्नर ही था। उपर्युक्त कारणों से ही पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसे, "अनैच्छिक, अप्रजातांत्रिक और अराष्ट्रवादी" संविधान की संज्ञा दी तथा इस ऐक्ट को, "अनेक ब्रेकों वाली मगर इंजन रहित" मशीन की संज्ञा दी। बंगाल के मुख्यमंत्री फज़ल उल् हक ने कहा कि, "न तो यह हिन्दू राज है और न ही मुस्लिम राज है।" यद्यपि यह बात नितांत स्पष्ट हो गई थी कि सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली भारत के लिए अहितकर है और सबने एक स्वर से इसकी निंदा की थी, फिर भी न केवल इसको कायम रखा गया बल्कि इसका विस्तार भी किया गया।

इस अधिनियम में नवीन संविधान के स्वविकसित होने या भारतीयों द्वारा अपने भाग्य का निर्णय करने का कोई प्रबंध नहीं था। यह अधिनियम ब्रिटिश संसद ने बनाया था और भारत की आगे की प्रगति का निर्णायक भी ब्रिटिश संसद ही थी। अधिनियम के द्वारा भारत पर ब्रिटिश संसद या भारत मंत्री के नियंत्रण में भी कोई कमी नहीं की गयी। मि. एटली ने ठीक ही कहा था कि, "अधिनियम में भारत के भविष्य की राजनीतिक प्रगति का कोई कार्यक्रम नहीं हैं।"

1935 के अधिनियम का क्रियान्वयन : भारत सरकार अधिनियम को अगस्त 1935 में सम्राट की स्वीकृति मिल गयी। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि संघ को क्रियान्वित न करके प्रांतीय स्वायत्तता को 1 अप्रैल, 1937 से लागू कर दिया जाएगा। वास्तव में संघ तो अस्तित्व में आया ही नहीं, अत: केन्द्रीय सरकार 1919 की धाराओं के अनुसार चलती रही। चुनाव की कार्यविधि 3 जुलाई, 1936 को आरंभ हो गयी और 1 अप्रैल, 1937 को प्रांतीय स्वायत्तता लागू कर दी गयी। संघीय बैंक और संघीय न्यायालय क्रमश: 1935 और 1937 में स्थापित कर दिये गये।

1936-37 के प्रथम चुनावों में कांग्रेस को पांच प्रांतों (मद्रास, मध्य प्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार तथा उड़ीसा) में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया। बम्बई में भी यह अन्य दलों के साथ मिलकर बहुमत में आ गई तथा असम में यह सबसे बड़े दल के रूप में समाने आई। कांग्रेस केन्द्रीय समिति ने इसमें प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने से मनाही कर दी, क्योंकि वे आश्वासन चाहते थे कि गवर्नर दैनिक कार्यों में हस्तेक्षप नहीं करेंगे। तीन माह बाद वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो का आश्वासन मिलने पर कांग्रेस ने, पंजाब, बंगाल, सिंध और असम को छोड़ शेष 7 प्रांतों में सरकारें बनायीं। मुस्लिम लीग ने इसी बीच कांग्रेस के विरुद्ध प्रचण्ड प्रचार किया कि मुसलमानों का हित कांग्रेस के हाथों में सुरक्षित नहीं है।

अक्टूबर 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने भारत को द्वितीय विश्व युद्ध में बिना सहमति घसीट लिए जाने के विरोध में त्याग पत्र दे दिये। उन्हें यह भी शिकायत थी कि अंग्रेजों ने अपने युद्ध के उद्देश्य, जिसमें भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता देनी होगी, स्पष्ट नहीं किये हैं। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र देने पर गवर्नरों ने प्रशासन अपने हाथ में ले लिए और यह व्यवस्था 1946 तक बनी रही।

उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत तथा असम में लीग मंत्रिमंडल स्थापित हुआ जहां 1945 और 1946 में कांग्रेस शक्ति में आ गयी। उड़ीसा में एक मिला-जुला मंत्रिमंडल बनाया गया। सिन्ध और बंगाल में लीग मंत्रिमंडलों की स्थिति दृढ़ हो गई, परन्तु पंजाब में संघीय दल (Unionist Party) का राज चलता रहा और 1946 में कांग्रेस सिक्खों तथा संघीय दल का संयुक्त मंत्रिमंडल बन गया।

स्मरणीय तथ्य

- 1923 के चुनाव में स्वराज दल को बम्बई और मध्य प्रांत में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ।
- साइमन आयोग की नियुक्ति लॉर्ड बर्केनहैड की रूढ़िवादी दल द्वारा की गयी थी।
- लॉर्ड इर्विन की घोषणा 1929- "भारत की उन्नति का अंतिम चरण डोमिनियन स्टेटस प्राप्त करना है।"
- गोलमेज कांफ्रेन्स 1930, 31 तथा 32 में हुए। कांग्रेस ने सिर्फ दूसरे (1931) में भाग लिया। जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि गांधी जी थे।
- सांप्रदायिक घोषणा (Communal Award) रैम्से मैकडोनल्ड द्वारा की गई थी, जिसमें अनुसूचित जातियों को हिन्दुओं से भिन्न

CHRONICLE IAS ACADEMY

संप्रदाय मानकर आरक्षित स्थान दिये गये थे। पूना समझौता के द्वारा इसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया।

- 1935 के अधिनियम में 451 धाराएं तथा 15 परिशिष्ट थे। इस अधिनियम के मुख्य उपबंध निम्न हैं:

1. भारतीय संघ का प्रस्ताव
2. संघीय कार्यकारिणी में द्वैध शासन
3. संघीय विधानमंडल द्विसदनीय-राज्य परिषद और संघीय सभा
4. विषयों का बंटवारा-केन्द्रीय सूची, प्रांतीय सूची और समवर्ती सूची
5. प्रांतीय स्वायत्तता
6. कुछ प्रान्तों में द्विसदनीय विधान मंडल-विधान परिषद् तथा विधान सभा
7. सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का और विस्तार
8. संघीय न्यायालय की स्थापना
9. भारत राज्य सचिव की परिषद की समाप्ति
10. बर्मा को भारत सरकार से पृथक तथा अदन को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया।

- प्रांतों में द्विसदनीय विधान मंडल 6 प्रांतों में था। वे थे- बंगाल, मद्रास, संयुक्त प्रांत, बम्बई, बिहार और असम।
- जवाहरलाल नेहरू की उक्तियां-*"यह अधिनियम तो दासता का घोषणा पत्र है।"* उन्होंने इस ऐक्ट को *"अनेक ब्रेकों वाली मगर इन्जन रहित"* मशीन की संज्ञा दी।

"अधिनियम में भारत के भविष्य की राजनीतिक प्रगति का कोई कार्यक्रम नहीं है।" *–एटली*

- प्रांतीय स्वायत्तता को 1 अप्रैल, 1937 से लागू कर दिया गया।
- संघ अस्तित्व में नहीं आया तथा केन्द्रीय सरकार 1919 के अधिनियम के अनुसार चलती रही।
- संघीय बैंक और संघीय न्यायालय क्रमशः 1935 तथा 1937 में अस्तित्व में आये।
- 1936 तथा 37 के प्रथम चुनावों में कांग्रेस को पांच प्रांतों (मद्रास, मध्य प्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार एवं उड़ीसा) में बहुमत मिला तथा बम्बई और असम में यह सबसे बड़े दल के रूप में उभरकर सामने आया।
- कांग्रेस ने पंजाब, बंगाल, सिन्ध और असम को छोड़ शेष 7 प्रांतों में सरकारें बनायी।
- अक्टूबर 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने भारत को बिना सहमति द्वितीय विश्व युद्ध में घसीट लिए जाने के विरोध में त्याग पत्र दे दिया।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

राष्ट्रीय आंदोलन में अन्य विचारधाराएं

क्रांतिकारी आन्दोलन

20वीं शताब्दी के पूर्वाह्न में भारत में उग्रवाद के साथ-साथ उग्र क्रांतिवाद का भी विकास हुआ। क्रांतिकारी आन्दोलन के उत्थान के मुख्यत: वही कारण थे, जिनसे राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद का उदय हुआ। उग्र राष्ट्रवादियों का ही एक दल क्रांतिकारी के रूप में उभरा। भेद केवल यह था कि उग्र क्रान्तिकारी अधिक शीघ्र परिणाम चाहते थे। यद्यपि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में क्रांतिकारियों के राजनैतिक दर्शन को निश्चित रूप से वर्णन करना संभव नहीं, परन्तु उन सबका एक ही उद्देश्य मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराना था। साधनों के विषय में उनका विश्वास था कि पाश्चात्य साम्राज्यवाद को केवल पश्चिमी हिंसक साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है। इसलिए इन लोगों ने बन्दूक तथा पिस्तौल का प्रयोग किया। उन्होंने आयरलैंड से प्रेरणा प्राप्त की। यह आन्दोलन दो चरणों में हुआ- प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व और फिर उसके पश्चात। क्रांतिकारियों ने अपने गुप्त संगठन बनाये, हथियार एकत्र किये, सरकारी खजानों को लूटा तथा बदनाम अंग्रेज अफसरों और देशद्रोहियों की हत्याएं की। इनकी गतिविधियां सबसे अधिक तेज महाराष्ट्र, बंगाल और पंजाब में थी। देश के अन्य भागों एवं विदेशों में भी क्रांतिकारी संगठन बनाये गये थे।

क्रान्तिकारियों की कार्य-प्रणाली : क्रन्तिकारियों का मानना था कि 'अंग्रेजी शासन पाशविक बल पर स्थित है और यदि हम अपने आपको स्वतंत्र करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करते हैं तो यह उचित ही है। उनका संदेश था: 'तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो।' उनकी कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें शामिल थीं :

(i) पत्रों की सहायता से प्रचार द्वारा शिक्षित लोगों के मष्तिष्क में दासता के प्रति घृणा उत्पन्न करना।
(ii) संगीत, नाटक एवं साहित्य के द्वारा बेकारी और भूख से त्रस्त लोगों को निडर बनाकर उनमें मातृभूमि और स्वतंत्रता का प्रेम भरना।
(iii) बम बनाना, बंदूक आदि चोरी से उपलब्ध करना तथा विदेशों से शस्त्र प्राप्त करना।
(iv) चन्दा, दान तथा क्रांतिकारी डकैतियों द्वारा व्यय के लिए धन का प्रबंध करना।

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी अभियान : आतंकवाद की लहर सबसे पहले महाराष्ट्र से चली और शीघ्र ही इसने समूचे भारत को अपनी गिरफ्त में ले लिया। प्रथम क्रांतिकारी संगठन 1896-97 में पूना में दामोदर हरि चापेकर और बालकृष्ण हरि चापेकर द्वारा स्थापित किया गया। इसका नाम 'व्यायाम मंडल' था। इस गुट के द्वारा *रैण्ड* और *एम्हर्स्ट* नामक दो अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की गयी। यह यूरोपीयों की प्रथम राजनीतिक हत्या थी। इस हत्या का निशाना तो पूना में प्लेग समिति के प्रधान श्री रैण्ड थे, परन्तु एम्हर्स्ट भी अकस्मात् मारे गये। चापेकर बन्धु पकड़े गये तथा फांसी पर लटका दिये गये। शासक वर्ग ने अंग्रजों के विरुद्ध टिप्पणी लिखने के लिए तिलक को उत्तरदायी ठहराकर 18 मास की सजा दी।

1918 की विद्रोह समिति की रिपोर्ट में यह कहा गया था कि भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन का प्रथम आभास महाराष्ट्र में मिलता है, विशेषकर पूना जिले के चितपावन ब्राह्मणों में। ये ब्राह्मण महाराष्ट्र के शासक पेशवाओं के वंशज थे। उल्लेखनीय है कि चापेकर बन्धु तथा तिलक चितपावन ब्राह्मण ही थे।

सावरकर ने 1904 में नासिक में 'मित्रमेला' नाम से एक संस्था आरंभ की थी जो शीघ्र ही मेजनी के 'तरुण इटली' की तर्ज पर एक गुप्त सभा 'अभिनव भारत' में परिवर्तित हो गयी। बंगाल के क्रांतिकारियों से भी इस संस्था का संबंध था। इस संस्था ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विदेशों से अस्त्र-शस्त्र मंगवाया और बम बनाने का काम रूसियों के सहायता से किया। अनेक गुप्त संस्थाएं बंबई, पूना, नासिक, नागपुर, कोल्हापुर आदि जगहों में सक्रिय थीं। शीघ्र ही सरकार इनकी कार्यवाहियों से पराजित हो गयी। गणेश दामोदर सावरकर को भारत से निर्वासित कर दिया गया। जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या के आरोप में दामोदर सावरकर सहित अनेक व्यक्तियों पर 'नासिक षड्यंत्र' केस चलाया गया। उन्हें भारत से आजीवन निर्वासित कर 'कालापानी' की सजा दी गयी। बाद में सरकार की दमनात्मक नीति एवं धन की कमी के कारण महाराष्ट्र में आतंकवादी आन्दोलन ठंडा हो गया।

बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन : बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन का सूत्रपात भद्रलोक समाज से हुआ। पी. मित्रा ने एक गुप्त क्रांतिकारी सभा 'अनुशीलन समिति' का गठन किया। बंग-विभाजन की योजना, इसके विरुद्ध जन आक्रोश की भावना एवं सरकारी दमनात्मक कार्रवाइयों ने आतंकवादी कार्यवाइयों का प्रसार किया। 1905 में बारीन्द्र कुमार घोष ने 'भवानी मंदिर' नामक की पुस्तिका प्रकाशित कर क्रांतिकारी आन्दोलन को बढ़ावा दिया। इसके पश्चात् 'वर्तमान रणनीति' नामक पुस्तिका प्रकाशित की। 'युगान्तर' और 'सांध्य' नामक पत्रिकाओं द्वारा भी अंग्रेज विरोधी विचार फैलाये गये। इसी प्रकार एक अन्य पुस्तिका 'मुक्ति कौन पथे' में भारतीय सैनिकों से क्रांतिकारियों को हथियार देने को आग्रह किया गया।

पूर्व बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर बैमफिल्ड फुलर की हत्या का काम प्रफुल्ल चाकी को सौंपा गया, किन्तु यह काम पूरा नहीं हो सका। 1907 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर की ट्रेन को मेदनीपुर के पास उड़ा देने का षड्यंत्र हुआ तथा 1908 ई. में चन्द्रनगर के मेयर को मारने की योजना बनायी गयी। 30 अप्रैल को प्रफुल्ल चाकी

CHRONICLE IAS ACADEMY

और खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर के जिला जज किंग्सफोर्ड की हत्या करने का प्रयास किया, परन्तु गलती से बम श्री केनेडी की गाड़ी पर गिरा जिससे दो महिलाओं की मृत्यु हो गयी। खुदीराम बोस पकड़े गये। जबकि प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली। बोस पर अभियोग चलकार उन्हें फांसी दे दी गयी।

सरकार ने अवैध हथियारों की तलाशी के संबंध में मानिकतला उद्यान तथा कलकत्ता में तलाशियां लीं और 34 व्यक्तियों को बन्दी बनाया, जिसमें दो घोष बन्धु-अरविंद घोष और बारीन्द्र घोष सम्मिलित थे। इन पर अलीपुर षड्यंत्र का मुकदमा बना। मुकदमे के दिनों में सरकारी गवाह नरेन्द्र गोसाईं की जेल में हत्या कर दी गयी। फरवरी 1909 में सरकारी वकील की हत्या कर दी गयी तथा 24 फरवरी, 1910 को उपपुलिस अधीक्षक की कलकत्ता उच्च न्यायालय से बाहर आते समय हत्या कर दी गयी। इस षड्यंत्र में अनेक व्यक्तियों को फांसी की सजा दी गयी। 1910 में हावड़ा षड्यंत्र एवं ढाका षड्यंत्र हुए। बारिसाल में भी आतंकवादी कार्य हुए। रॉलेट कमेटी की रिपोर्ट में 1906 से 1917 के बीच मध्य बंगाल में 110 डाकें तथा हत्या के 60 प्रयत्नों का उल्लेख है।

इन आतंकवादी घटनाओं को रोकने के लिए सरकार ने *विस्फोटक पदार्थ अधिनियम* (सं. VI 1908) और *समाचार पत्र (अपराध प्रेरक) अधिनियम* (सं. VIII 1908) पास किये। इसके अलावा व्यापक दमन चक्र चलाया गया। अनेक क्रांतिकारी फांसी पर चढ़ा दिये गये। कुछ को गिरफ्तार कर लिया गया और अनेक को निर्वासित कर दिया गया। इन दमनात्मक कार्यों से आतंकवादी संगठन टूटने लगे।

पंजाब तथा दिल्ली में आतंकवादी कार्रवाइयां: बंगाल की घटनाओं का प्रभाव लगभग समूचे देश पर पड़ा। पंजाब और दिल्ली भी आतंकवादियों से बचे नहीं रहे। 1907 ई. के आस-पास पंजाब के किसानों में 'औपनिवेशिक विधयेक' के कारण तीव्र असंतोष व्याप्त था। इसका नेतृत्व अजीत सिंह कर रहे थे। उन्होंने 'महिब्बाने वतन' नामक क्रांतिकारी संस्था बनायी। लाला हरदयाल और लाजपत राय भी क्रांतिकारी गतिविधियों में लिप्त थे। लाला लाजपत राय और अजित सिंह को बन्दी बना लिया गया तथा रेग्युलेशन III के अधीन देश से निर्वासित कर दिये गये। अजित सिंह 6 माह बाद छोड़ दिये गये और वे फ्रांस चले गये।

दिल्ली में क्रांतिकारियों का नेतृत्व मास्टर अमीरचंद ने किया। 1912 में दिल्ली में लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया, जिसमें वायसराय जख्मी हो गया और उसका एक सेवक मारा गया। सरकार ने संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया। अमीरचंद और बम फेंकने वाले बसंत विश्वास तथा न्मथ विश्वास को फांसी दे दी गयी। रास बिहारी बोस भागकर जापान चले गये और वहीं से क्रांतिकारी गतिविधियां संचालित करते रहे।

भारत के अन्य भागों में क्रांतिकारी गतिविधियां : देश के अन्य भागों में भी क्रांतिकारी गतिविधियां चल रही थीं। मद्रास में क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन विपिन चन्द्र पाल कर रहे थे। उनके विचारों से प्रभावित होकर अनेक लोग आन्दोलन में कूद पड़े। 1911 में तिनेवेली के जिला मजिस्ट्रेट *मि. ऐश* को रेलवे स्टेशन पर ही गोली मार दी गयी। नीलंकठ अय्यर और वी.पी.एस. अय्यर ने मद्रास में आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

राजस्थान में आतंकवाद फैलाने में मुख्य भूमिका अर्जुन लाल सेठी, केसरी सिंह बारहट और राव गोपाल सिंह ने निभायी, प्रताप सिंह ने अजमेर में क्रांति को जीवित रखा। मध्य प्रदेश के प्रमुख क्रांतिकारी अमरौती के गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे थे। संयुक्त प्रांत, आगरा एवं अवध के क्रांतिकारियों का प्रमुख केन्द्र बनारस बना। बिहार में पटना तथा झारखण्ड में देवघर, दुमका आदि जगहों पर भी घटनाएं हुईं। पटना में कामाख्या नाथ मित्र, सुधीर कुमार सिंह, पुनीतलाल, बाबू मंगला चरण आदि ने क्रांतिकारी गतिविधियों को अपना सक्रिय सहयोग दिया।

विदेशों में क्रांतिकारी संगठन एवं कार्य : अनेक क्रांतिकारी सरकारी चंगुल से बचने के लिए विदेश चले गये और वहीं से अपना संघर्ष जारी रखा। विदेशों में क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रसार का श्रेय श्यामजी कृष्ण वर्मा को जाता है। लंदन में इन्होंने 1905 में 'इंडिया होमरूल सोसाइटी' की स्थापना की। उन्होंने 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' नामक पत्र निकालकर भारत में स्वराज्य प्राप्ति को अपना उद्देश्य बताया। उन्होंने लंदन में 'इंडिया हाउस' की भी स्थापना की जो आतंकवादी गतिविधियों का केन्द्र था। बाद में उन्हें लंदन छोड़कर पेरिस भागना पड़ा। उनकी जगह नेतृत्व विनायक दामोदर सावरकर के हाथ में आ गया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'1857 ई. का भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध'* लिखी। जुलाई 1909 ई. में लंदन में ही मदन लाल ढींगरा ने भारत सचिव के ए.डी.सी., कर्नल सर विलियम कर्जन वाइली को गोली मार दी। ढ़ींगरा को फांसी दे दी गयी और इस षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में सावरकर को गिरफ्तार कर भारत भेजा गया, जहां उन पर मुकदमा चलाकर देश निकाला की सजा दी गयी। फ्रांस में मैडम भीकाजी कामा आतंकवादी कार्रवाईयों का संचालन कर रही थी। लाला हरदयाल और उनके साथियों ने 1931 ई. में सैनफ्रांसिस्को में 'गदर पार्टी' की स्थापना की। संस्था ने एक साप्ताहिक पत्र 'गदर' भी प्रकाशित किया, जो आन्दोलन को बढ़ावा देती रहा। गदर के विज्ञापन में कहा जाता था, आवश्यकता है वीर सिपाहियों की। वेतन: मृत्यु। पुरस्कार: शहादत पेंशन: स्वतंत्रता, युद्ध स्थल: भारत। गदर पार्टी का उद्देश्य अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध बगावत को बढ़ावा देना था। इसी प्रकार बर्लिन से क्रांतिकारी पत्र 'तलवार' प्रकाशित किया गया।

भारत तथा विदेशों में गुप्त समितियों का गठन

समितियां	*वर्ष*	*संगठनकर्त्ता*	*विशेष*
अनुशीलन समिति (ढाका)	1910	पुलिन बिहारी दास	बंगाल की प्रथम गुप्त
अनुशीलन समिति (कलकत्ता)		बारीन्द्र कुमार घोष, जतीन्द्र नाथ बनर्जी एवं प्रमोद मित्रा	समितियां ये दोनों की थी।
मित्र मेला (महाराष्ट्र)	1899	वी.डी. सावरकर	महाराष्ट्र तथा पूरे भारत की यह प्रथम समिति थी।
अभिनव भारत (महाराष्ट्र)	1904	गणेश सावरकर	गणेश वी.डी. सावरकर के बड़े भाई थे
हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन	1924	सचिन्द्र सान्याल एवं योगेश चन्द्र चटर्जी	इसकी स्थापना अखिल भारत स्तर पर की गयी थी।
गदर पार्टी (अमरीका के सैनफ्रांसिस्को)	1913	लाला हरदयाल एवं सोहन सिंह भकना	यह भारत में सशस्त्र क्रान्ति करवाना चाहती थी।
इन्डियन इन्डिपेन्डेस लीग (जापान)	1942	रास बिहारी बोस	

CHRONICLE IAS ACADEMY

क्रांतिकारियों ने लंदन में कमाल पाशा से भेंट की। भारत और मिस्र के क्रांतिकारियों का सम्मिलित सम्मेलन ब्रुसेल्स में हुआ। बैंकाक और चीन के गुरुद्वारे क्रांतिकारी विचारों के केन्द्र बन गये।

प्रथम विश्व युद्ध के समय आंतकवादी गतिविधियां : 1913 ई. तक भारत में सरकारी दमन चक्र, संगठनात्मक कमजोरियों एवं धन-जन समर्थन के अभाव से क्रांतिकारी आन्दोलन की गति धीमी पड़ गयी थी, लेकिन जब प्रथम विश्व युद्ध शुरू हुआ तो क्रांतिकारियों को अच्छा अवसर मिला। भारत में और भारत के बाहर भी क्रांतिकारी सरकार का तख्ता पलटने की तैयारी जोर-शोर से करने लगे। इस योजना में प्रवासी भारतीय तथा उनके संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बर्लिन में स्थापित *'भारतीय स्वतंत्रता समिति'* और अमरीका की 'गदर पार्टी' ने भारतीयों को स्वदेश भेजने की योजना बनायी ताकि वे भारत जाकर स्थानीय क्रांतिकारियों एवं सेना की सहायता से विद्रोह कर सकें। उनके लिए खर्च की व्यवस्था की गयी और हथियारों का प्रबंध किया गया। इसके अलावा पार्टी ने सुदूर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा भारत में स्थित सैनिकों से गुप्त सम्पर्क कर उन्हें विद्रोह के लिए उकसाया। विद्रोह पंजाब में शुरू होने वाला था, इसके लिए 21 फरवरी, 1915 का दिन भी तय हुआ। दुर्भाग्यवश सरकार को इस योजना का पता चल गया और उसने स्थिति नियंत्रित कर ली। पंजाब में प्रसिद्ध *'कामागाटा मारू काण्ड'* ने एक विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी। बाबा गुरुदत्त सिंह ने एक जापानी जलपोत *'कामागाटा मारू'* को भाड़े पर लेकर पंजाबी सिक्खों तथा मुसलमानों को लेकर कनाडा के बैंकूवर नगर ले जाने का प्रयत्न किया। कनाडा सरकार ने इन्हें उतरने की अनुमति नहीं दी और जहाज को फिर से कलकत्ता लौटना पड़ा। यात्रियों का मानना था कि अंग्रेजी सरकार के दबाव के कारण ही उन्हें उतरने की अनुमति नहीं दी गयी। इसी प्रकार क्रान्तिकारियों के प्रयास से सिंगापुर में नियुक्त पांचवी लांइट इन्फैन्ट्री बटालियन ने फरवरी 1915 को विद्रोह कर दिया, जिसे सरकार ने निर्ममतापूर्वक कुचल दिया। काबुल में राजा महेन्द्र प्रताप, बरकतुल्ला और ओबेदुल्ला के प्रयासों से दिसम्बर 1915 में भारत की प्रथम अस्थायी सरकार बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष राजा महेन्द्र प्रताप थे। इस सरकार ने कई विदेशी देशों से भी सहायता मांगी परन्तु सफलता नहीं मिली। 1919 तक अंतर्राष्ट्रीय और भातरीय राजनीति में तेजी से बदलाव आ रहा था। विश्व युद्ध में इंग्लैंड की विजय से आतंकवादी आन्दोलन को गहरी ठेस लगी। भारत सरकार ने भी स्थिति से निबटने के लिए कानून बनाये। जैसे-

1. राजद्रोह सभाओं को रोकने का अधिनियम 1908 (The Prevention of Seditions Meetings Act, 1908)
2. विस्फोटक पदार्थ कानून-1908 (Explosive Substance Act, 1908)
3. समाचार पत्र (अपराध प्रोत्साहन) अधिनियम-1910
4. भारत रक्षा अधिनियम-1915

इस प्रकार 1919-20 तक सरकार ने आतंकवादी कार्रवाइयों को नियंत्रित कर लिया।

क्रांतिकारी आंदोलन का दूसरा चरण : असहयोग आन्दोलन के असफल होने से क्रान्तिकारियों में पुनः उग्रता आयी। बंगाल में पुरानी अनुशीलन तथा युगांतर समितियां पुनः जाग उठीं तथा उत्तरी भारत के लगभग सभी प्रमुख नगरों में क्रांतिकारी संगठन बन गये। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस समय यह समझा गया कि एक अखिल भारतीय संगठन होने तथा अधिक उत्तम तालमेल होने से अच्छा परिणाम निकल सकता है। अतएव समस्त क्रातिकारी दलों का अक्टूबर 1924 में कानपुर में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें सचिन्द्र नाथ सान्याल, जगदीश चन्द्र चटर्जी तथा राम प्रसाद बिस्मिल जैसे पुराने क्रातिकारी तथा भगत सिंह, सुखदेव, भगवती चरण वोहरा तथा चन्द्रशेखर आजाद एवं राजगुरु जैसे नये क्रांतिकारियों ने भाग लिया। इस अखिल भारतीय सम्मेलन के परिणामस्वरूप 'भारत गणतंत्र समिति या सेना' (Hindustan Republican Association or Army) का जन्म हुआ। इसकी शाखाएं बिहार, यू.पी., दिल्ली, पंजाब, मद्रास

पत्र पत्रिकाएं

पत्र-पत्रिकाएं	*वर्ष*	*स्थान*	*द्वारा*
युगान्तर	1906	बंगाल	बारीन्द्र कुमार घोष भूपेन्द्र नाथ दत्त
संध्या	1906	बंगाल	ब्रह्म वान्धव उपाध्याय
काल	1906	महाराष्ट्र	
इंडियन सोशियोलॉजिस्ट		लन्दन	श्यामजी कृष्णवर्मा
'वन्दे मातरम'		पेरिस	मैडम भीखाजी कामा
तलवार		बर्लिन	वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय
फ्री हिन्दुस्तान		बैंकूवर	तारकनाथ दास
गदर		सैनफ्रांसिस्को	गदर पार्टी द्वारा
लांगल तथा गणवाणी	1927	बंगाल	गोपु चक्रवर्ती एवं धरणी गोस्वामी
कीर्ति	1926	पंजाब	संतोष सिंह
क्रान्ति	1927	महाराष्ट्र	एस.एस. मिराजकर, के.एन. जोगलेकर एवं एस.वी. घाटे
बन्दी जीवन		बंगाल	सचिन्द्र नाथ सान्याल
आत्मशक्ति		बंगाल	
सारथी		"	
धूमकेतु		"	
विजोली		"	

क्रांतिकारियों पर हुए मुकदमे

नासिक षड्यंत्र केस	1909-10	विनायक सावरकर को निर्वासन, अन्य 26 को कारावास
अलीपुर या मानिकतल्ला षड्यंत्र केस	1908	अरविन्द घोष सहित कई व्यक्तियों पर चलाया
हावड़ा षड्यंत्र केस	1910	जतीन मुखर्जी मुख्य अभियुक्त थे
ढाका षड्यंत्र केस	1910	पुलिनदास को 7 वर्ष की सजा
दिल्ली षड्यंत्र केस	1915	मास्टर अमीर चन्द्र, अवधबिहारी एवं बाल मुकुन्द को फांसी
लाहौर षड्यंत्र	1929-30	भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव सहित 19 को फांसी
बनारस षड्यंत्र	1915-16	सचिन्द्र नाथ सान्याल को आजीवन कालापानी,
काकोरी षड्यंत्र		राम प्रसाद बिस्मिल व अशफाक को फांसी

CHRONICLE IAS ACADEMY

आदि कई जगहों पर स्थापित की गयी इस दल के तीन प्रमुख आदर्श निम्न हैं:

(i) भारतीय जनता में गांधीजी की अहिंसावाद की नीतियों की निरर्थकता के प्रति जागृति उत्पन्न करना।

(ii) पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही तथा लोगों को क्रांति के लिए तैयार करना

(iii) अंग्रेजी साम्राज्यवाद के स्थान पर समाजवादी विचारधारा से प्रेरित भारत में संघीय गणतंत्र की स्थापना करना।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्था ने हथियार बनाने और सरकारी खजाने लूटने की भी योजना बनायी।

संस्था का प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य काकोरी की ट्रेन डकैती थी। इस ट्रेन द्वारा अंग्रेजी खजाना ले जाया जा रहा था। क्रांतिकारियों ने ट्रेन पर आक्रमण कर उसे लूट लिया, परंतु वे जल्द ही पकड़े गये। उनपर 'काकोरी षड्यंत्र' का मुकदमा चलाकर राम प्रसाद बिस्मिल और अशफाक उल्ला सहित चार लोगों को 1925 में फांसी पर चढ़ा दिया गया। 1928 ई. में चन्द्रशेखर आजाद आदि द्वारा *'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन'* का नाम बदलकर *'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन'* कर दिया गया। 1928 में ही भगत सिंह, चन्द्रशेखर और राजगुरु ने लाहौर के सहायक पुलिस कप्तान सांडर्स की हत्या कर दी। उल्लेखनीय है कि साइमन विरोधी प्रदर्शन के समय सांडर्स के द्वारा ही लाठी चलवायी गयी थी जिसमें लाजपत राय को चोट लगी और उनकी मृत्यु हो गयी थी। अप्रैल 1929 में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली में केन्द्रीय विधान सभा में बम फेंका, जिसका उद्देश्य था 'बहरी सरकार को आवाज सुनाना'। बम फेंकने के बाद दोनों ने ही अपनी गिरफ्तारी भी दी। 1930 में सूर्यसेन ने चटगांव के शस्त्रागार पर आक्रमण कर अनेक अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। इस अभियान में महिलाओं ने भी हिस्सा लिया। सूर्यसेन ने चटगांव में ही अपने आप को प्रांतीय स्वतंत्र भारत सरकार का प्रधान भी घोषित किया। सरकार ने भी अपना दमन-चक्र चलाया। 'लाहौर षड्यंत्र' में फंसाकर भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को 23 मार्च, 1931 को फांसी पर लटका दिया गया। चन्द्रशेखर आजाद भी फरवरी 1931 में ही इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में एक पुलिस मुठभेड़ में मारे गये। सूर्य सेन को 1933 ई. में फांसी पर चढ़ा दिया गया। इसी बीच जेलों की दुर्व्यवस्था के विरोध में जतीन दास ने 63 दिनों की आमरण अनशन के पश्चात् अपने प्राण त्याग दिये।

इस प्रकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम के पारित होने पर आतंकवादी गतिविधियों में कुछ ढील आयी और 1939 तक शांति बनी रही। परन्तु जब अंग्रेजी सरकार ने भारतीय जनता की अनुमति के बिना भारत को द्वितीय विश्व युद्ध में धकेल दिया तो पुन: अवस्था बिगड़ती चली गयी। क्रिप्स मिशन की असफलता तथा कांग्रेस द्वारा 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव का पारित करने एवं गांधीजी और उनके सहयोगियों की गिरफ्तारी ने पुन: क्रान्तिकारियों को अपनी गतिविधियां आरंभ करने पर बाध्य कर दिया।

इस आन्दोलन के मुख्य पात्र सुभाषचन्द्र बोस एवं जय प्रकाश नारायण थे। जयप्रकाश नारायण तथा इनके सहयोगियों ने आंतरिक तोड़फोड़ की नीति अपनायी तथा सुभाष चन्द्र बोस ने देश के बाहर जाकर जर्मनी तथा जापान की सहायता से भारतीय राष्ट्रीय सेना (Indian National Army or INA) का गठन कर भारत पर आक्रमण करने का फैसला किया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के कारण : क्रांतिकारी आन्दोलन की असफलता के निम्नलिखित मुख्य कारण थे :

(i) **केन्द्रीय संगठन का अभाव :** क्रांतिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था, जो विभिन्न प्रांतों में आतंकवादी कार्यों का संगठन और समन्वय कर सके। संगठन के अभाव में विभिन्न प्रांतों के क्रांतिकारी नेताओं में परस्पर सहयोग तथा समन्वय नहीं था।

(ii) **मध्यम वर्ग के शिक्षित लोगों तक ही सीमित :** क्रान्तिकारी आन्दोलन लोकप्रिय नहीं बन सका। यह केवल मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों तक ही सीमित रहा।

(iii) **अंग्रेजी सरकार का दमन चक्र :** आतंकवादी आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण अंग्रेजी सरकार का दमन नीति थी। सरकार तरह-तरह के कानून बनाकर आतंकवादी आन्दोलन को निष्क्रिय करने में सफल रही। अनेक लोगों को प्राणदंड, कालापानी, देश निर्वासन और कठोर शारीरिक यातनाएं दी गयीं, जिसने जनता को आतंकित और भयभीत कर दिया।

(v) **अस्त्र-शस्त्र का अभाव :** यद्यपि क्रांतिकारियों में साहस और उत्साह की कमी नहीं थी, फिर भी उन्होंने जो चोरी-छिपे हथियार इकट्ठा किये वे ब्रिटिश सरकार से लड़ने के लिए अपर्याप्त थे।

(vi) **महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति तथा जनता पर प्रभाव :** महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। गांधीजी ने स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए शान्ति और असहयोग का रास्ता अपनाया जो सत्य और अंहिसा जैसे ऊंचे सिद्धान्तों पर आधारित था। ये सिद्धान्त भारतीयों के लिए सरलता से ग्राह्य सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त भारतीय जनमानस दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी की सफलता देख चुका था। अत: महात्मा गांधी के आन्दोलन के समक्ष क्रांतिकारी आन्दोलन टिक नहीं सका।

मूल्यांकन : आमतौर पर सोचा जाता है कि आजादी की लड़ाई में आतंकवादी आन्दोलन की कोई भूमिका नहीं है, क्योंकि इन्हें सफलता प्राप्त नही हुई। लेकिन यदि सिर्फ सफलता से ही किसी आन्दोलन की भूमिका का निर्धारण हो तो हमें यह खेद के साथ कहना पड़ेगा कि 1920, 1930-34 और 1942 के कांग्रेस के आन्दोलनों में भी जिस उद्देश्य को लेकर आन्दोलन शुरू किये थे, उन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हुई। अर्थात् जो मांगें गांधीजी ने आन्दोलन शुरू करते समय रखी थी, (जैसे 1920 में एक वर्ष के अन्दर पूर्ण स्वराज, तथा 1930 में पूर्ण स्वराज एवं 1942 में भारत छोड़ो) वे मानी नहीं गयीं। आन्दोलन का आशय तुरंत उद्देश्य की प्राप्ति न होकर जनता में जागृति, स्वतंत्रता के प्रति कर्तव्य, साम्राज्यवाद पर दबाव डालने या उलटने और उसके लिए सर्वस्व न्योछावर करने की भावना तथा आत्म-त्याग होता है। यदि इसी पहलू को सामने रखकर हम क्रांतिकारियों की भूमिका के बारे में विचार करें तो यह मानना पड़ेगा कि देश के लिए सर्वस्व बलिदान करने वाले, हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ने वाले तथा जेलों में बर्बरतापूर्ण यातनाएं सहने वाले क्रांतिकारियों ने भारत के युवकों में जागृति फैलाने और साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष में जुट जाने के लिए तैयार करने में जो भूमिका निभायी, वह किसी से कम नहीं है। कांग्रेस ने तो सरकार को चिंतातुर बना दिया, पर असली समस्या तो क्रांतिकारी आतंकवादियों ने ही खड़ी की। क्रांतिकारी आतंकवादियों ने भारत में एक नयी चेतना तो जगायी, मगर एक नये समाज और समाजवाद की रचना का उद्देश्य की तरफ उतना ध्यान नहीं दे पाये, क्योंकि स्वराज्य उनका पहला लक्ष्य था। इसी कारण वे आज राष्ट्रवादियों के साथ याद किये जाते हैं।

CHRONICLE IAS ACADEMY

वामपंथी आन्दोलन

बीसवीं सदी के दूसरे दशक के बाद भारत में एक शक्तिशाली वामपक्ष का उदय हुआ। मार्क्सवाद और दूसरे समाजवादी विचार बहुत तेजी से फैले। राजनीतिक दृष्टि से इस शक्ति की अभिव्यक्ति कांग्रेस के अंदर एक वामपंथ के उदय के रूप में हुई, जिसने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की धारा को दलितों-शोषितों की सामाजिक आर्थिक मुक्ति की धारा के नजदीक लाने का कार्य किया। इस नयी प्रवृत्ति के नेता जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस थे। इस वामपंथ ने अपना ध्यान साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि पूंजीपतियों और जमींदारों के आंतरिक वर्गीय शोषण का सवाल भी उठाया। धीरे-धीरे वामपक्ष में दो ताकतवर दल उभरे- भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई) और कांग्रेस समाजवादी पार्टी (सी.एस.पी.)।

भारत में वामपंथी विचारधारा प्रथम, विश्व युद्ध के पश्चात् राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण उभरी और यह अनिवार्य रूप से राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ संलग्न हो गयी। भारत में वामपंथी आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारक निम्न थे-

(1) रूसी क्रान्ति का प्रभाव इसके पीछे मुख्य प्रेरक शक्ति थी। 1917 के 7 नवम्बर को लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी (कम्युनिष्ट पार्टी) ने जार के राजशाही शासन को उखाड़ फेंका और पहले समाजवादी राज्य की स्थापना की घोषणा की। रूस के नये समाजवादी शासकों ने चीन और एशिया के अन्य भागों में अपने उपनिवेशवादी अधिकारों को छोड़ने की घोषणा की। लोगों को प्रेरणा मिली कि यदि आम जनता यानी मजदूर, किसान और बुद्धिजीवी वर्ग संगठित होकर जार के शक्तिशाली साम्राज्य का तख्ता पलट सकते हैं और ऐसी सामाजिक व्यवस्था कायम कर सकते है, जिसमें एक आदमी दूसरे का शोषण नहीं करता, तब ब्रिटिश साम्राज्य से संघर्ष करने वाली भारतीय जनता भी ऐसा कर सकती है। इस प्रकार लोग मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों से रोमांचित हो गये।

(2) प्रथम विश्व युद्ध के बाद देश की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो गयी। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गये। व्यापारियों की कालाबाजारी तथा अफसरों की बेईमानियों के कारण देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार लोगों के सामने साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का घिनौना रूप प्रकट हो गया।

(3) गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले बहुत सारे नौजवान इसके नतीजों से खुश नहीं थे और गांधीवादी नीतियों, विचारों और यहाँ तक कि वैकल्पिक स्वराजवादी कार्यक्रमों से भी संतुष्ट नहीं थे। इसलिए मार्गदर्शन के लिए उन लोगों ने अपना रूख समाजवादी विचारों की ओर मोड़ा। शिक्षित मध्यम वर्ग का वह अंग जो अंग्रेजों की उदारवादी नीति में विश्वास खो बैठा था और जिसे बेकारी स्पष्ट सामने दीखती थी, वह भी अब इस ओर खींच गया।

(4) आगे चलकर 1929 की विश्वव्यापी मन्दी ने भी यह स्पष्ट कर दिया कि इस दौड़ में भी समाजवादी देशों में निरंतर प्रगति हो सकती है। उल्लेखनीय है कि रूस इस मन्दी की चपेट से ने सिर्फ अलग था, बल्कि उसकी प्रगति दर भी ऊंची थी।

(5) लेकिन इन सबके ऊपर जवाहर लाल नेहरू ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी दृष्टि प्रदान की और 1929 के बाद भारत में वे समाजवाद और समाजवादी विचारों के प्रतीक बन गये। अपनी पुस्तकों (आत्मकथा, विश्व इतिहास की झलक), लेखों और भाषणों में नेहरू ने समाजवादी विचारों को प्रचारित किया और घोषणा की कि यदि आम आदमी को आर्थिक मुक्ति हासिल होती है, तभी राजनैतिक मुक्ति सार्थक हो सकती है। इस प्रकार नेहरू ने युवा राष्ट्रवादियों की एक समूची पीढ़ी को मोड़ा और समाजवादी विचारों को आत्मसात् करने में उनकी मदद की।

1920-21 के दौरान पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसान आन्दोलन के समय आर्थिक मुद्दों में नेहरू की रुचि बढ़ी। 1922 में जेल में उन्होंने साम्यवादी विचारों का अध्ययन किया। 1927 में ब्रुसेल्स में *'उपनिवेशवादी दमन और साम्राज्यवाद'* के विरोध में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में वे समूचे विश्व के साम्यवादियों तथा उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने वाले योद्धाओं के सम्पर्क में आये। उन्होंने अपने विचारों को तार्किक अंजाम देने के लिए सुभाषचन्द्र बोस के साथ सहयोग का हाथ बढ़ाया। 1929 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में नेहरू ने घोषणा की कि, 'मैं समाजवादी और लोकतंत्रवादी हूँ और राजाओं और राजकुमारों में मेरा विश्वास नहीं है। मेरा उस व्यवस्था में भी विश्वास नहीं है जो उद्योगों में आधुनिक राजाओं को जन्म देते हैं।' 1936 के लखनऊ कांग्रेस में उन्होंने समाजवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'मुझे पक्का विश्वास हो चला है कि विश्व की और भारत की समस्याओं के समाधान की एकमात्र कुँजी समाजवाद है। मैं जब इस शब्द का इस्तेमाल करता हूँ तो अस्पष्ट मानवतावादी अर्थ में नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ में करता हूं, जिसके अन्तर्गत काफी व्यापक और क्रान्तिकारी परिवर्तनों की जरूरत होती है।'

लेकिन समाजवाद के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता का एक विशेष ढांचा था, जिसमें राजनीतिक और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को तब तक प्रमुख स्थान दिया गया था जब तक भारत पर विदेशी शक्ति का शासन था। नेहरू ने 1936 में समाजवादियों से कहा था कि उन्हें दो बातों ने प्रभावित किया है। वे हैं राजनीतिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक स्वतंत्रता, जिनका प्रतिनिधित्व क्रमशः कांग्रेस और समाजवाद करता है तथा इन दोनों को मिलाना ही समाजवादियों की सबसे प्रमुख समस्या है। इसलिए नेहरू ने कोई ऐसा संगठन बनाने का प्रस्ताव नहीं माना जो कांग्रेस से अलग अथवा उससे स्वतंत्र हो। मुख्य काम था कांग्रेस को प्रभावित करना अथवा पूरी तरह से उसका समाजवादी दिशा में रूपातंरण करना और इस लक्ष्य को कांग्रेस के झंडे के नीचे रहकर और किसानों तथा मजदूरों को इस संगठन में शामिल करके ही सर्वोत्तम रूप से पाया जा सकता था। वास्तव में नेहरू वामपंथी विचार वाले लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से अलग एक भिन्न संप्रदाय बनने देना नहीं चाहते थे।

इस तरह बीसवीं सदी के दूसरे दशक में सारे देश में समाजवादियों और कम्युनिस्टों के दल अस्तित्व में आये। बम्बई में श्रीपाद अमृत डांगे ने *'गांधी और लेनिन'* नाम का पर्चा प्रकाशित किया तथा पहले समाजवादी साप्ताहिक *'दि सोशलिस्ट'* की शुरुआत की। मुजफ्फर अहमद ने बंगाल में *'नवयुग'* निकाला और कवि काजी नजरूल इस्लाम की सहायता से 'बंगाल' की स्थापना की। पंजाब में गुलाम हुसैन ने कुछ अन्य लोगों के साथ मिलकर *'इंकलाब'* का प्रकाशन किया। मद्रास में एम. सिंगारवेलु ने *'लेबर किसान गजट''* की स्थापना की। इसके अलावा जवाहर लाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने पूरे देश का दौरा किया। अपने दौरों में उन्होंने साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और जमींदारी प्रथा की आलोचना की और समाजवादी विचारधारा को अपनाने की शिक्षा दी। भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व वाले अतिवादी क्रान्तिकारी भी समाजवाद की ओर झुके। इस प्रकार भारत में वामपंथी आन्दोलन की दो मुख्य धाराएं विकसित हुई:

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रथम, साम्यवाद (Communism) जो कि अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के भाग के रूप में उभरा और जिसको कामिन्टर्न, जो कि रूस का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन था, नियंत्रित करता था और दूसरा कांग्रेस सोशलिस्ट दल, जो कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वामपंथी दल था और लोकतांत्रिक समाजवाद को मानता था। ये दोनों ही आन्दोलन भारत में प्रचलित साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं पर अवलम्बित थे।

साम्यवादी दल

(The Communist Party)

सोवियत रूस और उसकी क्रान्तिकारी प्रतिबद्धता से आकर्षित होकर भारतीय क्रान्तिकारियों की काफी बड़ी संख्या, जो प्रवास में थी, वहां पहुंची। उन्हीं में एक थे *एम. एन. राय,* जिन्होंने लेनिन के साथ मिलकर उपनिवेश के प्रति *'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल'* की नीति तैयार करने में मदद की थी। उन्हीं के नेतृत्व में सात भारतीयों ने मिलकर अक्टूबर 1920 में ताशकंद में *'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी'* की स्थापना की। दिसम्बर 1925 में कानपुर में भारत के अधिकांश वामपंथी मिले तथा एक अखिल भारतीय स्तर का संगठन बनाया जिसका नाम *'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया'* (सी. पी. आई.) रखा। *सत्यभक्त* इसके सचिव बने तथा *एस. वी. घाटे* इसके महामंत्री बने। भारत की कम्युनिष्ट पार्टी ने अपने सभी सदस्यों से कांग्रेस का सदस्य बनने को कहा। वस्तुतः वे कांग्रेस को अधिक क्रान्तिकारी और जनाधार वाला संगठन बनाना चाहते थे।

शुरुआती दौर के कम्युनिस्टों के राजनीतिक कार्य का मुख्य रूप मजदूरों और किसानों के दलों को संगठित करके उनके माध्यम से कार्य करना होता था। इस प्रकार का पहला संगठन *'लेबर स्वराज पार्टी'* था जो कांग्रेस का संगठन था। इसका गठन 1928 में बंगाल में मुजफ्फर अहमद, नजरूल इस्लाम, हेमंत कुमार सरकार तथा कुछ अन्य लोगों ने मिलकर किया था। उसी तरह बम्बई में *'कांग्रेस लेबर पार्टी'*, पंजाब में *'कीर्ति किसान पार्टी'*, मद्रास में *'लेबर किसान पार्टी ऑफ हिन्दुस्तान'* बनी। 1928 तक आकर इन सभी प्रांतीय संगठनों को मिलाकर एक नया संगठन बनाया गया जिसका नाम *'वर्कर्स एण्ड पीजेंट्स पार्टी'* रखा गया तथा इसको अखिल भारतीय संगठन का रूप दिया गया। इसकी इकाइयां दिल्ली, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में भी स्थापित की गयीं। सभी कम्युनिस्ट इस पार्टी के सदस्य हुआ करते थे। इस पार्टी का प्रमुख उद्देश्य था कांग्रेस के अन्दर रहकर इसे मजबूत करना, जिससे पहले स्वतंत्रता हासिल की जाये और इसके बाद समाजवाद के लक्ष्य तक पहुँचा जाये।

साम्यवादी आन्दोलन के इतिहास को हम पांच चरणों में बांट सकते हैं-

प्रथम चरण : इस काल में साम्यवादी दल ने तीन षड्यन्त्रों में संबंधित होने के कारण विशेष ध्यान आकर्षित किया। ये थे पेशावर षड्यंत्र मुकदमा (Peshawar Conspiracy Case) 1922-23, कानपुर षड्यंत्र मुकदमा (Kanpur Conspiracy Case) 1924-25, तथा मेरठ षडंयत्र मुकदमा (Meerut Conspiracy Case) 1929-33। 1922 से 24 के बीच सोवियत रूस से भारत में प्रवेश करने वाले कम्युनिस्टों को गिरफ्तार कर उन्हें अनेक मामलों में फँसाकर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। 1924 में कानपुर में श्रीपाद अमृत डाँगे, मुजफ्फर अहमद, नलिनी गुप्ता और शौकत उस्मानी को षड्यंत्र में फंसाकर मुकदमा चलाया गया। इन चारों को चार-चार साल कैद की सजा सुनायी गयी। इनमें से मेरठवाला मुकदमा सबसे लम्बा चला, जिसमें 27 लोगों को दण्ड दिया गया। गिरफ्तार किये गये लोगों में क्रान्तिकारी राजनीतिकर्मी तथा ट्रेड यूनियन आन्दोलन के लोगों के साथ तीन ब्रिटिश कम्युनिस्ट भी थे: फिलिप स्प्रेट, बेन ब्रैडले और लेस्टर हचिन्सन। ये लोग भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलनों को संगठित करने के लिए आये थे। सरकार का मूल उद्देय ट्रेड यूनियन आंदोलन को समाप्त करना और कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग-थलग करना था। मेरठ राजद्रोह में 32 लोगों पर मुकदमा चलाया गया था। मेरठ राजद्रोह तत्काल राष्ट्रीय महत्व धारण कर गया। कैदियों को बचाने के लिए अनेक राष्ट्रवादी सामने आये जिनमें जवाहर लाल नेहरू, एम. ए. अंसारी, एम. सी. छागला भी थे। गांधीजी भी मेरठ जेल जाकर कैदियों से मिले और अपनी एकजुटता का इजहार किया। कैदियों ने अपने बचाव में कचहरी में जो बयान दिये उसे राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने प्रमुखता से छापा और इस प्रकार साम्यवादी विचार से देश के लाखों लोगों को पहली बार परिचित कराया।

ऐसे वातावरण में साम्यवादियों को केन्द्रीय विधान सभा में कांग्रेसी सदस्यों का समर्थन मिला और उन्होंने सरकार द्वारा प्रस्तुत *सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक* (Public Safety Bill), जो कि मुख्यतः साम्यवादियों के विरुद्ध था, को पारित नहीं होने दिया। इस प्रकार कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग-थलग करने की सरकार की मंशा न केवल असफल रही, बल्कि इसके एकदम उल्टे परिणाम निकले। 1934 तक भारत में साम्यवादी आन्दोलन ने बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और हम कह सकते हैं कि भारत में साम्यवादी विचारधारा स्थापित हो चुकी थी। जुलाई 1934 में भारतीय साम्यवादी दल को अवैध घोषित कर दिया गया।

दूसरा चरण : इस दौर में कम्युनिस्टों ने अपने ही ऊपर एक घातक प्रहार किया, मानों सरकार का प्रहार नाकाफी रहा हो। उन्होंने

संगठन	*वर्ष*	*संस्थापक*	*स्थान*
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी	1920	एम. एन. राय एवं सहयोगी	ताशकंद
कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया	1925	सत्यभक्त एवं सहयोगी	कानपुर
बिहार समाजवादी दल	1931	जयप्रकाश नारायण, फूलन प्रसाद वर्मा एवं अन्य	पटना
कांग्रेस समाजवादी पार्टी	1934	जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, मीनू मसानी	बम्बई
फॉरवर्ड ब्लाक	1939	सुभाष चन्द्र बोस एवं सहयोगी	
भारतीय बोल्शेविक दल	1939	एन. दत्त. मजूमदार	
क्रान्तिकारी साम्यवादी दल	1942	सौम्येन्द्र नाथ टैगोर	
बोल्शेविक लोनिनिस्ट पार्टी	1941	अजीत राय और इन्द्रसेन	
अतिवादी लोकतंत्र दल	1940	एम. एन. राय	
लेबर स्वराज पार्टी	1925	मुहफ्फर अहमद, नजरूल इस्लाम, हेमंत कुमार सरकार	बंगाल
लेबर कांग्रेस पार्टी			बम्बई
कीर्ति			पंजाब
लेबर किसान पार्टी ऑफ हिन्दुस्तान			मद्रास
वर्कर्स एण्ड पीजेंट्स पार्टी	1928		

CHRONICLE IAS ACADEMY

अचानक जो कदम उठाया उसे वामपंथी शब्दावली में 'संकीर्ण राजनीति' अथवा 'वामपंथी भटकाव' की संज्ञा दी जाती है। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठीं कांग्रेस से निर्देशित होकर कम्युनिस्टों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से अपना नाता तोड़ लिया और इसको पूंजीपति वर्ग की पार्टी घोषित कर दी। जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस को पूंजीपतियों का एजेंट कहा गया। 1931 के गांधी-इर्विन समझौते को राष्ट्रवाद के साथ कांग्रेसी विश्वासघात की संज्ञा दी गयी। उल्लेखनीय है कि यही वह समय था जब कांग्रेस ने साइमन आयोग का बहिष्कार किया था, पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित किया था तथा द्वितीय सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रस्ताव किया था। इस तरह जब राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तार हो रहा था तब साम्यवादी दल ने अपने आप को राजनैतिक मुख्यधारा से पूर्णतया अलग कर लिया था। 'वर्कर्स और पीजेंट्स पार्टी' को भी इस आधार पर भंग कर दिया गया कि दो वर्गों वाला (मजदूर और किसान) दल बनना उचित नहीं है, क्योंकि निम्न पूंजीवादी प्रभाव में इसके आने की संभावना है। बहरहाल कम्युनिस्ट आन्दोलन महाविनाश से बच गया, क्योंकि एक ओर बहुत से कम्युनिस्टों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन से अपने को अलग रखना नामंजूर कर दिया, तो दूसरी ओर भारत में कम्युनिस्ट और समाजवादी विचार का प्रसार जारी रहा।

तीसरा चरण-1935 में पार्टी की परिस्थिति में बुनियादी बदलाव आया, जब पी. सी. जोशी के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी का पुनर्गठन हुआ। मास्को में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं बैठक में इसने एकदम नया रुख अख्तियार किया, जिसका कारण फासीवाद का भय था। उसने पूंजीवाद और फासीवाद विरोधी देशों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की। राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं को पुनः शामिल होना पड़ा। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन में बदलाव की सैद्धांतिक और राजनैतिक बुनियाद 1926 की शुरुआत में एक दस्तावेज के जरिए रखी गयी थी जिसका नाम था "भारत में साम्राज्यवाद विरोधी जनता का मोर्चा।" इसे आर. पी. दत्त और बेन ब्रैडले ने प्रकाशित करवाया था। इसलिए इसे *'दत्त-ब्रैडले थीसिस'* के नाम से भी जाना जाता है। इस सिद्धान्त के मुताबिक साम्राज्य विरोधी जनमोर्चा के कार्य को कामयाब बनाने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बहुत बड़ी और अग्रणी भूमिका अदा कर सकती है।

चौथा चरण : जब विश्व युद्ध आरंभ हुआ तब भारतीय साम्यवादी नेता सभी प्रकार के साम्राज्यवाद के विरुद्ध (जिसमें फासिस्ट और नाजी दोनों शामिल) थे। वे न केवल अपनी संयुक्त मोर्चा नीति का अनुसरण करते रहे, बल्कि वे कांग्रेस से भी बाजी ले गये, क्योंकि आरंभिक दिनों में कांग्रेस की नीति इस युद्ध के प्रति स्पष्ट नहीं थी। परन्तु जब जून 1941 में हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया तो साम्यवादियों की स्थिति विचित्र-सी हो गयी। भारतीय साम्यवादी जो अब तक इस युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहते थे, अब उसे लोक युद्ध (Peoples' war) कहने लगे। वे अंग्रेजी-रूसी युद्ध प्रयत्न में पूर्ण सहयोग करने लगे। भारत सरकार ने भी तुरंत इस संस्था को वैध घोषित कर दिया। जब अगस्त 1942 में कांग्रेस ने भारत-छोड़ो का नारा लगाया, तब भी वे इससे अलग ही रहे। साम्यवादी दल के इस अचानक नीति परिवर्तन की राष्ट्रवादियों ने कड़ी निन्दा की और इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय साम्यवादी दल की नीति का संचालन बाहर से होता था।

पांचवा चरण-यह वह काल था जब शक्ति के हस्तांरण की बात चल रही थी। इस काल में साम्यवादियों ने बहुराष्ट्रवादी नीति का अनुकरण किया। उनकी नीति मुस्लिम समर्थन की थी। इन्होंने लीग-कांग्रेस के भेदों को बढ़ावा देने के साथ-साथ सभी तरह के पृथक्करण की भावना को प्रेरित किया। वे चाहते थे कि भारत बहुत से छोटे-छोटे स्वायत्त राज्यों में बंट जाये और उनमें से कम से कम एक पर अधिकार बनाकर वहां से अपना प्रसार किया जाये। दुर्भाग्यवश लीग ने इस मित्रता के हाथ को स्वीकार नहीं किया और भारतीय साम्यवादी दल एक कलंकित संस्था बन गयी।

कांग्रेस समाजवादी दल : गांधीजी के रहस्यवाद और साम्यवादी दल के रूढ़िवाद के विरुद्ध कांग्रेस के अन्दर वामपंथी पक्ष एक विवेकयुक्त विद्रोह (Rationalist Revolt) के रूप में उभरा। 1930-31 और 1932-34 के दौरान युवा कांग्रेस जनों के एक गुट ने जून में समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा। गांधीवादी रणनीति से इनका मोह भंग हुआ और समाजवादी विचारधारा की ओर वे आकर्षित हुए थे। इन्होंने बम्बई में 1934 में *'कांग्रेस समाजवादी पार्टी'* की स्थापना की। इसके नेता थे जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव और मीनू मसानी। यह एक अखिल भारतीय संस्था थी। इसके पहले 1931 में जयप्रकाश नारायण, फूलन प्रसाद वर्मा तथा अन्य लोगों ने *बिहार समाजवादी दल* की नींव रखी थी। कांग्रेस समाजवादी दल कोई प्रतिद्वंदी राजनीतिक संगठन नहीं था, बल्कि इसका गठन कांग्रेस के भीतर कार्य करने, उसे सुदृढ़ बनाने और इसकी नीतियों को आकार देने के लिए किया गया था।

'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' ने एकदम शुरू से ही अपने को कांग्रेस को रूपांतरित करने और साथ ही इसको मजबूत करने के काम में लगाया। कांग्रेस को रूपांतरित करने के कार्य को दो अर्थों में समझा जाता था। एक था विचारधारात्मक आधार-कांग्रेस जनों को धीरे-धीरे इस बात के लिए राजी करना कि वे स्वतंत्र भारत के लिए समाजवादी दृष्टि अपनायें तथा वर्तमान आर्थिक मुद्दों पर उनका रुख किसानों तथा मजदूरों के पक्ष में होना चाहिए। दूसरा था कांग्रेस का सांगठनिक अर्थ में रूपातंरण, जिसका अर्थ मौजूदा नेतृत्व को बदलकर उसे समाजवादी नेतृत्व प्रदान करना। बहरहाल जल्दी ही पाया गया कि यह यथार्थपरक नहीं है इसलिए इसको छोड़ दिया गया और संयुक्त नेतृत्व का विकल्प अपनाया गया, जिसमें माना गया कि नेतृत्व के हर स्तर पर समाजवादियों को भी शामिल किया जायेगा। वास्तविकता भी यही थी कि गांधीजी का कोई विकल्प था भी नहीं। *कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी* को भारतीय परिस्थितियों के आधार की बेहतर समझ थी, अतः उसने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया।

कांग्रेस समाजवादी दल ने 1935 के अधिनियम को जनविरोधी माना। वे 1934 में कांग्रेस के मंत्रिमंडलों को बनाने के पक्ष में भी नहीं थे। वास्तव में यह समाजवादियों का ही दवाब था कि 1936 में कांग्रेस ने अपनी चुनाव घोषणा में जनता की सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया। इन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन का समर्थन किया तथा 1942 के विद्रोह में प्रमुख भूमिका निभायी। ये लोग शक्ति हस्तांतरण के लिए भी बातचीत करने के पक्ष में नहीं थे और चाहते थे कि साम्राज्यवादी, सामंतवादी और साम्प्रदायिकतावादी भवनों को समूल नष्ट करने के लिए एक क्रान्तिकारी संघर्ष किया जाये। ये लोग मुस्लिम लीग को अंग्रेजों का सहायक और जिन्ना को देशद्रोही और साम्राज्यवाद का हथियार मानते थे। इस दल ने भारत के बंटवारे को भी कांग्रेस द्वारा अंग्रेजों के सम्मुख हथियार डालने के बराबर माना और यह भी स्वीकार किया कि वे स्वयं भी विस्तृत क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने में असमर्थ रहे।

CHRONICLE IAS ACADEMY

ब्रिटिश भारत में षड्यंत्र के मामले

मामले	*वर्ष*	*विषय*
1. पेशावर षडयंत्र मामला	1922-27	इसमें सोवियत संघ से भारत आने वाले साम्यवादी क्रांतिकारियों का दल, जिसे सम्राट के विरुद्ध षडयंत्र रचने के अपराध में बंदी बनाया गया। पेशावर में मुकदमे चलाकर इन क्रांतिकारियों को लम्बी सजाएं दी गयीं
2. कानपुर षड्यंत्र मामला	1924	कम्यूनिस्ट नेता श्री पादअमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, मालिनी गुप्ता एवं शौकत उस्मानी आदि को कानपुर में गिरफ्तार कर कानपुर षड्यंत्र के तहत चले मुकदमे में 4 वर्ष का कारावास दिया गया
3. मेरठ षड्यंत्र मुकदमा	1929-33	1929 में सरकार ने 32 उसे व्यक्तियों को गिरफ्तार किया जिनमें क्रांतिकारी, राजनीतिज्ञ व ट्रेड यूनियन से जुड़े लोग एवं तीन अंग्रेज कम्युनिस्ट (फिलिप स्प्रेट, बेन ब्रेडले एवं लेस्ट हचिन्सन) आदि शामिल थे, पर मेरठ षड्यंत्र के तहत साढ़े तीन वर्ष तक मुकदमा चला। राष्ट्रीय स्तर पर यह मुकदमा खूब चर्चित रहा। अभियुक्तों की ओर से जवाहर लाल नेहरू, कैलाश नाथ काटजू आदि ने पैरवी की
4. लाहौर षड्यंत्र केस	1929-31	पंजाबी क्रांतिकारियों ने भगत सिंह के नेतृत्व में लाला लाजपतराय पर लाठी चार्ज का आदेश देने वाले लाहौर के सहायक पुलिस कप्तान सांडर्स की हत्या कर दी, बाद में असेम्बली पर बम गिराने के आरोप में भगतसिंह, सुखदेव तथा राजगुरू को इसी षडयंत्र के तहत 1931 में फांसी दी गयी

अन्य धाराएं-वामपक्ष में 1930 के दशक में कुछ और गुट एवं धाराएं उभरीं, जिनमें प्रमुख निम्न थीं-

(1) फॉरवर्ड ब्लॉक-मार्च 1939 में सुभाष चन्द्र बोस तथा उनके सहयोगियों ने फॉरवर्ड ब्लाक की स्थापना की। यह तब हुआ जब बोस को कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया गया।

(2) क्रान्तिकारी समाजवादी दल-इसकी स्थापना 1940 में हुई।

(3) भारतीय बोलशेविक दल-इसकी स्थापना 1939 में एन. दत्त मजूमदार द्वारा की गयी।

(4) क्रान्तिकारी साम्यवादी दल-इसकी स्थापना 1942 में सौम्येन्द्र नाथ टैगोर द्वारा की गयी।

(5) बोल्शेविक लेनिनिस्ट पार्टी-इसकी स्थापना 1941 मे अजीत राय और इन्द्रसेन द्वारा की गयी।

(6) अतिवादी लोकतंत्र दल (Radical Democratic Party)- एम.एन. राय जो भारत में साम्यवादी आन्दोलन के अग्रगामी थे, ने मार्क्सवाद से पूर्णतया निराश होकर इसका गठन 1940 में किया था।

वामपंथ का लेखा जोखा

इसमें कोई शक नहीं है कि वामपक्ष के कार्यकर्त्ता साहसी, जुझारु तथा बलिदानी स्वतंत्रता सेनानियों में थे। लेकिन वामपक्ष अपना बुनियादी आधारकायम करने में असफल रहा-यानी राष्ट्रीय आन्दोलन में वह समाजवादी विचारों और समाजवादी दल का वर्चस्व कायम नहीं कर सका। इस जटिल परिस्थति के बारे में जो कुछ स्पष्टीकरण दिये गये हैं, उनमें कुछ संकेत मिलते हैं। प्रथम तो वामपक्ष की लड़ाई कांग्रेस के प्रभावशाली नेतृत्व से हमेशा गलत मुद्दों को लेकर हुई और जब तनाव बिखराव के बिन्दु तक पहुँचता था, तब वामपक्ष या तो उसके पीछे चलने के लिए बाध्य होता था या बिल्कुल अलग-थलग पड़ जाता था। कांग्रेस के दक्षिणपंथियों के एकदम विपरीत वामपक्ष विचारधारा और कार्यनीति के स्तर पर लचीला नहीं हो पाता था। दक्षिणपंथ के साथ इनके टकराव का आधार विचारधारा के सवालों को लेकर नहीं, बल्कि संघर्ष के तौर-तरीकों तथा कार्यनीति को लेकर हुआ करता था। जैसे कांग्रेस के दणिक्षपंथ के खिलाफ इनका सबसे गंभीर आरोप यह था कि यह पक्ष साम्राज्यवाद से समझौता करना चाहता था और इन्हें आम जनता के संघर्ष में उतरने से डर लगता था। इन आरोपों का खंडन करने में दक्षिणपंथियों को कोई दिक्कत नहीं होती थी, क्योंकि लोगों को उन पर विश्वास था। वामपंथी भारतीय यथार्थ का गहन अध्ययन करने में भी असफल रहे।

जवाहरलाल नेहरू के अतिरिक्त समूचा वामपंथ कांग्रेस के प्रभावशाली नेतृत्व को पूंजीपतियों का नेता मानता था। बातचीत के जरिए समस्या सुलझाने की इनकी नीति को साम्राज्यवाद के साथ समझौते का प्रयास माना जाता था और संवैधानिक सीमा में रहकर की जाने वाली किसी भी कोशिश को स्वतंत्रता के लिए संघर्ष से मुंह मोड़ना माना जाता था। वामपंथियों की एक बहुत बड़ी कमी यह भी थी कि थोड़े समय को छोड़ दें तो विभिन्न दल, धड़े तथा व्यक्ति संयुक्त रूप से काम करने में हमेशा असफल रहे। फिर भी वामपंथियों को भारतीय समाज और राजनीति पर एक बुनियादी प्रभाव डालने में जरूर सफलता मिली। किसानों और मजदूरों के संगठन बने, जो इनकी महत्वपूर्ण सफलता थी। कांग्रेस पर भी वामपंथियों का अच्छा प्रभाव पड़ा। यदि संगठन की दृष्टि से देखें तो, *अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी* में एक-तिहाई मत महत्वपूर्ण मुद्दों पर वामपंथियों के प्रभाव में था। 1936 से 1939 के बीच नेहरू तथा बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। नेहरू अपनी कार्यकारिणी समिति के अर्न्तगत तीन प्रमुख समाजवादियों-आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन को नामित करने में सफल रहे। विचारधारा और संगठन दोनों ही दृष्टियों से देखा जाये तो कांग्रेस का वामपक्ष की ओर झुकाव बढ़ा। दक्षिणपंथियों सहित कांग्रेस ने यह स्वीकार किया कि भारतीय जनता की दरिद्रता और मुसीबतों की जड़ सिर्फ उपनिवेशवादी शासन नहीं है, बल्कि भारतीय समाज का आंतरिक सामाजिक आर्थिक ढांचा भी है, इसलिए यथाशीघ्र इसमें आमूल-चूल परिवर्तन की जरूरत है। राष्ट्रीय आन्दोलन पर वामपक्ष का प्रभाव मूलाधिकार और आर्थिक नीति को लेकर पारित प्रस्तावों में भी झलकता है, जिन्हें कांग्रेस के करांची अधिवेशन में 1931 में पारित किया गया था। इसके अलावा 1936 में फैजपुर अधिवेशन की आर्थिक नीति पर पारित प्रस्ताव में, 1936 के कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में भी वामपंथियों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि यद्यपि वामपक्ष अपने मूल उद्देश्यों को पाने में असफल रहा, फिर भी उसकी उपलब्धियां अमूल्य हैं।

CHRONICLE IAS ACADEMY

ट्रेड यूनियन आन्दोलन

भारत में श्रमिक आन्दोलन की शुरुआत काफी पहले हुई, किंतु एक संगठित आन्दोलन के रूप में इसका क्रमबद्ध इतिहास प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ही शुरू होता है। 1850 और 1859 के बीच के दशक में भारत में पहले तो रेल आयी, फिर बंगाल तथा बम्बई राज्यों में अन्य सहायक उद्योगों का आविर्भाव हुआ जैसे कोयला, उत्खनन, जूट और कपड़ा। भारतीय श्रमिक वर्ग को कम मजदूरी, लम्बे कार्य के घंटे, मिलों में अस्वस्थ वातावरण, बालकों से काम लेना तथा किसी भी प्रकार की सुविधाओं का न होना इत्यादि से निबटना था, जो इंग्लैंड तथा विश्व के प्राय: सभी श्रमिकों को आरंभिक दिनों में सहने पड़े थे। इसके अतिरिक्त भारतीय श्रमिकों को औपनिवेशिक राज्य का दुर्व्यवहार भी सहना पड़ता था। इस औपनिवेशिक परिस्थिति के कारण भारतीय श्रमिक आन्दोलन में एक विशेषता आ गयी। यह आन्दोलन अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का भाग बन गया अर्थात् श्रमिक वर्ग ने अपने आर्थिक कल्याण के साथ-साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए भी प्रयत्न किये।

ट्रेड यूनियन श्रमिकों का एक ऐसा संघ है, जिसका गठन मिलों और कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की अवस्था एवं स्थिति में सुधार करने के लिए किया गया। ट्रेड यूनियनवाद मुख्यत: दो मुद्दों अर्थात् श्रमिक संघ एवं श्रमिक विचारधारा पर केन्द्रित था।

श्रमिकों की दशा में सुधार करने का प्रारंभिक प्रयास कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा शुरू किया गया। सन् 1877 में नागपुर के सूती मिल में श्रमिकों द्वारा सर्वप्रथम हड़ताल, मजदूरी की दर के मुद्दे को लेकर किया गया। श्रमिकों के कार्य करने के घंटे को कम करने के मुद्दे को लेकर एस. एस. बंगाली ने सन् 1878 में बम्बई विधान परिषद में एक बिल पेश किया, परंतु उनका यह प्रयास असफल रहा। सन् 1879 में शशिपद बनर्जी ने बंगाल में एक *'श्रमिक क्लब'* (Working Men Club) की स्थापना की तथा 1874 में उन्होंने 'भारत श्रमजीवी' नामक एक मासिक पत्रिका की भी शुरुआत की जिसका उद्देश्य श्रमिकों को शिक्षित करना था। यह विधि की विडम्बना है कि भारतीय श्रमिकों की स्थिति को सुधारने की आवाज लंकाशायर के उद्योगपतियों द्वारा की गयी। वस्तुत: उन्हें डर था कि सस्ती मजदूरी के कारण भारतीय उत्पाद कहीं उनके प्रतिद्वंदी न हो जायें। उन्होंने एक आयोग की मांग भी की जो भारतीय कारखानों में श्रमिकों की परिस्थिति का अध्ययन करे। पहला आयोग 1875 में नियुक्त हुआ और *प्रथम कारखाना कानून 1881* (First Factory Act-1881) पारित किया गया। इस कानून के अधीन 7 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को कारखाना में नहीं लगाया जा सकता था तथा 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए काम करने के घंटों को भी सीमित किया गया और यह भी कहा गया कि खतरनाक मशीनों के चारों ओर बाड़ लगना चाहिए। *दूसरा कारखाना कानून 1891* में पारित हुआ और उसमें स्त्रियों के काम करने का समय 11 घंटे कर दिया गया। बच्चों के काम करने के लिए न्यूनतम आयु 7 और 12 से बढ़ाकर 9 और 14 कर दी गयी। इसी प्रकार 1909 में पटसन कारखानों के लिए भी कानून बने।

श्रमिक संघों का उदय

भारतीय श्रमिकों के प्रथम नेता एन. एम. लोखाण्डे ने सन् 1884 मे बम्बई में *'बम्बई मिलहैण्डस एसोसिएशन'* की स्थापना की। इसे प्रथम श्रमिक संघ के रूप में भी जाना जाता है (यद्यपि यह ट्रेड यूनियन नहीं था)। इस संघ ने निम्न मांगे रखीं: (1) कार्य करने के घंटे में कमी, (2) साप्ताहिक छुट्टी तथा (3) कारखाने में कार्य करते वक्त हुई दुर्घटनाओं का हर्जाना। लोखाण्डे ने 'दीनबंधु' नामक पत्रिका की भी शुरुआत की। 1899 के वृहत भारतीय प्रायद्वीपीय रेलवे हड़ताल को श्रमिक वर्ग का प्रथम संगठित हड़ताल माना जाता है। श्रमिकों का दूसरा संगठित विरोध 1908 को बम्बई सूती मिल की हड़ताल था। यह हड़ताल तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में की गयी थी, जो श्रमिकों की राजनैतिक चेतना का उद्घोषक थी। लोखाण्डे की संस्था की तरह अनेक यूनियनें बनीं जैसे प्रिंटर्स यूनियन, पोस्टल यूनियन आदि। लेकिन इनमें से किसी भी यूनियन ने (प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पहले के किसी भी यूनियन ने) मजदूरों के संघर्ष को स्पष्ट तौर पर व्यक्त नहीं किया।

प्रथम विश्व युद्ध और भारतीय ट्रेड यूनियनवाद का जन्म : प्रथम विश्व युद्ध के दिनों में वस्तुओं के मूल्य बढ़े, उद्योगपतियों को अभूतपूर्व लाभ हुआ, परन्तु मजदूरों की मजदूरी न्यूनतम ही रही। मध्यम वर्ग ने इस असंतुष्ट और पीसते हुए मजदूर वर्ग का बड़ी चतुराई से अपनी राजनैतिक एवं आर्थिक स्वार्थों के लिए उपयोग करने की कोशिश की। इसी बीच महात्मा गांधी का राष्ट्रीय रंगमंच पर आगमन हुआ और उन्होंने अपने आन्दोलन के आधार को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने श्रमिकों और कृषकों को अपने आन्दोलन में सम्मिलित किया।

एनी बेसेंट के नजदीकी सहायक बी. पी. वाडिया ने अप्रैल 1918 में *'मद्रास श्रमिक संघ'* की स्थापना की। भारत में यह पहला ट्रेड यूनियन था। गांधीजी ने 1920 में अहमदाबाद में एक यूनियन बनायी, जो आगे चलकर *'टेक्सटाइल्स लेबर एसोसिएशन'* के रूप में विकसित हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात 'राष्ट्र संघ' और 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' (ILO) का गठन हुआ जिनसे श्रमिकों की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका मिल गयी। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) की स्थापना 1920 में हुई। इस वर्ष के राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष लाला लाजपत राय को ही इस ट्रेड यूनियन का अध्यक्ष बनाया गया। इसका पहला अधिवेशन बम्बई में हुआ। इस ट्रेड यूनियन की स्थापना का तात्कालिक कारण था अर्न्तराष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता ग्रहण करना। राष्ट्रीय नेताओं ने इस संगठन से अपना समीप का संबंध बनाये रखा और सी. आर. दास, वी.वी. गिरि, सरोजिनी नायडू, जवाहर लाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस सभी ने बारी-बारी से इसके अधिवेशनों के प्रधान के रूप में कार्य किया।

1926 के ट्रेड यूनियन एक्ट के द्वारा पहली बार ट्रेड यूनियन को थोड़ी-सी वैधता प्राप्त हुई। इस *एक्ट* ने ट्रेड यूनियन गतिविधियों के पंजीकरण एवं यूनियन के गठन के लिए शर्तें निर्धारित कीं। परंतु साथ ही उसकी राजनैतिक गतिविधियों पर कुछ नियंत्रण भी स्थापित कर दिये। सबसे बड़ी हड़ताल बम्बई के मिलों में 1924 में एवं पुन: 1925 में हुई। 1926 में *'बम्बई सूती वस्त्र मजदूर यूनियन'* की स्थापना हुई। इसके अध्यक्ष एन. एम. जोशी हुए। यह 1926 के एक्ट के अर्न्तगत प्रथम पंजीकृत ट्रेड यूनियन था।

1920 के बाद साम्यवादी आन्दोलन के उत्थान के पश्चात् ट्रेड यूनियन आन्दोलन में कुछ क्रान्तिकारी और सैनिक भावना आ गयी। इसने ट्रेड यूनियन कांग्रेस को उग्र बना दिया। 1927 में बहुत से साम्यवादी दलों ने अपने को श्रमिक एवं कृषक पार्टी के रूप में संगठित कर लिया। 1926-27 के दिनों में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस

CHRONICLE IAS ACADEMY

में दो गुट हो गये- एक सुधारवादी और दूसरा क्रान्तिकारी, जिन्हें क्रमशः *'जेनेवा एम्सटर्डम गुट'* और *'मास्को गुट'* भी कहते थे। दुर्भाग्यवश कुछ समय में ही अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दो बार विभाजन हुआ। एम. एन. जोशी के अधीन उदारवादी गुट एटक (AITUC) से बाहर हो गया और 1929 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन (AITUF) की स्थापना की। विभाजन का मुख्य मुद्दा यह था कि एटक (AITUC) को ब्रिटिश सरकार द्वारा श्रमिकों पर नियुक्त रॉयल कमीशन का बहिष्कार करना चाहिए अथवा नहीं। उदारवादियों ने सहयोग देना चाहा, जबकि उग्रवादियों ने बहिष्कार करना चाहा। 1931 में फिर दूसरा विभाजन हुआ जबकि साम्यवादियों ने एटक (AITUC) का परित्याग किया और 'लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का गठन किया। इन विभाजनों ने ट्रेड यूनियन आन्दोलन को कमजोर कर दिया।

ट्रेड यूनियन का दमन

मार्च 1929 में ब्रिटिश सरकार ने श्रमिक वर्ग के महत्वपूर्ण नेताओं को गिरफ्तार किया और उन पर मुकदमा चलाने के लिए उन्हें मेरठ लाया गया। ट्रेड यूनियन नेताओं पर मुख्य अभियोग यह था कि उन्होंने ब्रिटिश क्राउन को भारत की संप्रभुता से वंचित करने का षड्यंत्र किया। इस मुकदमे के परिणामस्वरूप मुजफ्फर अहमद, डांगे, जोगलेकर, फिलीप स्प्रैट, बैन ब्रैडली, हचिंगसन एवं अन्य को सजा दी गयी। 1929-31 का मेरठ मुकदमा का विश्व स्तर पर प्रचार हुआ। परंतु मेरठ मुकद्दमे ने तात्कालिक रूप से श्रमिक आन्दोलन को गहरा धक्का पहुँचाया।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन का नया चरण 1935 के बाद प्रारंभ हुआ। एटक (AITUC) की एकता पुनः स्थपित कर दी गयी। 1937 में राज्यों में कांग्रेस सरकारों के गठन ने श्रमिकों को प्रेरणा दी एवं उनकी आकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया। 1936 एवं 1939 के बीच ट्रेड यूनियनों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। हड़तालों की संख्या 1936 में 157 से बढ़कर 1939 में 406 हो गयी। आगे एम. एन. राय ने 'इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर' नामक एक सरकार समर्थक यूनियन की स्थापना की। 1944 में सरदार वल्लभभाई पटेल ने 'भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (INTUC) की स्थापना की। अतः स्वतंत्रता के पश्चात राजनीतिक विचारधारा के यूनियनवाद का ध्रुवीकरण हुआ। वास्तविक रूप में यह ट्रेड यूनियन आन्दोलन के विस्तार का नया चरण था।

आजाद हिंद फ़ौज आन्दोलन

1942-43 के बीच देश की सीमाओं के बाहर भारतीय राष्ट्रवाद को एक अनोखी अभिव्यक्ति मिली। यह अभिव्यक्ति रास बिहारी बोस, कैप्टन मोहन सिंह और सुभाषचन्द्र बोस की उग्र देशभक्ति के रूप में मिली। प्रथम विश्व युद्ध के समय गदर पार्टी तथा अन्य क्रांतिकारियों ने तुर्की तथा जर्मनी की सहायता, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लेनी चाही पर वे सफल नहीं हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के समय फिर वैसा ही अवसर आया। इस समय इस प्रकार के आन्दोलन के नेता सुभाषचन्द्र बोस थे। वे भारत के हित में इस युद्ध का लाभ उठाने का निश्चय कर चुके थे। उनकी गतिविधियों के परिणामस्वरूप *'आजाद हिंद फ़ौज'* का निर्माण हुआ और स्वतंत्रता आन्दोलन में एक नया मोड़ आया।

जब युद्ध के बादल मंडरा रहे थे तो श्री बोस ने ब्रिटेन एवं जर्मनी के युद्ध का लाभ उठाकर भारत को स्वाधीन कराना चाहा। ब्रिटिश सरकार को सुभाष चन्द्र बोस में एक खतरनाक क्रांतिकारी नजर आया, अतः इन्हें 1940 में भारत सुरक्षा कानून के अंतर्गत गिरफ्तार करके कलकत्ता के प्रेसीडेंसी जेल में बंद कर दिया गया। इसके बाद उनके घर में ही नजरबन्द कर दिया गया। परन्तु नेताजी जनवरी 1941 में पुलिस की नजरों में धूल झोंकर जियाउद्दीन नामक पठान का छद्म वेश धारण कर काबुल पहुंच गये और वहां से इतालवी पासपोर्ट लेकर वे रूस पहुंचे, लेकिन इसी बीच जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और रूस मित्र राष्ट्रों में शामिल हो गया। सुभाष चन्द्र बोस रूस से जर्मनी इस उद्देश्य से चले गये कि वहां शायद मदद प्राप्त कर सकें। वहां हिटलर के दाहिने हाथ रोबेन ट्राप ने उनका स्वागत किया। सुभाष चन्द्र बोस ने प्रस्ताव रखा कि-

(1) वे बर्लिन रेडियो से ब्रिटिश विरोधी प्रचार करेंगे,
(2) जर्मनी में भारतीय युद्धबंदियों से आजाद हिंद फौज बनायेंगे और
(3) तीन प्रमुख राष्ट्र जर्मनी, इटली तथा जापान भारतीय स्वाधीनता की संयुक्त घोषणा करेंगे।

पहले दो प्रस्तावों को तो स्वीकार किया गया पर तीसरे पर वे राजी नहीं हुए। यहां जर्मनी में ही उनके नाम के साथ 'नेताजी' शब्द जोड़ा गया। उन्होंने पेरिस, रोम में 'फ्री इंडिया सेंटर' स्थापित किया। सुभाषचन्द्र बोस ने जर्मनी में भारतीय युद्धबंदियों को भी संगठित करने का प्रयास किया। उनसे उन्होंने 'इंडियन नेशनल आर्मी' में सम्मिलित होने का अनुरोध किया तथा 'जय हिंद' का नारा अपनाया। यहां युद्धबंदियों की संख्या थोड़ी होने के कारण कोई ज्यादा सफलता नहीं मिल सकी। इसी बीच पूर्व में जापान को बड़ी सफलता मिली। 15 जनवरी, 1942 को सिंगापुर पर उसका कब्जा हो गया और हजारों भारतीय सैनिक युद्धबंदी बनाये गये। अतः वहां से सुभाषचन्द्र बोस जापान चले गये।

जापान के अंचल में रास बिहारी बोस ने भारतीय स्वतंत्रता लीग खड़ी करने की कोशिश की। श्री रास बिहारी बोस राष्ट्रवादी क्रांतिकारी थे जो प्रथम विश्व युद्ध के दौरान गिरफ्तारी से बचने के लिए जापान चले गये थे। उन्होंने मार्च 1942 में टोकियो में एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें भारतीय सेना संगठित करने का प्रस्ताव पास किया गया। रास बिहारी ने ही जून 1942 में बैंकाक में एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें भारतीय सैनिकों के प्रतिनिधि भी शामिल हुए। उन्होंने *'भारतीय स्वाधीनता लीग'* की स्थापना की और सुभाषचन्द्र बोस को पूर्व एशिया में बुलाने का निश्चय किया। इसी बीच 15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर का पतन हुआ। इनके 40,000 युद्धबंदियों को लेकर कप्तान मोहन सिंह ने 'इंडियन नेशनल आर्मी' (भारतीय राष्ट्रीय सेना) नाम से आजाद हिंद फौज खड़ी की। आजाद हिंद फौज को आरंभ से ही बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारतीय अफसरों और जवानों ने जापानियों द्वारा अपनी युद्ध नीति का पालन करने में उनका इस्तेमाल किये जाने की कोशिश को बुरा माना। इसी परिप्रेक्ष्य में *'आजाद हिंद फौज'* सर्वोच्च कमान संभालने के लिए सुभाष चन्द्र बोस को सिंगापुर लाया गया। 4 जुलाई को रास बिहारी बोस ने पूर्व एशिया की बागडोर सुभाष चन्द्र बोस को सौंप दी। उन्हें 'इंडिया इंडिपेंडेंस लीग' का अध्यक्ष बनाया गया। उन्हें 'नेताजी' कहकर संबोधित किया गया जैसे जर्मनी में सर्वोच्च नेता को 'फ्युरर' और इटली में 'डयूस' कहा जाता है।

सुभाष चन्द्र बोस ने सिंगापुर में स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार बनाने और आजाद हिंद फौज को लेकर भारत जाने की घोषणा की।

CHRONICLE IAS ACADEMY

उन्होंने कमांड लिया तथा जापानी सरकार से तय किया कि दक्षिण-पूर्व एशिया में आजाद हिंद फौज का संघर्ष चलाना है तथा भारत के उत्तर-पूर्वी अंचल को स्वतंत्र कराना है। अस्थायी सरकार का आरंभ 21 अक्टूबर, 1943 को हुआ। सुभाष चन्द्र बोस प्राइम मिनिस्टर तथा सेना के सुप्रीम कमांडर बने। वित्त, प्रचार तथा स्त्रियों के विभाग क्रमशः ए.सी.चटर्जी, एस.ए. अय्यर तथा लक्ष्मी स्वामीनाथन को सौंपे गये। स्त्रियों ने इस अभियान में काफी संख्या में भाग लिया तथा 'झांसी की रानी' रेजीमेंट कायम की। आजाद हिंद फौज का राष्ट्रीय गान टैगोर की कविता थी। कांग्रेस का तिरंगा झंडा इसका झंडा था। तीन ब्रिगेडों के नाम थे- सुभाष ब्रिगेड, गांधी ब्रिगेड एवं नेहरू ब्रिगेड।

जापान सरकार ने अंडमान तथा निकोबार द्वीप पर विजय प्राप्त कर इसका शासन इस अस्थायी सरकार को सौंप दिया। बोस दिसम्बर 1943 में वहां गये तथा वहां उन्होंने तिरंगा झंडा फहराया। रंगून में अस्थायी सरकार की राजधानी एवं आजाद हिंद फौज का कमांड बना। आजाद हिंद फौज बर्मा में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ी और अराकान मोर्चे पर विजय प्राप्त कर भारत की सीमा में प्रवेश कर गयी। जापानियों की सहायता से उन्होंने कोहिमा पर भी अधिकार कर लिया। आजाद हिंद फौज का उत्साह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। कुछ ही सयम बाद उन्होंने इम्फाल को घेर लिया गया। उन्हें विश्वास था कि कुछ ही दिनों में इम्फाल का पतन हो जायेगा, परंतु इस प्रदेश में भारी वर्षा आंरभ हो जाने के कारण आजाद हिन्द फौज का जापान से सम्पर्क टूट गया। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध स्थिति भी अब बदल रही थी।

आजाद हिंद के फौज के अफसरों और सैनिकों में देशभक्ति की भावना थी और उन्होंने मुक्तिदाता के रूप में भारत में प्रवेश करना चाहा था। परन्तु इसी बीच युद्ध में एक नया मोड़ आया और पूर्वी एशिया में जापान की कई स्थानों पर हार हुई। जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना असफल हो गयी। टोकियो जाते हुए एक हवाई जहाज के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने से नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की मृत्यु हो गयी। विश्व ने सहसा इस घटना पर विश्वास नहीं किया।

आजाद हिंद फौज का लेखा-जोखा

यह सही है कि बहुत से भारतीय नेताओं ने जापान और इसके फासीवादी मित्रों की सहायता से भारत को स्वतंत्र कराना पसंद नहीं किया। लेकिन युद्ध के अंतिम वर्षों में सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिंद फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढाढ़स बंधाया, जो निराशा और असहायता से ग्रस्त थे। उन्होंने सेना के जवानों और भारतीय जनता के हर वर्ग के सामने साहस और देशभक्ति की ऐसी मिसाल रखी जो प्रेरणादायक थी।

अस्थायी सरकार और आजाद हिंद फौज ने भारत की स्ततंत्रता के प्रश्न को ब्रिटिश साम्राज्य के संकुचित दायरे से निकालकर विस्तृत अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर ला दिया।

आजाद हिंद फौज ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय सैनिक मात्र पैसे के लिए काम करने वाले सैनिक नहीं हैं, अपितु मातृभूमि के सच्चे सपूत हैं और देशभक्त हैं। कठिन परिस्थितियों में मुकाबला करने में आजाद हिंद फौज के अफसरों ने बराबर बेमिसाल काम किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य खोखला हो गया तथा भारत एवं अन्य उपनिवेशों की स्वतंत्रता निकट आ गयी। फिर भी आजाद हिंद फौज ने भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सर्वथा नवीन एवं अभूतपूर्व अध्याय जोड़ा। जापान की पराजय के अतिरिक्त आजाद हिंद फौज की पराजय के अन्य कारण थे- अपर्याप्त प्रतिक्षण, अपर्याप्त भोजन सामग्री, अपर्याप्त वर्दी तथा जापानी सेना के द्वारा बराबर यह प्रयत्न की वे उनके प्रचार दस्ते के रूप में रहें।

आजाद हिंद फौज पर मुकदमा

जब ब्रिटिश सरकार ने *'आजाद हिंद फौज'* के कुछ अफसरों के विरुद्ध शासन की वफादारी की शपथ तोड़ने और विश्वासघात करने के आरोप में मुकदमा चलाने की घोषणा की, तो राष्ट्रवादी विरोध की लहर सारे देश में फैल गयी। सारे देश में विशाल प्रदर्शन हुए और अफसरों की रिहाई की मांग की गयी। जब सरदार गुरुबख्श सिंह ढिल्लों, श्री प्रेम सहगल और श्री शाहनवाज के ऊपर ब्रिटिश हुकूमत ने राजद्रोह का मुकदमा चलाया, तो सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्रोह की भावना भड़क उठी और ये तीनों देश के विभिन्न संप्रदायों की सांकेतिक एकता के प्रतीक बन गये। कोर्ट मार्शल का मुकदमा लाल किले में चलाया गया था। कांग्रेस ने इन अफसरों की पैरवी का फैसला किया। न केवल कांग्रेस बल्कि सभी राजनैतिक दलों ने भी मुकदमे की सुनवाई का विरोध किया और इन तीनों की रिहाई की जोरदार आवाज उठायी। कांग्रेस ने भूलाभाई देसाई, श्री तेज बहादुर सप्रु, आसफ अली सरीखे प्रख्यात वकीलों को लेकर 'आजाद हिंद फौज बचाव समिति' का गठन किया गया। 30 वर्ष बाद जवाहर लाल नेहरू तथा श्री जिन्ना ने भी वकील का चोंगा धारण किया। लेकिन अदालत ने तीनों अफसरों को अपराधी करार देकर सजाए मौत दे दी। इन तीनों के प्रति जनता की इतनी सहानुभूति थी कि दस्तखतों के आन्दोलन, सभाओं के दौर के आगे सरकार को हथियार डालने पड़े। गवर्नर जनरल ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए उन्हें रिहा कर दिया। अब तक बोस के प्रयत्नों के कटु आलोचक कांग्रेस ने अपनी शान बढ़ायी। राष्ट्र की मनःस्थति को भांपकर कांग्रेस ने *'आजाद हिंद फौज'* का समर्थन कर समग्र आंदोलन का यश ले लिया। इन बंदियों के रिहाई के यश का सेहरा कांग्रेस ने अपने सिर बांध लिया।

शाही नौसेना का सशस्त्र विद्रोह

आजाद हिंद फौज के आन्दोलन का प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन पर तथा सेना पर भी पड़ा। 1946 में सेना में अशांति, शाही सेना का विद्रोह अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएं थी, जिन्होंने ब्रिटिश शासन की भारत में नींव हिला दी।

द्वितीय महायुद्ध के पहले भारतीय समुद्र तट की रक्षा करने वाले जंगी जहाजों को ब्रिटिश नौसेना से अलग करके रॉयल इंडियन नेवी (राजकीय भारतीय नौसेना) का गठन हुआ था। इसके अधिकांश बड़े अफसर अंग्रेज थे। नौसेना के भारतीय सैनिकों को वो सुविधाएं न दी जाती थी जो ब्रिटिश नौ सेना को दी जाती थी। ब्रिटिश अक्सर भारतीयों का अपमान करते थे। उन्हें घटिया खाना दिया जाता था। भत्ता भी बहुत कम दिया जाता था। बार-बार अनुरोध करने पर भी ब्रिटिश अधिकारियों ने उनकी शिकायत दूर नहीं की।

फरवरी 1946 में नौसेना के कुछ नाविकों की बैरकों में प्रशिक्षण चल रहा था। वहीं खराब खाने की शिकायत को लेकर ठन गयी। शीघ्र ही बैराकों की दीवारों पर पोस्टर लग गये- अंग्रेजों भारत छोड़ो! हिन्दुस्तान जिन्दाबाद! कुछ रेडियो ऑपरेटरों को इस संदेह में गिरफ्तार कर लिया गया कि वे कम्युनिस्ट पार्टी के आदमी हैं। इस गिरफ्तारी का जवाब नाविकों ने 18 फरवरी, 1946 की हड़ताल से दिया। यह हड़ताल कराची तथा मद्रास में भी फैल गयी। इस स्थानों की जनता

CHRONICLE IAS ACADEMY

के समर्थन से यह विकसित हुई तथा अन्य नगरों में भी फैली। परंतु मुख्य रूप से यह बम्बई में केन्द्रित रही। नौसेना के विद्रोहियों को बम्बई के नागरिकों का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। उनके दमन को भेजे गये भारतीय फौजी दस्तों ने शस्त्र उठाने से इनकार कर दिया। तब ब्रिटिश फौजें बुलायी गयीं और 7 घंटे तक किले की बैरकों के बाहर युद्ध हुआ। 22 फरवरी को ब्रिटिश शासन ने बेहिसाब गोलियां चलवाकर जनता के मनोबल को तोड़ना चाहा। इसी दिन बम्बई में अभूतपूर्व हड़ताल हुई थी, जिसमें 20 लाख से भी अधिक मजूदरों ने हिस्सा लिया था। तीन दिनों में लगभग 200 लोग मारे गये।

जबलपुर के सिगनल सैनिकों ने 23 फरवरी को हमदर्दी दिखाने के लिए हड़ताल की घोषणा की। कलकत्ता, बम्बई तथा अन्य नगरों में विशाल जन प्रदर्शन हुए। नौसेना के इस विद्रोह के पीछे जन-समर्थन तथा भारतीय सेना की हमदर्दी से ब्रिटिश शासक घबरा गये। बम्बई के कामगारों तथा मध्यवर्गीय जनता ने जिस प्रकार सशस्त्र क्रांतिकारी नौसेना के विद्रोहियों का साथ दिया उससे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिल गयी।

25 फरवरी, 1946 को नौसेना के विद्रोहियों को समप्रण की सलाह देने वाले श्री बल्लभ भाई पटेल के दबाव से यह आंदोलन बिखर गया। इसी आशय का दबाव मुस्लिम लीग ने भी डाला। अंततः केन्द्रीय हड़ताल समिति ने हथियार डाल दिये। हड़ताल समिति ने अध्यक्ष ने आखिरी बयान दिया कि 'हम भारत के सामने आत्म-समप्रण कर रहे हैं, ब्रिटेन के सामने नहीं।' कांग्रेस और लीग के आश्वासनों के बावजूद दो दिन बाद हड़ताल समिति के नेता गिफ्तार कर लिए गये। इस प्रकार भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का एक स्वर्णिम दौर बिखर गया।

इस विद्रोह का महत्व यह है कि इसने यह दिखाया कि भारतीय जनता अब विदेशी शासन के अपमान को और अधिक सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। रॉयल इंडिया नेवी में हुआ विद्रोह ब्रिटिश शासन के अंत का लगभग वैसा ही प्रतीक है जैसा कि स्वतंत्रता दिवस।

इन विद्रोहों का नेतृत्व कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट या फारवर्ड ब्लॉक वालों ने या तीनों ने मिलकर किया। इनके आपस के संबंध या कांग्रेस के साथ संबंध विरोध या असहयोग के थे। ऐसा लगने लगा कि विस्फोटक स्थिति नियंत्रण के बाहर हो जायेगी, जो राजनीतिक दलों के लिए चिंता का विषय हो गया, क्योंकि स्वतंत्र भारत के लिए अनुशासित सशस्त्र सेनाएं आवश्यक थीं और जल्दी ही इन दलों को शासन करना था।

एक तरह से यह विद्रोह कांग्रेस की प्रारंभिक राष्ट्रवादी गतिविधियों का ही विस्तार थी। वास्तव में यह कांग्रेस द्वारा घोषित साम्राज्य विरोधी भावना की अभिव्यक्ति थी। कांग्रेस ने इस ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का निर्माण अपने चुनाव प्रचार, आजाद हिंद फौजियों के साथ एकजुटता का प्रदर्शन एवं 1942 की ज्यादतियों को दर्शाकर किया। हालांकि कांग्रेस ने इस विद्रोह का आह्वान नहीं किया था और न ही दूसरे दलों ने। नाविकों के दमन के विरुद्ध इनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने एवं रोष दर्शाने के लिए लोग स्वतःस्फूर्त रूप से इकट्ठा हो गये। यद्यपि कांग्रेस ने लोगों की भावनाओं का स्वागत किया एवं सरकारी दमन की निन्दा की, लेकिन इसने अधिकारिक रूप से विद्रोह का समर्थन नहीं किया क्योंकि इसका तरीका एवं समय गलत था। कांग्रेस नेताओं के लिए यह स्पष्ट था कि सरकार समर्थ है एवं विद्रोह को कुचलने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है। इसलिए वल्लभ भाई पटेल ने नाविकों से आत्म समप्रण के लिए कहा। कांग्रेस द्वारा इस तरह की चेष्टाएं वास्तव में यह प्रदर्शित करती हैं कि संधि एवं समझौते कांग्रेसी संघर्ष के तरीके के अभिन्न अंग थे तथा जन आन्दोलन प्रारंभ करने से पहले उन्हें आजमाया जाता था। 1946 में आन्दोलन प्रारंभ करने से पहले समझौते के विकल्प की छानबीन करना आवश्यक था, क्योंकि लग रहा था कि ब्रिटेन बहुत जल्दी भारत छोड़ देगा। इसके साथ-साथ ही आन्दोलन के लिए ब्रिटिश विरोधी तैयारियों को बनाये रखा जाना था।

स्मरणीय तथ्य

क्रान्तिकारी गतिविधियां

- चापेकर भाइयों (दामोदर एवं बालकृष्ण) द्वारा पूणे में जनता में अलोकप्रिय मि. रैण्ड और ले. एम्हर्स्ट की हत्या 1897 में कर दी गयी।
- 1906 में बारीन्द्र घोष तथा भूपेन्द्र दत्ता द्वारा पूर्वी बंगाल के ले. गर्वनर की हत्या का असफल प्रयत्न।
- 1908 में खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी द्वारा कैनेडी भाइयों की हत्या, जबकि असली निशाना किंग्सफोर्ड नामक क्रूर न्यायमूर्ति बच निकला।
- वायसराय लार्ड हार्डिंग पर रास बिहारी बोस तथा सचिन्द्रनाथ सान्याल के द्वारा 1912 में बम फेंका गया। हार्डिंग बच गया।
- 1909 में लंदन में मदन लाल ढींगरा ने कर्जन वायली नामक इंडिया आफिस के अधिकारी की हत्या की दी।
- 1928 में भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद व राजगुरु द्वारा सांडर्स की हत्या।
- 1929 अप्रैल में केन्द्रीय विधान सभा में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा बम फेंकना।
- दिसम्बर 1929 में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के कुछ सदस्यों ने लार्ड-इर्विन की रेलगाड़ी को उड़ाने की चेष्टा की।
- दिसम्बर 1932 में दो स्कूली छात्राओं शान्ति व सुनीति चौधरी के हाथों बंगाल में तिप्पेरा के न्यायाधीश (मिस्टर स्टीवन) की हत्या।
- बंगाल के जतीन मुखर्जी (जो बाघा जतीन के नाम से प्रसिद्ध थे) के नेतृत्व में ट्रेन उड़ाना एवं फोर्ट विलियम पर कब्जा आदि का आयोजन, लेकिन सितम्बर 1915 में उड़ीसा के बालासोर के पास अंग्रेजों से लड़ते हुए जतीन के मरने के कारण यह प्रयास असफल रहा।
- फिरोजपुर, लाहौर, रावलपिण्डी के विद्रोहों के आधार पर 21 फरवरी, 1915 को रास बिहारी बोस, सचीन्द्र सान्याल तथा अन्य विद्रोही लोगों का समन्वित प्रयास असफल रहा। असफलता का कारण विश्वासघात था। इस घटना के बाद रास बिहारी बोस जापान चले गये तथा सान्याल को आजीवन निष्कासन की सजा मिली।
- 1915 में जर्मन विदेश मंत्रालय के सहयोग से 'जिम्मेरान योजना' के अर्न्तगत वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ दत्त, हरदयाल आदि द्वारा 'इन्डियन इन्डिपेन्डेन्स कमेटी' की स्थापना।
- 1915 में काबुल में राजा महेन्द्र प्रताप, बरकतुल्ला, ओबेदुल्ला सिन्धी (एक देवबन्द मुल्ला) के द्वारा 'स्वतंत्र भारत की आंतरिक सरकार' की स्थापना की गयी।
- 1930 में सूर्यसेन ने 'इण्डियन रिपब्लिकन आर्मी' के नाम से चटगांव में स्वतंत्रता की घोषणा की।
- राजनैतिक कैदियों के स्तर, रहन-सहन की बेहतरी के लिए जतीन दास ने जेल में अनशन शुरू किया, जो 64 दिनों तक चला और उनकी मृत्यु हो गयी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- 23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दे दी गयी।
- 1931 में इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर आजाद द्वारा आत्म-हत्या।
- 1933 में सूर्यसेन को पकड़ा गया और फांसी दे दी गयी।

वामपंथी

- बम्बई में श्रीपाद अमृत डांगे ने 'गांधी और लेनिन' नाम का पर्चा प्रकाशित कराया तथा प्रथम समाजवादी साप्ताहिक *'दी सोशलिस्ट'* की शुरुआत की।
- मुजफ्फर अहमद ने बंगाल में 'नवयुग' निकाला और काजी नजरूल इस्लाम की सहायता से 'बंगाल' की स्थापना की।
- पंजाब में गुलाम हुसैन ने 'इंकलाब' का प्रकाशन किया।
- मद्रास में एम. श्रृंगारवेलू ने 'लेबर किसान गजट' की स्थापना की।
- साम्यवादी दलों पर चलाये गये षड्यंत्र-
  पेशावर षड्यंत्र (1922-23) बाहर से आये कम्युनिस्टों पर राजद्रोह का मुकदमा।
  कानपुर षड्यंत्र केस में(1924-25) श्रीपाद अमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, नलिनी गुप्ता तथा शौकत उस्मानी को सजा।
  मेरठ षड्यंत्र (1929-33) सबसे लम्बा चला तथा 17 लोगों को सजा
- मेरठ षड्यंत्र में तीन ब्रिटिश कम्युनिस्ट-फिलिप स्प्रेट, बेन ब्रैडले और लेस्टर हचिन्सन भी थे। कैदियों को बचाने के लिए जवाहर लाल नेहरू, एम. ए. अंसारी, एम. सी. छागला ने प्रयास किये।
- नेहरू की कार्यकारणी समिति में तीन प्रमुख समाजवादी-आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन थे।

श्रमिक

- श्रमिकों के पक्ष में 1878 में एस. एस. बंगाली ने बम्बई विधान परिषद में एक बिल प्रस्तुत किया, परन्तु उनका यह प्रयास असफल रहा।
- 1870 में शशिपद बनर्जी ने बंगाल में एक 'श्रमिक क्लब' की स्थापना की तथा 1874 में 'भारत श्रमजीवी' नामक मासिक पत्रिका की भी शुरुआत की।
- प्रथम कारखाना कानून 1881 में पारित हुआ, जो बाल श्रमिकों के कार्य के घंटे से संबंधित था।
- दूसरा कारखाना कानून 1891 में पारित हुआ, जो महिलाओं के कार्य के घंटे से संबंधित था।
- 1884 में एन. एम. लोखाण्डे ने 'बम्बई मिलहैण्डस एसोसिएशन' की स्थापना की। उन्होंने 'दीनबंधु' नामक पत्रिका की भी शुरुआत की।
- 1899 का वृहत भारतीय प्रायद्वीपीय रेलवे हड़ताल श्रमिकों की प्रथम संगठित हड़ताल थी।
- 1908 का बम्बई सूती मिल की हड़ताल तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में की गयी थी।
- 1918 में बी. पी. वाडिया ने 'मद्रास श्रमिक संघ' की स्थापना की। यह भारत का पहला ट्रेड यूनियन था।
- 1920 में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' एटक (AITUC) की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में हुआ।
- 1926 के 'ट्रेड यूनियन एक्ट' के द्वारा पहली बार ट्रेड यूनियन को वैधता मिली।
- 1926 में 'बम्बई सूती वस्त्र मजदूर यूनियन' की स्थापना हुई, जो 1926 के एक्ट के अर्न्तगत प्रथम पंजीकृत ट्रेड यूनियन था। इसके अध्यक्ष एन. एम. जोशी हुए।
- एन. एम. जोशी के अधीन उदारवादी गुट एटक (AITUC) से बाहर हो गया और 1929 में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' (AITUF) की स्थापना की।
- 1931 में फिर दूसरा विभाजन हुआ, जबकि साम्यवादियों ने एटक (AITUC) का परित्याग कर 'लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का गठन किया।
- 1929-31 में मेरठ षड्यंत्र द्वारा ट्रेड यूनियन का दमन किया गया।
- एम. एन. राय ने 'इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर' नामक एक सरकार समर्थक यूनियन की स्थापना की।
- 1944 में सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 'भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (INTUC) की स्थापना की।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

द्वितीय विश्व युद्ध से स्वतंत्रता प्राप्ति तक

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव भारतीय राजनीति और स्वतंत्रता संग्राम पर भी व्यापक ढंग से पड़ा। इसने स्वतंत्रता आन्दोलन की गति तीव्र कर दी। कांग्रेस को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। मुस्लिम लीग की नीति में भी परिवर्तन आया। सरकार को भी बाध्य होकर विश्व युद्ध और उसके पश्चात् भारत के लिए संवैधानिक सुधारों और स्वतंत्रता प्रदान करने के वायदे करने पड़े । इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध का भारतीय राजनीतिक पर अमिट प्रभाव पड़ा।

सितम्बर 1939 में विश्व युद्ध का दैत्य संसार के रंगमंच पर आया। अंग्रेजी सरकार ने भारतीय विधानमंडल से भी परामर्श किये बिना, भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार संशोधन कानून द्वारा वायसराय को असीमित अधिकार प्रदान कर दिये। अब वायसराय 1935 ई. के अधिनियम के स्थान पर भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत सिर्फ अध्यादेशों द्वारा ही शासन कर सकता था। कांग्रेस ने इस कार्रवाई का विरोध किया। उसने सरकार से अनुरोध किया कि वह पहले युद्ध संबंधी लक्ष्यों को स्पष्ट करे, तभी कांग्रेस उसे अपना समर्थन देगी।

17 अक्तूबर, 1939 को वायसराय लिनलिथगो ने यह स्पष्ट किया कि भारत में 'डोमिनियन स्टेटस' की स्थापना करना ही सरकार का उद्देश्य है। ब्रिटेन स्वयं तो स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के नाम पर युद्ध कर रहा था, परंतु भारतीयों को इससे वंचित रखना चाहता था। कांग्रेस भारत में पूर्ण जनतंत्र और अपने लिए स्वयं संविधान बनाने का अधिकार चाहती थी, जिसे अंग्रेज देना नहीं चाहते थे। इसलिए अक्तूबर 1939 में कांग्रेस कार्यकारिणी ने सभी प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। अतएव सात कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये और उन प्रांतों का शासन 1935 के एक्ट की धारा 93 के अधीन गवर्नरों को सौंप दिया गया।

जिन्ना ने 22 दिसम्बर, 1939 *को 'मुक्ति दिवस'* के रूप में मनाया क्योंकि देश को कांग्रेस से छुटकारा मिल गया था। केवल सिन्ध, पंजाब और बंगाल में लोकप्रिय मंत्रिमंडल कार्य करते रहे। लीग इतने से ही संतुष्ट नहीं हुई। उसने जगह-जगह सरकारों में प्रवेश करने की कोशिश की। असम, पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिन्ध में लीग के नेतृत्व में ब्रिटिश सरकार के सहयोग से सरकारें बनीं।

यद्यपि कांग्रेस ने युद्ध में ब्रिटेन के साथ असहयोग की नीति अपनायी थी, परंतु कांग्रेस का दक्षिणपंथी वर्ग रियायतें प्राप्त कर सरकार से सहयोग करने के पक्ष में था। कांग्रेस ने जुलाई 1940 में सरकार के समक्ष यह मांग रखी कि अगर अंग्रेजी सरकार केन्द्र में भारतीयों को लेकर एक ऐसी सरकार बना दे, जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हो और सरकार युद्ध के पश्चात् भारत को स्वाधीनता प्रदान करे, तो कांग्रेस युद्ध में सरकार को सहयोग दे सकती है। अंग्रेजी सरकार इन शर्तों को मानने को तैयार नहीं थी। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल ने यह स्पष्टतया घोषणा की कि 'अटलांटिक चार्टर' भारत पर लागू नहीं होगा।

अगस्त प्रस्ताव
(The August offer 8 August, 1940)

इस समय तक युद्ध में जर्मनी की तेजी से विजय हो रही थी। डेनमार्क, नार्वे, हालैंड, फ्रांस आदि उसके अधिकार में आ गये थे। फ्रांस में अंग्रेजी सेना को मुंह की खानी पड़ी थी और स्वयं ब्रिटेन पर खतरे के बादल मँडरा रहे थे। युद्ध के कारण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था भी बुरी तरह प्रभावित हुई थी। ऐसी स्थिति में सरकार को भारत के समर्थन की अत्यधिक आवश्यकता थी। अत: चर्चिल से अनुमति लेकर भारतीयों को संतुष्ट करने के लिए वायसराय लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को अपना *'अगस्त प्रस्ताव'* प्रस्तुत किया जिसमें निम्न बातें थीं-

(1) ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना करना है।

(2) युद्ध संबंधी विषयों पर सरकार को सलाह देने के लिए 'युद्ध परामर्शदात्री परिषद' (War Advisory Council) बनायी जायेगी, जिसमें भारतीयों को भी शामिल किया जायेगा।

(3) युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सभी वर्गों एवं राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाकर संवैधानिक विकास की समस्या पर विचार किया जायेगा। अर्थात अंग्रेजी सरकार इस बात से सहमत है कि नया संविधान बनाना मुख्यत: भारतीयों का अपना उत्तरदायित्व है।

(4) अल्पसंख्यकों की स्वीकृति के अभाव में सरकार किसी भी संवैधानिक परिवर्तन को लागू नहीं करेगी।

(5) वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार और अधिक भारतीयों को स्थान।

यह घोषणा एक महत्वपूर्ण प्रगति थी, क्योंकि इसमें स्पष्ट कहा गया था कि भारत का संविधान बनाना भारतीयों का अपना अधिकार है और इसमें स्पष्ट *'प्रादेशिक स्वशासन'* (Dominion Status) की प्रतिज्ञा की गयी थी। परन्तु कांग्रेस ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। वह स्वतंत्रता और अपनी सरकार की मांग कर रही थी, जो उसे नहीं मिली। इस प्रस्ताव की सबसे बुरी बात यह थी कि इसमें अल्पसंख्यकों को जरूरत से ज्यादा महत्व प्रदान किया। इससे कालांतर में सांप्रदायिकता और देश के विभाजन को बल मिला। इसी कारण जहाँ कांग्रेस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, वहीं मुस्लिम लीग इस प्रस्ताव से संतुष्ट थी। उसके हाथ में एक ऐसा हथियार आ गया था, जिसके सहारे वह आसानी से पाकिस्तान प्राप्त कर सकती थी। हालांकि लीग ने भी प्रस्ताव से असंतुष्ट होने का ही दिखावा किया, क्योंकि इसमें पाकिस्तान की मांग को स्पष्टत: स्वीकार नहीं किया गया था।

CHRONICLE IAS ACADEMY

व्यक्तिगत अवज्ञा और बारदोली अधिवेशन

यद्यपि कांग्रेस सरकार से सहयोग करना चाहती थी, परंतु सरकारी रवैये से क्षुब्ध होकर कांग्रेस को पुनः आन्दोलन का मार्ग चुनना पड़ा। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक था कि कांग्रेस की नीतियों से उसकी प्रतिष्ठा जनता में घटती जा रही थी। इसे बचाये रखने के लिए कांग्रेस के सामने आन्दोलन शुरू करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। कांग्रेस ने अगस्त 1940 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में *व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन* शुरू करने का निश्चय किया। 17 अक्तूबर, 1940 को यह आन्दोलन शुरू हुआ। पहले सत्याग्रही विनोबा भावे हुए। नेहरू ने भी इसमें भाग लिया। गांधीजी के सत्याग्रहियों पर नियंत्रण के बावजूद हजारों व्यक्ति जेल गये। इसी बीच अगस्त प्रस्ताव के अनुसार वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार कर उसमें भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गयी। कांग्रेस और लीग इसमें सम्मिलित नहीं हुई। इस समय तक युद्ध में ब्रिटेन की स्थिति नाजुक होती जा रही थी। इधर जापानी भय लगातार बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने सरकार को परेशान न करने का निश्चय किया और संभावित जापानी आक्रमण को आधार बनाकर बारदोली अधिवेशन में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द करने का निश्चय किया।

1942 का क्रिप्स शिष्टमंडल

(The Cripps Mission)

हताशा और निराशा के वातावरण में ब्रिटेन भारत का सक्रिय सहयोग पाने के लिए परेशान था, ताकि न केवल जापान को आगे बढ़ने से रोका जा सके, बल्कि युद्ध की तैयारी में उसे भरपूर मदद मिल सके। इसके अलावा चीन और अमरीका भी ब्रिटेन पर दबाब डाल रहे थे कि वह भारत की राजनीतिक समस्या का उचित समाधान करे। अतः चर्चिल ने युद्धकालीन मंत्रिमंडल के एक सदस्य सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजने की योजना बनायी। क्रिप्स 23 मार्च, 1942 को दिल्ली पहुँचे और 30 मार्च, 1942 को अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसमें अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित बातें थीं-

(1) युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद भारत को डोमिनियन स्टेटस की प्राप्ति, जिसमें राष्ट्रमंडल से अलग होने का अधिकार भी शामिल होगा।

(2) युद्ध के पश्चात् भारत के लिए एक संविधान निर्मात्री निकाय का गठन, जिसके सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधायिका से होगी और जिसमें देशी रियासतों के द्वारा मनोनीत सदस्य भी होंगे।

(3) प्रांतों को भारतीय संघ से अलग अपना अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार होगा तथा वे अपने भविष्य के बारे में सीधे ब्रिटेन से समझौता कर सकेंगे।

(4) ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा में एक संधि होगी, जिसमें अंग्रेजी सरकार द्वारा भारतीय धार्मिक और अल्पसंख्यक जातियों को दिये गये आश्वासनों और सुरक्षा का वर्णन होगा। अर्थात् नये संविधान में उन सुविधाओं को बनाये रखना होगा।

(5) देश की रक्षा की जिम्मेदारी सिर्फ ब्रिटेन की होगी तथा अपवादस्वरूप एक भारतीय, रक्षा सदस्य के रूप में नियुक्त किया जायेगा।

एम. एन. राय एवं *ए. घोष* जैसे कुछ नेताओं ने सकारात्मक प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। वास्तव में उस समय धुरी राष्ट्रों की पराजय ज्यादा महत्वपूर्ण थी, क्योंकि भारत एवं विश्व के लिए तानाशाही का

सुभाष चन्द्र बोस (1897-1945)

भारत सरकार ने सन् 1992 में सुभाष चन्द्र बोस को मरणोपरांत '*भारत रत्न*' से सम्मानित किया था। पर उनके परिवारजनों द्वारा विरोध दर्ज करने पर सर्वोच्च न्यायालय ने 4 अगस्त सन् 1997 को इस पुरस्कार को रद्द कर दिया। उनका मानना था कि सुभाष चन्द्र बोस की मृत्यु आज भी संदिग्ध बनी हुई है।

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का जन्म 1897 में कटक में हुआ था। उन्होंने आई.सी.एस. परीक्षा योग्यता के साथ उत्तीर्ण की थी, परंतु जलियांवालाबाग हत्या कांड के विरोध में उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। इसके बाद उनका झुकाव राजनीति की तरफ हो गया। वे सी.आर. दास के दाहिने हाथ बने गये। कुछ समय तक वे कलकत्ता के राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में कार्य करते रहे। इसके बाद वे राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ गये तथा उन्होंने गांधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग आंदोलन तके सक्रिय भूमिका निभाई। असहयोग आंदोलन के अचानक स्थगन के बाद उनका झुकाव वामपंथ की ओर होने लगा। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय कांग्रेस को समाजवाद की ओर मोड़ना उनका ध्येय बन गया। उन्होंने सारे देश का दौरा किया तथा सभी जगहों पर साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा जमींदारी प्रथा की भर्त्सना की। 1928 में जवाहर लाल नेहरू के साथ '*पूर्ण स्वतंत्रता*' की प्राप्ति के लिए '*इंडिपेंडेंस फॉर इंडिया लीग*' का गठन किया। वे *अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस* (AITUC) तथा कृषक एवं श्रमिक संगठन (WPP) के साथ भी जुड़े रहे। 1938 में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष के पद पर होते हुए उन्होंने '*राष्ट्रीय नियोजन समिति*' की नियुक्ति की। 1939 में त्रिपुरी में वे पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये, परंतु राजनीतिक गतिरोध के कारण उन्होंने इस पद से इस्तीफा दे दिया, तथा '*फारवर्ड ब्लाक*' का गठन किया।

जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो नेताजी का विचार था कि ब्रिटेन की समस्या से फायदा उठाया जाये। उन्होंने रामगढ़ अधिवेशन के समानान्तर बुलाये गये '*समझौता विरोधी सम्मेलन*' में गांधीजी के संयम की कड़ी आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस का अपने प्रारंभिक जीवन में '*युगांतर*' क्रांतिकारी गुट से संपर्क रहा था। जब सरकार ने उन्हें युद्ध के दौरान नजरबंद किया तो 17 जनवरी, 1941 को वे चुपचाप वहां से जर्मनी रवाना हो गये। 1941 में ही उन्होंने बर्लिन में एक '*भारतीय सैन्य दल*' का गठन किया। जर्मन अधिकारियों से मतभेद होने के पश्चात नेताजी सिंगापुर रवाना हो गये। मोहन सिंह द्वारा गठित '*भारतीय राष्ट्रीय सेना*' (INA) सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में एक कारगर सेना बन गयी। 21 अक्टूबर, 1943 को उन्होंने सिंगापुर में भारत की अस्थायी सरकार की स्थापना की। नेताजी ने '*दिल्ली चलो*' का युद्ध नारा भी दिया।

नेताजी ने सिंगापुर तथा रंगून में भारतीय राष्ट्रीय सेना के दो मुख्यालयों की स्थापना की। भारतीय राष्ट्रीय सेना के पुनर्गठन के पश्चात् उन्होंने गांधीजी से आशीर्वाद मांगा और उन्होंने ही पहली बार उन्हें '*राष्ट्रपिता*' के नाम से संबोधित किया। उन्होंने '*जय हिन्द*' का नारा भी दिया। यद्यपि भारत को आजादी दिलाने में वे असमर्थ रहे तथा फासीवादियों से तालमेल करने के कारण उनकी आलोचना भी हुई, फिर भी जिस तरह से उनकी सेना ने राष्ट्रीयता तथा वीरता का उदाहरण प्रस्तुत किया, उसका साक्षात प्रमाण भारतीय राष्ट्रीय सेना के अफसरों के मुकदमे के दौरान हुआ देशव्यापी प्रदर्शन है। सुभाषचंद्र बोस ने अपने जीवन के कुछ अनुभवों का जिक्र अपनी पुस्तक '*द इंडियन स्ट्रगल*' में किया है। 1945 में नेताजी अचानक लापता हो गये। माना जाता है कि एक वायुयान दुर्घटना में उनकी मौत हो गयी, परंतु उनके परिवारजनों समेत कई लोगों का मानना है कि वे आज भी जीवित हैं।

CHRONICLE IAS ACADEMY

खतरा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अधिक घातक था। इसे छोड़कर मुस्लिम लीग सहित सभी दल इसके विरुद्ध थे। एक पृथक् मुस्लिम राष्ट्र की घोषणा लीग चाहती थी तथा वह अंतरिम सरकार में भी आधी हिस्सेदारी चाहती थी। दूसरे अल्पसंख्यकों ने भी और अधिक सुरक्षा की मांग की। कांग्रेस को डोमिनियन स्टेटस, देशी राज्यों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधियों की व्यवस्था एवं प्रांतों को स्वतंत्र रूप से समझौता करने के स्वविवेकीय अधिकार पर आपत्ति थी।

ब्रिटेन ने प्रभावकारी शक्ति को तुरंत भारतीयों के हाथों में हस्तांतरित करने व भारत की सुरक्षा में हिस्सा देने से इन्कार कर दिया। अंततः इस मुद्दे पर बातचीत टूट गयी। गांधीजी ने इसे 'उत्तरतिथिक चेक' (Postdated Check) की संज्ञा दी। इन सबके बावजूद क्रिप्स प्रस्ताव ने *'अगस्त प्रस्ताव'* से आगे संवैधानिक प्रगति की दिशा में कुछ ठोस कार्य किये, उदाहरणस्वरूप राष्ट्रमंडल से अलग होने के साथ-साथ डोमिनियन स्टेटस का निश्चित आश्वासन तथा सिर्फ भारतीय सदस्यों से बनने वाली संविधान सभा। इस तरह क्रिप्स मिशन भारतीयों का सक्रिय सहयोग पाने के अपने प्राथमिक उद्देश्य में असफल रहा, फिर भी इसका वास्तविक लाभ चर्चिल को ही हुआ। उसने रूजवेल्ट को संतुष्ट कर दिया कि भारत में संवैधानिक सुधारों के लिए भारतीय नेता ही तैयार नहीं हैं।

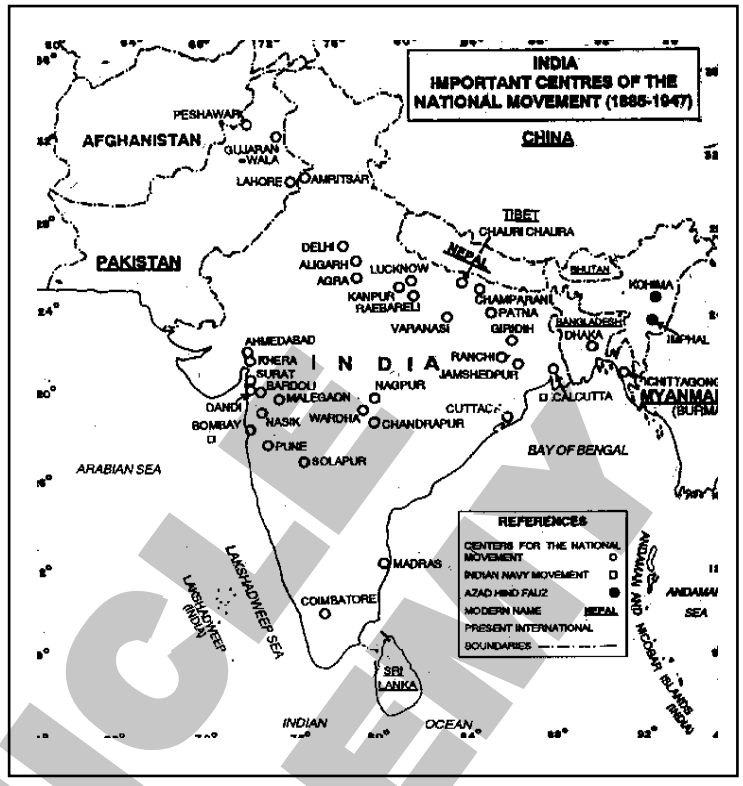

11 अप्रैल, 1942 को यह प्रस्ताव वापस लिया गया। इस असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि क्रिप्स को बातचीत में लचीला होने की सुविधा नहीं थी। उसे 'प्रारूप घोषणा' के अतिक्रमण का अधिकार नहीं था। क्रिप्स मिशन की असफलता ने भारतीयों को कटुता से भर दिया तथा इससे अंततः *'भारत छोड़ो आन्दोलन'* का जन्म हुआ।

भारत छोड़ो आन्दोलन

अगस्त क्रान्तिः क्रिप्स शिष्टमंडल की असफलता से सभी को निराशा हुई। अभी तक कांग्रेस ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया था (सिवाय संविधान सभा की मांग के) जिससे अंग्रेजों को परेशानी हो। इसी बीच मित्र राष्ट्रों की स्थिति और खराब होने लगी। जापान की प्रगति देखकर वे सशंकित थे। इसलिए अंग्रेजों ने भी बंगाल में 'पीछे हटने की नीति' का पालन करने की योजना बना ली। इन सभी कारणों से भारत में आतंक और बेचैनी व्याप्त हो गयी। अतः अब जबकि जापान भारत के द्वार पर खड़ा था, कांग्रेस चुप नहीं रह सकती थी। 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा कि, "भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापानियों को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण है।" इसलिए गांधीजी ने सरकार से भारत छोड़ने और सत्ता भारतीयों को सौंपने की मांग की। कांग्रेस के अनेक नेता गांधी के इस कार्य से प्रसन्न नहीं थे। वे समझते थे कि जिस समय भारत और ब्रिटेन पर विपत्ति के बादल मंडरा रहे थे, उस समय आन्दोलन की बात अव्यावहारिक थी एवं इसकी सफलता संदिग्ध थी। सरदार पटेल और गांधी के प्रयासों से अंततः जुलाई 1942 में वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी ने गांधी के अहिंसक विद्रोह के कार्यक्रम को स्वीकृति प्रदान कर दी। 8 अगस्त, 1942 को बम्बई में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में *'अगस्त प्रस्ताव'* पेश किया गया। प्रस्ताव में कहा गया कि भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति यथाशीघ्र हो। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में एक अस्थायी सरकार बनायी जायेगी। भारत अपने सभी साधनों का इस्तेमाल स्वतंत्रता के लिए तथा नाजीवाद, फासीवाद और साम्राज्यवाद के आक्रमण के खिलाफ करेगा। इसी अवसर पर गांधीजी ने देशवासियों से 'करो या मरो' का नारा दिया अर्थात् हम भारत को स्वतंत्र करेंगे या इसी प्रयास में मर मिटेंगे।

सरकार पहले से ही कांग्रेस की गतिविधियों पर नजर रखे हुई थी। 9 अगस्त, 1942 की तड़के सुबह ही महात्मा गांधी, वर्किंग कमेटी के सदस्य तथा अन्य अनेक नेता बम्बई तथा देश के अन्य भागों में गिरफ्तार कर लिए गये। अंग्रेजों ने इस कार्य को *'आपरेशन जीरो आॅवर'* की संज्ञा दी थी। गांधीजी को पूना के आगा खाँ पैलेस में सरोजिनी नायडू के साथ रखा गया। राजेन्द्र प्रसाद पटना में नजरबंद किये गये। जय प्रकाश नारायण को हजारीबाग के केन्द्रीय कारावास में रखा गया।

इन घटनाओं ने जनता को क्रोधित कर दिया। सारे नेता जेल में थे, अतः उनको रोकने वाला कोई नहीं था। फलतः गुस्से में जनता ने हिंसा और विरोध का सहारा लिया। जगह-जगह हड़ताल और प्रदर्शन किये गये। इस आन्दोलन में छात्रों, मजदूरों, किसानों, जनसाधारण सभी ने भाग लिया। सरकार की दमनात्मक कार्रवाइयों ने गुस्से की लहर और भी तीव्र कर दी। फलस्वरूप क्रुद्ध जनता ने कहीं-कहीं अंग्रेजों की हत्या भी कर दी। सरकारी कार्यालयों, रेलवे स्टेशनों, डाक तार आदि को भारी क्षति पहुंचायी गयी।

उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र में कई स्थानों पर विद्रोहियों ने अस्थायी नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया। कई देशी रियासतों में भी लोग इस क्रांतिकारी हिंसा से प्रभावित हुए थे। बलिया (यू. पी.), तामुलक (मिदनापुर बंगाल), सतारा (बम्बई) तथा तालचर (उड़ीसा) में क्रान्तिकारियों ने समानांतर सरकार की स्थापना कर ली थी। तालचर जातीय सरकार ने बहुत दिनों तक

CHRONICLE IAS ACADEMY

विभिन्न विभागों जैसे कानून और व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, डाक विभाग तथा न्यायालयों के साथ कार्य किया।

इस आन्दोलन में विभिन्न क्रान्तिकारी गतिविधियों के माध्यम से व्यापक जन-प्रतिक्रिया दिखाई दी। श्रमिक वर्ग बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद, जमशेदपुर तथा पूना आदि जगहों पर हड़ताल पर चला गया। व्यापक जन प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप पटना का अन्य जगहों से सम्पर्क टूट गया। भूमिगत क्रान्तिकारी गतिविधियों की प्रवृत्ति को जय प्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया तथा अरुणा आसफ अली ने एक नयी दिशा प्रदान की। जय प्रकाश नारायण तथा रामानन्द मिश्र हजारीबाग सेन्ट्रल जेल से भाग गये एवं नेपाल में रहकर भूमिगत आन्दोलन को संगठित किया। अरुणा आसफ अली बम्बई में सक्रिय रहीं। भूमिगत क्रान्तिकारियों का सबसे अधिक साहसिक कदम था- कांग्रेस रेडियो की स्थापना, जिसका प्रसारण लम्बे समय तक होता रहा। सरकार ने भी अपना दमन चक्र चलाया और लगभग 10,000 व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया।

मुस्लिम लीग इस आन्दोलन से अलग रही। जिन्ना ने 23 मार्च, 1943 को *'पाकिस्तान दिवस'* मनाने का आह्वान किया और समस्त भारत के मुसलमानों से कहा कि पाकिस्तान ही मुसलमानों का राष्ट्रीय उद्देश्य है। जिन्ना ने अंग्रेजों के खिलाफ *'बांटो और भागो'* का नारा भी दिया। लीग ने भी इसका समर्थन किया। रूसी प्रभाव में आकर कम्युनिष्ट पार्टी भी आन्दोलन विरोधी बन गयी। उसने अपने आपको आन्दोलन से अलग रखा और सरकार की हिमायती बन गयी।

फलत: पूर्ण समर्थन के अभाव में और सरकारी दमन के कारण 1942 की क्रांति असफल हो गयी। सरकार ने आन्दोलन को बर्बर ढंग से कुचल दिया। इस आन्दोलन का महत्व यही है कि इससे ब्रितानी शासकों के दिमाग में यह बात अच्छी तरह आ गयी कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के दिन गिने-चुने रह गये हैं। शेष रह गयी स्वतंत्रता अब सौदे की बात नहीं थी, बल्कि अब भविष्य में होने वाला कोई भी समझौता सिर्फ सत्ता हस्तांतरण के तरीके के बारे में होना था।

भारत छोड़ो आन्दोलन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसने विदेशों में भारत पक्षीय जनमत को प्रबल बनाया। उदाहरणस्वरूप चीन के प्रधान च्यांग काइ शेक ने अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को लिखा कि "अंग्रेजों के लिए सबसे श्रेष्ठ नीति यही है कि भारत को पूर्ण स्वतंत्रता दे दें।" रूजवेल्ट ने यही बात चर्चिल से कही।

राजगोपालाचारी योजना और जिन्ना

क्रिप्स मिशन की असफलता के पश्चात् सरकार ने अगस्त क्रान्ति की हिंसक घटनाओं का दोषारोपण गांधीजी और कांग्रेस पर किया। गांधीजी इतने बड़े झूठे आरोप को सहने के लिए तैयार नहीं थे। अत: उन्होंने इन आरोपों को अस्वीकार करते हुए निष्पक्ष न्यायालय से जांच कराने की मांग की। सरकार ने उनकी मांग को अस्वीकार कर दिया। अत: गांधीजी ने 10 फरवरी, 1944 से 21 दिन के उपवास का निश्चय किया।

गांधीजी का यह उपवास सरकार की पाशविक हिंसा के विरोध और आत्मशुद्धि के लिए था। अंतत: खराब स्वास्थ्य के कारण सरकार ने उन्हें जेल से रिहा कर दिया।

जेल से छूटने के बाद गांधीजी ने राजनीतिक गतिरोध को दूर करने की दृष्टि से सरकार से समझौता वार्ता चलाना शुरू किया। उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस का भविष्य में सत्याग्रह करने का इरादा बिल्कुल नहीं है, बशर्ते कि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए कदम उठाये जायें। लेकिन सरकार ने यह शर्त रखी कि कांग्रेस पहले भारत छोड़ो आन्दोलन वापस ले ले और आन्दोलन की नीति का परित्याग करे। अत: संवैधानिक गतिरोध पूर्ववत् बना रहा। इस गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से मार्च 1944 में श्री राज गोपालाचारी ने एक योजना तैयार की। उसमें मुस्लिम लीग से सांप्रदायिक समस्या का निवारण करने के उद्देश्य से एक समझौता करने का प्रयास किया गया था। गांधीजी ने जिन्ना से बातचीत शुरू की। किन्तु उसने इस योजना को स्वीकार नहीं किया। *'राज गोपालाचारी योजना'* की मुख्य बातें निम्न थीं-

1. मुस्लिम लीग स्वतंत्रता की भारतीय मांग को स्वीकार करेगी और कांग्रेस के साथ संक्रान्ति काल के लिए अंतरिम सरकार के निर्माण में सहयोग करेगी।
2. युद्ध समाप्ति के पश्चात् भारत के उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व के उन क्षेत्रों में जहां मुसलमान बहुसंख्यक थे, एक आयोग द्वारा उन इलाकों को स्पष्ट करना था। इन इलाकों में जनमत संग्रह

अबुल कलाम आजाद (1888-1958)

हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में जहां सांप्रदायिक विचारधारा ने कई बड़े नेताओं को प्रभावित किया, वहीं अबुल कलाम आजाद ने अपने धर्मनिरपेक्ष तथा ब्रिटिश विरोधी विचारधारा द्वारा अपनी एक अलग पहचान बनायी । इस महान नेता का जन्म सन् 1888 में मक्का में हुआ, जहां उनका परिवार 1857 के क्रांति के दौरान बस गया था। सन् 1898 में वे भारत आये और उन्होंने अपने निवास स्थान के रूप में कलकत्ता को चुना। इनकी उच्च शिक्षा कैरो के विख्यात विश्वविद्यालय अल अजहर में हुई। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उनका प्रवेश स्वदेशी आंदोलन के दौरान हुआ, जब उन्होंने क्रांतिकारियों का समर्थन किया। वे देवबंद स्कूल से जुड़े तथा अपने राष्ट्रवादी तथा तर्कवादी विचारधारा को उन्होंने 1912 में अपने समाचार पत्र *'अल-हिलाल'* में प्रतिपादित किया। 1915 में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्रिका *'अल-बलग'* का प्रकाशन प्रारंभ किया।

जल्द ही वे गांधीजी के संपर्क मं आये तथा उनसे घनिष्ठ संबंध स्थापित किया। उन्होंने गांधीजी द्वारा शुरू किये गये असहयोग आंदोलन का समर्थन किया। उन्हें खिलाफत समिति का अध्यक्ष बनाया गया। 1924 में दिल्ली में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उन्हें, अध्यक्ष बनाया गया। जमियात-उल-उलमा तथा नेशनलिस्ट मुस्लिम कांफ्रेंस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने क्रमश: 1924 और 1929 में पद भार संभाला। 1935 में कांग्रेस द्वारा विभिन्न प्रांतों में बनायी गयी सरकारों के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से बनी संसदीय उप समिति के वे सदस्य बने। 1940 तक वे इस पद पर बने रहे। 1942 के *'भारत छोडो आंदोलन'* के दौरान उन्हें अहमदनगर तथा बोकुरा जेल में कैद रख गया। शिमला सम्मेलन के दौरान उन्होंने कांग्रेस प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया। 1946 में कैबिनेट मिशन से हुई वार्ता का भी नेतृत्व किया। वे संविधान सभा के सदस्य भी थे। स्वतंत्रता से पूर्व बनी अंतरिम सरकार में उन्होंने शिक्षा मंत्री का पदभार संभाला। स्वतंत्र भारत में भी वे शिक्षामंत्री बने।

मौलाना आजाद कुछ अन्य उपलब्धियों तथा कार्यों के लिए भी विख्यात हैं। उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तक *'इंडिया विन्स फ्रीडम'* ने पूरे विश्व में ख्याति प्राप्त की है। उन्हें मौलाना आजाद विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा आयोग के नियुक्ति, यू.जी.सी. का गठन तथा आई.आई.टी. खड़गपुर की स्थापना में निर्णायक भूमिका अदा करने के लिए भी जाना जाता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

द्वारा यह निश्चित करना था कि वे भारत में रहना चाहते हैं या उससे अलग होना।

3. बंटवारे की स्थिति में प्रतिरक्षा, संचार, आवागमन एवं जनसंख्या का आदान-प्रदान एक समझौता द्वारा तय किया जायेगा।
4. ये शर्तें तभी लागू होंगी जब ब्रिटेन द्वारा सत्ता का पूर्ण हस्तांतरण कर दिया जाय।
5. गांधीजी और जिन्ना शर्तों को स्वीकार करेंगे और कांग्रेस तथा लीग की स्वीकृति लेने का प्रयत्न करेंगे।

गांधीजी इस योजना के साथ जिन्ना से मिले, किन्तु जिन्ना ने इसे स्वीकार नहीं किया। वह पाकिस्तान में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत, सिन्ध, बलुचिस्तान के साथ-साथ समस्त पंजाब, समस्त बंगाल और असम चाहते थे। इसके अलावा जिन्ना जनमत संग्रह में केवल मुसलमानों को भाग लेने देना चाहता था। उसने कहा कि राजाजी की योजना के अनुसार एक "अंगहीन और दीमक लगा हुआ पाकिस्तान" (Maimed, Mutilated and moth-eaten Pakistan) होगा। अत: गांधी-जिन्ना वार्ता विफल हो गयी। वार्ता की विफलता ने विभाजन को अवश्यंभावी बना दिया। जिन्ना का राजनीतिक महत्व अधिक बढ़ गया। वे मुसलमानों के सबसे बड़े नेता बन गये। स्वयं मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा था कि, "गांधी जी का इस अवसर पर जिन्ना से बातचीत करना भारी राजनीतिक गलती थी।" इससे जिन्ना को एक नया और अतिरिक्त महत्व मिल गया, जिसका उसने अपने उद्देश्यों की पूर्ति (पाकिस्तान की स्थापना) के लिए खूब इस्तेमाल किया।

देसाई-लियाकत समझौता (1945): कांग्रेस के नेता भूलाभाई जीवनजी देसाई तथा लीग के नेता लियाकत अली खान के बीच एक वार्ता हुई ताकि राजनैतिक गतिरोध को समाप्त किय जा सके। इसके अनुसार, अंतरिम सरकार की स्थापना निम्न प्रकार से की जाए-

(i) केन्द्रीय कार्यपालिका में कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के द्वारा समान संख्या में सदस्यों का नामजद किया जाए,

(ii) अल्पसंख्यकों, खासकर अनुसूचित जातियों एवं सिखों को प्रतिनिधत्व दिया जाए,

(iii) एक कमांडर-इन-चीफ हो।

वैवेल योजना और शिमला सम्मेलन

1943 में लॉर्ड लिनलिथगो की जगह लार्ड वैवेल भारत के नये गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। इसके पहले वे भारतीय सेना के सर्वोच्च सेनापति थे, अत: उन्हें भारतीय समस्याओं की अधिक जानकारी थी। भारत आते ही उन्होंने संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के प्रयत्न शुरू कर दिये। इधर इंग्लैंड में चुनाव होने वाले थे, अत: चर्चिल ने 1945 में विचार-विमर्श के लिए वैवेल को लन्दन बुलाया। वापस आकर जून 1945 में वैवेल ने संवैधानिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसकी मुख्य बातें निम्न थीं-

(1) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में सम्मिलित होने के लिए सभी राजनैतिक दलों के नेताओं को निमन्त्रित किया जायेगा। स्वयं गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इस परिषद के अन्य सभी सदस्य भारतीय राजनीतिक दलों के नेता ही होंगे।

(2) सरकार का विदेश विभाग भी एक भारतीय सदस्य के हाथ में होगा।

(3) कार्यकारिणी परिषद में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होते हुए सभी प्रमुख संप्रदायों को संतुलित प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

(4) कार्यकारिणी परिषद एक प्रकार की अंतरिम राष्ट्रीय सरकार के समान होगी और गवर्नर जनरल निषेधाधिकार का प्रयोग अकारण नहीं करेगा।

(5) दूसरे अधिराज्यों के समान ही भारत में भी ब्रिटेन के व्यापारिक एवं अन्य हितों की देखरेख के लिए ब्रिटिश उच्चायुक्त की नियुक्ति की जायेगी।

(6) युद्ध की समाप्ति पर भारतीय लोग अपने संविधान का स्वयं निर्माण करेंगे।

(7) शिमला में शीघ्र ही भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया जायेगा।

25 जून, 1945 को शिमला में वैवेल की अध्यक्षता में सम्मेलन प्रारंभ हुआ, जिसमें कांग्रेस और लीग के अतिरिक्त सिक्ख, दलित वर्ग एवं यूरोपीयन दल के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया। सम्मेलन में *'वैवेल प्रस्ताव'* पर विचार किया गया। सम्मेलन आशापूर्ण वातावरण में प्रारंभ हुआ, लेकिन दो दिन के उपरान्त ही स्थगित कर दिया गया। इसका कारण यह था कि वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के निर्माण पर कोई समझौता नहीं हो सका। मौलाना आजाद ने कांग्रेस की ओर से कार्यकारिणी की जो सूची प्रस्तुत की, उसमें तीन मुस्लिम लीग के सदस्यों के साथ दो राष्ट्रीय मुसलमानों को भी सम्मिलित किया गया। जिन्ना ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि कार्यकारिणी परिषद के पांचों मुस्लिम सदस्य मुस्लिम लीग के ही प्रतिनिधि होने चाहिए। जिन्ना के इस दावे को कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार जिन्ना के इस हठधर्मी से टकराकर वैवेल योजना समाप्त हो गयी। 14 जुलाई, 1945 को वायसराय ने सम्मेलन को असफल कहकर समाप्त कर दिया।

शिमला सम्मेलन ने दो बातें स्पष्ट कर दीं। प्रथम, ब्रिटिश सरकार अनिच्छा से ही सही भारतीयों को भारत का शासन सौंपना चाहती है तथा दूसरा भारत की संवैधानिक समस्या का समाधान तब तक संभव नहीं है, जब तक कि सांप्रदायिक समस्या का निराकरण न हो जाये।

इग्लैंड एवं भारत में चुनाव

जुलाई 1945 के आम चुनाव में मजदूर दल को आशातीत सफलता मिली तथा चर्चिल की जगह एटली प्रधानमंत्री बने। एमरी के स्थान पर पैथिक लॉरेंस को भारत मंत्री नियुक्त किया गया। भारतीय वायसराय वैवेल से विचार-विमर्श करने के बाद एटली ने भारत में प्रांतीय और केन्द्रीय विधानसभाओं के लिए चुनाव की घोषणा की। 1945-46 के चुनावों में सामान्य स्थानों पर कांग्रेस को तथा मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर लीग को आशातीत सफलता मिली। केन्द्रीय विधान सभा में कांग्रेस को 57 तथा लीग को 30 स्थान मिले। फलस्वरूप बहुसंख्यक हिन्दू प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। बंगाल और सिन्ध में लीग की सरकार बनी, परंतु पंजाब में खिज्र हयात खां के नेतृत्व में कांग्रेस, अकाली तथा यूनियनिष्ट दल के मिले-जुले मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। इस निर्वाचन द्वारा लीग का यह दावा सत्य हो गया कि वह मुसलमानों के अधिक भाग का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि निर्वाचन में लीग को मुस्लिम मतदाताओं के 75% मत प्राप्त हुए थे।

कैबिनेट मिशन योजना 1946

इंग्लैंड में एटली के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार स्थापित हो गयी। मजदूर दल ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में कहा था कि उनकी सरकार बनने पर वह भारत को औपनिवेशिक

CHRONICLE IAS ACADEMY

स्वराज प्रदान करेगा। लेकिन युद्ध के दौरान कुछ ऐसी घटनाएं घटी थीं कि ब्रिटिश सरकार भारतीय स्वतंत्रता को स्वीकार करने को बाध्य हो गयी। भारतीय जनता में भी आशा की लहर का संचार हुआ। वस्तुतः दो वर्ष के अन्दर ही अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये।

19 फरवरी, 1946 को एटली ने भारत की समस्या के समाधान के लिए कैबिनेट मिशन भारत भेजने की घोषणा की। यह मिशन भारतीय नेताओं से भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न पर विचार विनिमय करने के लिए यहां आया। भारत के वायसराय ने बताया कि मिशन में भारत मंत्री लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और ए. बी. एलेक्जेंडर होंगे। इसके पश्चात् 15 मार्च, 1946 को एटली ने ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में कहा कि, भारत को यह तय करने का अधिकार है कि उसका संविधान कैसा होगा, वह स्वाधीन होगा या ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का सदस्य होगा। उन्होंने अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की बात भी की, परंतु यह भी कहा कि "हम बहुसंख्यक समाज की अग्रगति को रोकने का अधिकार अल्पसंख्यक समाज को नहीं दे सकते।" यह एक महत्वपूर्ण घोषणा थी। इसमें प्रथम बार भारत के लिए 'स्वाधीनता' शब्द का व्यवहार किया गया। साथ ही साथ अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों के अधिकारों की सुरक्षा की बात की गयी।

24 मार्च, 1946 को मिशन दिल्ली पहुँचा। भारत आगमन के साथ ही कमीशन ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह भारत में विरोधी दावों का निर्णय करने के लिए नहीं, बल्कि भारतीयों को सत्ता हस्तांतरण का उपाय खोजने के लिए आया है। मिशन का उद्देश्य था- "भारतीय नेताओं से मिलकर भारत में पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को जल्दी संभव बनाना।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिशन ने भारतीय नेताओं से बातचीत शुरू कर दी। यह 17 अप्रैल तक चलती रही, लेकिन किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका। अंत में मिशन द्वारा शिमला में त्रिदलीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन भी भारतीय समस्या का समाधान करने में असफल रहा। लीग किसी भी दशा में पाकिस्तान की मांग को छोड़ने को तैयार नहीं थी और कांग्रेस ऐसी किसी भी योजना को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी, जो पाकिस्तान की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती हो। अतः कैबिनेट मिशन ने एक योजना प्रकाशित की गयी जो *'कैबिनेट मिशन योजना'* के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के मुख्य प्रावधान निम्न थे-

(1) भारत के भावी संविधान से सम्बद्ध प्रस्ताव:

(क) ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों का एक संघ बने जिसके हाथों में विदेशी मामले, रक्षा और यातायात संबंधी अधिकार हों, परंतु इसके लिए आवश्यक धन जुटाने की क्षमता भी संघ में होनी चाहिए।

(ख) संघीय विषयों के अतिरिक्त सभी विषय (अवशिष्ट विषय सहित) प्रांत के नियंत्रण में हों।

(ग) देशी रियासतें, संघ को सौंपे गये विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर अपना अधिकार रखेंगी।

(घ) प्रस्तावित संघ में कार्यकारिणी और विधायिका होगी, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। विधान सभा में किसी सांप्रदायिक प्रश्न के फैसले के दौरान दोनों मुख्य संप्रदायों के विधायक अलग-अलग मतदान द्वारा उसका फैसला करेंगे।

(ड.) प्रांतों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया-
प्रथम वर्ग- मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, बिहार तथा उड़ीसा
दूसरा वर्ग- पंजाब, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत तथा सिन्ध,
अंतिम वर्ग- बंगाल और असम।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेता

नेता का नाम	*राजनीतिक एवं सामाजिक संगठन*	*पुस्तकें/ पत्र-पत्रिका*	*अन्य महत्वपूर्ण तथ्य*
दादाभाई नौरोजी (1825-1917)	ज्ञान प्रसारक मंडली (बम्बई), एक महिला हाईस्कूल, बम्बई एसोसिएशन बम्बई (1852), लंदन इंडियन एसोसिएशन, ईस्ट इंडिया एसोसिएशन, रहनुमाई माजदायन सभा,	पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया, (1901) रस्त-गोफ्तार	1. भारत के वयोवृद्ध नेता के नाम से प्रसिद्ध 2. कांग्रेस के अध्यक्ष (1886, 93 व 1906) 3. 1892 में ब्रिटिश संसद के कॉमन सभा के सदस्य (उदारवादी दल) 4. कलकत्ता कांग्रेस (1906) में इनकी अध्यक्षता में स्वराज की मांग की गई 5. भारत के ग्लैडस्टोन, ड्रेन ऑफ वेल्थ (धन का निकास) सिद्धांत के प्रतिपादक
गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915)	सर्वेंट ऑफ इंडिया सोसायटी (1905)	द इंडियन स्ट्रगल	1. पहली बार 1889 के इलाहाबाद के कांग्रेस अधिवेशन के मंच से राजनीति में भाग लिया 2. 1897 में इन्हें और दीनाशा वाचा को भारतीय व्यय के लिए नियुक्त वेल्बी आयोग के सम्मुख साक्ष्य देने को कहा गया 3. 1902 में ये बम्बई संविधान परिषद् के लिए और कालान्तर में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कॉउसिंल के लिए चुने गए, 1905 में कांग्रेस अध्यक्ष 4. 1909 के मारले मिंटो सुधार अधिनियम के निर्माण में सहयोग, 1912-15 तक भारतीय लोक सेवा आयोग के सदस्य 5. गांधीजी के राजनीतिक गुरू थे
बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) (लोकमान्य)	पूना न्यू इंगलिश स्कूल (1900), अखाड़े, लाठी क्लब तथा गो-हत्या विरोधी सभाऐं, होमरूल लीग (पूना) (1916)	द. मराठा (अंग्रेजी), केसरी (मराठी) आर्कटिक होम ऑफ आर्यन्स, गीता रहस्य	1. 1882 में चार मास का कारावास, क्योंकि अंग्रेजों की कोल्हापुर के महाराजा के प्रति घृष्टता करने पर निंदा की थी 2. 1897 में इन्हें 18 महीने का कठोर कारावास दिया गया 3. "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा" का प्रसिद्ध नारा दिया 4. 1908 में 6 वर्ष का कठोर कारावास 5. सर वेलेंटाइन चिरोल इन्हें भारत में अशांति के जनक मानते थे 6. डॉ० पट्टाभि सीता रमैया ने गोखले और तिलक की तुलना की है

CHRONICLE IAS ACADEMY

तीनों वर्गों के प्रांतों के प्रतिनिधियों को अपने-अपने वर्ग तथा प्रांत के लिए संविधान बनाने का अधिकार दिया गया। यदि कोई प्रांत वर्ग परिवर्तन चाहे तो नये संविधान के अन्तर्गत हुए निर्वाचनों के पश्चात् ही ऐसा कर सकता था। दस वर्षों के पश्चात् संविधान को पुनः संशोधित करने की बात कही गयी।

(2) संविधान निर्माण सभा-संविधान सभा में 389 सदस्य होंगे। इनमें 292 सदस्यों का चुनाव ब्रिटिश भारत प्रांतों की विधानसभाएं अप्रत्यक्ष तरीके से सांप्रदायिक आधार पर करेंगी। ब्रिटिश भारत के सदस्यों में 210 सामान्य (मुसलमान तथा सिखों को छोड़कर), 78 मुसलमान तथा 4 सिख थे। शेष 93 सीटों पर देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को चुनने का तरीका बाद में तय किया जाना था।

(3) देशी रियासतें-संविधान के अस्तित्व में आते ही अंग्रेजी सर्वोच्चता समाप्त हो जायेगी। देशी रियासतों को अधिकार होगा कि वे संघ से संबंध स्थापित करें अथवा प्रांतों से।

(4) सत्ता हस्तांतरण-विधान सभाओं को ब्रिटेन के साथ शक्ति हस्तांतरण से उत्पन्न मामलों पर एक संधि करनी होगी।

(5) पाकिस्तान की मांग-पाकिस्तान की मांग को स्वीकार नहीं किया गया।

(6) अंतरिम सरकार-संविधान के निर्माण के पूर्व एक अंतरिम सरकार की स्थापना का भी सुझाव रखा गया, जिसे प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो। इसमे 40% सीटें हिन्दुओं को तथा 40% सीटें ही लीग द्वारा मनोनीत मुसलमानों को और 20% स्थान सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, अनुसूचित जातियों आदि को मिलेगा। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि अगर कोई दल अंतरिम सरकार में शामिल नहीं होगा तब भी सरकार बनायी जायेगी।

इस योजना का मुख्य गुण यह था कि संविधान सभा लोकतंत्रवादी सिद्धान्त-जनसंख्या पर आधारित थी और पुराना गुरुत्व (Weightage) का सिद्धान्त समाप्त कर दिया गया था। कांग्रेस को खुश रखने के लिए जहां संगठित भारत की व्यवस्था थी, वहीं लीग और रियासतों की संतुष्टि के लिए केन्द्र को कमजोर रखा गया। अंतरिम सरकार में समस्त उत्तरदायित्व भारतीयों को सौंप दिया गया तथा संविधान सभा को पूर्ण स्वतंत्रता एवं अधिकार दिया गया। प्रांतों के गुट बनाने की व्यवस्था अव्यावहारिक एवं दोषपूर्ण थी।

लाला लाजपत राय (1865-1928) (शेरे- पंजाब)	इंडियन होमरूल तथा इनफॉरमेशन व्यूरो (दोनों अमेरिका में), 1921 में लोक सेवक मंडल की स्थापना, स्वतंत्र कांग्रेस दल (1923)	पंजाबी, बंदे मातरम्, द पीपल, यंग इंडिया, इंग्लैंड डेब्ट टू इंडिया, दयानंद तथा शिवाजी की जीवनी	1. डी. ए. वी. कालेज, लाहौर की स्थापना से संबंद्ध थे 2. 1888 में इलाहाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेकर राजनीतिक जीवन की शुरूआत की 3. 1928 में साइमन कमीशन के विरूद्ध प्रदर्शन में घायल, कुछ समय बाद मृत्यु 4. गांधीजी ने इनकी मृत्यु पर कहा था-''भारतीय सौर मंडल से एक सितारा डूब गया है'' 5. 1925 में हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष
महात्मा गांधी (1869-1948) (बापू, राष्ट्रपिता)	भारतीय कांग्रेस (नेटाल), साबरमती आश्रम, ग्राम उद्योग संघ, तालीमी संघ, गो रक्षा संघ	यंग इंडिया, नवजीवन, हिन्दस्वराज, माई एक्सपेरिमेंट विद ट्रूथ	1. 1893 में दक्षिण अफ्रिका गए 2. 1914 में वापस भारत आए 3. चम्पारण सत्याग्रह के दौरान ही टैगोर ने इन्हें महात्मा की उपाधि दी 4. प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार की सहायता के उपलक्ष्य में ब्रिटिश सरकार ने इन्हें कैसर-ए-हिन्द की उपाधि दी थी 5. क्रिप्स प्रस्तावों को उत्तर तिथिय चेक कहा
जवाहर लाल नेहरू (1889-1964) (चाचा नेहरू)	अखिल भारतीय कांग्रेस	डिस्कवरी ऑफ इंडिया (भारत एक खोज), ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, मेरी कहानी	1. 1921 के असहयोग आन्दोलन के समय गांधीजी से पहली बार मुलाकात 2. 1923 में कांग्रेस के महासचिव नियुक्त 3. 1929, 36, 37 में कांग्रेस अध्यक्ष बने 4. 1921 में किसान आंदोलन में भाग लेने के कारण पहली बार जेल यात्रा 5. 1939 में कांग्रेस द्वारा नियोजित राष्ट्रीय योजना समिति के अध्यक्ष
सुभाष चंद्र बोस (1897-1945) (नेताजी)	इंडिपेंडेंट लीग (1928) फारवर्ड ब्लॉक (1939)	.....	1. 1920 में भारतीय जनपद सेवा में चयन 2. 1921 में नौकरी छोड़कर राजनीति में प्रवेश 3. 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स के कलकत्ता आगमन का विरोध करने पर जेल यात्रा 4. अक्टुबर 1924 में तीन वर्ष के लिए मांडले जेल निर्वासित 5. 1938-1939 में कांग्रेस अध्यक्ष, परंतु 1939 में गांधीजी के विरोध करने पर त्यागपत्र, फारवर्ड ब्लॉक की स्थापना की 6. जनवरी 1941 में भारत से भाग निकले 7. 21 अक्टूबर 1943 को सिंगापुर में भारत की अस्थायी सरकार 8. "तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूंगा" का नारा दिया
सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	इंडियन एसोसिएशन (1876)	बंगाली	1. 1848 में बंगाल में ब्राह्मण परिवार में जन्म 2. 1869 में इडियन सिविल सर्विसेज परीक्षा उत्तीर्ण किया 3. 1895 तथा 1902 में कांग्रेस अध्यक्ष रहे
विपिन चंद्र पाल	.....	स्वराज (इंग्लैंड), न्यू इंडिया (कलकत्ता), वन्देमातरम् (1906)।	1 महान वक्ता एवं राष्ट्रवादी नेता 2. ब्रम्ह समाज के विचारों को फैलाया
अरविंद घोष	.....	युगान्तर, कर्मयोगी, धर्मा।	1. स्वदेशी आन्दोलन के जुझारू नेताओं में से एक 2. नेशनल कॉलेज, कलकत्ता के प्रिंसिपल बने 3. 1910 में सक्रिय राजनीति से सन्यास 4. बंगाल में कालीपूजा लोकप्रिय बनाया

CHRONICLE IAS ACADEMY

संविधान बनाने की प्रणाली भी जटिल थी। फिर भी मिशन ने देशवासियों के बीच एक नयी आशा 'स्वतंत्रता की प्राप्ति' का संचार किया। फलतः सभी दलों ने योजना को स्वीकार कर लिया।

प्रारंभ में तो कांग्रेस और लीग दोनों ने ही कैबिनेट मिशन को स्वीकार कर लिया था, लेकिन अंतरिम सरकार बनाने की योजना को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया। लीग ने जब कांग्रेस के बिना ही सरकार बनाने का दावा पेश किया तो वायसराय ने लीग के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इससे जिन्ना काफी निराश हुए। दूसरी तरफ संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस ने 214 सामान्य स्थानों में 205 प्राप्त किये तथा लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थान मिले। अतः जिन्ना ने सोचा कि 296 सदस्यीय संविधान सभा में तो उसके पास केवल 73 सदस्य हैं जो कि 25% से भी कम है। इसलिए 29 जून, 1946 को लीग ने शिष्टमंडल योजना को अस्वीकार कर दिया और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए 'सीधी कार्रवाई' (Direct Action) करने की धमकी दी। इस बीच 8 अगस्त, 1946 को कांग्रेस ने अंतरिम सरकार बनाने की योजना स्वीकार कर ली। नेहरू ने जिन्ना को भी सरकार में सम्मिलित होने के लिए आग्रह किया पर वे अपनी जिद पर डटे रहे तथा 16 अगस्त को 'सीधी कार्रवाई दिवस' निश्चित कर दिया। उस दिन कलकत्ता में, जो उस समय लीग सरकार के अधीन था, सैकड़ों की संख्या में हिन्दू लूटे और मारे गये और नगर विध्वंस कर दिया गया। इसके प्रतिकार में हिन्दू बहुसंख्यक प्रांत बिहार में मुसलमानों पर अत्याचार हुए। उसके प्रतिकार में पूर्वी बंगाल में नोआखली और तीन पड़ाह में हिन्दुओं पर अत्याचार हुए। फिर यू. पी. और बम्बई में सांप्रदायिक दंगे हुए। बंगाल में प्रांत के बंटवारे के लिए हिन्दुओं ने आन्दोलन आरंभ किया। 24 अगस्त, 1946 को वायसराय ने अंतरिम सरकार के 14 मंत्रियों वाले मंत्रिमंडल की घोषणा कर दी। अंतरिम सरकार को 2 सितम्बर को कार्यभार संभालना था। जवाहर लाल नेहरू को अंतरिम सरकार का प्रधानमंत्री बनाया गया। बाद में वायसराय के सुझाव पर लीग ने भी अक्तूबर 1946 में सरकार में शामिल होना स्वीकार कर लिया। लीग का सरकार में शामिल होने का उद्देश्य स्वतंत्रता को निकट लाना नहीं था, बल्कि उसके उद्देश्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना, पाकिस्तान की मांग मंगवाना, सरकारी कार्यों में रूकावट डालना और देश की प्रगति को अवरुद्ध करना था।

लीग यद्यपि अंतरिम सरकार में सम्मिलित हो गयी थी, फिर भी उसने संविधान सभा में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। संविधान सभा की बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को दिल्ली में आरंभ हुई।

लंदन कांफ्रेंस-अंतरिम सरकार के गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से लंदन में 3-6 दिसम्बर, 1996 को एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें एटली, लॉर्ड वैवेल, नेहरू और जिन्ना ने भाग लिया। इसमें कांग्रेस और लीग के मतभेद दूर करने का प्रयास किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिली। अतः लीग ने होने वाली संविधान सभा की बैठक का बहिष्कार कर दिया।

एटली की घोषणा (20 फरवरी, 1947)-भारत की तत्कालीन स्थिति से चिंतित होकर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को यह घोषणा की कि अंग्रेज जून 1948 के पूर्व सत्ता भारतीयों को सौंप देंगे। घोषणा में यह भी कहा गया कि अगर संविधान सभा उस तिथि तक कोई संविधान नहीं तैयार कर सकेगी तो अंग्रेजी सरकार यह निश्चित करेगी कि सत्ता किसे सौंपी जायेगी-किसी केन्द्रीय सरकार को या प्रांतीय सरकार को। सत्ता के हस्तांतरण के कार्य को पूरा करने के लिए लॉर्ड वैवेल की जगह लॉर्ड माउन्टबेटन को नये वायसराय के रूप में नियुक्त किया गया।

माउंटबेटन योजना: एटली की घोषणा के पश्चात् यह निश्चित हो गया कि अब भारत को स्वतंत्रता मिलने ही वाली है। आजादी मिलने की संभावना जब साकार होने जा रही थी तो लोगों पर सांप्रदायिकता का जुनून सवार हो गया। बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए जिसमें लीग, हिन्दू महासभा और अकाली दल तीनों ने हिस्सा लिया। लाहौर में पाकिस्तान विरोधी प्रदर्शन हुआ। लाहौर, अमृतसर, तक्षशिला, रावलपिंडी, बिहार, बंगाल आदि जगहों में भीषण नर-संहार हुआ। सेना और पुलिस ने भी अप्रत्यक्ष रूप से दंगाइयों की मदद की। गांधी एक जगह से दूसरी जगह सांप्रदायिक एकता कायम करने के लिए घूमते रहे, लेकिन जनता पागल हो उठी थी।

इसी वातावरण में 24 मार्च, 1947 को नये वायसराय ने अपना पदभार ग्रहण किया। उन्होंने शीघ्र ही जान लिया कि भारत का बंटवारा अवश्यंभावी है।

लीग और कांग्रेस के मतभेदों को पाटना मुश्किल था। गांधीजी माउन्टबेटन से मिले और उन्हें विभाजन करने से रोका। वे जिन्ना को सरकार बनाने देने के लिए भी राजी थे। बाद में नेहरू और पटेल के दबाव में गांधीजी को भी विभाजन स्वीकार करना ही पड़ा।

3 जून, 1947 को माउन्टबेटेन योजना प्रकाशित हुई, जिनमें निम्न प्रावधान थे-

(1) भारत का विभाजन भारतीय संघ और पाकिस्तान में कर दिया जाये।

(2) इन राज्यों की सीमा निश्चित करने के पूर्व पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत प्रदेश और असम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह कराया जाये और सिन्ध विधान सभा में वोट द्वारा यह निश्चित किया जाये कि वे किसके साथ रहना चाहते हैं।

(3) बंगाल और पंजाब में हिन्दू तथा मुसलमान बहुसंख्यक जिलों के प्रांतीय विधानसभा के सदस्यों की अलग-अलग बैठक बुलायी जाये। उसमें से अगर कोई भी पक्ष प्रांत का विभाजन चाहेगा तो विभाजन कर दिया जायेगा।

(4) हिन्दुस्तान की संविधान सभा दो हिस्सो में बंट जायेगी, जो अपने-अपने लिए संविधान तैयार करेगी। दोनों राज्यों को डोमिनयन स्टेटस प्रदान किया जायेगा।

(5) देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता होगी कि वे जिसके साथ चाहें, मिल जायें या अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनायें रखें।

लीग तथा कांग्रेस द्वारा इस योजना के स्वीकार किये जाने के बाद लॉर्ड माउन्टबेटन ने इसे तुरंत क्रियान्वित कर दिया। पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल ने पाकिस्तान में रहने का निर्णय किया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत, सिन्ध, बलूचिस्तान और असम के सिलहट जिले ने भी यही फैसला किया। इन निश्चयों के फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को भारत तथा पाकिस्तान के स्वतंत्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947: ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने 4 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम प्रस्तावित किया, जो 18 जुलाई, 1947 को स्वीकृत हो गया। इस अधिनियम के मुख्य बिन्दु निम्न हैं-

(1) दो अधिराज्यों की स्थापना
(2) संविधान सभाओं को सत्ता सौंपना
(3) दोनों के लिए अलग-अलग गवर्नर जनरल
(4) भारत मंत्री के पद का अन्त
(5) 1935 के भारत शासन अधिनियम द्वारा शासन
(6) देशी रियासतों पर सर्वोपरिता का अन्त।

CHRONICLE IAS ACADEMY

इस प्रकार 14 अगस्त को पाकिस्तान का निर्माण हुआ और ठीक 12 बजे रात्रि को 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर जनरल और लियाकत अली प्रधानमंत्री बने। भारत के गर्वनर जनरल लार्ड माउन्टबेटन और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू बने।

देशी रियासतों का एकीकरण: भारतीय राज्यों के ऊपर ब्रिटिश सर्वोच्चता, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम-1947 द्वारा 15 अगस्त, 1947 को खत्म होनी थी। माउन्टबेटन योजना के तहत राज्यों को यह छूट दी गयी कि वे या तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हों अथवा अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखें।

सरदार वल्लभ भाई पटेल ने (जिन्होंने जुलाई 1947 में राज्यों के विभागों का उत्तरदायित्व ग्रहण किया) अत्यंत कुशलता के साथ इस समस्या का समाधान किया, इसलिए उन्हें भारत का 'बिस्मार्क' भी कहा जाता है। इस कार्य में उनकी सहायता *वी. पी. मेनन* ने की। सभी 652 राज्यों के शासकों ने 15 अगस्त, 1947 को विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। अपवाद थे जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद।

जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान में मिलने की घोषणा की, जबकि राज्य की जनता ने भारत में मिलने की इच्छा व्यक्ति की। अंततः भारतीय सेना ने राज्य पर अधिकार कर लिया। हैदराबाद के निजाम ने अपने को स्वतंत्र रखने का प्रयास किया, परन्तु इसके कई क्षेत्रों तेलांगाना आदि में विद्रोह के कारण बलपूर्वक इसका अधिग्रहण किया गया। कश्मीर के महाराजा ने भी भारत में मिलने में विलम्ब किया। यहां तक कि सबसे शक्तिशाली राजनीतिक दल *नेशनल कांफ्रेंस* भारत में मिलना चाहता था। अंततः पठानों और पाकिस्तानी हमले के पश्चात् महाराजा ने इसका विलय भारत में कर दिया।

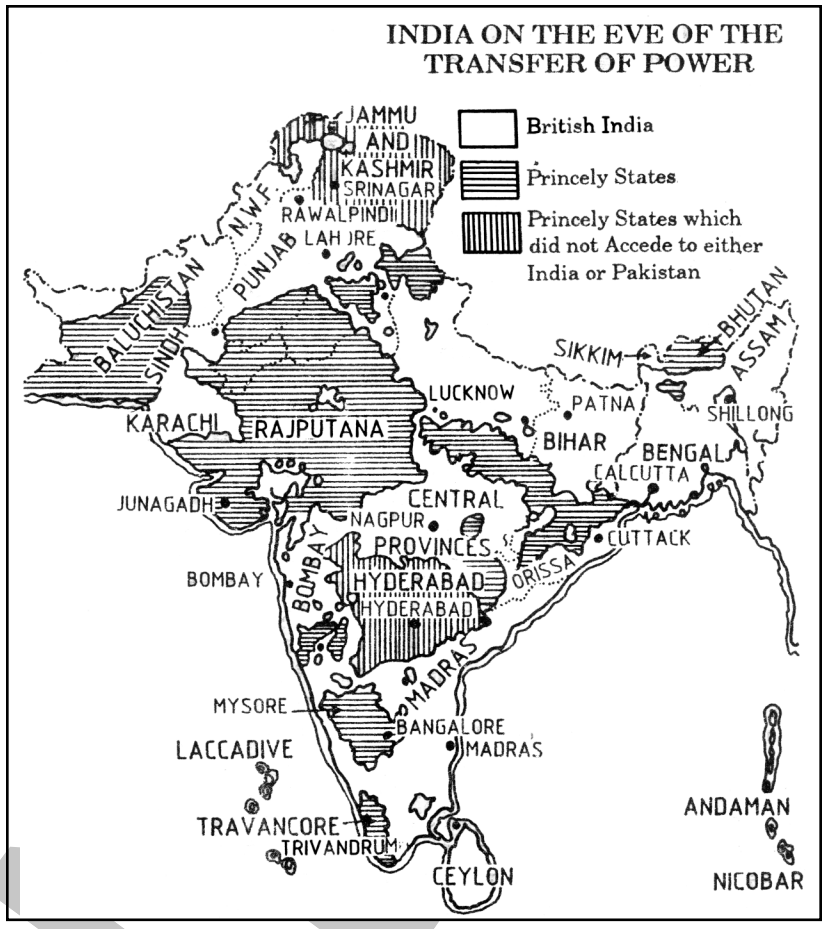

स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक तत्व

भारत की स्वतंत्रता एक महान ऐतिहासिक घटना है। यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में 62 वर्षों के संघर्ष का परिणाम है। अन्य देशों के स्वतंत्रता संग्राम से इसकी प्रकृति भिन्न है। यह मुख्यतः एक अहिसंक लड़ाई थी। इसने न तो प्रधानमंत्री एटली और मजदूर दल की उदारता का परिणाम और न ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयत्नों का परिणाम कहा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता विभिन्न परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी। 1947 तक परिस्थितियां ऐसी हो गयी थीं कि राजनीतिक दृष्टि से सत्ता हस्तांतरण में देरी करना संभव नहीं था। भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक तत्वों की विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है-

(1) ऐतिहासिक उद्देश्य का सिद्धान्त (Historic Mission Theory)-अंग्रेजी राजनीतिज्ञों तथा लेखकों ने इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है कि अंग्रेजों का भारत छोड़ने का निर्णय केवल स्वैच्छिक था और इंग्लैण्ड ने स्वयं ही भारत को स्वराज्य के लिए तैयार किया था और भारत को स्वतंत्रता देना उनके भारत में ऐतिहासिक उद्देश्य का सम्पन्न होना ही था।

अंग्रेजी प्रधानमंत्री एटली ने ब्रिटिश संसद में जुलाई 1947 में भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रस्तुत करते समय कहा था, "इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राज्यों को तलवार की शक्ति से अन्य लोगों के हाथों में शासन छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा है। बिरले ही ऐसा हुआ है कि लोग जो दूसरों पर राज्य करते रहे हो अधीनस्थ लोगों को स्वेच्छा से शक्ति का हस्तांतरण कर दें।" एटली ने अपने भाषणों में इस बात का भी उल्लेख किया कि 'अंग्रेजों ने भारतीयों को प्रजातंत्रीय पद्धति का प्रशिक्षण दिया।' उसने भारतीय स्वतंत्रता विधेयक के विषय में कहा था कि, 'यह उस घटना चक्र की लम्बी श्रृंखला का चरम बिन्दु है। मार्ले मिण्टो, मॉन्टफोर्ड सुझाव, साइमन आयोग की रिपोर्ट, गोलमेज कान्फ्रेंसों, 1935 का भारत सरकार अधिनियम, क्रिप्स शिष्टमंडल, तथा मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल यह सभी उस मार्ग के चरण हैं, जिसका अंत भारत को स्वतंत्रता देने का सुझाव है।

(2) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति : द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ से राष्ट्रीय चेतना अपने चरमोत्कर्ष पर थी और 1942 का विद्रोह अत्यंत स्पष्ट शब्दों में ब्रिटेन को भारत छोड़ देने की चेतावनी ही थी। संपूर्ण देश में राष्ट्रीय जागृति व्याप्त हो गयी थी और आजाद हिन्द फौज के नायकों पर अभियोग और सैनिक विद्रोह की घटनाओं ने इस राजनीतिक जागृति का परिचय दे दिया था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने, जो अपनी व्यवहार कुशलता और राजनीतिक दूरदर्शिता के लिए प्रसिद्ध है, ऐसी स्थिति में सम्मानपूर्वक भारत छोड़ देना ही उचित समझा।

(3) महायुद्ध के बाद इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति : द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व इंग्लैण्ड एक प्रथम श्रेणी का राष्ट्र था, लेकिन युद्ध के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत निर्बल हो गयी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

उसकी अर्थव्यवस्था को भीषण आघात पहुँचा था और उसकी जनशक्ति कम हो गयी थी। ब्रिटिश शक्ति के इस ह्रास के कारण ब्रिटेन इस स्थिति में नहीं रहा कि वह भारत पर नियंत्रण बनाये रखने के आर्थिक और सैनिक भार को सहन कर सके।

(4) एशियाई नवजागरण: 20वीं सदी में सम्पूर्ण एशिया अपनी लम्बी निन्द्रा से जाग चुका था। अब एशियावासियों ने अनुभव किया कि पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा उनको धोखे में रखकर उनका शोषण किया गया है। जब उनमें स्वतंत्रता की इच्छा उत्पन्न हुई, तब मध्य-पूर्व के देशों में उपनिवेशवाद का अंत करने के लिए तेजी से प्रगतिशील आन्दोलन प्रारंभ हो गये। भारत इनमें सबसे अधिक प्रगतिशील होने के कारण स्वाभाविक रूप से अग्रणी था। ब्रिटेन द्वारा भारत को दी गयी स्वतंत्रता एशियाई नवजागरण की इस प्रवृत्ति के सम्मुख आत्मसमप्रण थी।

(5) ब्रिटेन में भारत-पक्षीय जनमत: द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ के पूर्व से ही भारत के प्रति ब्रिटिश जनमत में तेजी से सुधार होता जा रहा था। 1935 के अधिनियम के सफल क्रियान्वयन से उनके सम्मुख भारतीयों की राजनीतिक क्षमता स्पष्ट हो गयी थी और प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध में भारतीयों के ब्रिटेन को दिये गये सहयोग से उन्हें ब्रिटिश लोगों के मित्र का स्थान मिल गया था। ब्रिटिश समाज के अनेक वर्गों का यह विचार हो गया था कि भारत पर ब्रिटिश नियंत्रण बनाये रखने का कोई औचित्य नहीं है। 1945 के आम चुनाव में ब्रिटेन में मजदूर दल की विजय का एक कारण मजदूर दल की भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति भी थी।

(6) साम्यवाद का खतरा: धीरे-धीरे साम्यवाद ने भारत में प्रवेश करना शुरू कर दिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय इसका प्रभाव अधिक बढ़ गया। कांग्रेस के नेतृत्व में सफलता प्राप्त नहीं होते देख उससे जनता का दुराव होने लगा और वह साम्यवाद की तरफ झुकने लगी। अंग्रेजों को यह भय हो गया कि जल्द सत्ता हस्तांतरण नहीं करने पर भारत में साम्यवाद का उदय हो सकता है। 1946 में ही शीतयुद्ध प्रारंभ हो गया था और अंर्तराष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन अपनी विरोधी शक्तियों को प्रोत्साहित करने की गलती नहीं कर सकता थीं।

(7) दो महान शक्तियों का उदय होना: द्वितीय विश्व युद्ध में फासिस्ट और नाजी शक्तियों तथा जापानी साम्राज्यवादी शक्तियां पूर्णतया परास्त हो चुकी थीं। यद्यपि आंग्ल-अमेरिकन साम्राज्यवाद विजयी हो गया था, परन्तु साम्राज्यवाद को बहुत भारी धक्का लगा। अब संसार में दो महान शक्तियां अमरीका और रूस के रूप में उभर चुकी थीं। रूस विशेषकर उन सभी देशों की ओर था जो स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे।

युद्ध काल में राष्ट्रपति *रूजवेल्ट* और *च्यांग काई शेक* ने ब्रिटेन पर भारतीय स्वतंत्रता के लिए काफी दवाब डाला। युद्ध काल के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रुमैन ने इस दबाव में वृद्धि कर दी। ब्रिटेन के द्वारा अमेरिकी सहयोग से ही विजय प्राप्त की गयी थी और युद्धोत्तर काल में इंग्लैंड का आर्थिक पुनरुद्धार अमेरिकी सहायता पर निर्भर था। ऐसी स्थिति में इंग्लैंड अमेरिका की अवहेलना का साहस नहीं कर सकता था।

(8) भारतीय सेना की स्वामिभक्ति में संदेह: द्वितीय महायुद्ध काल में भारतीय सेना में विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हिला दिया। आजाद हिन्द फौज का निर्माण, नौसैनिक विद्रोह और भारतीय वायुसेना की हड़ताल ने ब्रिटिश सरकार को सचेत कर दिया कि भारतीय सेना पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर अंग्रेजी सेना को भारत में रखना काफी खर्चीला था। अत: सैनिक दृष्टिकोण से भी ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में टिका रहना कठिन प्रतीत होने लगा।

(9) ब्रिटिश राज और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस: ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे कार्य हुए जिनके चलते भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहयोग मिला। यद्यपि उसने जान-बूझकर ऐसा प्रयास नहीं किया, फिर भी उसके कुछ कार्य भारतीय स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी हैं, जैसे-प्रशासकीय एकता, आवागमन तथा यातायात के साधनों का विकास और शिक्षा के माध्यम में अंग्रेजी की मान्यता। इन सब तत्वों ने भारतीयों में एकता को भावना का विकास किया। दूसरी ओर राष्ट्रीय कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन को नया जीवन प्रदान किया और समस्त राष्ट्रीय शक्तियों का संचय कर उसे प्रगति प्रदान की। कांग्रेस के सफल नेतृत्व ने भारतीयों में देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावनाओं को जन्म दिया। समस्त देश में राष्ट्रीयता की लहर फैल गयी और भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो गये। संक्षेप में, "भारतीय स्वतंत्रता लम्बे अरसे तक ब्रिटिश राज द्वारा अनजाने में तथा कांग्रेस द्वारा जानबूझकर रचित राष्ट्रीय चेतना और सामान्य उद्देश्य का स्वाभाविक तथा अवश्यंभावी परिणाम था।"

(10) मजदूर दल की विजय तथा माउन्टबेटन योजना की स्वीकृति: युद्ध से उत्पन्न परिवर्तित स्थिति के कारण भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करना तो था ही, लेकिन सौभाग्य से मजदूर दल के हाथ में शासन की शक्ति आ जाने से हस्तांतरण की यह प्रक्रिया जल्दी ही सम्पन्न हो गयी। सत्तारूढ़ होने के पूर्व मजदूर नेताओं ने भारतीय समस्या को सहानुभूतिपूर्वक सुलझाने का आश्वासन दिया था और सत्तारूढ़ होने के बाद उन्होंने इस आश्वासन को पूरा किया।

भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस और मुस्लिम लीग का पारस्परिक विरोध था, लेकिन जुलाई 1947 में कांग्रेस और लीग दोनों के द्वारा माउन्टबेटेन योजना स्वीकृत कर लिए जाने से सत्ता हस्तांतरण के मार्ग की यह अंतिम बाधा भी समाप्त हो गयी। परिस्थितियों के दबाव के कारण कांग्रेस ने यह समझ लिया कि भारत का विभाजन ही गतिरोध दूर करने का एकमात्र उपाय है। लीग ने भी इस 'कटे-छंटे पाकिस्तान' को स्वीकार करने की व्यावहारिकता अपना ली। सभी पक्षों द्वारा माउन्टबेटन योजना स्वीकार कर लिए जाने पर माउन्टबेटन ने भारत के विभाजन का कार्य तीन माह में पूरा कर दिया। 14 अगस्त, 1947 को भारत का दो स्वतंत्र राज्यों में विभाजन हुआ और 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ।

वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों के सामूहिक प्रयत्नों का परिणाम थी। संक्षेप में, समय की गति और परिस्थितियों के दबाव के कारण भारत को स्वतंत्रता मिली।

राष्ट्रीय आन्दोलन के वैचारिक आयाम

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन मूलत: औपनिवेशिक शासन और भारतीय जनता के हितों के बीच मौजूद केन्द्रीय या बुनियादी अंतर्विरोध का नतीजा था। यह अंतर्विरोध इस बात से पैदा हुआ था कि ब्रिटिश सत्ता भारत पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व का प्रयोग ब्रिटिश समाज और अर्थव्यवस्था की जरूरतों के मुताबिक भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था का शोषण करने के लिए कर रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने धीरे-धीरे इस बुनियादी अंतर्विरोध की साफ और वैज्ञानिक समझ

CHRONICLE IAS ACADEMY

विकसित की तथा उसी को अपना आधार बनाया। उन्होंने इसे समझा कि आर्थिक दृष्टि से देश समग्रत: पिछड़ रहा है। अपने इस विश्लेषण व निष्कर्ष के आधार पर उन्होंने भारतीय वास्तविकता के सभी पहलुओं का वास्तविक चित्रण किया और तदनुसार एक समग्र व सुस्पष्ट प्रति-उपनिवेशवादी नीति एवं विचारधारा को विकसित किया।

वस्तुत: 19वीं शताब्दी के अंत तक राष्ट्रीय आन्दोलन के पुरोधाओं ने औपनिवेशिक शोषण की तीन प्रणालियों की स्पष्ट समझ बना ली, ये प्रणालियां थीं:

(1) लूट, टैक्स और भारत में अंग्रेजों की नियुक्ति,

(2) विषमता पर आधारित स्वत्रंत पूंजी का निवेश,

(3) भारत में ब्रिटिश पूंजी का निवेश।

उन्होंने विश्लेषण किया कि भारत का उपनिवेश बनना न तो इतिहास की कोई दुर्घटना है और न ब्रिटिश सत्ता का राजनीतिक फल है। उपनिवेशवाद की उनकी आलोचना का एक ही केन्द्र बिन्दु था कि भारत की सारी दौलत ब्रिटेन चली जा रही है।

आधुनिक साम्राज्यवाद के जटिल आर्थिक तंत्र की साफ समझ 1918 के बाद और विकसित हुई, जब उपनिवेशवाद विरोधी जनांदोलन होने लगा तथा मार्क्सवादी विचारों का प्रसार हुआ। अब राष्ट्रवादी नेतृत्व के सामने यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश समाज और भारतीय समाज के केन्द्रीय अंतर्विरोध को दूर करने के दो ही रास्ते हैं- (1) उपनिवेशवादी आर्थिक संबंधों को या तो पूरा का पूरा बदल दिया जाये या (2) इसे बिल्कुल नष्ट कर दिया जाये। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक चरण के नेतृत्व ने उपनिवेशवाद को अपने विश्लेषण के केन्द्र में रखा।

उपनिवेशवाद के प्रति इस वैचारिक दृष्टिकोण को राष्ट्रीय आन्दोलन के निचले तबके के कार्यकर्त्ताओं ने भी आत्मसात् कर लिया था। गांधी युग की राजनीति के दौरान उन्होंने इस दृष्टिकोण को गांव-गांव और शहर-शहर फैलाया। भाषणों, परचों, नाटकों, गीतों और पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों के माध्यम से इस बात पर खूब जोर दिया गया कि भारत की संपदा लूटी जा रही है तथा भारत को ब्रिटेन के तैयार माल का बाजार बनाया जा रहा है।

इस तरह भारत और ब्रिटेन के बुनियादी अन्तर्विरोध ने राष्ट्रीय आन्दोलन का मूल आधार प्रदान किया, तो उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा के विकास ने उसका वैचारिक आधार निर्मित किया। इसके कारण एक सुदृढ़ तथा लगातार चलने वाले साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के लिए रास्ता खुल गया, जो काफी लचीले रण-कौशल का इस्तेमाल कर सकता था, क्योंकि वह अपने मूल उद्देश्य के प्रति गहरे रूप से प्रतिबद्ध था। साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौरान जो चीज भारतीय इतिहास की गति का मूल कारण बनी, वह एक वैज्ञानिक उपनिवेशवाद-विरोधी विचाराधारा ही थी। अत: जब तक ब्रिटिश और भारतीय समाज के बुनियादी अंतर्विरोध तथा उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी विचारधारा का समुचित अध्ययन और विश्लेषण नहीं होता, तब तक भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को समझने की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यापक समाजिक-आर्थिक-राजनीतिक 'विजन' सिर्फ उपनिवेशवाद विरोधी विश्व दृष्टि तक सीमित थी। उसके कुछ और विचारधारात्मक पहलू थे। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यह 'विजन' बुर्जुआ या पूंजीवाद, स्वतंत्र आर्थिक विकास तथा धर्म-निरपेक्ष गणतांत्रिक, नागरिक, अधिकारों के प्रति उदार राजनीतिक व्यवस्था का विजन था, जिसका आधार सामाजिक समानता के सिद्धांत थे। दिलचस्प बात यह है कि इस विजन को कभी कोई चुनौती नहीं दी गयी।

1. लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्धता : राष्ट्रीय आन्दोलन संसदीय लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों के प्रति पूर्णत: प्रतिबद्ध था। जब औपनिवेशिक शासक लगातार यह प्रचार कर रहे थे कि भारत लोकतंत्र के लिए उपयुक्त नहीं है और यहां सिर्फ निरंकुश सत्तावादी ढंग से ही शासन चलाया जा सकता है, तब राष्ट्रीय आन्दोलन का दायित्व बन गया कि वह लोकतंत्र के लिए संघर्ष करे और उसका एक भारतीय रूप विकसित करे, ताकि भारत की जमीन में उसकी जड़ें मजबूत हो सकें। शुरू से उसने चुनावों के आधार पर बनने वाली प्रतिनिधि सरकारों के गठन के लिए लड़ाई लड़ी। 1920 के पहले तिलक तथा अन्य राष्ट्रवादियों ने और बाद में गांधीजी तथा कांग्रेस ने बालिग मताधिकार की पद्धति लागू करने की मांग की, ताकि सभी बालिग स्त्री-पुरुष वोट में हिस्सा ले सकें। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तो अपने स्थापना काल से ही लोकतांत्रिक ढंग से चल रही थी। उसके तमाम प्रस्तावों पर खुली बहस होती और फिर मतदान होता। किसी मामले पर किसी वर्ग की अलग राय होती, तो उसे न केवल स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने की छूट मिलती थी, बल्कि उसे प्रोत्साहित भी किया जाता था, जैसे 1920 में असहयोग आन्दोलन शुरू करने का गांधीजी का प्रस्ताव मतदान के बाद ही स्वीकृत हुआ था। (पक्ष में 1886 मत, विपक्ष में 884 मत।) 1929 की लाहौर कांग्रेस में वायसराय की ट्रेन पर क्रांतिकारी आंतकवादियों द्वारा बम विस्फोट की भर्त्सना वाला जो प्रस्ताव गांधीजी ने रखवाया था, वह बहुत मामूली बहुमत से पारित हो सका। (पक्ष में 1942 तथा विरोध में 1794) इसी तरह 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के 13 कम्युनिस्ट सदस्यों ने ऐतिहासिक भारत छोड़ो प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान किया था। लेकिन इन लोगों की आलोचना करने की बजाय गांधीजी ने अपने मशहूर 'करो या मरो' वाले भाषण की शुरुआत ही इन पंक्तियों से की थी। मैं उन 13 मित्रों को बधाई देता हूं, जिन्होंने प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान किया। ऐसा कर उन्होंने कोई ऐसा काम नहीं किया, जिसके लिए वे शर्मिंदा हों। पिछले 20 साल में हमने यही सीखने की कोशिश की है कि हम अगर घोर अल्पमत में भी हो जायें और लोग हम पर हंस रहे हों, तब भी हम साहस न खोयें। हमने इस आत्मविश्वास के साथ अपनी मान्यताओं पर दृढ़ रहना सीखा है कि हम सही रास्ते पर हैं।

2. नागरिक अधिकारों का पक्षधर : राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू से ही नागरिक अधिकारों का पक्षधर था। राष्ट्रवादी प्रेस की आजादी, अभिव्यक्ति तथा संठगनों की आजादी एवं अन्य नागरिक अधिकारों पर औपनिवेशिक अधिकारियों के हमले का हमेशा विरोध करते थे और अपना रास्ता प्रशस्त करते थे। तिलक ने प्रेस की आजादी के लिए संघर्ष किया और यातनाएं सहीं। तिलक नागरिक अधिकारों के बहुत बड़े हिमायती थे। वे कहा करते थे कि प्रेस की आजादी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता राष्ट्र को जन्म देती है और इसे मजबूत बनाती हैं।

1922 में गांधीजी ने *'यंग इंडिया'* में लिखा "सरकार ने देश के सामने जो मुद्दा पैदा कर दिया है, उसकी तुलना में स्वराज, खिलाफत और पंजाब का सवाल गौण सवाल है। इम अपने लक्ष्य की तरफ एक कदम भी बढ़ सकें, इसके पहले स्वतंत्र अभिव्यक्ति और संगठन के अधिकार को हमें हासिल करना ही होगा। हमें इन अधिकारों की रक्षा जान देकर भी करनी चाहिए। ..... उनका कहना था कि

CHRONICLE IAS ACADEMY

नागरिक अधिकार, जिसका अंहिसा के पालन से कोई विरोध न हो, स्वराज की दिशा में पहला कदम है। यह राजनीतिक और सामाजिक जीवन की जान है, स्वतंत्रता की नींव है। इस मामले में अपमिश्रण या समझौते के लिए कोई जगह नहीं है। यह जीवन के लिए सर्वोत्तम आवश्यक जल है। मैंने पानी में किसी भी तरह की मिलावट की बात कभी नहीं सुनी।"

जवाहर लाल नेहरू नागरिक स्वतंत्रताओं के शायद सबसे बड़े हिमायती थे। वे उन्हें उतना ही महत्वपूर्ण मानते थे, जितना आर्थिक समानता और समाजवाद को। करांची कांग्रेस ने 1931 में मौलिक अधिकारों पर जो प्रस्ताव पारित किया था, उसे नेहरू ने ही तैयार किया था। उसमें वाणी तथा प्रेस के द्वारा अपनी राय व्यक्त करने और संगठन के अधिकार की गारंटी दी गयी थी। अगस्त 1931 में उन्हीं के प्रयत्नों से *'इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन'* की स्थापना हुई। यह एक गैर दलीय असांप्रदायिक संगठन था और इसका उद्देश्य नागरिक अधिकारों पर होने वाले हमलों के खिलाफ जनमत बनाना था। जवाहर लाल नेहरू ने इस अवसर पर घोषणा कि "जब नागरिक अधिकारों का दमन होता है तो राष्ट्र की तेजस्विता समाप्त हो जाती है और वह कोई ठोस काम करने लायक नहीं रह जाता।" मार्च 1940 में उन्होंने कहा कि प्रेस की आजादी का मतलब यह नहीं होता कि जो चीजें हम छपी हुई देखना चाहें, सिर्फ उन्हीं की अनुमति दें। इस तरह की आजादी से कोई अत्याचारी भी सहमत हो जायेगा। प्रेस की आजादी का मतलब है कि हम जो चीज न चाहें उनकी भी अनुमति दें।'

3. धर्म निरपेक्षता : धर्म-निरपेक्षता को राष्ट्रवादी विचारधारा की बुनियादी तत्व बनाया गया तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बहुत जोर दिया गया। जैसा कि हम देख चुके हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन सांप्रदायिकता को मिटा नहीं सका या देश के विभाजन को रोक नहीं सका, तो इसलिए नहीं कि वह धर्म-निरपेक्ष विचारधारा से भटक गया था, बल्कि इसलिए कि सांप्रदायिकता से संघर्ष की उनकी रणनीति में कुछ कमजोरियां थीं। और वह सांप्रदायिकता की सामाजिक, आर्थिक तथा विचारधारात्मक जड़ों को समझ नहीं पाया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने जाति-जुल्म का भी विरोध किया। 1920 के बाद अस्पृश्यता का अंत उसके कार्यक्रम और राजनीतिक गतिविधियों का एक बुनियादी अंग बन गया। यद्यपि इस मामले में भी कुछ गंभीर वैचारिक कमियां रहीं (उदाहरण के लिए जाति के विरोध में कोई सुदृढ़ विचारधारा नहीं बनायी गयी)। स्त्रियों की स्वाधीनता के मामले को भी गंभीरता से नहीं लिया गया।

4. आर्थिक विकास की दिशा : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने शुरू से ही और लगभग पूरे मतैक्य के साथ आधुनिक उद्योगों और कृषि विकास के आधार पर समाज के पूर्ण आर्थिक रूपान्तरण का लक्ष्य स्वीकार किया। जस्टिस रानाडे के वाद से ही राष्ट्रवादी इस बात पर सहमत थे कि उद्योगीकरण से ही देश की गरीबी को दूर किया जा सकता है। गांधीजी इस मामले में कुछ हद तक अपवाद थे लेकिन पूरी तरह नहीं, वे सिर्फ मशीनों के विरोधी थे, जो बेराजगारी फैलाती हैं या कुछ लोगों को अमीर बनाती हैं। उन्होंने बार-बार कहा है कि वे विज्ञान के ऐसे हर आविष्कार का सम्मान करेंगे जिससे सबका भला होता हो। उनका कहना था कि बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों के वे भी विरोधी नहीं हैं, बशर्ते वे मानव श्रम का स्थान न लेकर उसके बोझ को कम करते हों। बड़े उद्योगों के लिए उनकी एक शर्त और थी कि उनका स्वामित्व और प्रबंध राज्य के हाथ में हो, पूंजीपतियों के हाथ में नहीं।

राष्ट्रवादी इस बात के लिए भी प्रतिबद्ध थे कि देश आर्थिक विकास के मामले में आत्म-निर्भर हो तथा विदेशी पूंजी का सहारा न ले। मशीन राष्ट्रीय संसाधनों से बनें तथा स्वदेशी विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी का विकास किया जाये।

दादाभाई नौरोजी और रानाडे के जमाने से ही राष्ट्रवादियों ने भारत की स्वतंत्र और आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की। 1930 के दशक में जवाहर लाल नेहरू, गांधीजी तथा वामपंथी नेताओं ने मुट्ठी भर हाथों में धन का जमाव रोकने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की खास तौर से बड़े और बुनियादी महत्व के उद्योगों की वकालत की। इस दशक के अंत में आर्थिक नियोजन को भी व्यापक स्वीकृति मिली। 1938 में कांग्रेस ने सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में स्वतंत्र भारत की विकास योजना तैयार करने के लिए एक राष्ट्रीय योजना बनायी, जिसके अध्यक्ष नेहरू थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कई अन्य योजनाएं भी सामने आयीं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण थी *'बंबई योजना'*। इसे तीन बड़े उद्योगपतियों जे.आर. डी. टाटा, घनश्याम दास बिड़ला और श्रीराम ने तैयार किया था। इस योजना में भी व्यापक भूमि सुधार, वृहत सार्वजनिक क्षेत्र तथा प्रभूत सार्वजनिक एवं निजी विनियोजन की वकालत थी।

समाजवादी रुझान : राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारंभ से ही गरीबों का पक्षधर रहा। 1930 के दशक में वामपंथी दलों के उदय से, यह पक्षधरता और मजबूत हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन की कुछ प्रमुख मांगें इस प्रकार थीं- अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, गरीबों और मध्यम वर्ग पर टैक्स के बोझ में कमी, नमक कर, भू-राजस्व और लगान कटौती, ऋणग्रस्त किसानों को राहत दिलाना तथा ब्याज की सस्ती दरों पर उन्हें कर्ज देना, काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा, मजदूर के काम के घंटों में कमी तथा जीने लायक मजदूरी का अधिकार, कम वेतन पाने वाले सरकारी कर्मचारियों जिनमें पुलिस वाले भी थे, की वेतन वृद्धि, मजदूरों और किसानों के संगठन के अधिकार की सुरक्षा, ग्रामोद्योगों की सुरक्षा और उन्हें बढ़ावा देना, आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहन, शराबखोरी की समाप्ति, स्त्रियों की सामाजिक हैसियत में सुधार तथा उन्हें रोजगार एवं शिक्षा का अधिकार एवं पुरुषों के बराबर राजनीतिक अधिकार प्रदान करना, अस्पृश्यता के अंत के लिए कानूनी एवं सामाजिक कदम उठाना तथा विधि व्यवस्था मशीनरी का पुनर्संस्कार।

1920 के दशक से ही राष्ट्रीय आन्दोलन में एक शक्तिशाली समाजवादी रुझान पैदा हुआ। शुरू के साम्यवादी जवाहार लाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोष और समाजवादी विचार के बहुत से समूहों तथा व्यक्तियों ने विकास के उस बुर्जुआ दृष्टिकोण को गंभीर चुनौती दी, जो राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग बन चुका था। 1930 के दशक में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी भी, जो कम्युनिस्ट पार्टी और मानवेन्द्रनाथ राय के अनुयायियों का संगठन थी, इस धारा में शामिल हो गयी। उसने समाजवादी विचारों का और गहनता से प्रचार किया। 1930 के दशक में पूंजीवादी दुनिया में विराट मंदी, रूसी क्रांति और सोवियत रूस में पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता तथा दुनिया भर में फासीवाद विरोधी लहर ने समाजवादी विचारों में नया आकर्षण पैदा किया।

समाजवादी भारत के विजन को लोकप्रिय बनाने में जवाहर लाल नेहरू ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। नेहरू का कहना था कि राजनीतिक आजादी जनता की आर्थिक मुक्ति के बिना बेकार है। 1930 के पूरे दशक में वे तत्कालीन राष्ट्रवादी विचारधारा की अपर्याप्तता

CHRONICLE IAS ACADEMY

की ओर संकेत करते रहे और उस पर बुर्जुआ विचारों के वर्चस्व की आलोचना करते रहे। उनका जोर इस बात पर था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नयी समाजवादी, बुनियादी रूप से मार्क्सवादी विचारधारा को प्रमुख स्थान दिया जाये, ताकि लोग अपनी सामाजिक स्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और कांग्रेस को समाजवादी विचारधारा का वाहक बना सकें। इस मामले में 1930 का दशक काफी अनुकूल साबित हुआ।

यद्यपि वामपंथी समूह और समाजवादी विचार काफी तेजी से फैले, पर वे राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रभावशाली शक्ति नहीं बन सके। हां, उन्हें इतनी सफलता जरूर मिली कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक बुनियादी अंग बन गये और उसे लगातार वामपंथी रुझान देते रहे। फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रांतिकारी तत्व बढ़ता गया।

यह क्रांतिकारिता करांची, लखनऊ और फैजपुर (1931 और 1930) के कांग्रेस प्रस्तावों, 1936 और 1945-46 के चुनाव घोषणा पत्रों तथा 1937-39 के बाद के कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा किये गये आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों में भली-भांति व्यक्त हुई। सच तो यह है कि कांग्रेस लगातार सामाजिक-आर्थिक- राजनीतिक क्रांतिकारिता की दिशा में बढ़ती गयी। वामपंथी जो भी मांगे पेश करते, उन्हें कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद वह अपने कार्यक्रम में शामिल कर लेती। उसके इस विकास में वामपंथी राजनीति तथा मजदूरों, किसानों के संघर्षों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

यदि हम कांग्रेस की कृषि नीति के विकास पर गौर करें, तो यह बात साफ हो जायेगी। आखिर भारत का केन्द्रीय सवाल तो किसानों की सामाजिक स्थिति से ही जुड़ा हुआ था। कांग्रेस ने किसानों की मांगों को लेकर औपनिवेशिक राज्य से हमेशा संघर्ष किया था। लेकिन वामपंथ और किसान आन्दोलनों के अंकुश से कांग्रेस ने 1936 में अपने फैजपुर सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें लगान और भूराजस्व की दरों में भारी कमी, सामंती वसूलियों और बेगार के खात्मे, काश्तकारी की अवधि के निर्धारण तथा खेतिहर मजदूरों के लिए जीने लायक मजदूरी का कार्यक्रम अपनाया गया था।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा तथा सूदखोरों द्वारा की जा रही लूट को रोकने के लिए कानून बनाये, जो कुछ प्रान्तों में ज्यादा कठोर थे और कुछ प्रान्तों में कम कठोर। अंततः 1945 में कांग्रेस कार्य समिति ने जमींदारी के खात्मे की नीति स्वीकार की और यह मानते हुए कि जमीन उसकी है, जो उसे जोते, घोषित किया कि 'भूमि प्रणाली के सुधार में यह शामिल है कि किसान और राज्य के बीच सभी बिचौलियों को समाप्त कर दिया जाये।'

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा और उसके साथ जुड़े हुए नागरिक अधिकारों के हिमायती, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक रूप से क्रांतिकारी, आर्थिक रूप से विकासशील, स्वतंत्र और ऐक्यबद्ध राजव्यवस्था तथा समाज के गरीबों के प्रति पक्षधर क्रांतिकारी सामाजिक-आर्थिक रुझान के कारण ही राष्ट्रीय आन्दोलन में यह शक्ति आयी कि वह राजनीतिक रूप से जागृत तथा सक्रिय जनसाधारण एवं उसकी हिस्सेदारी पर निर्भर हो सका और जनांदोलन का स्वरूप ले सका। यह विचारधारा या 'विजन' तथा जनसाधारण की सक्रिय राजनीतिक भूमिका ही भारतीय जनता के स्वतंत्रता संघर्ष की सही विरासत है।

स्मरणीय तथ्य

- भारत को बिना सलाह युद्ध में घसीट लिए जाने के विरोध में सात प्रांतीय कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने त्याग-पत्र दे दिये। जिन्ना ने 22 दिसम्बर, 1939 को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया, क्योंकि देश को कांग्रेस से छुटकारा मिल गया था।
- चर्चिल ने स्पष्टतः कहा कि *'अटलांटिक चार्टर'* भारत पर लागू नहीं होता है। इसमें स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की बात कही गयी थी।
- लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को 'अगस्त प्रस्ताव' पेश किया, जिसमें 'डोमिनियम स्टेटस' और 'युद्ध परामर्शदात्री सभा' के गठन की बात कही गयी थी।
- *'अगस्त प्रस्ताव'* का महत्व इसलिए भी है कि इसमें स्पष्ट कहा गया था कि 'भारत का संविधान बनाना भारतीयों का अपना अधिकार है।'
- कांग्रेस ने अगस्त 1940 को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ किया। पहले सत्याग्रही *आचार्य बिनोवा* भावे थे।
- बारदोली अधिवेशन में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिया गया।
- मार्च 1942 को क्रिप्स शिष्टमंडल भारत आया, जिसमें अन्य बातों के अलावा भारत का राष्ट्रमंडल से अलग होने का भी अधिकार दिया गया था। गांधीजी ने क्रिप्स शिष्टमंडल के प्रावधानों को 'उत्तरतिथिक चेक' (Postdated Check) की संज्ञा दी।
- क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का निर्णय लिया। भारत छोड़ो का प्रस्ताव 8 अगस्त,

स्वतंत्रता के सफर में अग्रणी रहा राज्य (1818-1947)

- अंग्रेजों की उपनिवेशवादी नीतियों के खिलाफ जब पूरा देश उठ खड़ा हुआ था तो मध्य प्रदेश भी उससे अछूता नहीं रहा। 1818 ई. में प्रदेश के महाकौशल क्षेत्र में सर्वप्रथम विद्रोह की चिंगारी दिखाई पड़ी थी। जब नागपुर के तत्कालीन देशभक्त शासक अप्पा जी भोंसले को अंग्रेजों ने मण्डला, बैतूल, छिंदवाड़ा, सिवनी और नर्मदा कछार का क्षेत्र छोड़ देने हेतु बाध्य किया। ऐसी स्थिति में अप्पा जी ने अंग्रेजों से युद्ध किया, लेकिन उन्हें पराजित होकर भागना पड़ा।
- 1833 में रामगढ़ नरेश *जुझारू सिंह* के पुत्र *देवनाथ सिंह* ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया तो, किन्तु वे भी असफल रहे।
- *दुर्रानि* की संधि के नाराज चन्द्रपुर (सागर) के *जवारहट सिंह बुंदेला, भरहुत के मधुकर शाह, मदनपुर के गोंड मुखिया दिल्हन शाह* और *हीरापुर के हीरेनशाह* ने अंग्रेजों के विरुद्ध 1842 में बगावत के झंडे गाड़ दिये। इस प्रकार सागर, दमोह, नरसिंहपुर से लेकर जबलपुर, मण्डला और होशंगाबाद तक के सारे क्षेत्र में विद्रोह की आग भड़क उठी, लेकिन आपसी सामंजस्य और तालमेल के अभाव में इस प्रयास को अंग्रेज दबाने में सफल रहे।
- अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय लोगों में जो रोष पैदा हुआ, उसकी चरम परिणति 1857 की क्रांति में देखी गयी। *तांत्या टोपे, नाना*

CHRONICLE IAS ACADEMY

साहब, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जैसे लोगों ने इस प्रदेश में क्रांति की अलख जगायी।

- विद्रोह की शुरुआत 3 जून, 1857 को *नीमच* में हुई जो 14 जून को ग्वालियर के निकट *मुरार की छावनी* में, 20 जून को *शिवपुरी* क्षेत्र में, 1 जुलाई 1857 को *महू एवं इंदौर* में फैल गयी। इस दौरान तांत्या टोपे और झांसी के रानी लक्ष्मीबाई दोनों ने एक साथ मिलकर युद्ध किये।
- लेकिन 28 जून, 1858 को रानी शहीद हो गयी तथा तांत्या टोपे को बाद में फांसी दे दी गयी।
- 1857 के विप्लव के दौरान ही संबलपुर राज्य (वर्तमान छत्तीसगढ़) के शासक *सुरेन्द्र साईं* ने भी अंग्रेजों के खिलाफ मोर्चा संगठित किया। इन विद्रोहियों ने 2 वर्ष तक *मंडलेश्वर* पर राज किया, लेकिन 1959 में उनका दमन कर दिया गया।
- इसी समय *भीमा नायक* के नेतृत्व में आदिवासियों ने सेंधवा में विद्रोह कर दिया,जिसे दबाने के लिए अंग्रेजी सेना को काफी प्रयास करने पड़े। 1856 में छत्तीसगढ़ में पड़े भीषण अकाल के दौरान सानखान के राजा नारायण सिंह ने जो राहत कार्य चलाये, उसे अंग्रेजों ने बगावत के रूप में लिया और वीर नारायण सिंह को 19 दिसंबर, 1857 को तोप से उड़ा दिया। लेकिन उनकी शहादत में एक इतिहास बन गयी।
- संगठित राजनीतिक आंदोलन के दूसरा दौर यहां तब आरंभ हुआ, जब 1885 में कांग्रेस गठित हुई। कलकत्ता में हुए कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन (1886 अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी) में मध्य भारत से बापूराव, दादा किन खेड़े, गंगाधन, चिटनिस, गोपाल हरि भिंडे और अब्दुल अजीज ने भाग लिया।
- 1891 ई. में कांग्रेस का सातवां अधिवेशन नागपुर में हुआ। तिलक के प्रभाव में मध्य प्रांत, मालवा आदि जगहों पर गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव, अखाड़ों आदि के माध्यम से राष्ट्रीय भावना का प्रचार होने लगा।
- *माखन लाल चतुर्वेदी* ने अपने '*कर्मवीर*' के प्रकाशन से राष्ट्रीय चेतना के प्रचार को नयी दिशा प्रदान की।
- 1899 में लाहौर में सम्पन्न कांग्रेस अधिवेशन में मध्य प्रांत के *डॉ. हरि सिंह गौड़* ने न्याय विभाग और शासन को पृथक-पृथक रखने की मांग के समर्थन में आवाज उठायी। उन्होंने ही 1904 में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की कटु आलोचना की।
- 1907 में जबलपुर में क्रांतिकारी दल का गठन हुआ तथा 1915 में *होमरूल लीग* की स्थापना की गयी।
- 1923 में यहां '*झंडा सत्याग्रह*' आरंभ हुआ।
- सिवनी जिले में 1916 में स्वतंत्रता आंदोलन आरंभ हुआ। 1920-21 में यहां कांग्रेस और खिलाफत दोनों ने साथ-साथ आंदोलन चलाये। कांग्रेस का नेतृत्व *डुण्डीराज जटार* ने तथा खिलाफत का *अब्दुल जब्बार खां* ने किया
- 1923 के '*नागपुर झंडा सत्याग्रह*' के सिवनी से भारी संख्या में लोगों ने भाग लिया
- 1930-31 में '*नमग सत्याग्रह*' के समय सिवनी के *श्री दुर्गाशंकर मेहता* ने गांधी चौक पर नमक बनाकर सत्याग्रह किया।
- सिवनी के जेल में सुभाषचंद्र बोस, शरतचंद्र बोस, आचार्य विनोबा भावे, पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र एवं एच.वी. कामथ जैसे स्वतंत्रता सेनानी रहे थे
- 1922 में भोपाल रियासत की सिहोर कोतवाली के सामने विदेशी फेल्ट कैप की होली जली।
- 1938 में भोपाल राज्य प्रजामंडल की स्थापना हुई, जिसके मंच से *मौलाना तरजी मशारिकी सदर* एवं *चतुर नारायण मालवीय* ने स्वतंत्रता की मांग उठायी।
- 1923 में जबलपुर से आंरभ हुए '*झंडा सत्याग्रह*' का निर्देशन *देवदास गांधी, रामगोपाल आचार्य* तथा *डॉ राजेन्द्र प्रसाद* ने किया।
- जबलपुर में ही *सेठ गोविन्द दास* और *पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र* के नेतृत्व में 6 अप्रैल, 1930 में '*सत्याग्रह*' का आरंभ हुआ।
- यहीं पर इसी वर्ष हुए '*जंगल सत्याग्रह*' के दौरान सेठ गोविन्द दास, पं. माखन लाल चतुवेर्दी, पं. रविशंकर शुक्ल, पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र तथा विष्णु दयाल भार्गव को गिरफ्तार कर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया।
- 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ हो जाने पर गांधीजी ने यहीं से अपने *सविनय अवज्ञा आंदोलन* की शुरुआत की।
- 1930 में रायपुर क्षेत्र में स्वतंत्रता आंदोलन ने बहुआयामी रूप ले लिया। इस आंदोलन में एक ओर जहां प. रविशंकर शुक्ल, महंत लक्ष्मी दास, घनश्याम सिंह गुप्त, रत्नाकर झा, तामस्कर, बैरिस्टर छेदी लाल, डॉ. रामाचरण राय, डॉ. शिवदुलारे मिश्र, ओतलवार अग्निहोत्री, हरिनारायण वाजपेयी जैसे लोग कांग्रेस की नीतियों को लोकप्रिय बना रहे थे तो वहीं दूसरी ओर ठाकुर प्यारे लाल सिंह मजदूरों को संगठित कर राष्ट्रीय आंदोलन में उन्हें सक्रिय भूमिका निभाने के लिए तैयार कर रहे थे।
- 1938 में खण्डवा, सिहोर, जबलपुर, रायपुर आदि नगरों में नमक कानून तोड़ा गया।
- वर्धा में सेवाग्राम में गांधीजी के आश्रम की स्थापना से राज्य में स्वतंत्रता आंदोलन ने जोर पकड़ लिया।
- रतलाम में स्वामी ज्ञानानंद ने आंदोलन की नींव डाली। 1920 में रतलाम कांग्रेस कमेटी बनायी गयी एवं मुहम्मद उमर खान इसके प्रथम अध्यक्ष बनाये गये।
- 1931 में यहीं से एक'*स्त्री सेवादल*' तथा 1935 में '*प्रजा परिषद*' का गठन हुआ। इसके माध्यम से स्त्री, किसान एवं मजदूरों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा गया।
- 1934 में झाबुआ में प्रजामंडल के नेतृत्व में शराबबंदी, हरिजन उद्धार, विदेशी वस्तु का बहिष्कार जैसे आंदोलन किये गये।
- 1934 में भोपाल में '*भोपाल राज्य हिन्दू सभा*' की नींव डाली गयी। जिससे आम जनता में चेतना फैल गयी।
- 1942 में *मण्डलेश्वर* में क्रांतिकारी बंदियों द्वारा किया गया विद्रोह स्वतंत्रता संग्राममें महत्वपूर्ण स्थान रखता है।
- 1942 के '*भारत छोड़ो*' आंदोलन की शुरुआत ग्वालियर रियासत में सबसे पहले *विदिशा* में ही हुई थी।
- स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भोपाल रियासत में आंदोलन कभी भी तेज नहीं हो पाया, परंतु 1948-49 के दौरान हुए जन विद्रोहों ने रियासत की सामंती नींवों को हिला दिया। मजबूर होकर भोपाल के नवाब ने रियासत को भारत में मिलाने की घोषणा कर दी तथा 1 जून, 1949 को केन्द्र सरकार ने भोपाल राज्य की सत्ता अपने हाथ में ले ली।
- वस्तुतः मध्य प्रदेश के सभी जिलों ने स्वतंत्रता संघर्ष में खुलकर भागीदारी की और अंततः 15 अगस्त, 1947 को देश की आजादी के साथ ही मध्य प्रदेश भी आजाद हो गया। इससे ब्रिटिश प्रांत एवं रियासत की जनता दोनों को मुक्ति मिली।

CHRONICLE IAS ACADEMY

1942 को बम्बई के कांग्रेस अधिवेशन में पास किया गया। इसी अवसर पर गांधीजी ने 'करो या मरो' का नारा दिया था।

- 'ऑपरेशन जीरो आवर' के तहत 9 अगस्त को तड़के सुबह ही सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। गांधीजी को पूना में आगा खां पैलेस में रखा गया।
- भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान बलिया (यू.पी.), तामुलक (मिदनापुर, बंगाल), सतारा (बम्बई) तथा तालचर (उड़ीसा) में क्रान्तिकारियों ने समानान्तर सरकार की स्थापना की।
- मुस्लिम लीग 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से अलग ही रही तथा जिन्ना ने 23 मार्च, 1943 को 'पाकिस्तान दिवस' मनाने का आह्वान किया
- साम्यवादी भी इस आन्दोलन से अलग ही रहे।
- राजगोपालाचारी फार्मूला को जिन्ना ने 'अंगहीन और दीमक लगा हुआ पाकिस्तान' बताया।
- 25 जून 1945 को वेवेल की अध्यक्षता में शिमला सम्मेलन हुआ। वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के निर्माण पर समझौता नहीं होने के कारण यह असफल रहा। जिन्ना का कहना था कि परिषद के पांचों मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार सिर्फ मुस्लिम लीग को है।
- जुलाई 1945 में इंग्लैंड में चुनाव हुए, जिसमें मजदूर दल को सफलता मिली। चर्चिल की जगह एटली प्रधानमंत्री बने। एमरी की जगह पैथिक लॉरेंस को भारत मंत्री नियुक्त किया गया।
- 1945-46 में भारत में भी चुनाव हुए- केन्द्रीय विधानसभा में कांग्रेस को 57 तथा लीग को 30 स्थान मिले। बहुसंख्यक हिन्दू प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। बंगाल और सिन्ध में लीग की सरकार बनी तथा पंजाब में खिज्र हयात खां के नेतृत्व में कांग्रेस, अकाली और यूनियनिस्ट दल के मिले-जुले मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ।
- *कैबिनेट मिशन योजना*- 24 मार्च, 1946 को मिशन दिल्ली पहुंचा- इसके सदस्य थे- लॉर्ड पैथिक लॉरेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स एवं ए. बी. एलेक्जेंडर। इसमें प्रथम बार भारत के लिए स्वाधीनता शब्द का प्रयोग किया गया था, साथ ही साथ अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों दोनों के अधिकारों की सुरक्षा की बात की गयी थी।
- संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस ने 214 सामान्य स्थानों में से 205 प्राप्त किये तथा लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थान मिले।
- 29 जून, 1946 को लीग ने शिष्टमंडल योजना अस्वीकार कर दी और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए 'सीधी कार्यवाही' (Direct action) करने की धमकी दी। इधर 8 अगस्त, 1946 को कांग्रेस ने अंतरिम सरकार बनाने की योजना स्वीकार कर ली।
- यद्यपि लीग अंतरिम सरकार में सम्मिलित हो गयी थी, फिर भी उसने संविधान सभा में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया।
- संविधान सभा की बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को दिल्ली में आरंभ हुई।
- एटली की घोषणा 20 फरवरी, 1947 को की गयी। इसमें कहा गया कि अंग्रेज जून 1948 के पूर्व सत्ता भारतीयों को सौंप देंगे।
- 3 जून, 1947 को माउन्टबेटन योजना प्रकाशित हुई, जिसमें भारत का विभाजन प्रस्तावित था। कांग्रेस तथा लीग दोनों ने ही इसे स्वीकार कर लिया।
- ब्रिटिश पार्लियामेंट में 4 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पेश किया गया, जो 18 जुलाई, 1947 को पारित हो गया।
- 14 अगस्त को पाकिस्तान का निर्माण हुआ तथा 15 अगस्त को भारत स्वतंत्र हुआ। जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर जनरल और लियाकत अली प्रधान मंत्री बने। भारत के गवर्नर जनरल माउन्टबेटन तथा प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू बने।
- सरदार वल्लभ भाई पटेल को 'भारत का बिस्मार्क' भी कहा जाता है।
- जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद के अलावा सभी देशी रियासतों के शासकों ने 15 अगस्त, 1947 को विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।
- जर्मनी में हिटलर के दाएं हाथ रोबेन ट्राप ने सुभाषचन्द्र बोस का स्वागत किया।
- सुभाषचन्द्र बोस ने पेरिस, रोम में 'फ्री इंडिया सेंटर' की स्थापना की।
- *'इंडियन नेशलन आर्मी'* की स्थापना सिंगापुर में की गयी।
- अस्थायी सरकार की स्थापना सिंगापुर में हुई। सुभाषचन्द्र बोस प्राइम मिनिस्टर तथा सेना के सुप्रीम कमांडर बने।
- आजाद हिंद फौज की स्त्रियों के रेजीमेंट का नाम 'झांसी की रानी' था। राष्ट्रीय गान टैगोर की कविता थी। कांग्रेस का तिरंगा झंडा इसका झंडा था। तीन ब्रिगेडों के नाम थे, *'सुभाष ब्रिगेड' 'नेहरू ब्रिगेड'* और *'गांधी ब्रिगेड'*।
- जापान सरकार ने अंडमान और निकोबार द्वीप पर विजय प्राप्त कर इसका शासन अस्थायी सरकार को सौंप दिया।
- आजाद हिंद फौज के तीन अफसरों-गुरु दयाल सिंह ढिल्लों, श्री प्रेम कुमार सहगल और श्री शाहनवाज पर राजद्रोह का मुकदमा लाल किला में चलाया गया।
- कांग्रेस ने 'आजाद हिंद फौज बचाव समिति' का गठन किया जिसके सदस्य थे-भूलाभाई देसाई, श्री तेज बहादुर सप्रु, आसफ अली, नेहरू एवं जिन्ना।
- 16 फरवरी, 1946 को 'रॉयल इंडियन नेवी' का विद्रोह घटिया खाना की शिकायत को लेकर शुरू हुआ।
- नौसेना विद्रोहियों को समप्रण की सलाह श्री बल्लभ भाई पटेल ने दी थी।
- ऐसा कहना कि रॉयल इंडिया नेवी के विद्रोह के कारण ही कैबिनेट मिशन (18 फरवरी) भारत भेजा गया, युक्तिसंगत नहीं है। कैबिनेट मिशन को भारत भेजने का निर्णय 22 जनवरी, 1946 को ही ले लिया गया था और इसकी घोषणा एक सप्ताह पहले से ही की जानी थी।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में अलगाववादी प्रवृत्तियां

सांप्रदायिकता का उदय और विकास

19वीं सदी के अंत तक राष्ट्रवाद के उदय के साथ-साथ संप्रदायवाद ने भी सर उठाया और इसके कारण भारतीय जनता और राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा पैदा हुआ। इसका सबसे दु:खद परिणाम देश के विभाजन के रूप में सामने आया। भारत में सांप्रदायिकता की समस्या को केवल हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न अथवा हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का विरोध मानना ठीक नहीं। सांप्रदायिक प्रश्न का आधार राजनैतिक अधिक और धार्मिक कम था। इन दो धर्मों के अतिरिक्त इस त्रिभुज में एक तीसरा पक्ष भी था। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुस्लिम संप्रदायों के बीच अपने आपको स्थापित कर एक सांप्रदायिक त्रिभुज खड़ा कर दिया। इस त्रिभुज को सबसे दृढ़ तथा आधार भुजा अंग्रेज थे। वे न तो मुसलमानों के मित्र थे न ही हिन्दुओं के शत्रु। वे तो बस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पोषक थे तथा 'बांटो और राज करो' की रोमन कहावत में विश्वास करते थे। संप्रदायवाद के उदय और विकास की चर्चा करने के पहले यह आवश्यक कि इस शब्द की परिभाषा कर ली जाये।

सांप्रदाकिता या सांप्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण होते हैं, जिनमें एक तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म मानने वालों के सांसारिक हित-यानी राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और संस्कृतिक हित-भी एक ही जैसे होते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है। इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक-राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है। सांप्रदायिक विचारधारा का दूसरा चरण इस विश्वास के साथ शुरू होता है कि उनके सांसारिक हित अन्य किसी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न हैं। सांप्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के सांसारिक हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। अत: बुनियादी रूप से सांप्रदायिकता ही वह विचाराधारा है जिसके आधार पर सांप्रदायिक राजनीति खड़ी होती है। किसी भी दल, व्यक्ति या आंदोलन में सांप्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण में होता है। सांप्रदायिकता के दूसरे चरण को उदार सांप्रदायिकता या नरमपंथी सांप्रदायिकता भी कहा जाता है। 1937 के पहले अधिकांश सांप्रदायिकतावादी जैसे हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अली बंधु सांप्रदायिक ढांचे के तहत काम करते थे। सांप्रदायिकता तीसरे चरण में पहुंचकर फासीवादी रुख अख्तियार कर लेती है। इसे उग्रवादी सांप्रदायिकता भी कहा जाता है।

इसी चरण में आने के बाद सांप्रदायिकतावादियों ने घोषणा करनी शुरू कर दी कि मुसलमान, मुस्लिम संस्कृति और इस्लाम तथा हिन्दू धर्म और उसकी संस्कृति के अस्तित्व पर खतरा है। साथ ही उन्होंने यह सिद्धांत पेश करना शुरू किया कि मुसलमान और हिन्दू दो अलग-अलग राष्ट्र हैं तथा उनके बीच स्थायी द्वंद्व है, जिसे कभी भी समाहित नहीं किया जा सकता। 1937 के बाद *'मुस्लिम लीग'* और *'हिन्दू महासभा'* तथा *'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ'* इसी उग्रवादी या फासीवादी सांप्रदायिकता की ओर बढ़ रहे थे।

यह सही नहीं है कि संप्रदायवाद अतीत की एक विरासत है। यह सच है कि सांप्रदायिकता प्राचीन या मध्ययुगीन विचारधारा का इस्तेमाल करती है तथा उस पर आधारित भी होती है, लेकिन मूलत: यह एक आधुनिक विचारधारा और राजनैतिक प्रवृत्ति थी। 1870 के दशक के पहले तक शायद ही किसी सांप्रदायिक विचारधारा और सांप्रदायिक राजनीति का अस्तित्व रहा है। संप्रदायवाद एक आधुनिक प्रवृत्ति है जिसकी जड़ें आधुनिक औपनिवेशिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना में निहित है। संप्रदायवाद का उदय जनता और उसकी भागीदारी पर आधारित एक नयी आधुनिक राजनीति का परिणाम थी। ऐसा भी नहीं है कि सांप्रदायिकता जैसी चीज का विकास सिर्फ भारत में हुआ हो। यह भारत के विशेष ऐतिहासिक या सामाजिक विकास का अनिवार्य या अपरिहार्य नतीजा भी नहीं थी। यह उन परिस्थितियों की उपज थी, जिसके कारण दूसरे समाजों में सांप्रदायिकता जैसी घटनाओं और विचाराधाओं को जन्म दिया, जैसे फासीवाद, नस्लवाद, उत्तरी आयरलैंड का कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष या लेबनान का ईसाई-मुस्लिम संघर्ष।

भारत में सांप्रदायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की जरूरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। देश का आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण, भारत की एक आधुनिक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया, उपनिवेशवाद आदि ने ऐसी परिस्थतियां उत्पन्न कीं जिनके कारण संप्रदायवाद का उदय हुआ। यह समझना गलत है कि यह सिर्फ सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञों या धूर्त प्रशासकों के षड्यंत्र का नतीजा था। इसकी जड़ों आधुनिक औपनिवेशिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना में निहित थीं। भारत में संप्रदायवाद के उदय के निम्न कारण थे:

(1) **आर्थिक कारण :** भारत में उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के कारण उत्पन्न पिछड़ेपन ने सांप्रदायिकता के विकास में काफी सहयोग किया। औपनिवेशिक शोषण से अर्थव्यवस्था में ठहराव आया तथा भारतीय जनता खासकर मध्यम वर्ग को इसने काफी प्रभावित किया। उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सेवाओं का विस्तार नहीं होने के कारण बेकारी इनके लिए एक भयंकर समस्या बन गयी। 1928 के आर्थिक मंदी के दौरान आर्थिक अवसर और भी सिकुड़ गये। जो कुछ भी आर्थिक अवसर उपलब्ध थे, उनका अधिकतम हिस्सा हासिल करने के लिए मध्यम वर्ग के लोग शैक्षणिक योग्यताओं और व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ भाई-भतीजावाद, घूस आदि का भी

CHRONICLE IAS ACADEMY

इस्तेमाल करते थे। अपने संघर्ष को विस्तृत आधार देने के लिए वे जाति, प्रांत और धर्म जैसी सामूहिक पहचानों का सहारा लेते थे। इस तरह सांप्रदयिकता ने मध्यम वर्ग के लोगों को कुछ फायदा पहुंचाया और इस तरह उसे वैधता भी मिली। इस तरह 1937 तक सांप्रदायिक राजनीति मुख्यत: सरकारी नौकरियों, शैक्षणिक रियायतों और राजनीतिक पदों (विधायिकाओं तथा नगर पालिकाओं आदि में आरक्षण) के इर्द-गिर्द मंडराती रही।

(2) वर्ग-संघर्ष की सांप्रदायिक अभिव्यक्ति: सांप्रदायिकता अक्सर शोषकों और शोषितों के बीच तनाव और वर्ग संघर्ष को विकृत कर सिफ्र इस पर आधार पर सांप्रदायिक संघर्ष में बदल देती थी, कि वे अलग-अलग धर्मों के मानने वाले थे। यद्यपि उनके संघर्ष में धर्म का कुछ भी लेना देना नहीं था, तथापि राजनीतिक जागरूकता के अभाव में उन्हें सांप्रदायिक संघर्षों के रूप में विकृत अभिव्यक्ति मिली। वास्तविक समस्याओं की सांप्रदायिक अभिव्यक्ति का मुख्य कारण भारत के सामाजिक विकास की यह विशेषता थी कि देश के कई हिस्सों में धार्मिक विभाजन सामाजिक और वर्गीय विभाजनों के साथ-साथ चल रहा था। इनमें अधिकतर स्थानों पर शोषक वर्ग, जमींदार, व्यापारी और साहूकार सवर्ण हिन्दू थे, जबकि गरीबों और शोषितों में मुसलमानों या नीची माने जाने वाली जातियों के हिन्दू थे। यही कारण है कि जब मुसलमान सांप्रदायिकतावादी यह प्रचार करते थे कि हिन्दू मुसलमानों का शोषण कर रहे हैं या हिन्दू सांप्रदायिकतावादी यह प्रचार करते थे कि मुसलमानों के कारण हिन्दुओं की संपत्ति या आर्थिक हित खतरे में है, तो पूरी तरह गलत होने के बावजूद यह प्रचार काम कर जाता था। उदाहरण के लिए पूर्व बंगाल और मालाबार में काश्तकारों और जमींदारों तथा पंजाब में काश्तकारों-देनदारों और व्यापारियों-साहूकारों के संघर्ष को हिन्दू मुसलमानों के संघर्ष के रूप में अभिव्यक्ति मिली। बहुत से मामलों में ऐसा भी होता था कि किसी सामजिक संघर्ष में भाग लेने वाले लोगों ने तो सांप्रदायिकता का परिचय नहीं दिया, लेकिन उसके दर्शकों, सरकारी अधिकारियों, पत्रकारों, राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों ने उसे सांप्रदायिक संघर्ष करार दिया।

3. ब्रिटिश नीतियां : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता के विकास के लिए अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति खासतौर से जिम्मेदार है। *'फूट डालो और राज करो'* की नीति न सिर्फ सांप्रदायिकता के अवसर पर ही अभिव्यक्ति हुई, बल्कि भारतीय समाज में जो भी विभाजन मौजूद थे, उन्हें इसलिए प्रोत्साहित किया गया ताकि राष्ट्रीय एकता के उदय को रोका जा सके। सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने के लिए अंग्रेजों ने कई कदम उठाये। प्रथमत: उन्होंने हिन्दू, मुसलमानों और सिक्खों को लगातार अलग-अलग समुदायों का दर्जा दिया। बार-बार इस बात पर जोर दिया कि भारत न तो एक राष्ट्र है, न राष्ट्र के रूप में उसका विकास हो रहा है- उसका गठन तो धर्म पर आधारित ऐसे समुदायों से हुआ है, जिनके हित आपस में टकराते हैं। दूसरे सांप्रदायिकतावादियों को सरकारी संरक्षण और रियायतें दी गयी। तीसरे सांप्रदायिक पत्रों, व्यक्तियों और आन्दोलनों के प्रति असाधारण सहिष्णुता दिखलायी गयीं। चौथे, सांप्रदायिक मांगों को तुरंत स्वीकार कर उनके संगठन के नेतृत्व को मजबूती प्रदान की जाती थी। पांचवें, ब्रिटिश सरकार सांप्रदायिक संगठनों और नेताओं को तथाकथित समुदायों के प्रामाणिक प्रवक्ता के रूप में तत्काल स्वीकार कर लेती थी, जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को एक छोटे से वर्ग का प्रतिनिधि माना जाता था। अंतत: औपनिवेशिक हुकूमत ने सांप्रदायिकता को इस तरह भी बढ़ावा दिया कि उसके खिलाफ कोई कार्रवाही न करने की नीति बना ली। इससे अप्रत्यक्ष रूप से सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। सांप्रदायिक पत्र-पत्रिकाओं पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं लगाया गया तथा साथ ही सांप्रदायिक दंगों से निबटने में जानबूझ कर देर की गयी। इतना ही नहीं सांप्रदायिक नेताओं, बुद्धजीवियों आदि को तरह-तरह से लाभान्वित किया गया।

(4) हिन्दुवादी पुट की भूमिका : 20वीं सदी के प्रारंभ में राष्ट्रीय विचारों का जो प्रचार किया गया, उसमें अनचाहे ही हिन्दुवादी पुट का समावेश था और इसने भी सांप्रदायिकता के विकास में सहयोग किया। बहुत सारे नेता प्राचीन भारतीय संस्कृति की महत्ता पर जोर देते थे। वे मध्ययुगीन संस्कृति को बिल्कुल भूल जाते थे। तिलक ने राष्ट्रीयता का प्रचार करने के लिए *'गणेश पूजा'* और *'शिवाजी महोत्सव'* का सहारा लिया, तो बंग-भंग के खिलाफ आन्दोलन की शुरुआत गंगा में डुबकी लगाकर की गयी। राष्ट्रवादी लेखकों द्वारा अपने लेखों में अक्सर मुसलमानों का उल्लेख विदेशी के रूप में किया जाना आदि ने शिक्षित मुसलमानों में असंतोष पैदा किया तथा उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख भी किया। यह सच है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा बुनियादी रूप से धर्मनिरपेक्ष ही रही और इसमें कई राष्ट्रवादी मुसलमान भी शामिल हुए। फिर भी सांप्रदायिकता के विकास को रोकने में राष्ट्रवादी नेतृत्व असफल रहा।

(5) इतिहास को सांप्रदायिक रंग देना: भारतीय इतिहास खासकर प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को ब्रिटिश इतिहासकार *जेम्स* द्वारा *'हिन्दू-काल'* और *'मुस्लिम-काल'* की संज्ञा देना भी सांप्रदायिक चेतना के विकास में सहायक हुआ। ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मामले में उसका अनुसरण किया। मध्यकाल में मुस्लिम जनता भी उतनी ही निर्धन, शोषित और दमन का शिकार थी, जितनी की हिन्दू जनता। जमींदारों-जागीरदारों तथा शासकों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे, फिर भी इन लेखकों ने यह घोषित कर दिया कि उस दौर में सभी मुसलमान शासक थे और सभी हिन्दू शासित। इतिहास की हिन्दू सांप्रदायिक दृष्टि ने इस बात पर बल दिया कि प्राचीन काल में भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति आदि एक महान ऊंचाई पर थी, जिसका लगातार पतन मध्यकाल में हुआ। उन्होंने मध्यकाल की उपलब्धियों को पूरी तरह नकार दिया। स्वाभाविक था कि मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों पर इसकी प्रतिक्रिया होती। उन्होंने पश्चिम एशिया में इस्लामी उपलब्धियों के स्वर्ण युग का राग अलापना शुरू कर दिया। इस प्रकार भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक तथा अवैज्ञानिक विकृत व्याख्या सांप्रदायिक चेतना के फैलाव का एक मुख्य औजार बनी।

(6) अनेक धर्मों का सहअस्त्वि : कुछ लोग अनेक धर्मों के समानांतर अस्तित्व को सांप्रदायिकता के उदय का एक कारण मानते हैं। लेकिन यह वास्तवकिता नहीं है। भारत में सांप्रदायिकता के विकास में धर्म की कोई बुनियादी भूमिका नहीं है। फिर भी चूंकि सांप्रदायिकतावादियों ने धर्म का इस्तेमाल अपने अनुयायियों को गोलबंद करने के लिए किया, अत: कहा जा सकता है कि इसने वह जमीन तैयार की, जिस पर सांप्रदायिकता का पौधा फला-फूला।

1870 के पहले सांप्रदायिकता के दर्शन दुर्लभ थे। 1857 की लड़ाई में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही साथ-साथ लड़े। 1857 के बाद अंग्रेजों की यह नीति रही थी कि वे हिन्दुओं को समर्थन देते रहे और मुस्लिमों को दबाते रहे। परन्तु ज्यों-ज्यों हिन्दुओं में अधिकाधिक राजनैतिक जागृति आयी और उन्होंने राजनैतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन करना प्रारंभ किया, अंग्रेजों की इस नीति में परिवर्तन आया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

1880 के आस-पास यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दू अब राजनैतिक, आर्थिक और शिक्षा के क्षेत्र में अधिक पिछड़े मुसलमानों की तुलना में अधिक भय उत्पन्न कर रहे थे। *डब्ल्यू. डब्ल्यू. हन्टर* (W.W. Hunter) ने अपनी पुस्तक 'भारतीय मुसलमान' में स्पष्ट लिखा कि "मुसलमान इतने दुर्बल हैं कि विद्रोह कर ही नहीं सकते।" यह पुस्तक 1871 में प्रकाशित हुई थी। उसने मुसलमानों के प्रति नीति में परिवर्तन का भी सुझाव दिया। आरंभिक मुस्लिम बुद्धीजीवियों ने मुसलमानों के पिछड़ेपन के लिए हिन्दुओं को दोषी नहीं ठहराया, बल्कि सरकार की मुस्लिम विरोधी नीति और आधुनिक शिक्षा के प्रति उच्चवर्गीय मुसलमानों की उपेक्षा को दोषी ठहराया।

सर सैयद अहमद खान

सर सैयद अहमद खान आरंभिक काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे, परन्तु कालांतर में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कट्टर विरोधी एवं सरकारपरस्त हो गये। 1860 के दशक में उनके द्वारा स्थापित संस्थाएं हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए थीं। अलीगढ़ कालेज उन्होंने मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रति विरक्ति को दूर करने के लिए खोला, जिसमें उन्हें कई हिन्दुओं का भी सहयोग मिला। आरंभिक काल में वे हिन्दू और मुसलमानों को *'एक सुन्दर वधु (भारत) की दो आंखें'* कहते थे। 1884 में दिये गये भाषण में उन्होंने कहा था, "क्या आप एक ही देश में नहीं रहते? क्या एक ही जमीन पर आपका अंतिम संस्कार नहीं होता? याद रखिये, हिन्दू और मुसलमान शब्द सिर्फ धार्मिक अन्तर बतलाते हैं, अन्यथा सभी लोग चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, यहां तक कि इस देश में रहने वाले ईसाई भी- इस मामले में एक ही राष्ट्र के लोग हैं।" लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होने के बाद सर सैयद अहमद खाँ का स्वर बदल गया और यहीं से सांप्रदायिकता की पहली झलक दिखायी पड़ने लगी। जब यह जाहिर हो गया कि कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरुद्ध है, तो अंग्रेजी प्रशासन ने उस पर हमला बोल दिया। सैयद अहमद को लगा कि सरकार का साथ देकर ही मुसलमानों के आर्थिक अवसर बढ़ाये जा सकते हैं, अतः उन्होंने इस हमले में शामिल होने का फैसला किया। 16 मार्च, 1888 को मेरठ के अपने भाषण में उन्होंने कहा कि "हिन्दू और मुसलमान न केवल दो राष्ट्र हैं बल्कि विरोधी राष्ट्र हैं।" यदि अंग्रेज भारत से चले जायें तो ये कभी भी एक साझा राजनैतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। जैसे ही स्थानीय निकायों के गठन में चुनावों की प्रथा प्रारंभ हुई वैसे ही पृथक् निर्वाचक मंडल की मांग प्रस्तुत हुई। कांग्रेस लोकतांत्रिक चुनावों की मांग कर रही थी। सैयद अहमद ने इसका विरोध किया और कहा कि वैसा होने पर मुसलमान अपने हितों की रक्षा नहीं कर पायेंगे।

एंग्लो-इण्डियन प्रशासकों ने इस भय का लाभ उठाकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक खाई बना दी। अलीगढ़ कालेज के पहले तीन प्रिंसिपल-बेक, मोरिसन तथा आर्चबोल्ड, तीनों ने अलीगढ़ आन्दोलन को अंग्रेजों के पक्ष का और हिन्दुओं के विरोध का रूप दिया। मुसलमानों को क्राउन के प्रति राजभक्ति की भावना तथा राजनीति से दूर रहने की सलाह दी गयी। अगस्त 1888 में सैयद अहमद ने एक 'संयुक्त भारतीय राजभक्ति सभा' (United Indian Patriotic Association) बनायी जिसका स्पष्ट उद्देश्य कांग्रेस के प्रचार को निष्फल बनाना तथा लोगों को कांग्रेस से दूर रखना था। कुछ दिनों के बाद उन्होंने *'मुस्लिम-एंग्लो ओरिएन्टल रक्षा सभा'* (Mohammadan Anglo-oriental Defence Association) की स्थापना की, ताकि मुसलमान राजनीति से दूर रहें और अंग्रेजी राज्य का समर्थन करें।

सैयद अहमद के बाद : सैयद अहमद की मृत्यु के बाद भी मुस्लिम संप्रदायवादियों ने सरकार के प्रति वफादारी की नीति बनाये रखी। 1905-06 में जब स्वदेशी आन्दोलन छिड़ा तो उन्होंने सरकार का पक्ष लिया। लेकिन उदीयमान मुस्लिम शिक्षित वर्ग को निष्क्रिय या सरकार समर्थक बनाये रखने की कोशिश पूरी तरह सफल नहीं हुई। 1887 में कांग्रेस अध्यक्ष बदरूद्दीन तैयबजी बने तथा बाद में भी काफी मुस्लिमों ने कांग्रेस में भाग लिया। बंग-भंग आन्दोलन में भी कुछ राष्ट्रवादी मुसलमानों ने हिस्सा लिया। वस्तुतः 1920 के दशक तक बंगाल में मुसलमान राष्ट्रीय धारा के साथ जुड़े रहे।

मुस्लिम लीग और मुस्लिम सांप्रदायिकता का उदय

एम.ए.ओ. कॉलेज अलीगढ़ के प्रिंसिपल आर्चबोल्ड के सुझाव पर आगा खां एक प्रतिनिधिमंडल लेकर अक्टूबर 1906 को शिमला में लार्ड मेयो से मिले। इस प्रतिनिधि मंडल को मौलाना मुहम्मद अली ने 'आज्ञानुसार कार्य' (Command Performance) की संज्ञा दी। अन्य बातों के अलावा यहां यह भी मांग की गयी कि मुसलमानों को केवल जनसंख्या के आधार पर स्थानों का आरक्षण नहीं मिलना चाहिए। बल्कि यह उनके राजनैतिक महत्व और साम्राज्य की रक्षा के लिए सेवाओं के आधार पर मिलना चाहिए। लार्ड मिन्टो ने इस प्रार्थना पत्र को स्वीकार कर लिया। 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों ने सांप्रदायिक आधार पर मतदाता मंडल बनाये और इससे सांप्रदायिक राजनीति के फैलाव को एक मजबूत आधार मिला। इस पद्धति के तहत मुसलमान (बाद में सिक्ख तथा अन्य) मतदाताओं के लिए अलग चुनाव क्षेत्र बना दिये गये, जहां सिर्फ मुसलमान उम्मीदवार ही खड़े हो सकते थे और मतदान का अधिकार भी केवल मुसलमानों को ही था।

शिमला प्रतिनिधिमंडल के समय ही मुस्लिम नेताओं ने एक संगठन बनाने की सोची, फलतः 30 दिसम्बर, 1906 को मुस्लिम लीग का विधिवत उद्घाटन किया गया। इसके संस्थापकों में कुछ बड़े जमींदार, भूतपूर्व नौकरशाह और आगा खां तथा नवाब मोहसिन उल मुल्क जैसे अभिजात वर्गीय लोग थे। मुस्लिम लीग का चरित्र सरकार-परस्त, सांप्रदायिक तथा अनुदारवादी था। इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे:

(i) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना को बढ़ावा और यदि सरकार के किन्हीं विचारों के विषय में गलत धारणा उठे तो उसे दूर करना।

(ii) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को मर्यादापूर्वक सरकार के सम्मुख रखना।

(iii) उद्देश्य (I) और (II) को ध्यान में रखते हुए यथासम्भव मुसलमानों तथा अन्य भारतीय संप्रदायों के बीच सद्भाव बढ़ाना।

युवा मुस्लिम वर्ग शीघ्र ही मुस्लिम लीग के अभिजात वर्गीय नेतृत्व की सरकार-परस्त हिन्दू-विरोधी और दासतापूर्ण मानसिकता से असंतुष्ट हो गया। इसी दौर में मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ, हसन इमाम, मौलाना जफर अली खाँ और मजहरूल हक के नेतृत्व में प्रखर राष्ट्रवादी 'अहरार आन्दोलन' छेड़ा गया। इसे कुछ पुरातनपंथी उलेमाओं का भी समर्थन मिला। इनमें प्रमुख थे- मौलाना अबुल कलाम आजाद, जिनकी शिक्षा काहिरा के प्रसिद्ध अल अजहर विश्वविद्यालय में हुई थी तथा जो अपने समाचार पत्र 'अल हिलाल' के जरिए तर्कवादी तथा राष्ट्रीय विचारों को प्रचार कर रहे थे। 1912 से 1924 के बीच लीग कांग्रेस की नीतियों के काफी नजदीक पहुंच चुकी थी,

CHRONICLE IAS ACADEMY

जिसका सबसे प्रमुख कारण लीग में राष्ट्रवादी मुसलमानों को मिलने वाली प्रमुखता थी। लेकिन दुर्भाग्यवश जिन्ना जैसे कुछ नेताओं को छोड़कर अन्यों की राष्ट्रीयता पूर्णत: धर्मनिरपेक्ष नहीं थी।

1916 में लीग तथा कांग्रेस दोनों के वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुए। दोनों संगठनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसे *'लखनऊ समझौता'* कहा जाता है। दोनों संगठनों ने सरकार के सामने एक, जैसी राजनीतिक मांगें रखीं, जिनमें एक यह भी था कि युद्ध समाप्ति के बाद भारत को स्वशासन दिया जाये। लखनऊ समझौते में अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् मतदाता मंडलों तथा सीटों के आरक्षण को मान्यता दी गयी। कई दृष्टियों से यह समझौता प्रगतिशील था, लेकिन इसके द्वारा कांग्रेस ने सांप्रदायिक राजनीति को स्वीकार भी कर लिया था। समझौते में यह निहित था कि भारत विभिन्न समुदायों का देश है और उनके हित अलग अलग हैं। इसके नतीजे खतरनाक निकले।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद रौलेट कानून के विरोध तथा खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के दौरान राष्ट्रवादी धारा और मजबूत हुई तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिला। इसी समय स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली के जामा मस्जिद से लोगों को सम्बोधित किया तो सैफुद्दीन किचलु ने अमृतसर के स्वर्ण मंदिर से। फरवरी 1922 में असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया गया। इसके अवसाद के दौर में सांप्रदायिकता को सिर उठाने का मौका मिला गया।

1922 के बाद देश में सांप्रदायिक दंगे जल्दी-जल्दी होने लगे। मुस्लिम लीग फिर से अपने पुराने रूप में आ गयी। 1923 में हिन्दू महासभा का भी पुनर्जन्म हुआ। हिन्दुओं के बीच *'संगठन'* और *'शुद्धि आन्दोलन'* तथा मुसलमानों में *'तंजीम'* और *'तबलीग'* आन्दोलन चले जिनका उद्देश्य सांप्रदायिक था। राष्ट्रवादियों को अपने-अपने समुदायों ने दुश्मन घोषित कर दिया गया। इस सांप्रदायिक माहौल का दबाव बहुत से राष्ट्रवादी नेताओं पर भी पड़ा और उनका स्वर सांप्रदायिक या अर्द्ध-सांप्रदायिक हो गया। स्वराज चाहने वालों का विभाजन हो गया। एक गुट ने, जिनमें मदन मोहन मालवीय और एन.सी. केलकर आदि थे, हिन्दू हितों की रक्षा के नाम पर सरकार से सहयोग की पेशकश की। उधर खिलाफत आन्दोलन के पुराने नेता जैसे मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली आदि सांप्रदायिक हो गये। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1922 और 1927 के बीच करीब 112 बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए।

हिन्दू महासभा तथा हिन्दू सांप्रदायिकता का उदय

मुस्लिम सांप्रदायिकता के साथ-साथ भारत में हिन्दू सांप्रदायिकता भी जन्म ले रही थी। 1870 के दशक से ही हिन्दू जमींदारों, साहूकारों और विभिन्न पेशे में लगे मध्यम वर्ग के लोग मुस्लिम विरोधी भावनाएं भड़का रहे थे। संयुक्त प्रांत और बिहार में उन्होंने हिन्दी को सांप्रदायिक रंग दे डाला और कहना शुरू कर किया कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। उसी तरह 1890 के दशक में गोवध विरोधी प्रचार किया गया। इन्होंने भी मुसलमानों की देखा-देखी विधायिकाओं और सरकारी नौकरियों में हिन्दुओं के लिए आरक्षण की मांग की।

'पंजाब हिन्दू सभा' की स्थापना 1909 में हुई। हिन्दू सांप्रदायिक विचारधारा और राजनीति की नींव इसके नेताओं खासकर बी.एन.मुखर्जी और लालचंद ने रखी। यह पूर्णतया कांग्रेस विरोधी संस्था थी और अपने समुदाय के लाभ से लिए सरकार-परस्त थी। लालचंद ने तो स्पष्ट घोषणा की कि *'वे पहले हिन्दू हैं, भारतीय बाद में।'* हिन्दू महासभा ने हरिद्वार में अपना मुख्य कार्यालय स्थापित किया। *'अखिल भारतीय हिन्दू महासभा'* का पहला अधिवेशन अप्रैल, 1915 में कासिम बाजार में महाराजा की अध्यक्षता में हुआ। लेकिन हिन्दू महासभा का प्रसार लीग की तुलना में बहुत धीरे-धीरे ही हुआ। लीग की जितनी मजबूत पकड़ अपने अनुयायियों पर थी, उतनी महासभा की कभी भी नहीं रही। आरंभ में हिन्दू महासभा ने अपने आपको सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों तक सीमित रखा, लेकिन 1938 में जब बी.डी. सावरकर इसके अध्यक्ष बने, तब महासभा ने अपना एक राजनैतिक कार्यक्रम भी बना लिया। कांग्रेस की मुसलमानों को प्रसन्न करने की नीति से दु:खी होकर सावरकर ने 'हिन्दू राष्ट्र' का नारा दिया। सावरकर की मृत्यु के पश्चात् श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी इसके प्रधान बने और उन्होंने इसे कुछ अधिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण दिया।

बातचीत द्वारा एकता लाने कोशिश : साइमन कमीशन की चुनौती का सामना करने के लिए सांप्रदायिक मुद्दों को सुलझाना जरूरी था। अत: राष्ट्रवादी नेताओं ने बातचीत द्वारा एकता स्थापित करने की कोशिश की। इस उद्देश्य से राष्ट्रीय स्तर के अनेक सम्मेलन आयोजित किये गये तथा एक सर्वसम्मत संविधान भी बनाया गया। 1927 में एक मांग-पत्र तैयार किया गया जिसे 'दिल्ली प्रस्ताव' कहते हैं। इधर कांग्रेस के प्रस्ताव 'नेहरू रिपोर्ट' के रूप में सामने आया। कलकत्ता सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट पर सहमति नहीं हो सकी। कलकत्ता सम्मेलन की प्रतिक्रिया यह हुई कि अधिकांश मुस्लिम सम्प्रदायवादी एक हो गये और जिन्ना ने भी तय कर लिया कि उसे इसी रास्ते पर चलना है। जिन्ना ने यह मानते हुए कि *'नेहरू रिपोर्ट'* हिन्दू हितों का दस्तावेज है, अपनी 14 सूत्री मांग प्रस्तुत की। बाद के वर्षों में जो भी सांप्रदायिक प्रचार किया गया, उसके मूल में जिन्ना के यही 14 सूत्र थे। स्पष्ट है कि सांप्रदायिक नेताओं से बातचीत या समझौता कर हल निकालने की रणनीति पूर्णत: असफल रही।

साइमन कमीशन के बहिष्कार तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय सांप्रदायिकता एक बार फिर नेपथ्य में जाने को बाध्य हो गयी। राष्ट्रीय आंदोलन का दायरा बढ़ा तथा कई मुस्लिम बहुल प्रांत भी इसके प्रभाव में आ गये। 1930 में जब गोलमेज कान्फ्रेंस शुरू हुआ तो सांप्रदायिक नेताओं में फिर से सक्रियता आयी। फिर भी सांप्रदायिक दलों और समूहों की स्थिति 1937 तक कमजोर रही। उनका सामजिक आधार भी सीमित था। इस बढ़ती हुई मुस्लिम सांप्रदायिकता में सुधार लाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने *कम्युनल अवार्ड* की घोषणा की, जिसमें 1927 के दिल्ली प्रस्तावों से लेकर 14 सूत्रों तक की मुस्लिम सांप्रदायिकता की प्राय: सभी मांगें स्वीकार कर ली गयी थी। अत: अब मुस्लिम सांप्रदायिकता को आगे का रास्ता ढूंढ़ना था।

उग्रवादी सांप्रदायिकता का दौर

सांप्रदायिकता का दूसरा यानी नरमपंथी दौर 1937 तक जारी रहा। उसके बाद वह तेजी से उग्रवादी या फासीवादी तौर-तरीके अपनाने लगी, उग्रवादी सांप्रदायिकता का जन्म घृणा, भय और अतार्किकता की राजनीति से हुआ। कहा जाने लगा कि हिन्दू और मुसलमानों के हितों में मेल कभी हो ही नहीं सकता। सांप्रदायिकता का सामाजिक आधार अब तेजी से व्यापक होने लगा तथा जनसाधारण को अपनी गिरफ्त में लेने की कोशिश होने लगी। शहरी निम्न मध्यमवर्ग के लोगों को उभारकर आक्रामक सांप्रदायिक राजनीति शुरू करने और जनआन्दोलन को संगठित करने के प्रयास होने लगे।

CHRONICLE IAS ACADEMY

1937 के चुनाव में कांग्रेस देश की प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरी। चुनाव ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि उपनिवेशवाद के सभी प्रमुख सामाजिक और राजनीतिक आधार नष्ट हो चुके हैं। अत: उनके हाथ में अब आखिरी पन्ना था- सांप्रदायिकता, जिसका उन्होंने पूरा उपयोग करने का फैसला किया। इधर लीग और महासभा दोनों के लिए 1927 का चुनाव परिणाम निराशाजनक था। मुसलमानों के लिए आरक्षित 482 सीटों में से लीग को सिर्फ 109 सीटें की मिलीं और उसे कुल मुस्लिम मतों का सिर्फ 4.8 प्रतिशत ही मिला। हिन्दू महासभा की हालत तो और खराब थी। अत: संप्रदायवादियों को यह लगा कि अगर वे उग्रवादी, जनाधारित राजनीति का सहारा नहीं लेते है तो धीरे-धीरे खत्म हो जायेंगे।

यद्यपि लीग को 1937 में चुनाव में अधिक सफलता नहीं मिली, फिर भी लीग ने बंगाल, असम और पंजाब में कांग्रेस के साथ मिलकर मिली-जुली सरकार बनाने की इच्छा प्रकट की और उन्हें आशा थी कि यू.पी. और बिहार में भी उनके सदस्य मंत्रिमंडल में सम्मिलित कर लिये जायेंगे। कांग्रेस जिसे अपनी असाम्प्रदायिकता पर नाज था, ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कहा कि यदि लीग के सदस्य मंत्री बनना चाहते हैं तो उन्हें कांग्रेस प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने होंगे।

कहा जाता है कि यह कांग्रेस की सबसे बड़ी भूल थी। जब 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने युद्ध के प्रश्न पर त्याग पत्र दे दिया तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। प्राय: कवि और राजनीतिक चिंतक मुहम्मद इकबाल को मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य 'पाकिस्तान' के विचार का प्रवर्त्तक माना जाता है। मुसलमानों के लिए पृथक् स्वदेश जिसे 'पाकिस्तान' कहा जाये, यह स्पष्ट विचार कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक अनुस्नातक विद्यार्थी *रहमत अली* के मन में उत्पन्न हुआ। पाकिस्तान शब्द पंजाब, अफगान, कश्मीर और सिन्ध के प्रथम अक्षरों तथा ब्लूचिस्तान के अंतिम अक्षर को लेकर बनाया गया। 1940 से लेकर विभाजन तक मुस्लिम सांप्रदायिकता इसी 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' और *'पाकिस्तान'* के इर्द-गिर्द घूमती रही।

1940 में मुस्लिम लीग ने लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसे *'पाकिस्तान प्रस्ताव'* कहा जाता है। यद्यपि इसमें पाकिस्तान का नाम नहीं था तथापि अस्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान की मांग की गयी थी।

द्वितीय विश्व युद्ध और पाकिस्तान योजना की प्रगति : कांग्रेस की इस मांग पर कि युद्ध के तुरंत पश्चात् स्वतंत्रता मिले और अंतरिम राष्ट्रीय सरकार का गठन हो, इसके बदले में ही युद्ध में पूर्ण सहायेग किया जायेगा। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने अगस्त 1940 का प्रस्ताव किया, इसमें युद्ध के पश्चात् संविधान सभा बनाने की बात कही गयी थी। इसके साथ अल्पसंख्यकों को इस बात का विश्वास दिलाया गया कि अंग्रेजी सरकार किसी भी ऐसी राज्य प्रणाली का समर्थन नहीं करेगी, जिसमें उस सरकार के अधिकार को देश की एक प्रमुख जाति स्वीकार नहीं करे। यद्यपि लीग ने इस विश्वास का स्वागत किया फिर भी *'क्रिप्स योजना'* को अस्वीकृत कर पाकिस्तान की मांग को दुहराया।

क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद कांग्रेस ने जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाया तो जिन्ना ने मुसलमानों को इससे अलग रहने की सलाह दी। लीग इस आन्दोलन से तटस्थ रही। इतना ही नहीं दिसम्बर 1942 में जब लॉर्ड लिनलिथगो ने भारत की एकता और अखंडता बनाये रखने की बात कही, तो जिन्ना क्रोधित हो उठे। उसने 1943 ई. में उसने करांची अधिवेशन में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' के नारे के जवाब में 'अंग्रेजों बांटो और भागो' का नारा बुलंद किया। राजगोपालाचारी योजना के पश्चात् (10 जुलाई 1944) महात्मा गांधी ने जिन्ना से भेंटकर उसे इस योजना को स्वीकार करने के लिए कहा, परंतु जिन्ना ने इसे अस्वीकार कर दिया। वह एक 'अपूर्ण, अंगहीन और दीमक लगा हुआ पाकिस्तान' नहीं चाहते थे। इसी प्रकार 1945 का *'वैवेल योजना'* और *'शिमला सम्मेलन'* भी असफल हो गया क्योंकि लीग और जिन्ना ने इस बात पर बल दिया कि कार्यकारिणी परिषद के सभी मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार लीग को ही मिलना चाहिए। शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद कैबिनेट मिशन भारत आया। इसने अंतरिम सरकार की व्यवस्था की, किन्तु पाकिस्तान की मांग को ठुकरा दिया। कांग्रेस और लीग दोनों ने मिशन की योजना तो स्वीकार कर ली, परंतु अंतरिम सरकार में शामिल होने के प्रश्न पर समस्या खड़ी हो गयी। पहले कांग्रेस ने इसमें शामिल होना स्वीकार नहीं किया, इसलिए लीग ने यह दावा किया कि वह कांग्रेस के बिना भी सरकार बना सकती है; परंतु वायसराय कांग्रेस को अलग रखकर सरकार बनाने के पक्ष में नहीं थे, अत: उन्होंने दावे को ठुकरा दिया। इसपर क्रोधित होकर लीग ने 27 जुलाई, 1946 को कैबिनेट मिशन की योजना को अस्वीकार कर दिया एवं 16 अगस्त 1946 को 'सीधी कार्यवाही' (Direct Action) करने को निश्चय किया। 16 अगस्त, 1946 को कलकत्ता में भयानक दंगा हुआ। लीगियों ने नारा लगाया 'लड़कर लेंगे पाकिस्तान'। इस सांप्रदायिक दंगे ने भीषण रुख अख्तियार किया, जिसमें हजारों जानें गयीं। सुहरावर्दी की सरकार ने दंगों को दबाने की कोशिश नहीं की, बल्कि सांप्रदायिक तत्वों को

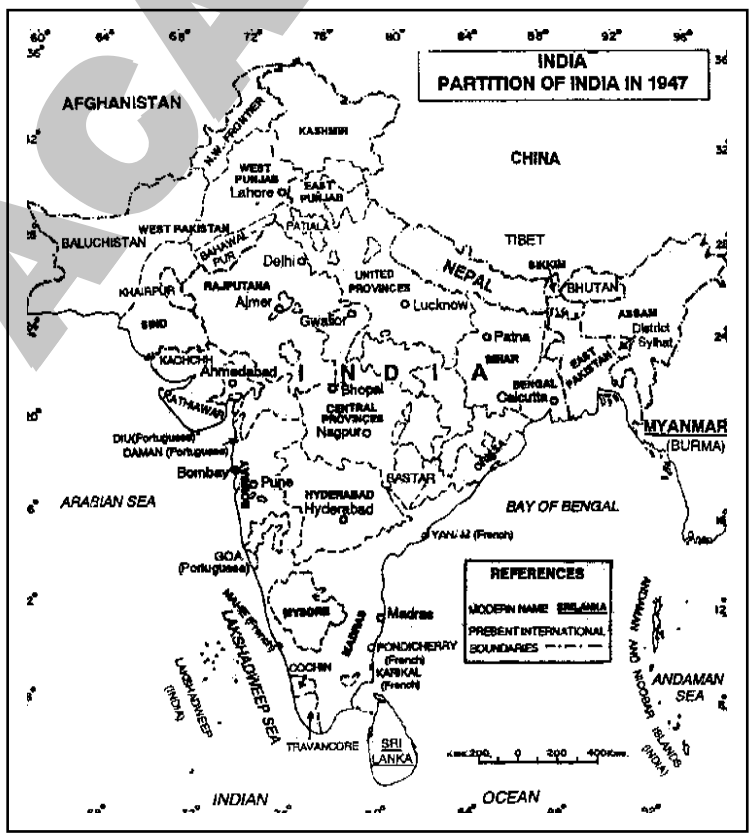

CHRONICLE IAS ACADEMY

बढ़ावा ही दिया। इसी प्रकार नोआखली, बिहार एवं अन्य जगहों पर भी सांप्रदायिक दंगे हुए। बाद में जब कांग्रेस सरकार बनाने के लिए तैयार हुई तो नेहरू ने जिन्ना को भी सरकार में शामिल होने का आग्रह किया, परंतु वह अपनी जिद्द पर अड़े रहे। बाद में एक निश्चित उद्देश्य के साथ लीग भी सरकार में शामिल हो गयी। वह सरकार में शामिल होकर कांग्रेस की नीतियों का विरोध करना चाहती थी। अंतरिम सरकार के गतिरोध को दूर करने के लिए दिसम्बर 1946 में लन्दन कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया गया जिसमें एटली, वैवेल, नेहरू और जिन्ना ने भाग लिया। इसमें दोनों (कांग्रेस और लीग) के मतभेद दूर करने का प्रयास किया गया; परन्तु सफलता हाथ नहीं लगी। लीग ने दिसम्बर 1946 में होने वाली संविधान सभा की बैठक का बहिष्कार किया। भारत की तत्कालीन परिस्थिति से चिंतित होकर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को यह घोषणा कर दी कि अंग्रेज जून 1948 के पूर्व भारतीयों को सत्ता सौंप देंगे। सत्ता के हस्तांतरण के कार्य को पूरा करने के लिए लॉर्ड वैवेल की जगह लार्ड माउन्टबेटेन को नये वायसराय के रूप में नियुक्त किया गया है।

आजादी मिलने की संभावना जब साकार होने जा रही थी तो लोगों पर सांप्रदायिकता का जुनून सवार हो गया। बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए जिसमें लीग, हिन्दू महासभा और अकाली दल (मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में) तीनों ने हिस्सा लिया। लाहौर में पाकिस्तान विरोधी प्रदर्शन हुआ। लाहौर, अमृतसर, तक्षशिला और रावलपिंडी, बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश आदि जगहों पर भीषण नरसंहार हुआ। सेना और पुलिस ने भी अप्रत्यक्ष रूप से दंगाइयों की मदद की। गांधी एक जगह से दूसरी जगह घूम-घूम कर लोगों से शांत रहने की अपील कर रहे थे, लेकिन लोगों पर तो सांप्रदायिकता का जुनून सवार था। इसी वातावरण में माउन्टबेटेन ने पदभार ग्रहण किया। उसे शीघ्र ही अहसास हो गया कि लीग और कांग्रेस के मतभेदों को पाटना असंभव है। गांधीजी ने अप्रैल 1947 में माउन्टबेटेन से भेंट कर उन्हें विभाजन से रोका। वे जिन्ना को सरकार बनाने देने को भी राजी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि, "अगर कांग्रेस बंटवारा मंजूर करेगी तो उसे मेरी लाश के ऊपर निर्णय करना पड़ेगा। जब तक मैं जिंदा हूं मैं भारत के बंटवारे के लिए कभी राजी न होऊंगा। और अगर मेरा वश चला तो कांग्रेस को भी इसे मंजूर करने की इजाजत न दूंगा।" बाद में नेहरू और पटेल के दबाव में आकर गांधीजी को भी विभाजन स्वीकार करना पड़ा। अंततः 3 जून, 1947 को माउन्टबेटेन योजना प्रकाशित की गयी जिसमें भारत का विभाजन *'भारतीय संघ'* और पाकिस्तान में कर दिया गया।

विभाजन का उत्तरदायित्व

भारत का विभाजन एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। इसे अंग्रेजों की *'बांटों और राज करो'* की नीति तथा मुस्लिम लीग की सांप्रदायिकता और द्विराष्ट्र सिद्धांत के आदर्श का एक स्वाभाविक अंतिम चरण माना जाता है। इन दोनों ने मिलकर एक साथ काम किया तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को विभाजन स्वीकार करने पर बाध्य किया। विभाजन के लिए उत्तरदायी कौन था? इसके उत्तर में विभिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं। कुछ इतिहासकारों ने गांधी, नेहरू, पटेल और जिन्ना को, तो कुछ ने अंग्रेजों को इसके लिए उत्तरदायी माना है। निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारत विभाजन के लिए अंग्रेज, कांग्रेस और लीग तीनों ही उत्तरदायी थे। समय-समय पर तीनों ने जो नीतियां अपनायीं, वे अंततः विभाजन के लिए उत्तरदायी बनीं। यह सच है कि विभाजन की प्रक्रिया को प्रारंभ करने का श्रेय अगर अंग्रेजों को है तथा इसका सबसे अधिक लाभ जिन्ना ने उठाया और परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर अंततः अपनी जिद पूरी कर ली। कांग्रेस की असफलता इस बात में है कि वह सांप्रदायिकता से लड़ने के लिए सुसंगठित विचारधारा और कार्य-प्रणाली विकसित करने में असफल रही।

मार्ले-मिण्टो सुधार योजना के अंतर्गत पहली बार मुसलमानों को राजनैतिक बढ़ावा देने और भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक तथ्यों को उभारने का प्रयास किया गया। लार्ड मिण्टो ने 'मुस्लिम राष्ट्र' शब्द का व्यवहार पहली बार किया तथा मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की, परंतु इसके बावजूद कांग्रेस और लीग के संबंध अच्छे रहे। 1921 में जिन्ना कांग्रेस से अलग हो गये एवं गांधी और कांग्रेस की नीतियों को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। कांग्रेस की नीतियों और कार्यों ने इस दरार को बढ़ाने में सहायता ही पहुंचायी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विभाजन की मांग बढ़ने लगी। गांधीजी ने मुसलमानों को संतुष्ट कर तथा भारत की अखंडता बचाये रखने के प्रयास में 1940 ई. में रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में बंटवारे के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया, परंतु उनका कहना था कि यह विभाजन वैसा ही होना चाहिए जैसा कि संयुक्त हिन्दू परिवार में होता है। वस्तुतः गांधीजी अंग्रेजों के प्रयासों को विफल करना चाहते थे। लेकिन अंग्रेज गांधीजी से अधिक चालाक निकले। उन्होंने गांधी और कांग्रेस के प्रभाव को कम करने तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लीग का सहयोग पाने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से 8 अगस्त, 1940 को लार्ड लिनलिथगो ने जिन्ना को आश्वस्त किया कि अल्पसंख्यकों की स्वीकृति के बिना सरकार किसी भी संवैधानिक परिवर्तन को न तो लागू करेगी और न तो शक्ति द्वारा अल्संख्यकों को दबायेगी। इससे जिन्ना के हाथों में वीटो का अधिकार प्राप्त हो गया, जिसका इस्तेमाल उसने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया। जिन्ना को यह महत्वपूर्ण अधिकार दिलवाने में भारत-सचिव लियोपोल्ड एमरी का महत्वपूर्ण योगदान था। जिन्ना के कार्यों को सुगम बनाने में सी. राजगोपालाचारी, नेहरू तथा भूलाभाई देसाई आदि ने योगदान किया। राजगोपालाचारी की तरह नेहरू ने भी अप्रत्यक्ष रूप से विभाजन को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने 1942 में *'क्रिप्स प्रस्ताव'* को स्वीकार नहीं किया, लेकिन एक प्रस्ताव में नेहरू ने कहा था कि वह प्रस्तावित संघ में किसी को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध रखने को सहमत नहीं हैं। भूलाभाई देसाई ने भी लियाकत अली से समझौता करने का प्रयास किया। गांधीजी ने भी *'देसाई-लियाकत'* फार्मूले पर अपनी स्वीकृति दी। इसमें यह व्यवस्था थी कि पुनर्गठित मंत्रिमंडल में कांग्रेस और लीग बराबर-बराबर स्थान बांट लें। वैवेल ने इस योजना को हिन्दू और मुसलमानों के बीच बंटवारा का नाम दिया न कि कांग्रेस और लीग नामक दो राजनीतिक संस्थाओं के मध्य। इसके उपरांत जब गांधीजी ने जिन्ना को राजगोपालाचारी फार्मूला को स्वीकार करने को कहा तो, जिन्ना ने स्पष्टतः इन्कार कर दिया। इधर जिन्ना को ब्रिटेन से भी गुप्त आश्वासन मिल रहा था। वस्तुतः अंग्रेज भारत छोड़ने के बाद भी अपना प्रभाव बनाये रखना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाकिस्तान का निर्माण एक आवश्यक शर्त थी, अतः वे जिन्ना की पीठ ठोकते रहे।

पाकिस्तान के निर्माण में नेहरू, पटेल और डा. राजेन्द्र प्रसाद भी कम उत्तरदायी नहीं थे। गांधीजी की सहमति के बिना ही तीनों ने

CHRONICLE IAS ACADEMY

मार्च 1947 में जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान कर पंजाब को हिन्दू एवं मुसलमान बहुल इलाकों में विभाजन करने का प्रस्ताव कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में रखा। कांग्रेस के इस महत्वपूर्ण नेताओं की भावनाओं का अंदाज लगाकर माउन्टबेटेन ने मई 1947 में विभाजन की पूरी योजना स्वीकार कर ली। वस्तुत: ये लोग स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अधीर हो उठे थे, वे लम्बे संघर्ष से ऊब गये थे, अत: उन्होंने विभाजन की योजना को स्वीकृति दे दी। इसके अलावा उस समय तक सांप्रदायिकता काफी दूर चली गयी थी और इस समस्या का कोई निदान नहीं रह गया था, सिवाय इसके कि राष्ट्रीय नेतृत्व गृहयुद्ध के लिए तैयार हो जाता, जिसमें पुलिस और फौज पर विदेशी शासकों का नियंत्रण होता। अंतत: गांधीजी को भी विभाजन के लिए स्वीकृति देनी पड़ी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक 14 जून, 1947 को हुई जिसमें पंडित गोविन्द वल्लभ पंत ने माउन्टबेटेन योजना को स्वीकृत करने का प्रस्ताव पेश किया। नेहरू और पटेल ने प्रस्ताव का समर्थन किया, परंतु मौलाना आजाद और अन्य सदस्यों ने इसका विरोध किया। गांधीजी ने भी सदस्यों से प्रस्ताव स्वीकार करने का अनुरोध किया। फिर भी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित नहीं हो सका। प्रस्ताव के पक्ष में 29 और विपक्ष में 15 मत पड़े। सिर्फ 14 मतों में बहुमत से कांग्रेस ने भारत का विभाजन स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत का विभाजन एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम था, जिसमें समय-समय पर विभिन्न तत्वों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके लिए न तो अंग्रेज, न कांग्रेस, लीग अथवा सांप्रदायकिता की भावना को ही अकेले उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, बल्कि इन सभी ने चाहे अनचाहे ढंग से भारत विभाजन में सहयोग किया।

स्मरणीय तथ्य

- ब्रिटिश इतिहासकार *जेम्स* ने भारतीय इतिहास का विभाजन हिन्दू-काल और मुस्लिम-काल में किया।
- 1857 के विद्रोह में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही साथ-साथ लड़े थे। 1857 के बाद अंग्रेजों की यह नीति रही थी कि वे हिन्दुओं को समर्थन देते रहे और मुसलमानों को दबाते रहे।
- 'भारतीय मुसलमान' के लेखक *डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर* थे। यह पुस्तक 1871 ई. में प्रकाशित हुई, जिसमें मुसलमानों के प्रति नीति में परिवर्तन का सुझाव दिया गया था।
- सर सैयद अहमद खान हिन्दू और मुसलमानों को एक सुन्दर वधु (भारत) की दो आंखें कहते थे। उन्होंने ही आगे चलकर कहा कि, 'हिन्दू और मुसलमान न केवल दो राष्ट्र हैं बल्कि विरोधी राष्ट्र हैं'
- अगस्त 1888 में सैयद अहमद ने एक 'संयुक्त प्रांतीय राजभक्ति सभा' (United Indian Patriotic Association) बनायी, जिसका स्पष्ट उद्देश्य कांग्रेस के प्रचार को निष्फल बनाना तथा लोगों को कांग्रेस से दूर रखना था। कुछ दिनों के बाद उन्होंने 'मुस्लिम-एंग्लो ओरिएन्टल रक्षा सभा' (Mohammadan Anglo-Oriental Defence Aoosciation) की स्थापना की ताकि मुसलमान राजनीति से दूर रहें और अंग्रेजी राज्य का समर्थन करें।
- अलीगढ़ कालेज की स्थापना सैयद अहमद द्वारा की गयी। इसके पहले तीन प्रिंसिपलों बेक, मोरिसन तथा आर्चबोल्ड ने अलीगढ़ आन्दोलन को अंग्रेजों के पक्ष का और हिन्दुओं के विरोध का रूप दिया।
- आर्चबोल्ड के सुझाव पर ही आगा खाँ एक प्रतिनिधि मंडल लेकर अक्टूबर 1906 को शिमला में लार्ड मेयो से मिले। इसी समय मुसलमानों के लिए आरक्षण की मांग की गयी तथा 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों ने सांप्रदायिक आधार पर मतदाता मंडल बनाये।
- 30 दिसम्बर, 1906 को 'मुस्लिम लीग' का विधिवत उद्घाटन हुआ। इसके संस्थापकों में आगा खाँ तथा नवाब मोहसिन उल-मुल्क प्रमुख थे।
- राष्ट्रवादी अहरार आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ, हसन इमाम, मौलाना जफर अली खाँ आदि थे।
- मौलाना अबुल कलाम आजाद की शिक्षा काहिरा के प्रसिद्ध अल अजहर विश्वविद्यालय में हुई थी।
- 1916 में लीग तथा कांग्रेस दोनों का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। दोनों में एक समझौता हुआ जो 'लखनऊ समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है।
- खिलाफल असहयोग के दौरान स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली की जामा मस्जिद से लोगों को सम्बोधित किया, तो सैफुद्दीन किचलु ने अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर से।
- हिन्दुओं के बीच संगठन और *'शुद्धि आन्दोलन'* तथा मुसलमानों के बीच *'तंजीम'* और *'तबलीग'* आन्दोलन चले, जिनका उद्देश्य सांप्रदायिक था।
- सामइन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1922 और 1927 के बीच करीब 112 बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए।
- 1890 के दशक में गोवध विरोधी आन्दोलन चलाया गया।
- पंजाब हिन्दू सभा की स्थापना 1909 में बी.एन. मुकर्जी तथा लालचंद एवं उनके सहयोगियों द्वारा की गयी। लालचंद ने स्पष्ट कहा कि "वे पहले हिन्दू हैं बाद में भारतीय।" इसका मुख्य कार्यालय हरिद्वार में था।
- 1938 में वी.डी. सावरकर हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बने और बार-बार बनते रहे। उन्होंने ही हिन्दू राष्ट्र का नारा दिया। सावरकर की मृत्यु के बाद श्यामा प्रसाद मुखर्जी इसके अध्यक्ष बने।
- कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन में जब नेहरू रिपोर्ट पर सहमति नहीं हो सकी तब जिन्ना ने अपना प्रसिद्ध 14 सूत्री मांग पत्र प्रस्तुत किया।
- 1937 के चुनाव में लीग को मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों (482) में से सिर्फ 109 सीटें ही मिलीं। उसे कुल मुस्लिम मतों का सिर्फ 4.8 प्रतिशत ही प्राप्त हुआ।
- 1938 में मुस्लिम लीग ने पीरपुर में राजा मोहम्मद मेंहदी की अध्यक्षता में एक जांच समिति नियुक्त की, जिसका कार्य 'हिन्दू-कांग्रेसी प्रांतों' में मुसलमानों पर हुए अत्याचारों की जांच करना था।
- 1939 में युद्ध के प्रश्न पर जब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दिया, तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया।
- पाकिस्तान का विचार कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक अनुस्नातक विद्यार्थी चौधरी रहमत अली के मन में उत्पन्न हुआ। प्राय: मुहम्मद इकबाल को 'पृथक राज्य पाकिस्तान' के विचार का प्रवर्त्तक माना जाता है।
- 1940 के लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित किया गया। यद्यपि प्रस्ताव में पाकिस्तान शब्द का उल्लेख नहीं किया गया था।
- 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय जिन्ना ने 'बांटो और भागो' का नारा दिया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- शिमला सम्मेलन (1945) की असफलता का कारण- कार्यकारिणी में सभी मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने के अधिकार की लीग की मांग थी।
- लीग ने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्यवाही' करने का निश्चय किया।
- दिसम्बर 1946 में लन्दन कांफ्रेंस में एटली वैवेल, जिन्ना और नेहरू ने भाग लिया। वार्ता पूर्णत: विफल रही।
- 20 फरवरी, 1947 में लन्दन कांफ्रेंस में एटली ने यह घोषणा कर दी कि अंग्रेज जून 1948 के पूर्व भारतीयों को सत्ता सौंप देंगे।
- कैबिनेट मिशन ने पाकिस्तान की मांग को अस्वीकृत कर दिया (मार्च-1946)।
- अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में माउन्टबेटेन योजना स्वीकृत करने का प्रस्ताव गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा पेश किया गया। इसके पक्ष में 29 तथा विपक्ष में 15 मत पड़े।
- आगा खाँ लीग के पहले अध्यक्ष थे।
- सरोजिनी नायडू ने जिन्ना को 'हिन्दू-मुस्लिम एकता के राजदूत' की उपाधि दी थी।
- माउन्टबेटेन ने गांधीजी को 'वन मैन बांउड्री फोर्स' की संज्ञा दी।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत की स्वतंत्रता से 1964 ई. तक

संसदीय, पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य (1950 ई. का संविधान)

किसी देश का संविधान उसकी राजनीतिक अवस्था का वह बुनियादी सांचा-ढ़ांचा निर्धारित करता है जिसके अन्तर्गत उसकी जनता शासित होती है। यह राज्य की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे प्रमुख अंगों की स्थापना करता है, उनकी शक्तियों की व्याख्या करता है, उनके दायित्वों का सीमांकन करता है और उनके पारस्परिक तथा जनता के साथ संबंधों का विनियमन करता है। लोकतंत्र में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। किंतु, प्रशासन की बढ़ती हुई जटिलतों तथा राष्ट्ररूपी राज्यों के बढ़ते हुए आकार के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र अब संभव नहीं रहा।

आजकल के प्रतिनिधिक लोकतंत्र में जनता इस बात का निर्णय करती है कि उस पर किस प्रकार से तथा किसके द्वारा शासन हो। जनता अपनी प्रभुसत्ता का सबसे पहला तथा सबसे बुनियादी प्रयोग तब करती है, जब वह अपने आपको एक ऐसा संविधान प्रदान करती है जिसमें उन बुनियादी नियमों की रूपरेखा दी जाती है जिसके अन्तर्गत राज्य के विभिन्न अंगों को कतिपय शक्तियां दी जाती है और जिनका प्रयोग उनके द्वारा किया जाता है। प्रत्येक संविधान उसके संस्थापकों एवं निर्माताओं के आदर्शों, सपनों तथा मूल्यों का दप्रण होता है। वह जनता की विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रकृति, आस्था एवं आकांक्षाओं पर आधारित होता है।

संविधान के स्रोत: भारत के संविधान के स्रोत अनेक हैं। वह देशी भी है और विदेशी भी। संविधान निर्माताओं ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि नितांत स्वतंत्र रूप से या एक दम नए सिरे से संविधान लेखन नहीं कर रहे हैं।

उन्होंने जान बूझकर यह निर्णय लिया था कि अतीत की उपेक्षा न करके पहले से स्थापित ढांचे तथा अनुभव के आधार पर ही संविधान खड़ा किया जाए। यह विकास कतिपय प्रयासों के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था। स्वाधीनता के लिए छेड़े गए राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान प्रतिनिधि एवं उत्तरदायी शासन संस्थाओं के लिए विभिन्न मांगें उठाई गई और अंग्रेज शासकों ने बड़ी कंजूसी से सयम-समय पर थोड़े-थोड़े संवैधानिक सुधार किए। वास्तव में संविधान के कुछ उपबंधों के स्रोत तो भारत में EIC तथा अंग्रेजी राज्य के शैशवकाल में ही खोजे जा सकते हैं।

राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों के अंतर्गत ग्राम पंचायतों के संगठन का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राचीन भारतीय स्वशासी संस्थानों से प्रेरित होकर किया गया था। 73वें तथा 74वें संशोधन अधिनियमों में उन्हें अब और अधिक सार्थक तथा महत्वपूर्ण बना दिया है।

मूल अधिकारों की मांग सबसे पहले 1918 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मुंबई अधिवेशन में की गई थी। 1927 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर मूल अधिकारों की मांग को दुहराया गया था। सर्वदलीय सम्मेलन द्वारा 1928 में नियुक्त मोतीलाल नेहरू कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में घोषणा की थी कि भारत की जनता सर्वोपरि लक्ष्य न्याय सीमा के अधीन मूल मानव अधिकार प्राप्त करता है। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में जो उन्नीस मूल अधिकार शामिल किए गये थे, उनमें से दस को भारत के संविधान में बिना किसी खास परिवर्तन के शामिल कर लिया गया है। 1931 में कांग्रेस के करांची अधिवेशन में पारित किए गये प्रस्ताव में न केवल मूल अधिकारों का बल्कि मूल कर्त्तव्यों का भी विशिष्ट रूप से उल्लेख किया गया था। मूल संविधान में मूल कर्त्तव्यों का कोई उल्लेख नहीं था किंतु बाद में 1976 में 42 वां संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान के भाग IVक के अनुच्छेद 51क में दस मौलिक कर्त्तव्यों का समावेश किया गया।

संविधान में संसद के प्रति उत्तरदायी संसदीय शासन प्रणाली, अल्पसंख्यकों के लिए रक्षोपायों और संघीय राज्य व्यवस्था की जो व्यवस्था रखी गई उसके मूल में भी 1928 में नेहरू कमेटी रिपोर्ट है। अंतत: कहा जा सकता है कि संविधान का लगभग 3/4 अंश भारत शासन अधिनियम, 1935 से लिया गया था। उसमें बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल आवश्यक संशाधन मात्र किए गये थे। राज्य व्यवस्था का बुनियादी ढांचा, तथा संघ एवं राज्यों के संबंधों, आपात स्थिति की घोषणा आदि को विनियमित करने वाले उपबंध अधिकांशतया 1935 के अधिनियम पर आधारित थे।

देशी स्रोतों के अलावा संविधान सभा के सामने विदेशी संविधानों के अनेक नमूने थे। निदेशक तत्वों की संकल्पना आयरलैंड के संविधान से ली गई थी। विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों वाली संसदीय प्रणाली अंग्रेजों से आई और राष्ट्रपति में संघ की कार्यपालिका शक्ति तथा संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश (Supreme Command) निहित करना और उपराष्ट्रपति को राज्यसभा का पदेन सभापति बनाने का उपबंध अमेरिकी संविधान पर आधारित थे। अमेरिकी संविधान में सम्मिलित अधिकार पत्र (Bill of Rights) भी हमारे मूल अधिकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत था। कनाडा के संविधान ने अन्य बातों के अलावा संघीय ढांचे और संघ तथा राज्यों के संबंधों एवं संघ तथा राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण से संबंधित उपबंधों का प्रभावित किया। सप्तम अनुसूची में समवर्ती अनुसूची, संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित उपबंध संभवत:आस्ट्रेलियाई संविधान के आधार पर तैयार किए गए। आपात स्थिति से संबंधित उपबंध जर्मनी के संविधान से प्रभावित हुए थे। न्यायिक आदेशों (Writs) तथा संसदीय विशेषाधिकारों के विवाद से संबंधित उपबंधों की सीमा तथा उनके विस्तार को समझने के लिए अभी भी ब्रिटिश संविधान का सहारा लेना पड़ता है।

संविधान का निर्माण

संविधान सभा की संकल्पना भारत में सदैव राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ जुड़ी रही है। ऐसी संविधान सभा का विचार,

CHRONICLE IAS ACADEMY

स्वाधीन भारत का पहला मंत्रिमंडल

पं. जवाहरलाल नेहरू	: प्रधानमंत्री, विदेश, कॉमनवेल्थ संबंध और वैज्ञानिक शोध
सरदार वल्लभभाई पटेल	: गृह, सूचना एवं प्रसारण और राज्य
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	: खाद्य एवं कृषि
मौ. अबुल कलाम आजाद	: शिक्षा
डॉ. जान मथाई	: रेलवे एवं परिवहन
सरदार बलदेव सिंह	: रक्षा
जगजीवन राम	: श्रम
सी.एच. गामा	: वाणिज्य
रफी अहमद किदवई	: संचार
राजकुमारी अमृत कौर	: स्वास्थ्य
डॉ. बी.आर. अंबेडकर	: विधि
आर.के. शनमुख चेट्टी	: वित्त
डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी	: उद्योग एवं आपूर्ति
एन.वी. गाडगिल	: कार्य खदान एवं ऊर्जा

(सरदार वल्लभभाई पटेल उप-प्रधानमंत्री बनाये गये, 23 अगस्त 1947)

जिसके द्वारा भारतीय स्वयं अपने देश के लिए संविधान का निर्माण कर सकें, 1919 के ऐक्ट के विरोध में अन्तर्निहित था। किंतु भारत की संविधान सभा का निश्चित उल्लेख पहली बार 1922 में महात्मा गांधी ने किया था। 1922 में ही श्रीमती एनी बेसेंट की पहल पर केंद्रीय विधानमंडलों के दोनों सदनों के सदस्यों की एक संयुक्त बैठक शिमला में आयोजित की गई थी। उसने संविधान के निर्माण के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया।

इसके अलावा फरवरी 1923 में दिल्ली में एक अन्य सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधानमंडलों के सदस्यों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन ने भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की स्वशासी डोमिनियनों के समतुल्य रखते हुए संविधान के आवश्यक तत्वों की रूपरेखा प्रस्तुत की। अप्रैल 1924 में सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय सम्मेलन' बुलाया गया। इस सम्मेलन में 'कामनवेल्थ ऑफ इंडिया बिल' का प्रारूप तैयार किया गया जिसे 1925 में सर्वदलीय सम्मेलन के समक्ष पेश किया गया। ब्रिटेन की लेबर पार्टी में इस बिल को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। हालांकि लेबर पार्टी की सरकार की पराजय के बाद इस विधेयक का भविष्य अधर में लटक गया, फिर भी यह भारतीयों द्वारा शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक साधनों की मदद से भारत के लिए संवैधानिक प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत करने का एक प्रमुख प्रयास था। 1924 तथा 1925 में राष्ट्रीय मांग के संबंध में मोती लाल नेहरू के प्रसिद्ध प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना एक ऐतिहासिक घटना थी क्योंकि केन्द्रीय विधानमंडल ने पहली बार इस बढ़ती हुई मांग का समर्थन किया कि भारत का भावी संविधान भारतीयों द्वारा स्वयं बनाया जाना चाहिए।

नवम्बर 1927 में जब साइमन आयोग नियुक्त किया गया, जिसमें कोई भी भारतीय सदस्य नहीं था, इलाहाबाद में हुई एक सर्वदलीय बैठक में कहा गया था कि ऐसा करके न केवल राष्ट्रीय मांग को ठुकरा दिया गया है बल्कि भारतीयों का अपमान भी किया गया है क्योंकि उन्हें "अपने ही देश के संविधान के निर्माण में भाग लेने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।" मई, 1928 को मुम्बई में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन में "भारत के संविधान के सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए" मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में एक समिति नियुक्त की।

10 अगस्त, 1928 को पेश की गई समिति के लिए सर्वांगीन संविधान बनाये जाने का प्रथम प्रयास था। रिपोर्ट में न केवल समकालीन राष्ट्रवादी विचारधारा का दृष्टिकोण परिलक्षित होता था बल्कि भारत के संविधान के प्रारूप की एक रूपरेखा भी समाविष्ट थी। उल्लेखनीय है कि संसद के प्रति उत्तरदायी सरकार, अदालतों द्वारा लागू कराये जा सकने वाले मूल अधिकार, अल्पसंख्यकों के अधिकार सहित मोटे तौर पर जिस संसदीय व्यवस्था की संकल्पना 1928 की नेहरू रिपोर्ट में की गई थी, उसे लगभग ज्यों का त्यों 21 वर्ष बाद, 26 नवम्बर, 1949 को संविधान सभा द्वारा अंगीकार किये गये स्वाधीन भारत के संविधान में समाविष्ट किया गया।

तीसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद जारी किये गये श्वेत पत्र के बाद जून 1934 में कांग्रेस कार्यकारिणी ने यह घोषणा की कि श्वेत पत्र का विकल्प यह है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा एक संविधान तैयार किया जाए। यह पहला अवसर था जब संविधान सभा के लिए औपचारिक रूप से एक निश्चित मांग पेश की गई थी। साइमन आयोग तथा गोलमेज सम्मेलन की जिस विफलता के कारण, भारतीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए, भारत शासन ऐक्ट, 1935 बनाया गया, उसने भारत की जनता के लिए संविधान सभा की मांग को बल प्रदान किया। कांग्रेस ने अप्रैल 1936 में लखनऊ अधिवेशन में यह घोषणा की कि किसी बाहरी सत्ता द्वारा थोपा गया कोई भी संविधान भारत स्वीकार नहीं करेगा। संविधान भारत की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचत भारतीय संविधान सभा द्वारा बनाया जाना चाहिए। इस मांग को मार्च 1937 में दिल्ली में हुए कांग्रेसी विधायकों के अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन में दृढ़ता के साथ दोहराया गया। अगस्त-अक्तूबर 1937 के दौरान केन्द्रीय विधान सभा तथा केंद्रीय शासित प्रांतीय विधान सभाओं ने ऐसे ही प्रस्ताव पारित किये। इनमें स्वतंत्र भारत के लिए एक नया संविधान बनाने के वास्ते संविधान सभा का गठन करने की कांग्रेस की मांग को दोहराया गया था।

1939 में विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद संविधान सभा की मांग को और अधिक बल के साथ दोहराया गया। गांधीजी ने 19 नवम्बर, 1939 को 'हरिजन' में 'द ओनली वे' शीर्षक के अन्तर्गत एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने विचार व्यक्त किया कि "संविधान सभा ही देश की देशज प्रकृति का और लोकेच्छा का सही अर्थों में तथा पूरी तरह से निरूपण करने वाला संविधान बना सकती है।" उन्होंने घोषणा की कि सांप्रदायिक तथा अन्य समस्याओं के न्यायसंगत हल का एकमात्र तरीका भी संविधान सभा ही है।

1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' में ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को पहली बार आधिकारिक रूप से स्वीकार किया, भले ही स्वीकृति अप्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण शर्तों के साथ की। क्रिप्स प्रस्ताव के द्वारा 'अगस्त प्रस्ताव' में उल्लेखनीय सुधार किए गये। इन प्रस्तावों के अनुसार नए संविधान के निर्माण का काम अब पूर्णतया न कि 'प्राथमिक रूप से' होना था और ब्रिटिश सरकार ने स्पष्ट वचन दिया कि वह प्रस्तावित संविधान-निर्माण-निकाय द्वारा बनाए गये संविधान को स्वीकार करेगी।

जुलाई 1945 में इंग्लैंड में नयी लेबर सरकार सत्ता में आई तथा लार्ड वेवल ने भारत के संबंध में सरकार की नीति की घोषणा की तथा यथाशीघ्र संविधान- निर्माण-निकाय का गठन करने के लिए सरकार के इरादे की पुष्टि की।

CHRONICLE IAS ACADEMY

1946 में केबिनेट मिशन ने संविधान के लिए एक बुनियादी ढांचे का प्रारूप पेश किया तथा संविधान- निर्माण-निकाय द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का कुछ विस्तार के साथ निर्धारण किया। ब्रिटिश भारत के प्रांतों को आवंटित 296 स्थानों के लिए चुनाव जुलाई-अगस्त, 1946 तक पूरे कर लिये गये। कांग्रेस को 208 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई और मुस्लिम लीग को 73 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। संविधान-निर्माण-निकाय की सदस्य संख्या 385 निर्धारित की गई थी। जिनमें से 292 प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रांतों से तथा 93 प्रतिनिधि भारतीय रियासतों के लिए जाने थे। इनमें चीफ कमिश्नरों के चार प्रांतों अर्थात् दिल्ली, अजमेर-मालवार, कुर्ग और ब्रिटिश बलुचिस्तान से एक प्रतिनिधि शामिल किया जाना था।

14-15 अगस्त, 1947 को देश के विभाजन तथा उसकी स्वतंत्रता के साथ ही, भारत की संविधान सभा केबिनेट मिशन योजना के बंधनों से मुक्त हो गई और एक पूर्णतया प्रभुतासम्पन्न निकाय देश में ब्रिटिश संसद के पूर्ण प्राधिकार तथा उसकी सत्ता की पूर्ण उत्तराधिकारी बन गई। 15 अगस्त, 1947 तक अधिकांश रियासतों के प्रतिनिधि संविधान सभा में आ गए और शेष रियासतों में भी यथासमय अपने प्रतिनिधि भेज दिए। इस प्रकार संविधान सभा भारत में सभी रियासतों तथा प्रांतों के प्रतिनिधि तथा किसी भी बाहरी शक्ति के आधिपत्य से मुक्त पूर्ण-प्रभुत्वसंपन्न निकाय बन गई। संविधान सभा भारत में लागू ब्रिटिश संसद द्वारा बनाए गये किसी भी कानून को, यहां तक कि भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट को भी रद्द कर सकती थी या परिवर्तित कर सकती थी।

संविधान सभा का विधिवत उद्घाटन नियत दिन सोमवार 9 दिसम्बर, 1946 को प्रातः ग्यारह बजे हुआ।

नेहरूजी ने 13 दिसंबर, 1946 को ऐतिहासिक 'उद्देश्य-प्रस्ताव' पेश किया। उद्देश्य-प्रस्ताव के प्रारूप में भारत को भावी प्रभुतासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की रूपरेखा दी गई थी। इस प्रस्ताव ने संविधान सभा को इसके मार्गदर्शी सिद्धान्त तथा दर्शन दिए जिनके आधार पर इसे संविधान का निर्माण करना था। अंततः 22 फरवरी, 1947 को संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

संविधान की रचना

संविधान सभा ने संविधान की रचना की समस्या के विभिन्न पहलुओं से निपटने के लिए अनेक समितियां नियुक्त की। इसमें संघीय विधान समिति, संघीय शक्ति समिति, मूल अधिकारों और अल्पसंख्यकों आदि से संबंधित समितियां शामिल थी। इनमें से कुछ समितियों के अध्यक्ष नेहरू या पटेल थे, जिन्हें संविधान सभा के अध्यक्ष ने संविधान के मूल आधार तैयार करने का श्रेय दिया था। अन्य समितियों की सिफारिशों पर बाद में प्रारूप समिति द्वारा विचार किया गया। संविधान सभा ने संवैधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किये गये भारत के संविधान के मूल पाठ के प्रारूप की छानबीन करने के लिए 29 अगस्त, 1947 को डा. भीमराव अम्बेडकर के सभापतित्व में प्रारूप समिति नियुक्ति की।

प्रारूप समिति द्वारा तैयार किया गया भारत का संविधान का प्रारूप 21 फरवरी, 1948को संविधान सभा के अध्यक्ष को पेश किया गया। संविधान के प्रारूप पर प्रस्तावना सबसे बाद में स्वीकार की गई। तत्पश्चात प्रारूपण समिति ने उसमें आवश्यक संशोधन कर उसे संविधान सभा के सामने पेश किया। संविधान का दूसरा वाचन 16 नवम्बर को पूरा हुआ। 26 नवम्बर, 1949 को स्वीकृत हुआ तथा इस प्रकार संविधान सभा ने संविधान बनाने का महत्वपूर्ण काम तीन वर्ष से कम समय में पूरा किया। संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने समापन भाषण में विचार व्यक्त किया कि संविधान सभा सब मिलाकर एक अच्छा संविधान बनाने में सफल रही है और उन्हें यह विश्वास है कि यह देश की जरूरतों को अच्छी तरह से पूरा करेगा। संविधान पर संविधान सभा के सदस्यों द्वारा 24 जनवरी, 1950 को संविधान सभा के अंतिम दिन हस्ताक्षर हस्ताद्वार किये गये।

हमारे संविधान निर्माताओं में कुछ जाने-माने विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्ति, महान न्यायविद्, देशभक्त और स्वतंत्रता सेनानी सम्मिलित थे। यदि संविधान सभा का निर्वाचन लोगों द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर भी किया जाता तो भी उस समय इससे बेहतर या अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधिक परिणामों की कल्पना करना कठिन है।

हमने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिन संस्थानों को जारी रखा तथा संविधान में समाविष्ट किया वे ऐसे संस्थान थे जो भारत की धरती पर ही फले-फूले थे। संविधान निर्माताओं ने पुराने संस्थानों के आधार पर, जो पहले ही विकसित हो चुके थे, जिनसे वे परिचित हो चुके थे, नए संस्थानों का निर्माण करना पसंद किया। संविधान द्वारा ब्रिटिश शासन को ठुकरा दिया गया किन्तु उन संस्थानों को नहीं, जो ब्रिटिश शासन काल में विकसित हुए थे। इस प्रकार संविधान औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह अलग नहीं हुआ। क्योंकि संविधान-निर्माण तथा संस्थान निर्माण एक जीवंत वर्तमान और सतत् प्रक्रिया है। इसलिए इस प्रक्रिया में 26 जनवरी, 1950 को भारत के संविधान के श्री गणेश के बाद ही इसके वास्तविक अमल, न्यायिक निर्वचन (Judicial Interpretation) और संवैधानिक संशोधनों के द्वारा इसके निर्माण की प्रक्रिया जारी रही। यह सिलसिला अभी भी जारी है।

आधार तत्व तथा दर्शन

किसी संविधान की उद्देशिका (Preampble) से आशा की जाती है कि जिन मुलभूत मूल्यों तथा दर्शन पर संविधान आधारित हों, तथा जिन लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करने के लिए संविधान निर्माताओं ने राज्य व्यवस्था को निर्देश दिया हो, उनका उसमें समावेश हो।

हमारे संविधान की उद्देश्यिका में, जिस रूप में संविधान सभा ने उसे पारित किया था, कहा गया है: "हम, भारत के लोग" भारत को एक "प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य" बनाने के लिए उसके समस्त नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता, और समानता दिलाने और उन सबमें बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प करते हैं। न्याय की परिभाषा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के रूप में की गई है। स्वतंत्रता के विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रा सम्मिलित है और समानता का अर्थ है प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता।

वास्तव में न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता एक वास्तविक लोकतांत्रिक व्यवस्था के अत्यावश्यक सदगामी तत्व है, इसलिए उनके द्वारा केवल लोकतंत्रात्मक गणराज्य की संकल्पना स्पष्ट होती है। अंतिम लक्ष्य है व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करना। इस प्रकार उद्देश्यिका यह घोषणा करने का काम करती है "भारत के लोग" संविधान के मूल स्रोत हैं, भारतीय राजव्यवस्था में प्रभुता लोगों में निहित है और भारतीय राजव्यवस्था लोकतंत्रात्मक है जिसमें लोगों को मूल अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की गारंटी दी गई है तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित की गई है।

आपात स्थिति के दौरान, 1976 के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा 'समाजवादी' तथा पंथनिरपेक्ष' शब्द उद्देश्यिका में जोड़ दिए गए। इसके अलावा 'राष्ट्र की एकता' शब्दों के स्थान पर

CHRONICLE IAS ACADEMY

'राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता' शब्द रख दिए गए। यह महसूस किया गया कि ये विश्लेषक शब्द स्थिति का स्पष्टीकरण मात्र करते थे तथा इनसे राज्य व्यवस्था या राज्य के स्वरूप पर कोई ठोस अंतर नहीं पड़ता था क्योंकि कानून निर्माताओं के अनुसार समाजवाद, पंथ निरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता उद्देश्यिका में तथा मूल रूप में निर्मित संविधान के शेष भागों में पहले से अंतर्निहित थे।

अपने उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णयों में उद्देशिका का महत्व और उसकी उपयोगिता बताई गई है। उद्देश्यिका को न्यायालय में परिवर्तित नही किया जा सकता। किन्तु लिखित संविधान की उद्देशिका में वे उद्देश्य लेखबद्ध किये जाते हैं जिनकी स्थापना और प्रवर्तन के लिए संविधान की रचना होती है। जहां संविधान की भाषा में संदिग्धता होती है वहां उद्देशिका संविधान के विधिक निर्वाचन में सहायता करती है। संविधान में समाहित आदर्श और आकांक्षाओं के समुचित अधिमूल्यन के लिए उद्देशिका ही एकमात्र स्रोत है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उद्देशिका संविधान का अभिन्न अंग है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था, संघात्मक ढांचा, राष्ट्र की एकता और अखंडता, पंथ निरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय तथा न्यायिक पुनरावलोकन संविधान के बुनियादी तत्व हैं।

लोकतांत्रिक गणराज्य

शाब्दिक दृष्टि से यूनानी शब्द 'deoms' का अर्थ है जनता और 'Kratos' का अर्थ है सरकार या शासन। इसलिए लोकतंत्र का अर्थ है जनता का शासन। लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण है कि प्रभुसत्ता लोगों में निहित हो, धर्म, जाति, संप्रदाय, रंग या स्त्री-पुरुष के भेदभाव के बिना, कानून की नजरों में सभी बराबर हों और प्रत्येक व्यक्ति को इतना सक्षम समझा जाए कि वह उस तरीके से, जिसे वह उचित समझे, स्वयं पर शासन कर सके तथा अपने निजी कार्य व्यापार का प्रबंध कर सके। लोकतंत्र में लोग स्वयं अपने स्वामी माने जाते हैं। उन्हें इस बात का हस्तांतरणीय अधिकार होता है कि स्वयं पर शासन करें या अपने मनचाहे तरीके से तथा उनलोगों द्वारा शासित हों जिन्हें वे चुनें।

लोकतंत्र इस बात को भी स्वीकार करता है कि अनादि काल से मनुष्य सत्ता या सर्वोच्चता के लिए एक दूसरे के साथ संघर्ष करता रहा है। लोकतंत्र संघर्ष का अपेक्षाकृत सभ्य तरीका प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह सशस्त्र संघर्ष के तरीकों के स्थान पर विचार विमर्श तथा समझाने-बुझाने के तरीकों को प्रस्तुत करता है। कारतूसों की पेटी का स्थान लोकतंत्र में मतपेटी को सौंप दी जाती है। प्राचीन भारतीय ग्राम-गणराज्यों तथा यूनानी नगर राज्यों में, सभी नागरिक एक साथ इकट्ठे होकर शासन के मसलों का फैसला करते थे। इस प्रकार की राजव्यवस्था को प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहा जा सकता है। किंतु राजनीतिक इकाईयों के आकार तथा उनकी आबादी में वृद्धि के साथ लोगों को एक स्थान पर इकट्ठा करना असंभव हो गया। इसके अलावा, विधान बनाने तथा राज्य का प्रशासन करने की प्रक्रिया जटिल से जटिलतर होती गई। इसलिए प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रणाली प्रायः विलुप्त हो गई। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक रूप वर्तमान में फ्रांस, आयरलैंड, जापान और स्वीटजरलैंड के संविधान में जनमत संग्रह के प्रावधान के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन, वर्तमान समय में विभिन्न देशों में आम लोग अक्सर अपने प्रतिनिधियों का चयन करने के लिए ही मतदान करते हैं। इस प्रकार, आधुनिक लोकतंत्र में परोक्ष प्रतिनिधित्व आवश्यक हो गया है, जिसके अन्तर्गत शासन संचालन तथा कानूनों का निर्माण लोगों के चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं।

लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था भारतीय संविधान की एक बुनियादी विशेषता है, जिसे किसी भी संवैधानिक संशोधन के द्वारा बदला नहीं जा सकता है। लोकतंत्र के अनेक रुपांतर हैं जिन्हें समान रूप से प्रतिनिधिक तथा उचित माना जा सकता है।

संसदीय प्रणाली

हमने प्रतिनिधिक संसदीय लोकतंत्र को अपनाया है। भारत एक गणराज्य है। उसका अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, उसी में सभी कार्यपालक शक्तियां निहित होती है तथा उसी के नाम से इसका प्रयोग किया जाता है। किंतु यह मान्यता है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का केवल नाममात्र का या संवैधानिक अध्यक्ष होता है। वह मंत्रीपरिषद की सहायता तथा उसके परामर्श से ही कार्य करता है। मंत्री सामूहिक रूप से संसद के जन निर्वाचित सदन लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार ब्रिटिश प्रतिरूप का अनुकरण करते हुए, भारत के संविधान में बुनियादी तौर पर, संघ तथा राज्य, दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है, जिसमें संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की संकल्पना पर अधिक बल दिया जाता है जबकि राष्ट्रपतीय प्रणाली (USA) में स्पष्टतया कार्यपालिका के स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाता है। किंतु यह कहना गलत होगा कि हमने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को पूर्णरूपेण अपना लिया है। दोनों में अनेक मूलभूत अंतर तथा भिन्नताएं हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन का संविधान एकात्मक है जबकि हमारा संविधान संघात्मक है। वहां वंशानुगत राजा वाला राजतंत्र है जबकि हमारा देश निर्वाचित राष्ट्रपति वाला गणराज्य है। ब्रिटिश के विपरीत हमारा संविधान एक लिखित संविधान है। हमारी संसद प्रभुत्वसंपन्न नहीं है तथा इसके द्वारा पारित विधान का न्यायिक पुनर्निरीक्षण हो सकता है। हमारे संविधान में वाद योग्य ऐसे मूल अधिकारों का एक घोषणा पत्र सम्मिलित है, जो न्यायालय द्वारा न केवल कार्यपालिका के बल्कि विधायिका के खिलाफ भी लागू किए जा सकते हैं। ब्रिटेन की स्थिति इसके विपरीत है। संविधान निर्माताओं ने संसदीय प्रणाली को इसलिए भी तरजीह दी क्योंकि उन्हें इसके संचालन का कुछ अनुभव था और सुस्थापित संस्थाओं को जारी रखने के अनेक लाभ थे।

भारत के संविधान में लोकतंत्रात्मक गणराज्य का जो आदर्श स्थापित किया गया है उसे स्पष्ट करने के लिए दो निर्देश पर्याप्त हैं। एक तो सभी लोगों के लिए मताधिकार और दूसरे स्त्री पुरुष में समानता। यह समानता न केवल विधि के क्षेत्र में हो बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में भी। लोकतंत्र के अन्य तत्व हैं- स्वच्छ एवं निष्पक्ष निर्वाचन प्रणाली, दलीय व्यवस्था, पंचायती राज व्यवस्था, नगरपालिका व्यवस्थापिका आदि।

हमारे संविधान निर्माताओं की दृष्टि में लोकतंत्र या नियत समय पर लोगों द्वारा अपने प्रतिनिधियों को चुनने के लिए मतदान करने का अधिकार मात्र नहीं है। समाजिक तथा आर्थिक लोकतंत्र के बिना भारत जैसे देश में राजनीतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं है। डा. अम्बेडकर के अनुसार, समाजिक तथा आर्थिक लोकतंत्र तभी सार्थक होगा जब उसका सदुपयोग आर्थिक लोकतंत्र के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया जाए। जवाहर लाल नेहरू ने बाद में विचार व्यक्त किया था कि उनकी कल्पना का लोकतंत्र लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। लक्ष्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा उत्तम जीवन

CHRONICLE IAS ACADEMY

मिले जिसमें कुछ हद तक आवश्यक आर्थिक जरूरतों की पूर्ति हो। जिस परिणाम में लोकतंत्र आर्थिक समस्याओं को हल करने में सफल होता है, उसी परिणाम में वह राजनैतिक क्षेत्र में भी सफल होता है। इसलिए हमें राजनीतिक लोकतंत्र से आर्थिक लोकतंत्र की ओर बढ़ना चाहिए, जिसका अर्थ है "कुछ हद तक समस्त लोगों के कल्याण के लिए कार्य किया जाए।" इसे कल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है। किंतु इसका अर्थ यह भी है, "आर्थिक क्षेत्र में कुछ हद तक अवसर की समानता के लिए कार्य किया जाए।" इस बात को उद्देश्यिका के इन शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि गणराज्य के सभी नागरिकों को "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय" मिले।

पंथ-निरपेक्षता

पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है। एक पंथ निरपेक्ष राज्य व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है और उसके पंथ की ओर ध्यान नहीं देता। वह किसी पंथ विशेष से जुड़ा नहीं होता, और न तो वह किसी पंथ को बढ़ावा देता है और न ही हस्तक्षेप करने का प्रयास करता है। अनिवार्य है कि एक पंथ निरपेक्ष राज्य का धार्मिक कार्यों से कोई संबंध न हो, सिवाय उस स्थिति के जब उसके प्रबंध में अपराध, धोखाधड़ी अंतर्ग्रस्त हो या वह राज्य की एकता अखंडता के लिए खतरा बन जाए।

पश्चिम के विपरीत भारत में पंथ निरपेक्षता का जन्म चर्च तथा राज्य के परस्पर संघर्ष के कारण नहीं हुआ। इसकी जड़ें संभवतया भारत में अपने इतिहास तथा उसकी संस्कृति में विद्यमान है। हो सकता है कि इसके पीछे संविधान निर्माताओं की यह इच्छा हो कि वे संख्या के भेदभाव के बिना सभी समुदायों के प्रति न्यायोचित तथा निष्पक्ष व्यवहार करे।

संविधान सभा ने जिस रूप में उद्देशिका को स्वीकार किया था उसके मूल पाठ में 'पंथ निरपेक्ष' शब्द नहीं था। 'समाजवादी' शब्द की भांति यह शब्द भी आपात स्थिति के दौरान 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा 'गणराज्य' से पूर्व तक एक अतिरिक्त विश्लेषण के रूप में जोड़ा गया। इस शब्द को इधर कुछ समय से 'सर्वधर्म समभाव' का अर्थ देने का प्रयास भी किया गया है यानि सभी धर्मों को एक समान समझना या सभी धर्मों का समान रूप से आदर करना। धर्म निरपेक्षता जो पहले सेक्युलेरिज्म का शब्दार्थ माना जाता था, अब मान्य नहीं रहा क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि धार्मिक मामलों में राज्य सम्पूर्ण तटस्थता का आचरण करे। संविधान के प्राधिकृत हिन्दी पाठ में अब 'पंथ निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। हमारे संदर्भ में पंथ निरपेक्षता का केवल यही अर्थ है कि हमारा राज्य कोई मजहबी अथवा धर्मतंत्रवादी राज्य नहीं है, राज्य का इस रूप में अपना कोई पंथ, मजहब या संप्रदाय नहीं है, इसकी नजरों में सभी पंथ बराबर हैं और यह पंथ के आधार पर नागरिकों के बीच कोई विभेद नहीं करेगा।

42वें संशोधन के पहले 'सैक्युलर' शब्द का एकमात्र जिक्र संविधान के अनुच्छेद 25 (2) में आया था, जिसमें राज्य को धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी भी 'लौकिक क्रियाकलाप' का विनियमन या निर्बंधन करने की शक्ति प्रदान की गई थी। स्पष्ट है कि यहां 'सेक्युलर' शब्द का प्रयोग 'लौकिक' के अर्थ में अथवा शुद्ध धार्मिक से भिन्न मामलों से संबंधित अर्थों में किया गया था। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम में, जिसके द्वारा पंथ निरपेक्ष शब्द जोड़ा गया था, इसकी परिभाषा करने का प्रयास नहीं किया गया। किंतु यह महसूस किया गया कि इस शब्द का जोड़ा जाना केवल उस तथ्य को अनुमोदन तथा स्पष्टीकरण करना था जो, विश्वास किया जाता है कि, संविधान की बुनियादी विशेषता के रूप में पहले से विद्यमान है। केशवानन्द भारती तथा मिनर्वा के मामलों में पंथ निरपेक्षता को एक बुनियादी विशेषता बताया गया। इसके अलावा, यह मूल अधिकार के रूप में धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी में अंतर्निहित थी। सेंट जेवियर कॉलेज सोसायटी बनाम गुजरात राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1974 में निर्णय दिया कि भले ही संविधान में पंथनिरपेक्ष राज्य की बात नहीं कही गयी है, फिर भी इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि संविधान निर्माता इसी तरह का राज्य स्थापित करना चाहते थे।

उद्देश्यिका में 'पंथ निरपेक्ष' शब्द प्रयोग करने के अलावा, हमारे संविधान में अन्य किसी भी जगह स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया है कि धर्म को राजनीति के साथ नहीं मिलाने दिया जाएगा या धार्मिक समस्याओं, निधियों और उपासना के स्थानों का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए नहीं करने दिया जाएगा। यह भी अभी तय नहीं हो पाया कि कहां 'पंथ' शब्द का प्रयोग उचित होगा और कहां 'धर्म' या 'संप्रदाय' का।

शाहबानों के मामले में कानून निर्माता रूढ़िवादी मुसलमानों के दबाव में आ गए और पंथ निरपेक्षता या सभी के लिए समान न्याय की संवैधानिक संबोध की मूल भावना के नितांत प्रतिकूल मुस्लिम महिला (विवाद विच्छेद के अधिकार का संरक्षण) अधिनियम 1986 लाया गया ताकि उच्चतम न्यायालय के निर्णय को रद्द किया जा सके।

बोम्बई वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने मध्यप्रदेश, हिमाचल और राजस्थान में तीन भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी को उचित ठहराया और कहा कि पंथनिरपेक्षतावाद को संविधान का बुनियादी तत्व माना जाना चाहिए।

जो भी हो, अब भारतीय संवैधानिक विधि में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का एकमात्र प्रवर्तनीय निर्वचन वही होगा जो संविधान के विभिन्न प्रावधानों जैसे अनुच्छेद 14, 15, 16, 19 और 25 तथा 28 से समझा जा सकता है। उद्देश्यिका के असंशोधित रूप में भी, अन्य बातों के साथ-साथ विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता शामिल थी। दूसरे शब्दों में, इसमें सभी के लिए धार्मिक स्वतंत्रता का सत्यनिष्ठा के साथ वचन दिया गया था। भारत के सभी लोगों में प्रतिष्ठा तथा अवसर के सिद्धान्तों के द्वारा इसकी पुनः पुष्टि की गई थी।

संविधान निर्माताओं ने एक ऐसे राष्ट्र का सपना संयोजा था जो धर्म, जाति, पंथ की समूची विशेषताओं से परे होगा। वे धर्म के खिलाफ नहीं थे, किंतु वे आशा करते थे कि राजनीतिक एकता जुटाना संभव होगा और धार्मिक मतभेद राष्ट्र निर्माण में बाधक नहीं बनेंगे। संविधान में एक ऐसी नयी समाज व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी जो सांप्रदायिक संघर्षों से मुक्त होगी तथा जिसका आधार होगा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय। संविधान में एक ऐसी राजव्यवस्था का निरूपण किया गया था जिसके अन्तर्गत कानूनों में धर्म, जाति आदि के आधार पर नागरिकों के बीच भेद-भाव नहीं किया जाएगा।

यह भी जरूरी दीख पड़ता है कि पंथनिरपेक्षता शब्द की स्पष्ट परिभाषा स्वयं संविधान में ही कर दी जाए, विद्यमान कानूनों को दृढ़ता

CHRONICLE IAS ACADEMY

से लागू किया जाए तथा और भी कड़े कानून बनाए जाए ताकि कोई दल या व्यक्ति राजनीतिक या अन्य किसी लाभ के लिए धर्म का दुरुपयोग न कर सके।

उद्देश्यिका के अलावा संविधान में पंथनिरपेक्ष:

अनु: 25 अंत:करण को और धर्म के अबाध रुप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता-

1. लोक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य को बनाए रखते हुए सभी व्यक्तियों को धर्म को अबाध रूप से मानने एवं प्रचार करने का स्वतंत्र अधिकार होगा।

2. राज्य इस संबंध में ऐसी विधि बना सकेगा जो-

(क) धार्मिक आचरण से संबंधित किसी राजनीतिक वित्तीय या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है,

(ख) सुधार एवं सार्वजनिक कल्याण के लिए सार्वजनिक प्रकार की हिन्दूओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लिए खोलने का उपबंध करती है।

(ग) कृपाण धारण करना और लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग माना जाएगा।

(घ) हिन्दुओं के प्रति निर्देश का अर्थ सिख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वालों के प्रति भी निर्देश तथा संस्थाओं से तात्पर्य भी इन सभी की संस्थाओं से है।

अनु. 26- धाार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता

लोक व्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय या उसके किसी अनुभाग को-

(1) धार्मिक या पूजा प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का,

(2) अपने धर्म संबंधित कार्यों के प्रबंध करने का

(3) चल और अचल संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का तथा,

(4) ऐसी संपत्ति को विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा।

अनु. 27- धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय के बारे में स्वतंत्रता- किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों का संदस्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जो किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए विनियोजित किए जाते हैं।

अनु. 28- कुछ शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतंत्रता

(1) लिखित एवं निर्मित संविधान- संविधान सभा में नवनिर्मित संविधान 26 नवम्बर, 1949 को अधिनियमित, आत्माप्रित तथा अंगीकृत किया, नागरिकता, निर्वाचन और अंतरिम संसद से संबंधित गठबंधनों तथा अस्थायी और संक्रमणकालीन उपबंधों को 26 नवम्बर, 1949 से लागू कर दिया गया। शेष संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ तथा इसी तिथि को संविधान को लागू होने की तिथि माना गया। इसी दिन भारत को गणतंत्र घोषित किया।

2. विश्व का सबसे बड़ा संविधान- भारतीय संविधान विश्व का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। इस संविधान में केन्द्र, राज्य सरकार, प्रशासनिक सेवाएं, निर्वाचन आदि प्रशासन से संबंधि त सभी विषयों पर विस्तार से लिखा गया है। प्रारंभ में मूल संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थी। संविधान में निरंतर संशोधन होते रहने से संविधान के आकार में वृद्धि होती गई। 42वें सविधान संशोधन 1976 के द्वारा इसके आकार में विशेष रूप से वृद्धि हुई है। प्रथम संविधान संशोधन द्वारा 9वीं तथा 52वें संशोधन द्वारा 10 वीं अनुसूची जोड़ी गई। ग्राम पंचायतों एवं नगरपालिका विषयक 73वें तथा 74वें संशोधन को ग्यारहवीं एवं बारहवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। वर्तमान में संविधान में 400 से अधिक अनुच्छेद हैं तथा 12 अनुसूचियां है।

3. संविधान की प्रस्तावना- संविधान में एक प्रभावशाली प्रेरणा स्रोत प्रस्तावना है। यह संविधान के लक्ष्य तथा उद्देश्य निर्धारित करती है। 42वें संविधान संशाधन द्वारा प्रस्तावना में संशोधन करते हुए 'समाजवादी', धर्म-निरपेक्ष' तथा 'अखंडता' शब्द जोड़े गए हैं।

4. संविधान में विभिन्न संविधानों का समावेश- संविधान सभा ने संविधान बनाने के पूर्व विभिन्न देशों के संविधान का अध्ययन किया तथा स्वतंत्रता के पूर्व बने अधिनियमों, कांग्रेस के प्रस्तावों का भी अध्ययन किया। जहां से जो उपबंध अच्छा लगा वह ले लिया गया तथा भारतीय संविधान में उसे सम्मिलित कर लिया गया।

5. कठोर तथा लचीलेपन का समन्वय- संविधान में संशोधन के आधार पर संविधान को दो प्रकारों में बांटा गया है: कठोर तथा लचीला। भारतीय संविधान में यह दोनों ही प्रकार की विशेषता पायी जाती है। भारतीय संविधान में संविधान संशोधन की निम्न तीन प्रक्रिया है-

(क) संसद के प्रत्येक सदन के साधारण बहुमत के द्वारा

(ख) संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत के द्वारा तथा

(ग) संघ तथा राज्यों की सहमति से

6. सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न राज्य- भारतीय संविधान ने यह व्यवस्था की है कि भारत एवं भारत के लोग किसी भी बाहरी अथवा विदेशी सत्ता के अधीन अथवा दवाब में कार्य नहीं करेंगे। भारत की संप्रभुता को बनाए रखने के लिए ही गुट निरपेक्षता की विदेश नीति को अपनाया गया एवं संप्रभुता की रक्षा करने के लिए हर संभव उपाय किए गये हैं।

7. लोकतंत्रात्मक राज्य- भारत में ब्रिटेन के लोकतंत्र के अनुरूप लोकतंत्र की स्थापना की गई है। यहां प्रत्यक्ष लोकतंत्र की स्थापना न करके अप्रत्यक्ष लोकतंत्र की स्थापना की गई। संविधान निर्माताओं ने न केवल राजनीतिक लोकतंत्र की ही स्थापना की बल्कि सामाजिक आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का भी संकल्प लिया।

8. गणतंत्र राज्य- भारत ने ब्रिटिश लोकतंत्र के मॉडल को तो अपनाया लेकिन राजा के अनुवांशिक पद को नहीं अपनाया गया। राष्ट्र का अध्यक्ष अनुवांशिक न होकर कोई निर्वाचित व्यक्ति होगा। गणतंत्र शब्द का यही अभिप्राय है कि भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित होगा।

9. संसदीय सरकार- संसदीय व्यवस्था में संसद को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। इस व्यवस्था में दोहरी कार्यपालिका होती है- एक नाममात्र की कार्यपालिका तथा दूसरी वास्तविक कार्यपालिका। भारत में नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति है तथा वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल है। प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल संसद के प्रथम सदन लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। मंत्रिमंडल संसदीय व्यवस्था में मंत्रिपरिषद ही वास्तविक सरकार होती है।

10. समाजवादी व्यवस्था- भारतीय संविधान में समाजवादी तत्त्व पहले से ही विद्यमान थे, लेकिन इसे अधिक महत्व प्रदान करने के लिए 'समाजवादी' शब्द संविधान की प्रस्तावना में, 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा सम्मिलित किया गया है। 'समाजवादी' शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है, फिर भी भारतीय संदर्भ में समाजवादी

CHRONICLE IAS ACADEMY

का मूल अभिप्राय आर्थिक शोषण को समाप्त करना है। वस्तुतः यह लोकतांत्रिक विचारधारा पर आधारित समाजवाद है जिसका अर्थ भारत के विभिन्न वर्गों में समानता प्राप्त करके आर्थिक एवं सामाजिक शोषण को समाप्त करना है।

11. **धर्म निरपेक्ष राज्य**- 42वें संशोधन द्वारा 'धर्म निरपेक्षता' शब्द को भी प्रस्तावना में जोड़ा गया है।

12. **संघात्मक एवं एकात्मक व्यवस्था का समन्वय**- संविधान द्वारा संघात्मक ढ़ांचे को स्वीकार किया गया अर्थात् केन्द्र राज्यों में पृथक-पृथक सरकारें स्थापित की गई तथा राज्यों पर केन्द्र का वर्चस्व स्थापित किया गया।

संघात्मक व्यवस्था की चारों प्रमुख लक्षणें- संविधान की सर्वोच्चता, शक्तियों का विभाजन, स्वतंत्र सर्वोच्च न्यायालय एवं द्विसदनात्मक संसद, हमारे संविधान में पायी जाती है लेकिन इसके साथ ही कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें भी हमारे संविधान में पायी जाती है जो एकात्मक व्यवस्था को समर्थन करते हैं। यदि कारण है कि कुछ आलोचकों ने इसे 'अर्द्ध संघ' बताया है।

13. **एकीकृत न्याय व्यवस्था**- संघात्मक व्यवस्था के साथ-साथ भारत में एकीकृत न्यायपालिका का गठन किया गया है। केन्द्र में सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्य में उच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। केन्द्र में उच्चतम न्यायालय शासन का तीसरा अंग है लेकिन राज्य में उच्च न्यायालय राज्य शासन का तीसरा अंग न होकर सर्वोच्च न्यायालय का एक अधीनस्थ न्यायालय है।

14. **वयस्क एवं सार्वजनिक मताधिकार**- भारतीय संविधान निर्माताओं ने बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को, जिन्होंने एक निश्चित आयु प्राप्त कर ली है, को मताधिकार का अधिकार प्रदान किया है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि भारत का संविधान एक व्यापक दस्तावेज है। यह अनेक दृष्टियों से अनूठा है। इसे किसी खास ढांचे या मॉडल में फिट नहीं किया जा सकता है। जहां द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बनाए गए अनेक देशों के संविधान लुढ़क गए, वहीं हमारे संविधान ने अनेक संकटों का सफलतापूर्वक सामना किया है और वह जीवित रहा है। यह बात स्वयंमेय उसकी सुनम्यता, सक्रियता और संवृद्धि की संभाव्यता का प्रमाण है।

जवाहरलाल नेहरू का विकासवादी, समाजवादी दर्शन

जवाहर लाल नेहरू सामाजिक समानता के कट्टर परिषोषक थे। वे भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत संकीर्णताओं के विरोधी थे और उनको समूल विनष्ट कर देना चाहते थे। वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि इन संकीर्णताओं के पीछे, वे सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएं हैं जो आधुनिक विश्व के संदर्भ में निरर्थक हो चुकी हैं। वे वर्ण व्यवस्था के भी विरोधी थे और धर्म पर आधारित आस्थाओं पर सीधी चोट करते थे। समस्त जातिगत, संप्रदायगत और धर्म पर आधारित संकीर्णताओं के उपर उठकर वे एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे, जो अपनी अर्न्तराष्ट्रीयता की भूमिका समुचित रूप से निभा सके। उनकी समस्त राजनीतिक परिकल्पनाएं इसी भावना पर निर्भर हैं। उनका समाजवादी दृष्टिकोण, उनका गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त, उनके द्वारा निरूपित आर्थिक व्यवस्था की संरचना-ये सभी राजनैतिक सिद्धान्त समानता और अर्न्तराष्ट्रीयता के आधार पर निर्भर हैं। उनकी मान्यता थी कि लोकतंत्र मात्र एक राजनैतिक व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक जीवन पद्धति है।

उनके लोकतंत्र संबंधी विचारों का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम उनकी समाजवादी विचारधारा है, उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व की समस्याओं का एकमात्र हल समाजवादी व्यवस्था में ही हो सकता है। वे इस विचार से सहमत नहीं थे कि लोकतंत्र और समाजवाद एक साथ नहीं पनप सकते और बिना न्यायपूर्ण बंटवारे के आर्थिक समस्याओं का लोकतांत्रिक हल नहीं निकल सकता है। वास्तव में नेहरूजी की समाजवादी विचारधारा के तीन मुख्य स्रोत थे-उनकी भारतीय इतिहास की समझ, ब्रिटेन का फैबियन सोशलिज्म और मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव तथा इसका रूसी प्रयोग। इन तीनों के माध्यम से उन्होंने एक नयी पद्धति की शुरुआत की।

वस्तुतः नेहरूजी भारत में एक *समाजवादी* समाज (Socialistic pattern of Society) की स्थापना करना चाहते थे, जिसकी कल्पना तभी साकार हो सकती थी जब समाजवाद के आर्थिक पहलू की ओर ध्यान दिया जाये। उन्होंने महसूस किया कि भारत में व्याप्त समस्त समस्याओं का कारण यहाँ की गरीबी और असमानता है। जब तक इस विषमता को विनिष्ट न किया जायेगा तब तक राष्ट्रीय एकता या समानता की बात करना व्यर्थ है। इसी अवधारणा के आधार पर नेहरूजी ने अपने आर्थिक विचारों का प्रतिपादन किया और कई व्यवहारिक कदम उठाये।

लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए नेहरू जी ने एक *मिश्रित अर्थव्यवस्था* (Mixed Economy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे साम्यवादी विचारों के समर्थक होते हुए भी अर्थव्यवस्था के पूर्ण राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे। किन्तु देश की सारी अर्थव्वस्था को पूर्णतया पूँजीपतियों के उपर छोड़ देने के पक्ष में भी वे नहीं थे। देश की आर्थिक व्यवस्था तथा ढ़ाई सौ साल के शोषण की उनको पूरी जानकारी थी। गांधीजी के *'ट्रस्टीशिप'* के सिद्धान्त को वे अव्यावहारिक मानते थे। इसलिए उनका विचार था कि जो अर्थव्यवस्था भारत के लिए उपयोगी होगी, वह न तो पूर्णतया पूंजीवादी सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए न ही पूरी तौर पर साम्यवादी। भारत के कई अर्थशास्त्रियों की मदद से उन्होंने भारत की अर्थव्यवस्था को दो भागों में विभक्त किया-एक भाग जो राष्ट्रीयकरण के अर्न्तगत आयेगा अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) और दूसरा भाग जो निजी क्षेत्र के अर्न्तगत आयेगा अर्थात् निजी क्षेत्र (Private Sector)। इसी व्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) का नाम दिया गया है।

नेहरूजी के आर्थिक कार्यक्रम का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है- आर्थिक नियोजन (Economic Planing)। वे समयबद्ध आर्थिक योजनाओं के समर्थक थे। इसके माध्यम से वे दो विशेष पहलुओं पर ध्यान देना चाहते थे-एक तो देश की आर्थिक आवश्यकताएं और दूसरा योजनाओं को संचालित करने के लिए धन का समुचित प्रबंध। रूस के व्यक्तिगत अनुभव से उनकी इस भावना को अधिक बल मिला। उन्होंने देखा कि किस तरह रूस एक साधारण कृषि प्रधान देश से आगे बढ़कर एक औद्योगिक देश बन गया। संभवतः 1938 में उनके मस्तिष्क में आर्थिक नियोजन की बात सर्वप्रथम आयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1950 में प्रथम बार उन्होंने योजना आयोग (Planning Commission) का संगठन किया। यहीं से पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत हुई, जो आज तक जारी है। 1950 में नेहरूजी ने कहा था: "हमारे आदर्श ऊंचे और लक्ष्य महान हैं। उनकी तुलना में पंचवर्षीय योजना साधारण शुरुआत लगती है, लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि यह अपने ढंग का पहला महान प्रयत्न है और यह आज की आवश्यकताओं पर आधारित है न कि हमारी इच्छाओं पर"।

CHRONICLE IAS ACADEMY

कल्याणकारी राज्य (Welf are State) की परिकल्पना नेहरू के उस प्रयत्न का परिणाम है, जिसके माध्यम से वे आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रयोग समाजिक समानता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहते थे। इस अवधारणा के अनुसार देश में जो भी कार्य किए जायें उनका उद्देश्य जनता की भलाई होनी चाहिए, आर्थिक लाभ नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नेहरूजी की सबसे बड़ी देन है उनका लोकतांत्रिक समाजवाद। नेहरु के पहले यह समझा जाता था कि लोकतंत्र और समाजवाद का समन्वय संभव नहीं है। समाजवाद में व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्व दिया जाता है। किन्तु नेहरूजी को व्यक्ति की गरिमा पर बहुत विश्वास था और वे समानता के कायल थे। वे न तो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण त्यागना चाहते थे और न ही साम्यवादी समाजवाद। उन्होंने दोनों के मिश्रण से एक नवीन समाजिक-राजनैतिक व्यवस्था की परिकल्पना की। वे गाँधी और मार्क्स के बीच की एक ऐसी कड़ी हैं, जिसकी तुलना संभवत: किसी अन्य विचारक से नहीं की जा सकती। किन्तु उनकी वास्तविक मौलिकता इन दो सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने मात्र में नहीं है, उनकी मौलिकता तो यह है कि उन्होंने इस नवीन पद्धति को एक जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार किया और इसको व्यावहारिकता का स्वरूप प्रदान किया। नेहरूजी ने जिस समाजवादी समाज की परिकल्पना की, उसको अपनी आर्थिक नीतियों में शामिल भी किया और उसी के अनुरूप अपनी राजनीतिक व्यवस्था को ढाला। यह उनकी एक महान देन है।

योजना व्यवस्था

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग 20 वर्ष पूर्व सन् 1920 के दशक में जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य समाजवादियों के प्रभाव से भारत में व्यापक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से कांग्रेस में आर्थिक नियोजन की चर्चा हुई। सन् 1930 के दशक में गठित कांग्रेस की *राष्ट्रीय योजना समिति* ने आधारभूत आंकड़े एकत्र करने तथा भावी विकास के लिए रूपरेखा तैयार करने की दिशा में प्रयास किया। नेहरू ने सन् 1962 में स्मरण दिलाया था कि "राजनीतिक लोकतंत्र का गन्तव्य अनिवार्य रूप से आर्थिक लोकतंत्र ही है।" भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य मुख्य रूप से राजनीतिक स्वतंत्रता को आर्थिक रूप देना था। उसकी कल्पना समाजिक-आर्थिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप में की गयी थी। राजनीतिक लोकतंत्र को समाजिक-आर्थिक लोकतंत्र में परिवर्तित करना और असमान समाज में व्याप्त विरोधाभास को समाप्त करना इसका मूल उद्देश्य था। एक स्वतंत्र राष्ट्रीय लोकतंत्र को आर्थिक विकास में हस्तक्षेपी भूमिका का निर्वाह करना था। *'योजना'* शब्द के साथ कुछ रोमांच, कुछ स्वप्न जुड़े थे। वास्तव में योजना की मूल प्रेरणा पूर्व सोवियत संघ से प्राप्त हुई, जिसने वहाँ के पिछड़े समाज को कुछ ही दशकों में समतापूर्ण समाज में बदल दिया। अनेक कमियां, विकृतियों तथा सीमाओं के बावजूद पूर्व सोवियत संघ नवोदित राष्ट्रों के लिए अनुकरणीय बन गया।

मार्च सन् 1950 में योजना आयोग की स्थापना किसी संसदीय अधिनियम या किसी संवैधानिक अनुच्छेद के अर्न्तगत नहीं बल्कि मंत्रिमंडल के एक प्रस्ताव द्वारा की गयी थी। अत: इसे कभी-कभी संविधानेत्तर संस्था कहा जाता है। सिद्धान्त रूप में यह मंत्रिमंडल की एक परामर्शदात्री समिति है। इसे निम्न सात कर्त्तव्य सौंपे गए थे:-

1. देश के भौतिक स्रोतों, पूँजी और मानव संसाधन का आकलन करना;
2. देश में उपलब्ध साधनों के प्रभावकारी एवं संतुलित उपयोग हेतु योजना का निर्माण करना;
3. विकास की राष्ट्रीय प्राथमिकताओं को निर्धारित करना, विकास के सोपान निर्धारित करना और संसाधनों के समुचित आहरन के संबंध में सुझाव देना;
4. आर्थिक विकास के अवरूद्ध होने की प्रवृति के कारणों का पता लगाना और योजना के सफलतापूर्वक कार्यान्वयन के लिए आवश्यक दशाएं सुनिश्चित करना;
5. योजना के प्रत्येक चरण के लिए कार्यान्वयन हेतु प्रणाली के स्वरूप को सुनिश्चित करना;
6. योजना कार्यान्वयन से होने वाली प्रगति का समय- समय पर मूल्यांकन करना और नीतियों एवं उपायों में आवश्यक संशोधनों के लिए सुझाव देना; और
7. स्वयं अपने कार्यों को प्रभावकारी बनाने तथा वर्तमान नीतियों, उपायों; विकास के कार्यक्रमों आदि के संबंध में आवश्यक परिवर्तन करने के संबंध में या केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा परामर्श के लिए भेजी गयी समस्याओं के संबंध में संस्तुतियां करना।

योजना आयोग को मंत्रिमंडल को अपनी संस्तुतियां भेजनी होती हैं। इसे केन्द्र सरकार और राज्य सरकार के मंत्रियों के सहयोग व परामर्श से कार्य करना होता है। नीतियों के क्रियान्वयन का निर्णय केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा लिया जाता है। भारतीय राज्य व्यवस्था की संघीय प्रणाली में केन्द्र और राज्य के बीच समन्वय संबंधी कुछ समस्याएं आ जाती हैं। हमारे संविधान में आर्थिक और सामाजिक नियोजन का उल्लेख सातवीं अनुसूची में दी गयी समवर्ती सूची में क्रम संख्या 20 पर किया गया है। यद्यपि योजना आयोग पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार करता है, फिर भी राज्य सरकारें अपनी-अपनी पंचवर्षीय योजना और वार्षिक योजनाओं के साथ उसका संयोजन करती है। *राष्ट्रीय विकास परिषद* (National Development Council) योजना संबंधी निर्णय लेने की सर्वोच्च संस्था है। इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों, विशेष रूप से वित्त मंत्रालयों के प्रभारी मंत्रियों सहित सभी केन्द्रीय मंत्री तथा योजना आयोग के सभी सदस्य इसके सदस्य होते हैं। योजना आयोग का सचिव इस परिषद का सचिव होता है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना के प्रारूप पर विचार-विमर्श करती है और आवश्यकतानुसार संशोधन भी।

योजनाओं के उद्देश्य

जबकि प्रत्येक योजना के अल्पकालीन उद्देश्य तात्कालिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न थे, समग्र योजना प्रक्रिया सामान्य दीर्घकालिक दृश्यों से प्रेरित रही है। ये ध्येय थे-

1. लोगो के जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए ऊँची संवृद्धि दर
2. समाजिक न्याय, तथा
3. आर्थिक स्वावलंबन (आत्म-निर्भरता)

1. ऊँची संवृद्धि दर- औपनिवेशिक काल के दौरान के शोषण के कारण स्वतंत्रता के समय देश में जीवन स्तर बहुत ही निम्न था। जनसंख्या का एक बड़ा भाग दयनीय और अमानवीय जीवन व्यतीत कर रहा था। इसलिए जीवन स्तरों में सुधार भी पंचवर्षीय योजनाओं का सामान्य ध्येय रहा है। इसके लिए अन्य उपायों के अतिरिक्त राष्ट्रीय आय की बहुत ऊंची संवृद्धि दर आवश्यक है। 1950 के बाद जनसंख्या की ऊंची संवृद्धि दर के कारण इसकी आवश्यकता और भी अधिक हो गयी है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

2. सामाजिक न्याय : संविधान में विहित निर्देशक सिद्धान्तों ने न्याय- सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक- को मूलभूत राष्ट्रीय वचन घोषित किया है। क्योंकि योजनाएं राज्य नीति का एक बहुत महत्वपूर्ण साधन हैं, इसलिए सामाजिक तथा आर्थिक न्याय उनके मूल उद्देश्यों में रखे गये हैं। योजनाओं में परिभाषित सामाजिक तथा आर्थिक न्याय की अनेक दिशाएं हैं-

1. लोकतांत्रिक राजनीतिक ढांचे का संरक्षण,
2. आर्थिक और सामाजिक समानता तथा विकास में क्षेत्रीय संतुलन के लिए प्रयत्न,
3. आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण का परिवर्जन तथा
4. पिछड़े वर्गों तथा कमजोर वर्गों का विशेष ध्यान।

जीवन स्तर में सुधार तथा सामाजिक न्याय के परस्पर संबंधित ध्येयों को दूसरी पंचवर्षीय योजना में समाविष्ट समाज के समाजवादी रूप की सकल्पना में इकट्ठा कर दिया गया है। इस संकल्पना का सार यह है कि ''विकास का स्वरूप और सामाजिक-आर्थिक संबंधों की संरचना को इस प्रकार आयोजित किया जाए कि इससे न केवल राष्ट्रीय आय और रोजगार में वृद्धि दी हो, बल्कि आय और संपत्ति से अधिक समानता भी प्राप्त हो.....आर्थिक विकास के लाभ अधिकाधिक अपेक्षाकृत कम सुविधाप्राप्त वर्गों को मिले तथा आय, धन और आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण में उत्तरोत्तर कमी होनी चाहिए।''

3. आर्थिक स्वावलंबन: भारत में यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अपूर्ण तथा कमजोर होगी। इस विचार का तीसरी पंचवर्षीय योजना में समाविष्ट आत्म निर्भरता के ध्येय में स्पष्ट निरूपण किया गया। इस व्यवस्थापन के अनिवार्य तत्व निम्न थे-

1. यद्यपि विदेशी पूंजी का सामान्य अन्त:प्रवाह जारी रहे, लेकिन विशेष प्रकार की विदेशी सहायता को उत्तरोत्तर कम किया जाना चाहिए और अंतत: निरस्त किया जाना चाहिए तथा
2. आत्म-निर्भरता के ध्येय को 10 से 12 वर्ष की अवधि अर्थात 1974-75 तक प्राप्त कर लिया जाना चाहिए।

तीसरी योजना में जिस आत्मनिर्भरता के ध्येय की व्याख्या की गयी है वह वित्तीय आत्म निर्भरता पर बल देता है। इसका सार यह था कि आठवें दशक के पहले चार पाँच वर्षों में अर्थव्यवस्था इस योग्य हो जायेगी कि वे घरेलू संसाधनों की संतोषजनक दर पर लगातार संवृद्धि के लिए वित्त जुटा सके। जिन निधियों से धन जुटाने की आवश्यकता पड़े, उनकी राशि इतनी सीमित होनी चाहिए कि निजी विदेशी सरकारी एजेंसियों तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों से रियायती दरों पर धन लेने की आवश्यकता नहीं होगी। अत: उन्हें कोई ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, जिससे वे इस देश में कोई राजनैतिक हस्तक्षेप कर सकें।

नियोजन के प्रमुख उद्देश्य योजना के विभिन्न प्रलेखों में है जिन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं:

1. औद्योगिक अधिरचना का निर्माण करना,
2. कृषि उत्पादन का विस्तार तथा सुधार करना,
3. राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भरता का आधार तैयार करना,
4. राष्ट्रीय पूंजी में पर्याप्त वृद्धि और उनका समान तथा संतुलित वितरण करना,
5. सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना,
6. बेरोजगारी और निर्धनता का उन्मूलन करना,
7. निरक्षरता और रोगों का उन्मूलन करना
8. व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देना,
9. निर्यात अभिमुख और आयात पूर्ति प्रतिस्थापित उत्पादन के लिए निर्माताओं को प्रोत्साहित करना तथा
10. भारतीय अर्थव्यवस्था को आधुनिक प्रभावी और प्रतिस्पर्द्धात्मक बनाना।

मिश्रित अर्थव्यवस्था- भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों की इकाइयों के सहअस्तित्व पर आधारित है। यह दोनों क्षेत्र बाजार के परोक्ष तथा नियोजन के प्रत्यक्ष प्रभाव के ढांचे में कार्य करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका और कार्यक्षेत्र 1948 और 1956 की दो औद्योगिक नीति संकल्पों के अन्तर्गत सुनिश्चित किये गये हैं। पहली औद्योगिक नीति संकल्प-1948 में स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक बाद ही अंगीकार किया गया था। दूसरा औद्योगिक नीति संकल्प 1956 में कांग्रेस के आवाडी अधिवेशन के बाद अंगीकार किया गया था, जिसमें समाज के समाजवादी स्वरूप को स्वीकार किया गया तथा घोषणा की गयी कि हर प्रकार के आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों एवं जन उपयोगी सेवाओं के नियोजन तथा शीघ्र विकास को सार्वजनिक क्षेत्र में रखा जायेगा। यह भी कहा गया कि सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को किसी विशेष विचारधारा के आधार पर स्वीकार नहीं किया गया।

आम धारणा है कि सार्वजनिक क्षेत्र एक समाजवादी क्षेत्र है किंतु ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत इसका निर्माण एक पूंजीवादी ढांचे के अन्तर्गत भारत के विकास को तेज गति देने के लिए किया गया है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। निजी उद्यमियों के पास न तो संसाधन थे, न तकनीकी कौशल और न उन क्षेत्रों में पूंजी लगाने में रुचि थी, जहां तत्काल लाभ की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती थी। अत: सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण के लिए केवल राज्य के पास ही संसाधन और इच्छा-शक्ति थी।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में विकास का उत्तरदायित्व केवल सार्वजनिक क्षेत्रों की इकाइयों पर ही है जिनका उपयोग भारी उद्योग तथा आधारिक संरचना के लिए किया जाता है, जैसे यातायात, रेलवे, जहाजरानी, उड्डयन, सड़क यातायात की कुछ सेवाएं, डाक तार और दूरभाष, संचार, सिंचाई सुविधाएं, ऊर्जा स्रोत जैसे कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, विद्युत शक्ति, परमाणु ऊर्जा इत्यादि, लोहा और इस्पात, खनिज और धातु, रसायन, उर्वरक और औषधियों, भारी अभियंत्रण मशीन निर्माण आदि।

1951 में सार्वजनिक क्षेत्र के 5 उद्योगों में पूंजी निवेश मात्र 29 करोड़ रुपया था, जो 1990 में 246 उपक्रमों में बढ़कर 1, 13, 234 करोड़ रुपया हो गया। सार्वजनिक क्षेत्र का विकास नियोजन प्रक्रिया का एक प्रमुख योगदान है।

विकास की युक्ति (Strategy of Development) : विकास युक्ति से अभिप्राय उस नीति के गठन से है, जिसमें समस्या को हल करने के लिए सभी उपायों और सभी पहलुओं पर पहले से ही विचार कर लिया जाता है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनेक वैकल्पिक मार्ग सुझाये जा सकते है। आयोजनकर्ता उन सभी सुझाए गये मार्गों में से एक मार्ग का चुनाव कर लेते हैं और अपनी नीति उस मार्ग के अनुरूप तैयार करते हैं। इस नीति निर्धारण की क्रिया को विकास अथवा आयोजन की युक्ति कहा जाता है। *'विकास युक्ति'* तैयार करने के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित होते हैं-

1. विकास की दर अधिकतम संभव होनी चाहिए तथा विकास कार्यक्रम में न्यूनतम साधनों का प्रयोग होना चाहिए
2. अर्थव्यवस्था का स्वरूप जितना जल्दी हो बदल दिया जाना चाहिए तथा
3. विकास कार्यक्रम जब लागू किया जाये तो उसके मार्ग में किसी तरह की बाधा नहीं आनी चाहिए।

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत की पहली पंचवर्षीय योजना में किसी प्रकार की दीर्घकालीन विकास युक्ति का अभास नहीं मिलता। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि देश की अर्थव्यवस्था को जड़ से मजबूत किया जाये जिससे कि भविष्य में और तेजी से विकास करना सम्भव हो सके। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने पर भी बल दिया गया तथा योजना में कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गयी।

पहली योजना की सफलताओं से उत्साहित होकर आयोजनकर्ताओं ने एक सुविचारित विकास युक्ति के गठन का प्रयास किया। ऐसी युक्ति दूसरी योजना में बनकर तैयार हुई। इस युक्ति को तैयार करने का श्रेय प्रो. पी. सी. महालनोबिस को दिया जाता है। दूसरी योजना के आरंभ से अपनायी गयी विकास युक्ति के निम्नलिखित प्रमुख दो अंग थे-

1. औद्योगीकरण पर बल तथा
2. भारी वस्तु उद्योगों के विकास पर बल।

विकास युक्ति में एक ओर तो औद्योगीकरण पर बल दिया गया और साथ ही औद्योगीकरण में भी 'भारी पूंजीगत वस्तुओं' अथवा 'मशीन निर्माण' उद्योगों के विकास पर विशिष्ट बल दिया गया। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से उत्पादक वस्तु उद्योगों के विकास के अनेक लाभ होते हैं। योजना के विकास युक्ति में देश के सभी मौलिक और आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दी गयी है।

बाद की सभी योजनाओं में भी विकास कार्यक्रम को तैयार करने का आधार यही विकास युक्ति ही रही। किन्तु इन बाद की योजनाओं में एक मौलिक अंतर कर दिया गया था। जिन परिस्थितियों में इस विकास युक्ति का निर्माण किया गया था, तब यह समझा जा रहा था कि कृषि क्षेत्र पर्याप्त रूप से उन्नत हो चुका है तथा इसमें सतत् विकास की नींव पड़ चुकी है। अत: इस क्षेत्र में यदि और पूंजी का निवेश नहीं भी किया जाये तो कोई विशेष अंतर नहीं पड़ने वाला । किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि आयोजनकर्ताओं की कृषि संबंधी यह मान्यता गलत सिद्ध हुई। खाद्यान्न की कमी ने आयोजनकर्ताओं के सभी अनुमानों को गलत सिद्ध कर दिया। इसलिए बाद की योजनाओं में यह अनिवार्य समझा गया कि कृषि को उचित स्थान उपलब्ध कराया जाये, अत: इन सभी योजनाओं में कृषि विकास कार्यक्रम को प्राथमिकता दी गयी। इसका पुन: यह अर्थ नहीं है कि औद्योगीकरण की उपेक्षा की गयी अथवा औद्योगीकरण के कार्यक्रम पर व्यय में कटौती की गयी, वरन् कृषि के महत्व को समझते हुए उसे उचित स्थान दिया गया। इस तरह अर्थव्यवस्था के 'संतुलित विकास' (Balanced growth) की कोशिश की गयी है। छठीं, सातवीं और आठवीं योजना में निर्धारित लक्ष्यों की शीघ्र प्राप्ति के लिए यह स्वीकार किया गया कि इस दौरान कृषि के विकास को प्राथमिकता देनी होगी। साथ ही बेरोजगारी दूर करने के लिए लघु और कुटीर उद्योगों को भी प्रेरित करना होगा। इसी प्रकार ऊर्जा, कोयला, कच्चा तेल आदि के कार्यक्रमों के विकास पर भी बल दिया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत में योजनाएं संतुलित विकास की लक्ष्यों की ओर ठोस कदम हैं।

योजनाओं का कार्यकाल

योजना आयोग ने देश के आर्थिक विकास के लिए पहली पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1951 से आरंभ की। इस योजना का आकार अपेक्षाकृत छोटा था। इसका मुख्य उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध और देश के विभाजन के कारण उत्पन्न असंतुलन को दूर करना था। इसके बाद की योजनाएं आकार में बड़ी और कार्यक्रमों में अधिक महत्वाकांक्षा रखने वाली थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1956 से आरंभ होकर 31 मार्च, 1961 को समाप्त हुई। तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि 31 मार्च, 1966 तक थी। यह देश का दुर्भाग्य ही था कि तीसरी योजना के कार्यकाल के दौरान दो बार पड़ोसी देशों ने हम पर हमला किया- 1962 में चीन ने और 1965 में पाकिस्तान ने। इन हमलों के दबाव में हमें बहुत सारी धनराशि विकास कार्यक्रमों से निकालकर रक्षा संबंधी कार्यक्रमों पर खर्च करने के लिए बाध्य होना पड़ा। साथ ही घरेलू परिस्थितियां भी प्रतिकूल रहीं। 1965-66 के दौरान देश में भयंकर सूखा पड़ा, अकाल जैसी स्थिति देश में बनी रही। कृषि उत्पादन में भयंकर गिरावट के परिणामस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में भी कमी आ गयी। कीमतें तेजी से बढ़ने लगीं। ऐसी परिस्थितियों में हमें योजना के कार्यक्रमों को कुछ देर के लिए स्थगित करने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसी कारण इन वर्षों को 1966 से 1969 तक *'आयोजन अवकास'* (Plan Holiday) का काम माना जाता है। इन तीन वर्षों में वार्षिक योजनाएं तैयार की गयी। इनका मुख्य उद्देश्य तीसरी योजना के दौरान खोये हुए संतुलन को दोबारा प्राप्त करना था। चौथी पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1969 को आरंभ हुई। पाँचवी योजना 1 अप्रैल, 1974 को शुरू की गयी जिसे अवधि से 1 वर्ष पूर्व ही समाप्त कर 1 अप्रैल, 1978 से छठीं योजना आरंभ की गयी। छठीं योजना को भी स्थगित कर 1 अप्रैल 1980 से 1980-85 की अवधि के लिए नयी योजना तैयार की गयी जिसे छठीं योजना कहा गया। 1 अप्रैल, 1985 से सातवीं योजनाएं ही बनायी गयी। 1 अप्रैल, 1992 से आठवीं योजना आरंभ की गयी। नवीं योजना 1 अप्रैल, 1997 से आरंभ हुई जिसका कार्यकाल 1997-2002 होगा।

नियोजन की उपलब्धियां

यह हमारी सुनियोजित विकास योजनाओं का ही परिणाम है कि चार दशकों में व्यापक औद्योगिक आधार और उत्पादन में वृद्धि के कारण भारत तीसरी दुनिया का सर्वाधिक स्थायी लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था के रूप में उभरा है। अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। जो देश स्वतंत्रता प्राप्ति के समय महत्व की किसी भी चीज का औद्योगिक उत्पादन न करता रहा हो, और प्रत्येक आवश्यक वस्तु का आयात करना रहा हो, उस देश का ठीक चार दशकों में औद्योगिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाना सचमुच ही प्रभावशाली है। आज भारत लोकोमोटिव तथा पोत निर्माण, ऑटोमोबाइल, उपकरण, ऊर्जा उत्पादन, रसायन, औद्योगिक मशीन, औजार, सभी प्रकार के घरेलू उपकरण, अधिकांश इलेक्ट्रॉनिक उपकरण तथा यंत्र आदि बनाने वाले उद्योगों के लिए मशीनों का निर्माण करता है। भारत ने रक्षा उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है। सबसे अधिक प्रभावकारी और दूरगामी परिवर्तन औद्योगिक आधारिक संरचना के क्षेत्र में हुए। विद्युत ऊर्जा उत्पादन के क्षेत्र में काफी सफलता मिली है। पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस के व्यापक स्रोतों की खोज और तेल कुओं की खुदाई महान सफलता की गाथा बन गयी है। विस्तार की दृष्टि से भारतीय रेल विश्व की सर्वोच्च विकसित देशों में से एक है। यातायात के अन्य साधनों का भी विस्तार काफी हुआ है। नगरीकरण की प्रक्रिया निर्बाध गति से आगे बढ़ रही है तथा नगरों और कस्बों की संख्या में

CHRONICLE IAS ACADEMY

असाधारण वृद्धि हुई है। साक्षरता की दर भी बढ़ी है। वैज्ञानिक और तकनीक विकास भी काफी हुआ है।

इतना कुछ होने के बावजूद भारत की योजनाओं में आकांक्षाओं और उपलब्धियों के बीच अंतर बना हुआ है। इसके कई कारण हैं। योजना के लक्ष्य वास्तविकता से कहीं अधिक दूर हैं। उनका कार्यान्वयन तंत्र बहुत निर्बल और अपर्याप्त है। नौकरशाही और राजनीतिज्ञ प्राय: योजना के लक्ष्यों और उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। प्रशासन के भ्रष्टाचार और उसकी अक्षमता से परियोजनाओं की उपेक्षा हुई है तथा संसाधनों का दुरुपयोग हुआ है। धार्मिक और जातीय पूर्वाग्रह, सामाजिक और पारंपरिक पिछड़ापन, केन्द्र और राज्य के बीच विरोध और विकास संबंधी गतिविधियों में नागरिकों की सामान्य उदासीनता से घोषित लक्ष्यों और उपलब्धियों के बीच दूरी बढ़ी है। इस तरह भारत के योजना निर्माण में विकास और निर्धनता का अंतर्विरोध परिलक्षित होता है।

राज्य नियंत्रित औद्योगीकरण

उपनिवेशी शासन के अधीन भारत का औद्योगिक विकास काफी प्रतिबंधित तथा विकृत रहा था। औपनिवेशिक प्रशासन के विपरीत, नए राज्य की औद्योगिक विकास में तीव्र रुचि थी और इसने इसके संवर्द्धन के लिए अनेक प्रकार की नीतियां और उपाय अपनाये। स्वातंत्र्योत्तर काल में असाधारण औद्योगिक संवृद्धि हुई है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि औद्योगिक क्षेत्र बहुत अधिक विविधीकृत हो गया है। अत्यधिक महत्व की बात यह है कि देश ने भारी उद्योगों के एक काफी बड़े आधार का निर्माण कर लिया है।

1947 में जब देश आजाद हुआ तो इस समय भारत की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। उद्योगों के नाम पर कुछ बड़े कारखाने स्थापित किये गये थे, किन्तु इनकी शक्ति द्वितीय विश्व युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति में ही समाप्त हो गयी। देश के दो बड़े उद्योगों- सूती वस्त्र और पटसन को देश के विभाजन का प्रकोप सहना पड़ा, क्योंकि इन उद्योगों के काम आनेवाले कच्चे माल-कपास और पटसन के उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इसी तरह दूसरे उद्योगों में भी स्थिरता छाई हुई थी। विदेशी निवेशकर्ता राष्ट्रीयकरण से भयभीत और आशंकित थे। यही मनोवृति देश में बड़े-बड़े निजी उद्यमियों की भी थी। हालांकि स्वतंत्रता के तत्काल बाद ही देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था-जिनमें निजी और सार्वजनिक क्षेत्र साथ-साथ काम करते हैं- की स्थापना की घोषणा कर दी गई थी और विदेशी उद्यमियों के डर को दूर करने का प्रयास किया गया था, किन्तु कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि उद्यमी-देशी और विदेशी दोनों ही सरकार की औद्योगिक नीति की प्रतीक्षा में थे। सरकार की औद्योगिक नीति का पहला प्रस्ताव सन् 1948 में सामने आया, जिसे औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 (Industrial Policy Resolution, 1948) अथवा (I.P.R, 1948) के नाम से जाना जाता है।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 की मुख्य बातें निम्न थीं:

1. **उद्योगों का वर्गीकरण**- समस्त उद्योगों को निम्न चार भागों में बाँटा गया-

(a) पहले वर्ग में वे उद्योग समिलित किए गये जिन्हें केवल केन्द्रीय सरकार ही चलायेगी। जैसे हथियारों तथा गोला-बारूद का निर्माण, परमाणु शक्ति का उत्पादन तथा नियंत्रण, रेल परिवहन आदि।

(b) दूसरे वर्ग में उन उद्योगों को सम्मिलित किया गया, जिनमें नये प्रतिष्ठानों की स्थापना केवल सरकार द्वारा की जायेगी। उन उद्योगों में पहले से स्थित ईकाइयों के बारे में यह प्रस्ताव रखा गया कि उनके विस्तार की अनुमति दी जायेगी। इस श्रेणी में कोयला, इस्पात, वायुयान निर्माण, जलयान निर्माण टेलीफोन, टेलीग्राम और खनिज तेल आदि शमिल थे।

(c) तीसरे वर्ग में उन उद्योगों को सम्मिलित किया गया, जिनका सरकार द्वारा आयोजन तथा विनियम आवश्यक समझा गया। इस वर्ग में कुछ आधारभूत उद्योगों को समिलित किया गया। जैसे मोटरगाड़ी, विद्युत, इंजीनियरी, भारी मशीन, औजार, भारी रसायन, उर्वरक, रबड़, सीमेंट, चीनी अखबारी कागज आदि।

(d) चौथे वर्ग के उद्योग को निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखा गया।

2. **कुटीर एवं लघु उद्योग (Cottage and Small-Scale Industries) :** औद्योगिक प्रस्ताव में कुटीर एवं लघु उद्योग के महत्व को देखते हुए उनके विकास पर बल दिया गया। इन उद्योगों के समक्ष दो उद्देश्य रखे गये-

(i) रोजगार के अधिकाधिक अवसर प्रदान करना तथा

(ii) आय की संपत्ति के बँटवारे में विषमताओं को कम करना।

3. **विदेशी पूंजी (Foreign Capital):** इस प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया है कि देश में विदेशी पूंजी तथा उद्यमियों की आवश्यकता है, किन्तु राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए विदेशी पूंजी का नियंत्रण भी आवश्यक समझा गया। प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया गया कि विदेशी धन्धों का क्रमश: भारतीयकरण होना चाहिए।

4. **औद्योगिक संबंध (Industrial Relation) :** अधिक औद्योगिक उत्पादन के लिए श्रमिकों का सहयोग आवश्यक है, इसलिए श्रमिकों को उचित मजदूरी, आवास तथा लाभ में से न्यायोचित हिस्सा देना आवश्यक है।

5. **कर प्रणाली (Tax System):** देश में कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए, जिससे बचत और निवेश में वृद्धि हो सके, नये उद्योगों की स्थापना हो सके तथा आर्थिक विषमताएं दूर हो।

संक्षेप में औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 में देश के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था की संकल्पना और उसके तत्वों की पहली बार व्यवस्था की गयी। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के मिश्रित स्वरूप के साथ-साथ इस नीति में निजी क्षेत्र के नियंत्रण तथा विनियमन की भी व्यवस्था की गयी जिससे औद्योगिक विकास अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप हो सके।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 की घोषणा के बाद देश में तीन महत्वपूर्ण घटनाएं घटी:

(i) संविधान का लागू होना, जिसमें मौलिक अधिकारों की गारंटी एवं नीति निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया ;

(ii) देश में समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य को स्वीकार कर लिया जाना ; तथा

(iii) पहली पंचवर्षीय योजना की सफल पूर्ति।

इन घटनाओं को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि औद्योगिक नीति में आवश्यक परिवर्तन किए जाये। अत: औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 की घोषणा की गयी। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्न थीं-

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 की मुख्य बातें निम्न थीं-

1. **उद्योगों का वर्गीकरण :** औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्तर्गत उद्योगों को निम्न तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया-

CHRONICLE IAS ACADEMY

(a) *प्रथम श्रेणी,* अर्थात् अनुसूची 'क' के उद्योगों को केवल सरकार के लिए सुरक्षित कर दिया गया। इस श्रेणी में 17 उद्योग शामिल किए गये, जैसे- हथियार, गोलाबारूद, परमाणु शक्ति, लोहा-इस्पात, विद्युत उद्योग, भारी मशीनें आदि।

(b) दूसरी श्रेणी, अर्थात् अनुसूची 'ख' में ऐसे उद्योग रखे गये जिन पर धीरे-धीरे सरकार का स्वामित्व बढ़ता जायेगा। इसमें 12 उद्योग शामिल किये गये जिनमें प्रमुख हैं- एल्युमीनियम मशीनी औजार, उर्वरक, समुद्री परिवहन आदि।

(c) *तीसरी श्रेणी,* अर्थात अनुसूची 'ग' मे वे उद्योग रखे गये जिनका भावी विकास कार्य निजी क्षेत्र की सूझबूझ तथा साहस के लिए छोड़ दिया गया।

2. कुटीर तथा लघु उद्योग की भूमिका- औद्योगिक नीति में कुटीर और लघु उद्योगों को ऊंची प्राथमिकता देने का प्रस्ताव रखा गया। प्रस्ताव में घोषणा की गयी कि सरकार विभिन्न तरीकों, जैसे कर-छूट, नगद अनुदान आदि से लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास में योगदान देगी।

3. क्षेत्रीय असमानता को कम करने की आवश्यकता : इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए औद्योगिक दृष्टि से वरीयता के आधार पर पानी, बिजली तथा परिवहन की सुविधाएं देने तथा जिन क्षेत्रों में बेरोजगारी अधिक है, वहां औद्योगिक सुविधाओं का विस्तार करने का प्रस्ताव रखा गया

4. तकनीकी तथा प्रबंधकीय प्रशिक्षण : इस प्रस्ताव में यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि उपयुक्त तकनीकी तथा प्रबंधकीय संवर्गों का गठन किया जाये तथा व्यवसाय प्रबंध के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जाये।

5. श्रम के लिए सुविधाएं : औद्योगिक सम्बन्धों को सुधारने तथा श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान करने पर इस नीति में विशेष बल दिया गया।

सन् 1956 के प्रस्ताव ने सन् 1948 के औद्योगिक प्रस्ताव का स्थान ग्रहण किया। इस प्रस्ताव द्वारा सरकार के कार्य क्षेत्र में वृद्धि हो जाना स्वाभाविक था। यह प्रस्ताव देश में समाजवादी आधार के समाज की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। सन् 1956 के बाद की औद्योगिक नीतियों ने मोटे तौर पर औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 का ही पालन किया है। नयी आर्थिक नीति जिसकी घोषणा 1991 में की गयी है उसमें हम पाते हैं कि यह मूल रूप से 1956 की नीति से काफी भिन्न है। वस्तुत: 1991 की नीति का आधार 'उदारीकरण' है जिसका महत्वपूर्ण उद्देश्य भारतीय उद्योगों को विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना (Globalisation) है।

औद्योगिक लाइसेंस व्यवस्था (Industrial Licensing System): औद्योगिक नीति को लागू करने के लिए सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली की व्यवस्था की है-

उद्योग (विकास तथा विनियम) अधिनियम- 1951 (Industries Development and Regulation Act, 1951) औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली की व्यवस्था उद्योग (विकास तथा विनियमन) अधिनियम, 1951 के अर्न्तगत की गयी है। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्न हैं:-

(i) नये उद्योगों की स्थापना तथा विद्यमान उद्योगों के विस्तार के लिए केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस लेना अनिवार्य है।

(ii) सरकार ऐसे उद्योगों की जांच करवा सकती है, जो शेयरधारकों या उपभोक्ताओ के हितों के अनुकूल न चल रहे हों।

(iii) सरकार द्वारा उत्पादन की कीमतें, शेयर बांटने के तरीके तथा परिमाण और वितरण की प्रणाली निश्चित की जा सकती है।

(iv) अनुचित उद्योगों के विकास तथा विनियमन के संबंध में सरकार को परामर्श देने के लिए इस अधिनियम के अन्तर्गत एक सलाहकार की नियुक्ति की गयी है।

यह अधिनियम लघु और सहायक उद्योगों की इकाइयों अथवा ऐसी इकाइयां जिनकी परिसम्पत्तियों में लगी हुई पूंजी एक करोड़ से अधिक नहीं है, पर लागू नहीं होता।

भारत की औद्योगिक व्यवस्था का विस्तार इसी अधिनियम पर आधारित औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली की सहायता से किया गया है। औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली की कार्य पद्धति की समीक्षा समय-समय पर की जाती रही है। योजना आयोग द्वारा *डॉ. आर. के हजारी* ने 1966 में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली का पुन: निरीक्षण किया। डा. हजारी अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रमुख औद्योगिक घरानों ने कुछ हथकंडो के जरिए प्रतियोगिता को हथिया लिया है और एकाधिकारी बन बैठे हैं। इस अध्ययन के उपरांत कार्यवाही के लिए सरकार ने 1967 में श्री एस. दत्त की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति का कार्य पिछले 10 वर्षों में लाइसेंस प्रणाली के कार्य संचालन की जाँच करना था। दत्त समिति ने जुलाई 1969 में रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिनमें निन्न प्रमुख बातें थीं-

(i) लाइसेंस प्रणाली बड़े औद्योगिक घरानों के विस्तार में सहायक रही है;

(ii) नये जारी किये गये लाइसेंसों का बड़ा हिस्सा बड़े औद्योगिक घरानों विशेष रूप से बिड़ला को प्राप्त हो रहा है;

(iii) बड़े घरानों ने जान-बुझकर लाइसेंसशुदा क्षमता को अप्रयुक्त रखा;

(iv) लाइसेंस प्रणाली ने क्षेत्रीय असंतुलन कम करने में कोई सहायता नहीं की है;

(v) गैर-जरूरी उपभोग वस्तुओं को तरजीह दी जाती रही; तथा

(vi) विभिन्न संस्थाओं द्वारा जो वित्तीय सहायता प्रदान की गयी, उसका एक बड़ा भाग बड़े औद्योगिक घरानों में चला गया।

दत्त समिति ने लाइसेंस प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए अनेक सिफारिशें कीं, जिनके आधार पर औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1970 की घोषणा की गयी तथा 1973 में इसमें महत्वपूर्ण परिवर्त्तन किए गये। पुन: सन् 1980 और 1982 में लाइसेंस नीति में परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों की धारा सन् 1985 के बाद और तेज हो गयी औद्योगिक नीति और लाइसेंस प्रणाली में उदारीकरण की प्रवृत्ति न केवल स्पष्ट दिखाई देने लगी, बल्कि इस क्रिया को तेज गति से आगे बढ़ाने का प्रयास भी किया जाने लगा। 1991 मे घोषित नयी औद्योगिक नीति से उदारीकरण की प्रवृति को और अधिक बल मिला है।

औद्योगिक विकास का मूल्यांकन:-भारत में तीव्र गति से औद्योगिक विकास हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों ने महत्वपूर्ण प्रगति की है। जहाँ पहले देश को अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था, वहीं अब भारत में निर्मित ये सब पूंजीगत और उपभोक्ता सामान न केवल घरेलू आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, बल्कि देश के लिए मूल्यवान विदेशी मुद्रा भी अर्जित करते हैं। नि:संकोच कहा जा सकता है कि भारत के औद्योगिक मानचित्र में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिनके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था के विकास के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण सम्भव हो पाया है। फिर भी देश में औद्योगीकरण की उपलब्धियाँ निर्धारित लक्ष्यों, आवश्यकताओं तथा अन्य देशों के औद्योगिक विकास की तुलना में कम ही रही हैं। इसके अलावा भारत में औद्योगीकरण के कारण

CHRONICLE IAS ACADEMY

अनेक समस्याएं भी उत्पन्न हुईं, जिनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। जिन समस्याओं से अभी हमें जुझना है उन्हें हम संक्षेप में निम्न रूप से रख सकते हैं।

1. देश में स्थापित उद्योगों की उत्पादन क्षमता का समुचित प्रयोग करना-इसके लिए आवश्यक है कि कच्चा माल, वित्त, ऊर्जा आदि का प्रबंध किया जाये।
2. औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के दोषों को दूर किया जाये हालांकि इस दिशा में काफी प्रयास किए गये हैं।
3. औद्योगीकरण से देश में उपजी आर्थिक शक्ति और सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को कम करना।
4. देश में व्याप्त औद्योगिक अशांति को समाप्त करना। यह मुख्यत: श्रमिकों को उचित पुरस्कार देकर ही किया जा सकता है।
5. रुग्ण (Sick) इकाइयों को पुनर्जीवित करना ताकि लगे हुए पूंजी का सदुपयोग किया जा सके।
6. योजना काल में क्षेत्रीय विषमताएं पहले की तुलना में बढ़ी ही हैं। निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों में यह प्रवृत्ति पायी गयी है कि वे विकसित क्षेत्रों में ही उद्योग लगाने को उत्सुक रहते हैं। अत: इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना आवश्यक है।
7. उद्योगों द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है। इस संदर्भ में हाल ही में दिल्ली उच्च न्यायालय ने महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। अन्य क्षेत्रो में भी जहाँ औद्योगिक प्रदूषण अधिक है, वहां ऐसे ही निर्णयों की आवश्यकता है।

अन्त में, हमारे उद्योगों में शोध और विकास (Research and Development) कार्यक्रमों को भी प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

उपरोक्त कमियों के बावजूद भी हमें यह तो मानना ही होगा कि औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप देश के आर्थिक ढांचे में मौलिक परिवर्तन आये हैं। औद्योगिक क्षेत्र के विस्तार और विकास ने अर्थव्यवस्था को नयी स्फूर्ति प्रदान की है। हमें प्रयास करने होंगे कि देश में औद्योगिक विकास की गति में और अधिक तीव्रता आये क्योंकि औद्योगिक विकास ही आर्थिक विकास का पैमाना है।

कृषिक सुधार
(Agrarian Reforms)

स्वतंत्र भारत को औपनिवेशिक काल से एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था मिली। समूचे स्वतंत्र्योत्तर काल में भी यह भारतीय अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार रही है। भारत जैसी श्रम अतिरेक वाली अर्थव्यवस्थाओं में तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए कृषि के विकसित ढांचे की आवश्यकता होती है। कृषि का राष्ट्रीय आय में योगदान भी अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक है। उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति के साथ-साथ यह जनसंख्या के एक बड़े भाग को रोजगार भी उपलब्ध कराती है। उपर्युक्त के अलावा आज यह भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने का प्रमुख साधन भी है। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि देश में तीव्र गति से विकास के लिए यह आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र पूर्णत: आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी हों। अत: भारत में विभिन्न योजनाओं के कार्यक्रमों में कृषि विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुत: द्वितीय पंचवर्षीय योजना को छोड़कर सभी योजनाओं में कृषि को प्रमुखता दी गयी है।

कृषि उत्पादकता में वृद्धि और कृषि के आधुनिकीकरण के लिए उठाये गये विभिन्न कदमों को कृषि सुधार के नाम से जाना जाता है। इन सुधारों को तीन वर्गों में बांटकर आसानी से समझा जा सकता है-

(i) तकनीकी व्यवस्था में सुधार (Technical Improvements)
(ii) संरचनात्मक सुधार (Infrastructurel Improvements)
(iii) संस्थागत व्यवस्था में सुधार अथवा भूसुधार (Institutional Amangments or Land Reforms)

1. तकनीकी व्यवस्था में सुधार: तकनीकी व्यवस्था में सुधार के लिए निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं-

(i) कृषि में नयी तकनीक और आधुनिक प्रबंध का अपनाया जाना: देश में अनेक शोध संस्थान स्थापित किये गये हैं, जहाँ कृषि से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर शोध का काम किया जाता है एवं शोध से प्राप्त परिणामों को किसानों तक पहुँचाने के लिए प्रदर्शन कार्यों का आयोजन किया जाता है। राजस्थान में सूरतगढ़, उत्तर प्रदेश में पंतनगर तथा दिल्ली में पूसा इंस्टीट्यूट इसी प्रकार की संस्थाओं के उदाहरण हैं।

(ii) निवेश में वृद्धि : बिना निवेश में वृद्धि किए नयी तकनीक का लाभ उठा पाना असंभव है। अत: ऐसी परिस्थितियां उतपन्न की जायें, जिससे कि किसान अधिक निवेश में सक्षम हो सकें। इसके लिए खाद की सुविधाएं उपलब्ध कराना, नियंत्रित मंडियों की स्थापना, न्यूनतम कीमतों की गारंटी देना, काश्त को सुरक्षा प्रदान करना आदि आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि इस दिशा में भी कई कदम उठाये गये हैं।

(iii) सिंचाई-योजनाकाल में सिंचाई की सुविधाओं की उपलब्धता में निरंतर वृद्धि होती रही है। जहाँ 1951 में 226 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी, वहीं 1990 में यह बढ़कर 840 लाख हेक्टेयर भूमि हो गयी।

(iv) उन्नत किस्म के बीज एवं उर्वरक: उन्नत किस्म के बीजों और रासायनिक उर्वरकों का कार्यक्रम 1965-66 में ही आरंभ हो गया था। जिसके परिणाम स्वरूप कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। उन्नत बीज एवं उर्वरक का प्रयोग निरंतर बढ़ रहा है।

2. संरचनात्मक सुधार: कृषि में संरचनात्मक सुधार के लिए उठाए गए प्रमुख कदम निम्न हैं-

(i) साख और वित्त की व्यवस्था(Credit and Finance): किसानों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण की जरूरत होती है, जो मुख्यत: अल्पकालिक (15 महिने से कम), मध्यकालिक (15 महीने से 5 वर्ष) तथा दीर्घकालीन (5 वर्ष से अधिक) होती है। अल्पकालिक ऋण का उपयोग वे खाद्य, बीज आदि खरिदने में करते हैं तथा मध्यकालिक ऋण का प्रयोग औजार खरीदने, कुएं की मरम्मत भूमिसुधार आदि के लिए करते हैं। दीर्घकालीन ऋण का प्रयोग वे भूमि खरीदने, लघु सिंचाई योजना, भवन निर्माण आदि के लिए करते हैं। ग्रामीणों को ऋण देने में महाजन, साहुकार, जमींदार आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन इन लोगों ने कृषकों का अत्यधिक शोषण किया। इसलिए सरकार ने सहकारी समितियों के विस्तार, भूमि विकास बैंकों तथा अन्य व्यापारिक बैंकों के माध्यम से कृषि वित्त की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। 1975 में ग्रामीण बैंकों की स्थापना से कृषि समस्या को हल करने में और अधिक योगदान मिला है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(ii) विपणन व्यवस्था (Marketing)- भारतीय किसानों को कृषि पदार्थों की बिक्री के संबंध में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। किसानों की दरिद्रता, भण्डारण की असुविधा, यातायात के साधनों का अभाव, महाजनों एवं एजेंटों के शोषण तथा बेईमानियां आदि के कारण किसानों को अपनी उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता था। अत: विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए कई कदम उठाए गये हैं-

(a) संगठित बाजारों तथा मण्डियों की स्थापना;
(b) सहकारी बिक्री समितियों की स्थापना;
(c) गोदाम तथा संग्रह गृहों का निर्माण;
(d) फसल के उचित माप तौल के लिए 1949 में कानून बनाया जाना;
(e) मूल्य स्थिरीकरण प्रमंडल (Price Stabilçation Board)की स्थापना;
(f) 1965 में कीमत बोर्ड की स्थापना
(g) आकाशवाणी तथा दूरदर्शन द्वारा कीमतों का समय-समय पर प्रसारण;
(h) यातायात के साधनों का विकास;
(j) भारतीय खाद्य निगम द्वारा किसानों को सहायतार्थ मूल्य (Support Price) देने का आश्वासन; आदि।

3. संस्थागत व्यवस्था में सुधार अथवा भू सुधार: भारत में भू सुधार का प्रमुख उद्देश्य कृषि व्यवस्था में विकास के अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करना है। साथ ही साथ भूमि सुधार के निम्न दो उद्देश्य रखे गये हैं-

(i) कृषि उत्पादन को बढ़ाना तथा कृषि की उत्पादकता में वृद्धि के लिए भूमि संबंधी ढांचे के कारण उत्पन्न होने वाली रुकावटों को दूर करना, और
(ii) देश में पायी जानेवाली सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करना, तथा समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने भू-सुधार से सम्बन्धित निम्न कदम उठाये हैं:-

(i) बिचौलियों का उन्मूलन- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में भू-धारण से सम्बन्धित प्रमुख तीन प्रणालियां पायी जाती थीं-जमींदारी प्रणाली, महालवारी प्रणाली, और रैयतवारी प्रणाली। इन तीनों ही प्रणालियों द्वारा किसानों का जमकर शोषण किया जाता था। अत: स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने सर्वप्रथम जमींदारी प्रणाली की समाप्ति को प्राथमिकता दी, क्योंकि इस प्रणाली में कृषि विकास एवं किसानों के प्रति न्याय का कोई स्थान नहीं था। इसके लिए सभी राज्यों द्वारा अलग-अलग कानून बनाये गये। 1954 तक इस संबंध में कानून बन चुके थे और अमल में लाने का कार्य भी लगभग पूरा हो चुका है। अब सरकार का किसानों के साथ सीधा सम्पर्क हो गया है।

(ii) काश्तकारी सुधार- काश्तकारों को शोषण से बचाने तथा उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए निम्न कदम उठाये गये हैं-

(क) लगान का नियमन- देश के सभी राज्यों में लगान कम करने के उद्देश्य से कानून बनाये गये हैं।
(ख) काश्तकारी की सुरक्षा से संबंधित कानून
(ग) मुआवजे की व्यवस्था
(घ) काश्तकारों को भूमि का अधिकार देने की व्यवस्था

(iii) भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारण करना : इसका आशय किसी किसान परिवार द्वारा अपने कब्जे में रखी जाने वाली भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित करना है। इस सीमा से अधिक भूमि को सरकार ने अधिग्रहण कर भूमिहीन किसानों में बांटने का नियम बनाया है। भूमि जोतों की उच्चतम सीमा सम्बन्धी कानून सभी राज्यों में पारित कर दिये गये हैं।

(iv) चकबन्दी : जोतों के बिखरे होने की समस्या को चकबन्दी की सहायता से दूर किया जा सकता है। चकबन्दी के अन्तर्गत विभिन्न किसानों को एक ही स्थान पर उसके बिखरे हुए टुकड़ों के मूल्य के बराबर की इकट्ठी भूमि दी जाती है। स्वतंत्रता के बाद और मुख्यत: प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही चकबन्दी का काम आरंभ हो गया था। 1995 तक 580 लाख हेक्टेयर भूमि पर चकबन्दी की जा चुकी है।

(v) सहकारी खेती : संयुक्त रूप से खेती करने की प्रणाली को सहकारी खेती कहते हैं। सहकारी खेती का प्रमुख उद्देश्य जोतों के आकार को बढ़ाना होता है। जब किसान संयुक्त रूप से खेती करते हैं तो न केवल इन्हें बड़े पैमाने पर लाभ प्राप्त होता है, बल्कि इनकी मोलभाव की शक्ति भी बढ़ जाती है, जिससे संबंधित सभी किसान लाभ कमा सकते हैं। सहकारिता का विस्तार कृषि जीवन के विभिन्न पहलुओं तक किया जा रहा है। इस उद्देश्य के लिए देश में बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के विकास पर भी बल दिया गया है। ये समितियां सहकारी खेती, सहकारी वित्त, सहकारी विपणन, कुटीर उद्योगों आदि की व्यवस्था करती हैं। सहकारिता एक प्रकार से ग्रामीण जीवन का अंग बन गयी है और इसे 'सहकारिता आन्दोलन' का नाम दिया गया है। किन्तु इस आन्दोलन ने अभी तक विशेष प्रगति नहीं की है।

(vi) भूमि स्वामित्व सम्बन्धी दस्तावेजों को ठीक करना: भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया है कि भूमि के स्वामित्व संबंधी दस्तावेजों का निरक्षण किया जाये तथा इस बात के प्रयास किए जायें कि जहाँ कहीं अनुचित तरीकों से अथवा जोर जबर्दस्ती से इन दस्तावेजों में अनियमितताएं बरती गयी हैं उन्हें सुधारा जाये। इस दिशा में अभी काफी कार्य होना बाकी है। भूमिसुधारों को ग्रामीण जीवन में मौलिक और आधारभूत परिवर्तन लाने का माध्यम माना गया है। ऐसी आशा की जाती रही है कि भूमि सुधार की सहायता से ग्रामीण जीवन के विभिन्न पहलुओं में वांछित सुधार लाना संभव हो सकेगा। किन्तु सफलताओं का अंग बहुत ही तुच्छ है। देश में भूमि सुधार के अर्न्तगत उठाए गये कदमों के मूल्यांकन के लिए सरकार ने एक समिति का गठन किया था, जिसकी अध्यक्षता योजना आयोग के सदस्य *प्रो. वी. एस. मिनहास* ने की थी। यह समिति (Task force on Agrarian Relations) के नाम से जानी जाती है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में उन कारणों का उल्लेख किया है, जिनके परिणामस्वरूप भारत भू-सुधार के कार्य को विशेष सफलता नहीं मिली। इन कारणों में प्रमुख निम्नलिखित हैं:-

(i) राजनैतिक निष्ठा का अभाव
(ii) छोटे किसानों की निष्क्रियता
(iii) प्रशासनिक कमियां तथा कानूनी अड़चनें
(iv) भूमि के स्वामित्व के सही ब्यौरे का अभाव और
(v) कार्यक्रम की मूलभूत कमियां

उपरोक्त सभी कारणों के परिणामस्वरूप भू-सुधार कार्यक्रम ने आशा के अनुकूल प्रगति नहीं की है। प्रगति तो हुई है, परन्तु भू-व्यवस्था का मौलिक ढांचा पूर्ववत् ही बना हुआ है। फलस्वरूप देश

CHRONICLE IAS ACADEMY

के आर्थिक और सामाजिक विकास को कृषि क्षेत्र से जितना योगदान मिल सकता है, वह नहीं मिल रहा है। सरकार ने घोषणा की है कि भू-सुधार कार्य को शीघ्र ही पूरा कर दिया जायेगा।

गुट निरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित विदेश नीति

किसी भी राज्य की विदेश नीति के निर्धारण में चार प्रमुख कारक सहायक होते है। राष्ट्रीय हित, उस भू-भाग की राजनीतिक स्थिति, पड़ोसी देशों से संबंध तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण। विचारधाराएं, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य तथा कतिपय अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति प्रतिबद्धता विदेश नीति के निर्धारण में आधारभूत तत्व होते हैं। किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिये विदेश नीति के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं। पहला लक्ष्य है, राष्ट्रीय हित तथा दूसरा लक्ष्य है, विश्वव्यापी समस्याओं के प्रति प्रबुद्ध दृष्टिकोण अपनाना। इन समस्याओं में विश्व शांति, राज्य का सहअस्तित्त्व, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास, मानवीय अधिकार तथा प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक देश के लिये न्याय उपलब्ध कराना सम्मिलित है।

भारतीय विदेश नीति के वैचारिक आधार और मूलभूत परिप्रेक्ष्य को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में खोजा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अंतिम वर्षों में *इंडियन नेशनल कांग्रेस* ने अपने स्वतंत्र अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और नीति का विकास किया। जब 1927 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपने विदेश विभाग की स्थापना की, तो जवाहर लाल नेहरू उसके प्रमुख प्रवक्ता नियुक्त किये गये। राष्ट्रीय आन्दोलन ने विश्वव्यापी स्तर पर हो रही विभिन्न घटनाओं जैसे एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रव्यापी आन्दोलन, चीन और जापान का उदय, यूरोप में फासीवाद का उदय, विश्व की राजनीति में अमरीका का प्रवेश, रूस की क्रांति में निहित संदेश और उपनिवेशीकरण का विघटन इत्यादि को ध्यान में रखते हुए अपने राजनीतिक लक्ष्य और और कार्यक्रम निर्धारित किये। कांग्रेस के तीन अनुवर्त्ती अधिवेशनों-गुवाहाटी (1926), मद्रास (1927) और कलकत्ता(1928) में साम्राज्यवाद के विरोध और एशिया अफ्रीका की जनता की एकता को मजबूत बनाने के लिये उनके मुक्ति संग्राम के समर्थन में लगातार कई प्रस्ताव पारित किये गये। इन्हीं दिनों एक ऐसी प्रेरक घटना घटी, जिसने कांग्रेस की विदेश नीति को समुचित रूप से विकसित होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। फरवरी 1927 में '*साम्राज्यवाद विरोधी तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता संगठन*' को द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन ब्रुसेल्स में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में विश्व के शीर्षस्थ नेताओं को न केवल व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिला, बल्कि उन्हें यूरोपीय उपनिवेशों की समान समस्याओं पर खुलकर विचार करने का भी अवसर मिला। नेहरूजी ने इस अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस के विषय में कहा था कि 'यह परस्पर सहयोग की तीव्र आकांक्षा की बाह्य अभिव्यक्ति है, जो विश्व के समस्त शोषितों और दलितों का प्रतिनिधित्व करता है।' लखनऊ और फैजपुर के कांग्रेस अधिवेशनों में 1936 में जवाहर लाल नेहरू ने अपने ऐतिहासिक अध्यक्षीय भाषणों में राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये संगठित होकर संघर्ष करने तथा एक विश्वव्यापी साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा गठित करने का आह्वान किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीघ्र ही विश्व की शक्तियां दो विरोधी गुटों में विभक्त हो गयीं। जवाहर लाल नेहरू ने दिसम्बर, 1946 को अन्तरिम भारत सरकार में विदेशी मंत्री का पद संभालने के तुरन्त बाद एक महत्वपूर्ण बयान दिया। संभवत: यह पहला प्रामाणिक तथा व्यापक वक्तव्य है जो विदेश नीति को स्पष्ट करता है और जिससे गुट-निरपेक्षता की संकल्पना विकसित हुई।

हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में किसी अन्य राष्ट्र का उपग्रह बनकर नहीं, बल्कि अपनी निजी नीति के साथ एक स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से पूर्ण रूप से हिस्सा लेंगे। हम अन्य देशों के साथ प्रत्यक्ष घनिष्ठ संबंधों के विकास की आशा करते हैं तथा विश्व शांति एवं स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के लिये उन्हें सहयोग देने की आकांक्षा रखते हैं। यथासंभव हम एक-दूसरे के विरूद्ध गुटबंदी की राजनीति से अलग रहने के लिये कृत संकल्प हैं। यह गुटबंदी अतीत में विश्व युद्ध का कारण बनी और अब पुन: इसके परिणामस्वरूप पहले से कहीं अधिक व्यापक स्तर पर महाविपदा घटित हो सकती है। हमारा यह विश्वास है कि शांति और स्वतंत्रता अविभाज्य हैं और किसी एक स्थान पर स्वतंत्रता नकारने से किसी दूसरे स्थान पर शांति और स्वतंत्रता के लिये खतरा उत्पन्न हो जायेगा और यह हमें संघर्ष एवं युद्ध की ओर ले जायेगा। विशेष रूप से हम उपनिवेशी तथा परतंत्र देशों तथा उनकी जनता की मुक्ति में दिलचस्पी रखते हैं। हम सिद्धांत और व्यवहार दोनों में सभी संजातियों को समान अवसर दिये जाने के पक्ष में हैं। नाजियों के संजातिवाद सिद्धांत का जिस रूप से और जहाँ भी प्रयोग किया जायेगा, हम उसका खुला विरोध करेंगे। हम किसी पर आधिपत्य जमाने के पक्षधर नहीं हैं तथा हम अन्य देशों की जनता पर किसी प्रकार के विशिष्ट अधिकारों का दावा नहीं करते। किन्तु हम हर जगह अपने देशवासियों के लिये समान और सम्मानपूर्वक व्यवहार पाने का दावा अवश्य करते हैं, हम उनके प्रति किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं कर सकते।

प्रतिद्वंद्विता, घृणा और आतंरिक कलह के बावजूद विश्व के देश अनिवार्य रूप से परस्पर निकट सहयोग द्वारा एक विश्व राष्ट्रमंडल के निर्माण की ओर अग्रसर हो रहे हैं। स्वतंत्र भारत एक ऐसे विश्व के निर्माण हेतु कार्य करेगा, जिसमें स्वतंत्र जनता के बीच स्वतंत्र सहयोग की भावना होगी और जहाँ कोई वर्ग या समूह किसी दूसरे वर्ग या समूह का शोषण नहीं करेगा।

इसी मौलिक प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में, 1947 में नयी दिल्ली में एक एशियाई संबंध सम्मेलन (Asian Relations Conference) आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 25 से अधिक देशों से लगभग 250 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। शांति, स्वतंत्रता और मौलिक विकास में संबंध स्थापित करते हुए उसमें कहा गया था कि :

'शांति केवल तभी आ सकती है, जब राष्ट्र स्वतंत्र हो और मानव को सर्वत्र स्वतंत्रता, सुरक्षा तथा निवास के समान अवसर उपलब्ध हों।'

स्वतंत्र भारत केवल एशिया और अफ्रीका से ही सहयोग की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि एक ऐसे युग की कल्पना करता है, जिसमें विश्व के समस्त राज्यों तथा राष्ट्रों को समान प्रतिष्ठा मिल सके। इस अवसर पर गाँधीजी ने कहा कि वे '*एक विश्व*' में विश्वास करते हैं। उन्होंने कहा, "यदि आप पश्चिम को एक संदेश देना चाहते हैं, तो वह सत्य और प्रेम का संदेश है। मेरी यह इच्छा है कि आप इस विचार को लेकर वापस जायें कि एशिया को सत्य और प्रेम के बल पर पश्चिम पर विजय प्राप्त करना होगा।

गुटनिरपेक्षता

1949 की दो घटनाओं से भारत की स्वतंत्र और गुट-निरपेक्ष विदेश नीति को दृढ़ता प्राप्त हुई। पहली घटना थी- भारत द्वारा चीन

CHRONICLE IAS ACADEMY

के साम्यवादी शासन को मान्यता देने की। दूसरी घटना थी- अक्टूबर 1949 में नेहरूजी की अमेरिकी यात्रा। नेहरूजी ने दृढ़ता पूर्वक कहा।

'भारत ने जो नीति अपनायी है वह नकारात्मक और तटस्थ नहीं है। वह एक सकारात्मक और व्यापक नीति है, जो हमारे स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से चली आ रही है' उन्होंने पुनः जोर देकर कहा-

"जब मानव की स्वतंत्रता या शांति खतरे में हो, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते और तटस्थ रहेंगे भी नहीं" 1955 में बांडुंग सम्मेलन में नेहरूजी ने कहा, 'हम अमेरिका और यूरोप के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहते हैं और उनके साथ सहयोग करना चाहते हैं, किन्तु उनकी यह सोचने की आदत बन गई है कि उनके झगड़े विश्व के झगड़े हैं, इसलिए विश्व के देशों को किसी न किसी पक्ष में शामिल होना ही पड़ेगा। हमें उनके झगड़ों या युद्धों में क्यों फंसाया जाये? मैं आशा करता हूँ कि हम सब उनसे दूर रहेंगे'।

सबसे पहले 1950 में कोरिया का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की एक ऐसी घटना थी, जिसने लगभग सभी देशों की विदेश नीति को प्रभावित किया। संयुक्त राष्ट्र में बहुत से मुद्दों पर भारत ने मिस्र तथा यूगोस्लाविया आदि अन्य कई देशों के साथ मिलकर एक शाक्तिशाली गुट के विरूद्ध मतदान करते हुए अपने स्वतंत्र निर्णय के अधिकार को अक्षुण्ण बनाये रखा और अमेरिका के नेतृत्व वाले प्रभावशाली पश्चिमी देशों के गुट का विरोध किया। भारत तथा उसके सहयोगी देशों ने किसी भी गुट का अनुसरण करने से इंकार कर दिया और गुटबंदी के विरूद्ध अपनी भावना व्यक्त की। यह गुट-निरपेक्षता के स्वरूप तथा नीति-निर्धारण का प्रारंभिक चरण था। जुलाई 1956 में नेहरू जी, नासिर (मिस्र) और टीटो (युगोस्लाविया) के मध्य ब्रायनी में एक त्रिपक्षीय सम्मेलन में विचार विमर्श हुआ तथा तीनों नेताओं में इस विषय पर सहमति हुई कि गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के बीच सुसंगठित ढंग से विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

कोरिया के प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को संयमित करने की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके बाहर भारत द्धारा की गयी पहल की बहुत सराहना की गयी। इंडोनेशिया और हिन्द चीन पर, विशेष कर जेनेवा सम्मेलन के दौरान, भारत द्वारा जो पहल की गयी, उससे गुट-निरपेक्षता की एक उभरती हुई शक्ति के रूप में भारत को विश्वव्यापी महत्व स्पष्ट हो गया। इस महत्व को शक्तिशाली गुटों ने भी स्वीकार किया।

गुट-निरपेक्षता का मूल अभिप्राय अंतर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र अभिव्यक्ति तथा आचरण से है। आरंभ से ही यह भारतीय विदेश नीति की मुख्य प्रकृति रही है। गुट-निरपेक्षता अर्न्तराष्ट्रीय मामलों में भारतीय राजनीतिक संस्कृति का उसी प्रकार अभिन्न अंग है जिस प्रकार "धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद", "सहभागितापूर्ण लोकतंत्र", "समन्वित संस्कृति", "समतावादी समाज" आदि तत्व नवीन भारत की उभरती हुई संघीय राज्य व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में मार्गदर्शक लक्ष्य रहे हैं। नेहरू जी ने ठीक ही कहा था-

"मैंने गुटनिरपेक्षता की नीति आरंभ नहीं की। यह नीति तो भारत की परिस्थितियों में अन्तर्निहित है। यह भारत के जनमानस को आजादी के समय से ही प्रभावित करती रही है और आज के विश्व की परिस्थितियों में भी यह अन्तर्निहित है"।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को प्रारंभिक स्थायित्व और दिशा प्रदान करने में भारत के योगदान की अब अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा की जाती है, विशेषकर भारत की विदेश नीति के शिल्पकार जवाहर लाल नेहरू की रचनात्मक भूमिका की। इस विचार के अग्रदूत के रूप में (1947-1955), इसको मूर्तरूप प्रदान करने वाले जन्मदाता के रूप में (1955-61) तथा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की दिशा तथा लक्ष्य प्रदानकर्त्ता के रूप में (1961-64) उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गुट-निरपेक्षता के किसी भी अध्ययन में भारत की विशिष्ट प्रतिष्ठा को स्वीकार किया जाता है। भारत की प्रतिष्ठा केवल इस कारण नहीं है कि यह सभी गुट-निरपेक्ष देशों में सबसे बड़ा देश है। अथवा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशवाद के उन्मूलन की लहर के फलस्वरूप इसने सर्वप्रथम स्वतंत्रता प्राप्त की थी, बल्कि इसकी प्रतिष्ठा का कारण यह है कि भारत ने प्रथम विश्व युद्ध से लेकर 1947 तक अपनी स्वतंत्रता के लिये लम्बा संघर्ष किया था और अन्य देशों में उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन को प्रेरित किया था।

बेलग्रेड जहां गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का प्रथम सम्मेलन 1961 में हुआ था, नेहरू जी ने एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य पर बल दिया था। उन्होंने नाभिकीय युद्ध के बढ़ते हुए खतरे और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की सर्वोपरि आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा कि यही आज के युग की मूलभूत चुनौती है। उन्होंने एक पत्रिका में लिखा: "गुट-निरपेक्षता सभी राष्ट्रों के प्रति मैत्री भाव एवं किसी भी सैन्य गुटबंदी से समझौता न करने की नीतियों का सार संक्षेप प्रस्तुत करता है। मूलरूप से गुट-निरपेक्षता का अर्थ अपना कार्य करने की स्वतंत्रता से है, जो सम्पूर्ण स्वतंत्रता का ही अंश है। ..... गुट-निरपेक्षता अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्वरूप का एक अभिन्न अंग है और यह व्यापक एवं वैधानिक नीति बन चुकी है, विशेषकर अफ्रीकी-एशियाई राज्यों के लिए"। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह कहना ठीक ही होगा कि विश्व राजनीति की अवधारणा के रूप में और नवोदित स्वतंत्र देशों के राष्ट्रीय हितों के अधिकतम संरक्षण की दृष्टि से भारत की अन्तर्राष्ट्रीय समकालीन राजनीति में गुट-निरपेक्षता का प्रमुख योगदान है। गुट-निरपेक्षता शक्तिशाली गुटों के कमजोर हो जाने, बड़ी शक्तियों की प्रभुता के प्रति विद्रोह और राजनीति में एक एक नवीन कूटनीति के फलस्वरूप एक स्वतंत्र विदेश नीति की दृढ़ अभिव्यक्ति थी। किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यथास्थिति में परिवर्तन की ओर, शस्त्रों की होड़ के स्थान पर विकास की ओर, गुटबंदी से सह अस्तित्त्व की ओर तथा '*एक विश्व*' की भावना की ओर ले जाना, जहाँ अन्योन्याश्रित एवं सह अस्तित्व के साथ ही शांति, समानता, न्याय एवं मानवतावाद के मूल्य विकसित हो सके।

हमें गुटनिरपेक्षता और तटस्थता को एक मानकर भ्रमित नहीं होना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत तटस्थता वह स्थिति है, जिसमें किसी युद्ध में कोई राज्य किसी का भी पक्ष नहीं लेता है। तटस्थता की प्रासंगिकता मात्र युद्धकालीन स्थिति से जुड़ी होती है। गुट-निरपेक्षता की प्रासंगिकता मुख्यतः शांति काल में होती है किंतु युद्ध काल में भी इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है। गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा सैन्य गुटों एवं शक्तियों के बीच संभावित संघर्ष में सम्मिलित न होने की स्थिति है, जबकि तटस्थता युद्ध में सम्मिलित न होने की स्थिति है। तटस्थता की अवधारणा का उदय 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के उस दौर में हुआ, जब यूरोप के राष्ट्र दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संघर्ष की स्थिति से स्वयं को दूर रखने के इच्छुक थे। गुट-निरपेक्षता की अवधारणा का उदय 20वीं शताब्दी के मध्य में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीतयुद्ध के दौर के आरंभ के साथ हुआ। शीतयुद्ध के दौर में सम्पूर्ण विश्व दो शक्तिशाली खेमों में बंटा हुआ था। एक और (NATO) एवं पश्चिमी यूरोपीय देश (अमरीका के नेतृत्व में) थे, जबकि दूसरी और वारसा (WARSA) संधि एवं

CHRONICLE IAS ACADEMY

समाजवादी राष्ट्रों (सोवियत संघ के नेतृत्व में) का समुदाय था। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों ने किसी एक या दूसरी शक्ति का अनुसरण करने से इन्कार कर दिया। उन्हें अपने राष्ट्र के आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के हित में धुव्रीकरण की यह स्थिति बाधक प्रतीत हुई। उन्हें महाशक्तियों के अनावश्यक संघर्षों से अपने को सम्बद्ध करना स्वीकार नहीं था। अत: जहाँ तटस्थता, युद्ध में किसी का पक्ष न लेने के कारण एक नकारात्मक अवधारणा है, वहीं दूसरी ओर गुट-निरपेक्षता एक सकारात्मक अवधारणा है, जो गुटबंदी का विरोध और महाशक्तियों की अधीनता अस्वीकार करती है। इसके साथ ही यह स्वतंत्र विदेश नीति, विश्व-शांति, राष्ट्रों के मध्य समानता एवं न्याय पर आधारित परस्पर सहयोग तथा मानव कल्याण हेतु आर्थिक विकास जैसे मुद्दों के प्रति सकारात्मक रूप से वचनबद्ध है। यहाँ यह तथ्य रोचक है कि 1960 तक सरकारी अभिलेखों तथा वक्तव्यों में '*गुट-निरपेक्ष*' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। यहाँ तक कि जुलाई 1956 में ब्रायनी में हुई टीटो, नेहरू तथा नासिर की विख्यात बैठक में भी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का उल्लेख नहीं हुआ था उस समय जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ था, वह था किसी गुट का अनुसरण न करने वाली नीति। किन्तु 1961 के बेलग्रेड कांफ्रेंस में '*गुटनिरपेक्ष*' शब्द का प्रचलन हुआ। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रथम शिखर सम्मेलन था।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रकृति

साठ के दशक से प्रारंभ होकर लगभग तीस वर्षों तक गुटनिरपेक्ष आन्दोलन आज की विश्व राजनीति की एक प्रभावी विचारधारा रही है। एक नयी विश्व व्यवस्था निर्मित करने के उद्देश्य से इसके द्वारा किये गये सामूहिक राजनयिक प्रयासों की एक निर्णायक भूमिका रही है। यह समकालीन विश्व की राजनीति में ध्रुवीकरण तथा गुटअभिमुख नीतियों के विरूद्ध एक सामूहिक आन्दोलन था। इसका निहित अर्थ शस्त्रों की होड़ और विश्व को दो खेमों में विभाजन करने की नीति का विरोध करना था। यह पूर्व उपनिवेशवादी देशों द्वारा अपनायी गयी आर्थिक असमानता, सामाजिक-राजनीतिक अन्याय एवं भेदभाव की नीतियों के प्रति विरोध की अभिव्यक्ति थी। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन निर्धन राज्यों की एक विश्व स्तरीय ट्रेड यूनियन के रूप में कार्य करता है। विश्व की समस्याओं के संबंध में इसका मुख्य लक्ष्य उन नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों को एकजुट करके आन्दोलन संगठित करना था, जो चीर काल से अल्प विकास और कुशासन की समस्याओं से घिरे रहे हैं। यह देश अब आज के अन्योन्याश्रित विश्व में स्वतंत्र और समता की स्थिति पाने की आकांक्षा से अभिप्रेरित थे।

विभिन्न स्तरों पर तथा विविध स्वरूपों में व्यक्त होने वाले जन संघर्षों के रूप में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन पांच चुनौतियों का सामना करने के उत्तरदायित्व से विमुख नहीं हो सकता है। ये निर्णायक चुनौतियां अंग्रेजी में पांच 'डी' द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं-

1. उपनिवेश की समाप्ति Decolonisation
2. मैत्री Detente
3. विकास Development
4. निशस्त्रीकरण Disarmament
5. अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का लोकतंत्रीकरण (Democratçation of International Institution)

शोषित राष्ट्रों और उसकी जनता के साथ समता, न्याय एवं उचित व्यवहार के लिये गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय एक दावे के रूप में हुआ। यह स्वतंत्रता और अधिकार सार्वभौमिक शांति और सम्पन्नता का लक्ष्य रखते हुए एक नये विश्व के निर्माण हेतु कृतसंकल्प है। इस भावना के अनुरूप संयुक्त राष्ट्र में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्यों ने जिन मुद्दों पर बल दिया, वे इस प्रकार हैं-

(i) उपनिवेशों के मुक्ति आन्दोलन का समर्थन;

(ii) रंग तथा जाति भेदभाव के विरूद्ध समानता का समर्थन; तथा

(iii) नव उपनिवेशवाद के विरूद्ध आर्थिक विकास का समर्थन।

अन्य जिन बातों पर इसने ध्यान आकर्षित किया, वे हैं:-

(i) तीसरी दुनिया का कर्ज;

(ii) प्रौद्यौगिकी का हस्तांतरण;

(iii) नि:शस्त्रीकरण;

(iv) विश्व शांति एवं

(v) नये एवं छोटे राज्यों के अधिकारों एवं संप्रभुता की सुरक्षा

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उद्भव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवाद के ध्वस्त होने से उत्पन्न परिस्थितियों में विश्व राजनीति में निहित प्रवृत्ति के रूप में हुआ था। विश्व में पश्चिमी देशों की उपनिवेशी प्रणाली का विघटन 1946 में मुख्यत: एशिया में आरंभ हो गया, जो कि छठें दशक तक अफ्रीका तथा अन्य महासागरीय देशों तक फैल गया था। आज उपनिवेशों के विघटन की प्रक्रिया पूरी हो गयी है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के फलस्वरूप नये राज्यों के सामने नए उत्तरदायित्व व चुनौतियां आ खड़ी हुईं, जिनके लिए वे समुचित रूप से तैयार नहीं थे। उपनिवेशकालीन भग्नावशेषों पर देश के पुनर्निर्माण का बहुत बड़ा और बहुत कठिन कार्य था। भारत जैसे अनेक देशों के लिये गुट-निरपेक्षता उनकी विदेश नीति का आधार बन गयी। ये देश बड़ी शक्तियों की गुटबंदी से पृथक रहकर और संघर्ष की नीति त्यागकर अपनी शक्ति राष्ट्रीय विकास में लगाना चाहते थे। गुटनिरपेक्षता विदेश नीति में स्वतंत्र आचरण पर बल दिये जाने की विशिष्टता व्यक्त करती है।

1911 में बेलग्रेड सम्मेलन में उसकी औपचारिक शुरुआत के समय इसमें 25 सदस्यों ने भाग लिया था। धीरे-धीरे इसकी सदस्यता में वृद्धि होती गयी। विभिन्न सम्मेलनों में इसकी सदस्य संख्या इस प्रकार थी: काहिरा में 1964 में हुए द्वितीय सम्मेलन में 47; लुसाका में 1970 में हुए सम्मेलन में 53; अल्जीयर्स में 1973 में हुए चौथे सम्मेलन मे 75; कोलम्बो में हुए पांचवें सम्मेलन में 85; हवाना में हुए छठें सम्मेलन में 92; नई दिल्ली में 1983 में हुए सातवें सम्मेलन में 101 (99 राज्य तथा 2 मुक्ति आन्दोलन); हरारे में हुए आठवें सम्मेलन 1986 में तथा बेलग्रेड 1989 में हुए नवें सम्मेलन में प्रत्येक में 102; और जकार्ता में 1992 में हुए सम्मेलन मे 109 सदस्य थे। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के होने वाले सम्मेलनों में सदस्यों तथा पर्यवेक्षकों एवं अतिथि राज्यों को मिलाकर लगभग 130 से लेकर 135 तक सदस्य सम्मिलित होते हैं, जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ की कुल सदस्य 188 है।

1992 में जकार्ता में हुए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दसवें शिखर सम्मेलन में उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती यही थी शीतयुद्ध तथा आण्विक शस्त्र होड़ की समाप्ति तथा सोवियत संघ तथा "दूसरी दुनिया" के ध्वस्त हो जाने के फलस्वरूप परिवर्तित नये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में इस आन्दोलन के मूल उद्देश्यों को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाये। यहाँ यह बल देकर कहना आवश्यक है कि

CHRONICLE IAS ACADEMY

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय केवल शीतयुद्ध और दो ध्रुवीय राजनीति के कारण ही नहीं हुआ, बल्कि उसका उदय नवोदित स्वतंत्र देशों के एकजुट होने की प्रक्रिया स्वरूप हुआ है। ये देश निर्धन देशों के समूह के रूप में विकसित देशों से सौदा-समझौता के लिए राजनयिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बद्धता के आकांक्षी थे। यह आवश्यक है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाये, जिससे *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष* (IMF), विश्व बैंक तथा हाल ही में गठित *विश्व व्यापार संगठन* (WTO) इत्यादि संगठनों से सामूहिक समझौता वार्ता और सौदेबाजी कर सके। इस आन्दोलन को संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसके अभिकरणों में भी अपने सामूहिक हितों की रक्षा करनी होगी।

आज शीत युद्ध और दो गुटों का अस्तित्व भले न रहे, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अप्रासंगिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रारंभ से ही इसका उद्देश्य सदस्यों की एकता सुनिश्चित करना था, जो आर्थिक दृष्टि से विकासशील, समाजिक दृष्टि से पिछड़े, प्रौद्योगिकी दृष्टि से विकास के निम्न स्तर पर और राजनीतिक दृष्टि से धार्मिक कट्टरता, सजातीय संघर्षों और सर्वोपरि बाह्य हस्तक्षेप के कारण फूट और अस्थिरता के शिकार रहे हैं।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन सुंयक्त राष्ट्र संघ के बाद विश्व का सबसे बड़ा संगठन है। यह विश्व की प्रमुख समस्याओं पर नए ढंग से आम सहमति व्यक्त करने का अद्वितीय माध्यम बन गया है। गुट निरपेक्ष आन्दोलन की ऐतिहासिक भूमिका सदा से तथाकथित "उत्तर" और "दक्षिण" तथा "पश्चिम" और "पूर्व" के मध्य सेतु निर्माण करने की रही है। उसकी अपूर्ण भूमिका की पूर्ति होना अभी शेष है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन हमारे युग की एक मन:स्थिति है। इस आन्दोलन में अगुवा होने के नाते भारत को समानता पर आधारित राज्यों से युक्त एक श्रेष्ठतर विश्व के निर्माण में नयी दिशा और नया प्रतिबल प्रदान करना होगा।

भारत की विदेश नीति

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संसार के राज्यों की अन्योन्याश्रित स्थिति तथा तत्संबंधित व्यवस्था के संदर्भ में भारत की विदेश नीति का एक विशिष्ट स्वरूप उभर कर आया। जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ, उस समय "एक विश्व" की भावना साकार रूप ले चुकी थी। नाभिकीय प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रॉनिक व अंतरिक्ष संबंधी अनुसंधान तथा संचार व्यवस्था की नयी प्रगति से क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे। उसी समय 1946 में उपनिवेशीकरण के विघटित होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। भारत की भांति सभी नवोदित राष्ट्रों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि वे अपनी समाजिक आर्थिक व्यवस्था में व्यापक क्रांतिकारी एवं आमूल परिवर्तन कम से कम समय में कर सकें। भारतीय राजनयिकों ने विदेश नीति के तीनों मूलभूत आधार - राष्ट्रीय हित, क्षेत्रीय अनिवार्यताएं एवं विश्व की समस्याएं, को ध्यान में रखकर विदेश नीति के आधारभूत लक्ष्य निर्धारित किये। ये आधारभूत लक्ष्य निम्न है:

1. राष्ट्र का आर्थिक विकास और राजनीतिक स्थिरता, जिससे देश की एकता तथा समाजिक आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जा सके।
2. राष्ट्रीय सुरक्षा, जिससे कि देश की स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखंडता पर आक्रमण के खतरे को रोका जा सके।
3. आत्मनिर्भरता तथा स्वपोषित औद्योगीकरण जिससे आर्थिक स्वतंत्रता की रक्षा और प्रोत्साहन सुनिश्चित किया जा सके।
4. परस्पर लाभ के लिये दक्षिण एशियाई क्षेत्र में मैत्री, सद्भाव और सहयोग को बढ़ावा दिया जाना।
5. दक्षिण एशियाई क्षेत्रों में आन्तरिक मामलों में बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप को रोकना।
6. हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र बनाने के प्रयास की संभावना को बढ़ाना और भारत के निकटस्थ समुद्री क्षेत्रों को महाशक्तियों के नौ सैनिक टकराव की स्थिति से बचाने का प्रयास करना।
7. राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये मुक्ति आन्दोलनों व लोकतांत्रिक संघर्षों तथा आत्म निर्णय के अधिकारों के लिये संघर्षों का समर्थन करना।
8. साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद, नस्लवाद, जातीय पृथकतावाद, निरंकुशतावाद और सैन्यवाद का विरोध करना।
9. शस्त्रों की होड़, विशेष रूप से नाभिकीय शस्त्रों की होड़ का विरोध करना और व्यापक एवं पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की प्रक्रिया का समर्थन करना।
10. उत्तर-दक्षिण संवाद तथा दक्षिण-पश्चिम सहयोग पर बल देना।
11. विश्व स्तर पर विकास के कार्यों का समर्थन करना और एक ऐसी नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना जिससे न्याय, समानता तथा मानवता पर आधारित विश्व का निर्माण हो सके।
12. अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा एवं आपसी मतभेदों के शांतिपूर्ण समाधान का समर्थन करना तथा एक अहिंसक एवं नाभिकीय शस्त्रविहीन विश्व की रचना करना।
13. एक लोकतांत्रिक विश्व के लिये आवश्यक दशा के रूप में मानव अधिकारों के आदर्श एवं उसके क्रियान्वयन का समर्थन करना।
14. शांतिपूर्ण, सह-आस्तित्व तथा पंचशील के आदर्शों को आगे बढ़ना।
15. विश्वव्यापी तनाव दूर करने, परस्पर सहमति की भावना को बढ़ावा देने, सैन्य गुटबंदी का विरोध करने तथा इन सभी से महत्वपूर्ण उद्देश्य भय, घृणा, लालच और असमानता से मुक्त विश्व का निर्माण करने लिये गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को मजबूत बनाना तथा संयुक्त राष्ट्र का समर्थन करना।

यद्यपि भारतीय विदेश नीति दूरदर्शिता तथा आदर्शवाद से युक्त है, फिर भी इसे अनेक मामलों पर आघात सहने पड़े। इसका कारण अप्रत्याशित विश्व घटनाओं और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में नयी प्रवृत्तियों के उदय होने में खोजा जा सकता है। कभी कुछ मामलों पर नेतृत्त्व असफल रहा, तो कभी हमारे सोचने का ढंग गलत रहा। कोई भी विदेश नीति पूर्ण रूप से सफल विदेश नीति नहीं होती। हमारी विदेश नीति भी पूर्ण रूप से सफल नहीं है। हो सकता है कि इसमें हमारी ओर से कोई त्रुटी न रही हो, किंतु फिर भी एक जटिल अन्योन्याश्रित विश्व का अंश होने के कारण नुकसान हमें ही उठाना पड़ा। किंतु अपनी विदेश नीति का लेखा-जोखा करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि उसमें सभी दलों और समूहों की आम सहमति रही है। शांति, नि:शस्त्रीकरण तथा विश्व के संतुलित विकास की दिशा में यह विदेश नीति भारत को क्षेत्रीय तथा विश्व स्तर पर प्रमुख तथा सकारात्मक भूमिका अदा करने में सहायक हुई है। आज भारतीय गणराज्य एक राजनीतिक लोकतंत्र, पंथनिरपेक्ष राज्य व्यवस्था तथा आत्मनिर्भर औद्योगीकरण के लिये व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

चीन के साथ सीमा संघर्ष

सन् 1947 में भारत को स्वतंत्रता मिली और लगभग उसी समय 1949 में चीन को जनवादी गणतंत्र (People's Republic) घोषित किया गया। इस प्रकार एक साथ ही समानांतर रूप से हुए घटनाक्रम में इस शताब्दी के मध्य एशिया के दो सबसे बड़े देशों में समाजिक-आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।

भारत और चीन के संबंध अति पुरातन हैं। भारत से बौद्ध धर्म चीन गया तथा गत शताब्दियों के दौरान कई चीनी यात्री भारत भ्रमण कर चुके हैं। इन यात्रियों ने चीनी विद्वानों के लिए भारत और भारतीय संस्कृति के द्वार खोल दिये। हर्ष और तांग सम्राट ने राजदूतों का आदान-प्रदान भी किया। मध्य काल में भी दोनों देशों के मध्य सम्पर्क बने रहे। मुहम्मद बिन तुगलक ने प्रसिद्ध अफ्रीकी यात्री इब्नेबतूता को राजदूत बनाकर चीनी दरबार में भेजा था। भारत का वही एक शासक था, जिसने तिब्बत पर आक्रमण की योजना बनायी थी। तुगलक शासकों मिंग सम्राटों ने राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। मुगल काल में भी भारत और चीन के मध्य व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। भारत और चीन के बीच मैत्रीपूर्ण और शांतिपूर्ण संबंधों की एक लम्बी शृंखला है। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने युद्धग्रस्त चीन के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की थी और चीन के कल्याण हेतु भारत की चिंता को अभिव्यक्त करने हुए उसकी सहायता के लिए चिकित्सा दल भी भेजे। जवाहर लाल नेहरू ने "*डिस्कवरी ऑफ इंडिया*" में लिखा है कि चीन में जब कभी मजबूत केन्द्र सरकार बनी, उसने सीमा विस्तार का प्रयास किया।

अक्टूबर 1949 में जनवादी गणतंत्र की स्थापना के बाद उसे सबसे पहले विधिवत् कूटनीतिक मान्यता देने वाले देशों में भारत भी था। कोरिया युद्ध के दौरान भारत चीन के अधिक निकट आ गया और संयुक्त राष्ट्र में भी चीन के पक्ष में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उसने चीन के इस दावे का भी समर्थन किया किया कि उसे ताइवान (जिसे अमेरिकी तथा पश्चिमी शक्तियों के राजनीतिक दांवपेंच के परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद का सदस्य मान लिया गया था) के स्थान पर सुरक्षा परिषद का सदस्य मान लिया जाये। जब उत्तर कोरिया को समर्थन देने के कारण चीन को आक्रमणकारी मानकर उसे संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाये जाने पर आपत्ति उठायी गयी, तो भारत ने उसे आक्रमणकारी मानने से इंकार कर दिया।

29 अप्रैल, सन् 1954 को भारत और चीन ने तिब्बत से संबधित एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत संबंधी अपने दावों को त्याग दिया और तिब्बत को चीन का 'अधिराज्य' मान लिया। चीन ने भी तिब्बत की स्वायत्तता की पुन: पुष्टि की। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों ने सहअस्तित्व के प्रसिद्ध पांच सिद्धांतों का निरूपण किया, जिन्हें '*पंचशील*' का सिद्धांत कहा गया। ये पांच सिद्धांत निम्न हैं-

(1) एक-दूसरे की अखंडता और स्वतंत्र सत्ता को आदरपूर्वक स्वीकार करना;
(2) एक-दूसरे के ऊपर आक्रमण न करना;
(3) समानता के आधार पर एक-दूसरे की सहायता करना;
(4) एक-दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करना; तथा
(5) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व

जेनेवा सम्मेलन में कोरिया युद्ध के प्रसंग में भारत ने चीन को भरपूर समर्थन दिया। बांडुंग में आयोजित (अप्रैल 1955) प्रथम अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन में चीन की भागीदारी सुनिश्चित करने का मुख्य प्रस्ताव भारत का ही था। इस प्रकार सन् 1957 तक भारत-चीन संबंध सामान्य ही नहीं बल्कि मैत्रीपूर्ण भी रहे। उसके बाद से विश्व की राजनीति के प्रति चीन के दृष्टिकोण में एक बदलाव आया। साथ ही रूस और भारत से उसके संबंधों में भी बदलाव आया। मित्र देशों से मधुर, तर्कसंगत और सामन्य सहमति का युग समाप्त हो गया और उसका स्थान "कट्टर सिद्धांतवादिता" और "वैचारिक उग्रवाद" ने ले लिया, परिणामस्वरूप 1957-58 से चीन का रूख अनेक देशों के प्रति कड़ा होता गया। मास्को से संबंध-विच्छेद हुआ तथा भारत से मनमुटाव हुआ। अक्टूबर 1957 में भारतीय प्रदेश "नार्थ इस्टर्न फ्रन्टियर एजेन्सी" अर्थात् "नेफा" (आज का अरुणाचल प्रदेश) की सीमा पर उसके आक्रमण की शुरुआत हुई, जो 1959 तक होता रहा। सितंबर 1959 में चीन ने नेफा में 50,000 वर्गमील के भारतीय क्षेत्र पर तथा लद्दाख में आक्साई चीन वाले भाग पर अपना दावा प्रस्तुत किया। सन् 1955 में जब नेहरू ने चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई का ध्यान चीन के उन मानचित्रों की ओर आकृष्ट किया था, जिनमें भारत के एक बड़े भाग को चीन का हिस्सा अंकित किया गया था, तो चाऊ एन लाई उसे यह कहकर टाल दिया था कि वह पुरानी सरकार द्वारा अंकित संस्करण है और उसमें संशोधन की आवश्यकता है, किंतु सत्य तो यह है कि चीन ने भारत की सीमा निर्धारण करने वाली *मैकमोहन रेखा* को मान्यता देने से इंकार कर दिया था। उसका उल्लंघन करते हुए चीन ने आक्साई चीन काराकोरम मार्ग का निर्माण कर लिया, जो भारत के लद्दाख क्षेत्र से लेकर चीन के सिन जियांग क्षेत्र को पाकिस्तान के गिलगिट क्षेत्र से जोड़ती है। सन् 1958-60 की समझौता वार्ताएं सफल नही हुईं। मार्च 1959 में तिब्बत में विद्रोह होने और दलाई लामा के भारत में भागकर आने के कारण भारत-चीन संबंध और भी बिगड़ गये। इससे भारत-चीन संबंधों का स्वरूप ही बदल गया। भ्रामक धारणाओं, विश्वास और कठोर रूख की परिणति अक्टूबर 1962 के भारत-चीन युद्ध के रूप में हुई।

भारत के लिए यह युद्ध काफी निराशाजनक रहा। इस युद्ध में भारत ने जो आत्मसम्मान खोया, वह बाद में 1971 में पाकिस्तान के युद्ध में ही विजय द्वारा प्राप्त हुआ। नेहरू जी को काफी धक्का लगा और अपनी मृत्यु (1964) तक वे इस सदमे से उबर नहीं पाये। उन्हें अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों के आक्रमण भी सहने पड़े। इस युद्ध से सबसे बड़ा धक्का गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत को लगा। इस युद्ध ने भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना को भी बुरी तरह प्रभावित किया। रक्षा और रणनीति से संबंधित समस्याओं पर भारतीय दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। दो वर्षों में भारत की सेना दोगुनी हो गई। नये फौजी दस्ते तैयार किये गये। सेना को पुन: प्रशिक्षित किया गया तथा नये आयुध उपकरणों से सुसज्जित किया गया। भारत की रक्षा संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आयुध कारखाने खोले गये। भारत इस क्षेत्र में एक बड़ी सैन्य शक्ति के रूप में उभर कर आया। यह तैयारी 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण का सामना करने तथा 1971 में पाकिस्तान को पराजित करने में सहायक हुई, जबकि चीन का रूख भारत के विरूद्ध पाकिस्तान के पक्ष में था। चीन ने पाकिस्तानी सैनिकों को प्रशिक्षित किया तथा उसे हथियार एवं अन्य सैन्य सामग्री से भी सहायता की थी। सन् 1970 और 1980 के बाद वाले दशकों में चीन व पाकिस्तान के गठबंधन से भारत की सुरक्षा खतरे में पड़ी रही।

दो दशाब्दियों के गत्यारोध के बाद 1980 में राजदूतों के आदान-प्रदान होने से भारत-चीन संबंध पुन: स्थापित हुए। सन् 1981

CHRONICLE IAS ACADEMY

से दोनों देशों के बीच संबंधों को सामान्य करने की दिशा में प्रयास हो रहे हैं। सीमा संबंधी विवादों को शिथिल किया जा रहा है। वाणिज्य, प्राविधिकी, संस्कृति आदि क्षेत्रों में पारस्परिक हितों की पूर्ति के लिए पहले परस्पर विश्वास उत्पन्न करने और उसके बाद स्वस्थ, द्विपक्षीय सद्भावना का सृजन करने पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है।

चीन और भारत के बीच और अधिक सहयोग बढ़ाने के 1990 के दशक में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। सन् 1992 में भारत के राष्ट्रपति की चीन यात्रा सद्भावना के प्रतीक के रूप में बड़ा कदम था। उसके बाद सितंबर 1993 में भारत के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव चीन गये। चीन ने भी अपने राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा अन्य उच्चाधिकारियों को भारत भेजकर अपनी सद्भावना व्यक्त की। 7 सितंबर, 1993 में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये, जिसमें उन उपायों का उल्लेख किया गया, जो दोनो देशों के पारस्परिक लाभ तथा कल्याण को सुनिश्चित करेंगे तथा दीर्घकाल से लंबित सीमा संबंधी प्रश्न को मित्रवत् द्विपक्षीय शांतिपूर्ण विचार-विमर्श द्वारा सुलझाया जायेगा। इसका मुख्य दृष्टिकोण सीमा संबंधी प्रकरण नहीं, बल्कि वाणिज्यिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संबंधों तथा राजनीतिक सहमति का विकास करना है। सन् 1994 में चीन के रक्षामंत्री की भारत यात्रा दोनों देशों द्वारा निर्मित की जा रही नवीन सद्भावना का प्रतीक है।

स्मरणीय तथ्य

- भारतीय संविधान का निर्माण एक संविधान सभा द्वारा 2 वर्ष 11 महीने तथा 18 दिन में किया गया।
- संविधान सभा का गठन कैबिनेट मिशन योजना के प्रावधानों के अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों के विधान-सभाओं द्वारा नवम्वर 1946 में किया गया था।
- संविधान सभा में कुल 389 सदस्य थे, जिनमें 292 प्रांतों से तथा 93 देशी रियासतों से चुने जाने थे। 4 सदस्य कमीश्नरी क्षेत्र के थे।
- प्रांतीय विधान सभा में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों ने एकल संक्रमणीय पद्धति के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया।
- देशी रियासतों से चयन की पद्धति परामर्श से तय की जानी थी।
- 3 जून, 1947 की योजना के अधीन पाकिस्तान के लिए पृथक संविधान सभा गठित की गयी।
- महात्मा गांधी ने 1922 में *'स्वराज'* का अर्थ समझाते हुए यह संकेत दिया था कि भारत के लिए भारतीय ही संविधान बनायेंगे।
- 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया था।
- सर्वप्रथम 1914 में संविधान सभा की मांग की गयी। स्वराज पार्टी ने मई 1934 में तथा कांग्रेस ने फैजपुर अधिवेशन में इस मांग को दुहराया।
- 1942 में क्रिप्स प्रस्ताव में संविधान सभा की मांग को स्वीकार किया गया।
- संविधान सभा में जनसंख्या के आधार पर (लगभग 10 लाख पर एक) प्रतिनिधि निर्धारित किए गये थे।
- संविधान निर्माण के लिए 60 देशों के संविधानों का अध्ययन किया गया।
- विभाजन के बाद संविधान सभा की सदस्य संख्या 299 रह गयी, जिनमें से 284 सदस्यों ने 26 नवम्वर, 1949 को संविधान पर हस्ताक्षर किए।
- संविधान सभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई थी।
- प्रथम बैठक की अध्यक्षता डा. सच्चिदानंद सिन्हा ने की थी तथा मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया था।
- 11 दिसम्बर, 1946 को डा. राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया।
- श्री बी.एन. राव को संविधान सभा के संवैधानिक सलाहकार पद पर नियुक्त किया गया।
- 13 दिसम्बर, 1946 को जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा का 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत कर संविधान निर्माण का कार्य करना प्रारंभ किया। यह प्रस्ताव संविधान सभा द्वारा 22 जनवरी, 1947 को पारित कर दिया गया।
- संविधान निर्माण के लिए विभिन्न समितियां जैसे-प्रक्रिया समिति, वार्ता समिति, संचालन समिति, कार्य समिति, संविधान समिति, झंडा समिति, प्रारूप समिति आदि का निर्माण किया गया।
- विभिन्न समितियों में प्रमुख प्रारूप समिति जो कि 19 अगस्त, 1947 को बनी थी, के अध्यक्ष डा.बी.आर. अम्बेडकर को बनाया गया। इस समिति के अन्य सदस्य थे- एन. गोपाल, स्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर, मोहम्मद सादुल्ला, के.एम. मुंशी, बी. एल मित्तर तथा डी.पी. खेतान। कुछ समय पश्चात बी.एल. मित्तर के स्थान पर एन. माधव राव तथा डी.पी. खेतान की मृत्यु के बाद टी.टी. कृष्णामाचारी को इस समिति में सम्मिलित कर लिया गया।
- संविधान सभा की बैठक का तृतीय और अंतिम वाचन 14 नवम्बर, 1949 को हुआ यह बैठक 26 नवम्बर, 1949 को समाप्त हुई।
- 26 नवम्बर, 1949 को ही अंतिम पारित संविधान पर सभापति तथा उपस्थित सदस्यों के हस्ताक्षर हुए। इसी दिन संविधान सभा ने भारत के संविधान को अंगीकार कर लिया।
- नागरिकता, निर्वाचन और अन्तरिम संसद से सबंधित उपबंधों को तथा अस्थायी एवं संक्रमण उपबंधों को 26 नवम्बर, 1949 से ही तुरंत प्रभावी किया गया।
- सम्पूर्ण संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। 26 जनवरी, 1950 को ही भारत को गणतंत्र घोषित किया गया। डा. राजेन्द्र प्रसाद को भारत का प्रथम राष्ट्रपति नियुक्त किया गया। संविधान सभा को ही आगामी संसद के चुनाव तक भारतीय संसद के रूप में मान्यता दी गयी।
- डा.बी.आर. अम्बेडकर को ' संविधान का पिता' (Father of Constitution) कहा जाता है।
- भारतीय संविधान विश्व का सबसे लम्बा लिखित संविधान है।
- भारतीय संविधान में प्रस्तावना के अतिरिक्त 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थीं।
- संविधान की उद्देशिका (प्रस्तावना) में संविधान के ध्येय और उसके आदर्शों का संक्षिप्त वर्णन है। जहां संविधान की भाषा संदिग्ध होती है वहां उद्देशिका की सहायता ली जाती है। उद्देशिका को संविधान की कुंजी भी कहा जाता है।
- उद्देशिका को न्यायालय में प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- भारत को 26 जनवरी, 1950 को एक गणराज्य (Republic) घोषित किया गया, जिसका तात्पर्य है कि भारत का राष्ट्राध्यक्ष निर्वाचित होगा, अनुवंशिक नहीं।
- उद्देशिका में 'समाजवादी', 'धर्मनिरपेक्ष, एवं 'और अखंडता' शब्द 1976 में 42वां 'संविधान' संशोधन द्वारा जोडे गये हैं।
- संमाजवादी शब्द का अर्थ समाजवादी राज्य अर्थात् सभी उत्पादन एवं वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण नहीं है। बल्कि गरीब एवं अमीर के मध्य दूरी को कम करना है।
- '*पंथनिरपेक्ष*' का अर्थ सरकार द्वारा सभी धर्मो का समान संरक्षण एवं सम्मान करना है।
- भारतीय संविधान में भारत को 'राज्यों का संघ' (Union of States) कहा गया है। संघ (Federation) शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है।
- *डी.डी.बसु* के अनुसार भारत का संविधान एकात्मक तथा संघात्मक का सम्मिश्रण है। *के.सी. व्हीलर* के अनुसार भारत का संविधान संघीय कम और एकात्मक अधिक है। उनके अनुसार यह अर्द्धसंघीय है।
- ***संविधान के संघात्मक लक्षण***
  - (i) संविधान की सर्वोच्चता
  - (ii) शक्तियों का विभाजन
  - (iii) स्वतंत्र सर्वोच्च न्यायालय
  - (iv) उच्च सदन का राज्य सदन होना
- ***संविधान के एकात्मक लक्षण***
  - (1) एकल नागरिकता
  - (2) एकल संविधान
  - (3) केन्द्र सरकार को राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार
  - (4) आपात उपबंध
  - (5) केन्द्र द्वारा राज्य की सीमाओं या नाम परिवर्तन का अधिकार
  - (6) एकीकृत न्याय व्यवस्था
  - (7) अखिल भारतीय लोक सेवाएं
  - (8) राज्यपालों की नियुक्ति केन्द्र द्वारा
  - (9) राज्यों का राज्यसभा में असमान प्रतिनिधित्व
  - (10) राज्य विधेयकों को राष्ट्रपति के अनुमोदन के लिए आरक्षित करना
  - (11) योजना आयोग की उपस्थिति
  - (12) राष्ट्रीय विकास परिषद का स्वरूप
  - (13) राज्य की वित्तीय दृष्टि से केन्द्र पर निर्भरता
  - (14) अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में होना
- शक्तियों का केन्द्र तथा राज्य में विभाजन इस प्रकार है:
  - केन्द्रीय सूची – 97 विषय
  - समवर्ती सूची – 47 विषय
  - राज्य सूची – 66 विषय
- अवशिष्ट विषय (Residuary Power) केन्द्र सरकार के पास है।
- मूल संविधान में 'मूल कर्तव्य' (Fundamental Duties) का समावेश नहीं था। 42वां संविधान संशोधन (1976) द्वारा संविधान के भाग IV के अनुच्छेद 51 (क) में दस मौलिक कर्तव्यों का समावेश किया गया है।
- संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 13 से 33 तक मौलिक अधिकारों का वर्णन है।
- संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व दिए गये हैं।
- अधिकांश नीति निर्देशक तत्त्वों का उद्देश्य आर्थिक तथा सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना है अर्थात् कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है, जिसका संकल्प उद्देशिका में लिया गया है।
- नीति निर्देशक तत्त्व न्यायालय में परिवर्तनीय हैं।
- 2 अक्टूबर, 1952 को राजस्थान में '*सामुदायिक विकास कार्यक्रम*' लागू किया गया।
- 2 अक्टूबर, 1959 को नेहरूजी ने नागौर में प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का श्रीगणेश किया। इसे 'पंचायती राज' कहा गया।
- राजस्थान प्रथम राज्य है, जहां सर्वप्रथम सम्पूर्ण राज्य में पंचायती राज व्यवस्था लागू की गयी।
- बलवंतराय मेहता समिति तथा अशोक मेहता समिति का संबंध पंचायती राज व्यवस्था से है।
- योजना आयोग एक गैर संवैधानिक संस्था है।
- **भारतीय संविधान की विशेषताएं:**
  - (1) लिखित एवं निर्मित संविधान
  - (2) विश्व का सबसे बड़ा संविधान
  - (3) प्रभावशाली उद्देशिका
  - (4) भारतीय संविधान में विभिन्न संविधानों का समावेश
  - (5) कठोर एवं लचीलेपन का समावेश
  - (6) लोकतंत्रात्मक राज्य – प्रतिनिधियों का चुनाव
  - (7) गणतंत्रात्मक राज्य– निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष
  - (8) संसदीय सरकार
  - (9) समाजवादी सरकार
  - (10) धर्मनिरपेक्ष राज्य
  - (11) संघात्मक तथा एकात्मक व्यवस्था का समन्वय
  - (12) एकीकृत न्याय व्यवस्था
  - (13) सार्वजनिक मताधिकार
- **संविधान के स्रोत**
  - (1) संसदीय प्रणाली – ब्रिटेन
  - (2) मौलिक अधिकार – स. रा अमेरिका
  - (3) उपराष्ट्रपति का पद–स. रा अमेरिका
  - (4) सर्वोच्च न्यायालय – स. रा अमेरिका
  - (5) संघात्मक व्यवस्था – कनाडा
  - (6) नीति निर्देशक तत्त्व – आयरलैंड
  - (7) आपात उपबंध – जर्मनी
  - (8) मौलिक कर्तव्य – सो. संघ
  - (9) समवर्ती सूची – आस्ट्रेलिया
- ***1964 तक के महत्वपूर्ण संविधान संशोधन:***
  - (1) **प्रथम संशोधन 1951**– मौलिक अधिकारों में समानता, स्वतंत्रता तथा संपत्ति को सामाजिक हित में सीमित किया गया, भूमि सुधार को नौवीं सूची में रखकर उसे न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर किया गया ।
  - (2) **दूसरा संशोधन 1953** – राज्यों का संसद में प्रतिनिधित्व
  - (3) **तीसरा संशोधन 1954**– समवर्ती सूची में कुछ विषयों– जैसे कच्ची कपास, खाद्यान्न पशुपालन एवं संवर्द्धन जोड़ा गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

(4) **सातवां संशोधन 1956**- राज्यों का पुनर्गठन- चौदह राज्य तथा छह केन्द्र शासित क्षेत्रों में

(5) **नौवां संशोधन 1960** - बरूबाड़ी क्षेत्र पाकिस्तान को सौंपने से सम्बन्धित।

(6) **दसवां संशोधन 1961**- दादरा एवं नागर हवेली को भारत का अंग बनाया गया

(7) **बारहवां संशोधन 1962**- गोवा, दमन, दीव को भारत का अंग बनाया गया

(8) **तेरहवां संशोधन 1962**- नागालैंड को भारत का नया राज्य घोषित किया गया।

(9) **चौदहवां संशोधन-1962**- पाण्डिचेरी को भारत का अंग बनाया गया तथा संसद को संघ राज्यक्षेत्रों में विधान मंडल तथा मंत्रिपरिषद बनाने का अधिकार दिया गया।

(10) **सत्ररहवां संशोधन 1964**- एस्टेट (Estate) पुन: परिभाषित, न्यायिक पुनरावलोकन से कुछ नियमों को छूट।

- नेहरूजी एक *समाजवादी समाज* (Socialistic Pattern of society) की स्थापना करना चाहते थे, जिसकी कल्पना तभी साकार हो सकती थी जब समाजवाद के आर्थिक पहलू की ओर ध्यान दिया जाये।
- लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए नेहरूजी ने एक 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' (Mixed Economy)के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे कुछ साम्यवादी विचारों के समर्थक होते हुए भी अर्थव्यवस्था के पूर्ण राष्ट्रीयकरण (Nationalçation) के पक्ष में नहीं थे।
- नेहरूजी, गाँधीजी के 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त को अव्यावहारिक मानते थे।
- वे कुटीर उद्योग के विरोधी नहीं थे, जैसा कि उन्होंने कहा 'हमें सदा याद रखना होगा कि भारी उद्योगों का विकास ही इस देश के लाखों लोगों की समस्या हल नहीं कर देगा, हमें ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योग भी बड़े पैमाने पर विकसित करने होंगे।
- रूस के व्यक्तिगत अनुभव से नेहरूजी के आर्थिक नियोजन (Economic Planing)की भावना को काफी बल मिला। 1950 में उन्होंने योजना आयोग का संगठन किया। यहीं से पंचवर्षीय योजनाओं का सिलसिला चल पड़ा।
- आर्थिक आयोजना की आवश्यकता इस बात से स्पष्ट होती है कि प्रत्येक विकासशील देश अपने प्राकृतिक संशाधनों और अपार मानव शक्ति का पूर्ण उपयोग करके आर्थिक विकास के उच्चतर स्तर को प्राप्त करना चाहता है।
- योजना के संबंध में सबसे पहले *श्री एम. विश्वेश्वरैया* ने 1934 में ' प्लाण्ड इकोनोमी ऑफ इंडिया' (Planned Economy of India)नामक पुस्तक में योजना की प्रथम रूपरेखा रखी थी।
- 1938 में नेहरूजी की अध्यक्षता में 'नेशनल -प्लानिग-कमेटी' (National Planning Committee)की नियुक्ति की गयी, जिसने देश के आर्थिक विकास के लिए एक मसौदा (Draft Outline) प्रकाशित किया।
- उपर्युक्त दोनों के बाद देश के समक्ष तीन विकास योजनाएं रखी गयी।

(1) **बम्बई योजना (Bombay Plan) 1943**- यह भारत में आठ प्रसिद्ध उद्योगपतियों द्वारा प्रस्तुत की गयी। इस योजना का लक्ष्य 12 वर्ष में प्रति व्यक्ति आय को दोगुना करना था।

(2) **जन योजना (People's Plan)**- यह श्री एम.एन. राय द्वारा प्रस्तुत की गयी।

(3) गाँधी योजना (Gandhi Plan)- यह श्री मन्नानारायण द्वारा प्रस्तुत की गयी।

- भारत सरकार द्वारा मार्च 1950 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में 'योजना आयोग' (Planning Commission) की नियुक्ति की गयी।
- तीसरी योजना के पाँच वर्षों के दौरान दो बार पड़ोसी देशों ने देश पर हमला किया- 1962 में चीन ने और 1965 में पाकिस्तान ने।
- 1965-66 में देश में भयंकर सूखा पड़ा जिस कारण अकाल जैसी स्थिति देश में बनी रही।
- 1966 से 1969 तक के काल को 'आयोजना अवकाश' (Plan Holiday) के नाम से जाना जाता है। इन तीन वर्षों में वार्षिक योजनाएं तैयार की गयी।
- पाँचवीं योजना को भी निर्धारित समय से पूर्व ही स्थगित कर दिया गया।
- भारत में आयोजन का मूल या केन्द्रीय उद्देश्य गरीबी को दूर करना और जन साधारण के जीवन स्तर को यथासंभव ऊपर उठाना है।
- योजनाओं की सफलता के लिए 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' (Mixed Economy) को अपनाया गया अर्थात् पूंजीवादी (Capitalist) और समाजवादी (Socialistic) व्यवस्था का सहअस्तित्व।
- पहली योजना के कुल व्यय का 1/3 भाग कृषि क्षेत्र के विकास पर किया गया था।
- दूसरी योजना तथा तीसरी योजना में उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया गया।
- दूसरी और तीसरी योजना के अनुभव कोई उत्साहवर्धक नहीं थे, अत: चौथी योजना में पुन: कृषि क्षेत्र के विकास पर अधिक व्यय करने का निश्चय किया गया।
- भारत की पहली पंचवर्षीय योजना में किसी प्रकार की दीर्घकालीन विकास युक्ति का आभास नहीं मिलता। इस योजना में खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता पर बल दिया गया था।
- सुविचारित विकास युक्ति दूसरी योजना में बनकर सामने आयी। इस युक्ति को तैयार करने का श्रेय प्रो. पी. सी. महालनोविस को दिया जाता है।
- दूसरी योजना के आरंभ से अपनायी गयी विकास युक्ति के निम्नलिखित दो प्रमुख अंग थे:

(i) औद्योगीकरण पर बल तथा

(ii) भारी-वस्तु उद्योगों के विकास पर बल

- **आयोजन काल की सफलताएं**

(1) 1950 की तुलना में खाद्यान्न उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि;

(2) विकास दर का 3.5% से 6.0 के लगभग हो जाना;

(3) औद्योगिक वृद्धि दर बढ़कर 10% के आसपास हो गयी;

(4) पूंजी बाजार का आकार काफी बड़ा हो जाना

(5) गरीबी देखा के नीचे रहने वाले लोगों का प्रतिशत घटकर 20 हो जाना तथा

(6) मुद्रा-स्फीति पर लगभग काबू पा लिया जाना।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- **आयोजन काल की विफलताएं**
  (1) जनसंख्या पर नियंत्रण नहीं;
  (2) रोजगार वृद्धि दर काफी कम रही;
  (3) शहरी जनसंख्या के तेजी से बढ़ने से अनेक समस्याएं उत्पन्न
  (4) बचत दर एवं निवेश दर में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं;
  (5) ऊर्जा, परिवहन के साधनों एवं वित्तीय संस्थानों का अपर्याप्त विकास; तथा
  (6) मानवीय संसाधनों के विकास में संतोषजनक प्रगति नहीं ।
- आयोजन की सीमित सफलता के कारण –
  (1) प्राकृतिक आपदाएं (Natural Calamities)
  (2) विदेशी मुद्रा की अपर्याप्त उपलब्धता (Inadequacy of foreign Exchange)
  (3) प्रतिरक्षा का भारी बोझ (Heavy Defence Burden)
  (4) भारी मात्रा में व्यय (Heavy Expenditure)
  (5) ताल-मेल का अभाव (Lack of Co-ordination)
  (6) घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing)
- सरकार की औद्योगिक नीति का पहला प्रस्ताव सन् 1948 में सामने आया, जिसे औद्योगिक नीति प्रस्ताव – 1948 (Industrial Policy Resolution, 1948) या आई.पी.आर. 1948 के नाम से जाना जाता है। इस प्रस्ताव की प्रमुख विषेशता थी कि इसमें उद्योगों को चार भागों में बांट दिया गया था।
- तीसरी औद्योगिक नीति की घोषणा 1991 में की गयी।
- औद्योगिक नीति को लागू करने के लिए सरकार ने लाइसेंस प्रणाली की व्यवस्था की है। उद्योग (विकास तथा विनियमन) अधिनियम, 1951 के अर्न्तगत लाइसेंस प्रणाली की व्यवस्था की गयी है।
- कृषि भारत का प्रमुख 'उद्योग' है। भारत के आर्थिक विकास में कृषि के महत्व को निम्नलिखित बातों से आंका जा सकता है:
  (1) राष्ट्रीय आय में लगभग 1/3 का योगदान;
  (2) रोजगार का सृजन अधिक;
  (3) उद्योग के लिए कच्चे माल की आपूर्ति; तथा
  (4) विदेशी मुद्रा अर्जन का मुख्य साधन
- 1950-51 की राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान 40% था। आर्थिक विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय आय में कृषि के योगदान में कमी होना स्वाभाविक ही है।
- 1991 की जनगणना के अनुसार कुल श्रम शक्ति का 65.5% भाग कृषि पर निर्भर करता है।
- उन्नत किस्म के बीजों और रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग लगभग 1965- 66 से आरंभ हो गया था। परिमाण स्वरूप उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन में तेज गति से वृद्धि की घटना को 'हरित क्रान्ति' (Green Revolution) का नाम दिया जाता है।
- 1975 में ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी।
- फसल की उचित माप तौल के लिए सन् 1949 में एक कानून बनाया गया तथा 1954 में मीटर माप तौल पद्धति को अपनाया गया।
- 1965 में कृषि कीमत आयोग (Agriculttural Price Commission) की स्थापना की गयी।
- भूसुधार के प्रमुख तत्व निम्न हैं:
  (1) बिचौलियों का उन्मूलन या जमींदारी प्रथा का उन्मूलन
  (2) काश्तकारी सुधार (Tenancy Reform)
  (3) भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करना (Ceiling on land holdings)
  (4) चकबन्दी (Consolidation of land)
  (5) सहकारी खेती (Consolidation of land)
  (6) भूस्वामित्व संबंधी दस्तावेजों को ठीक करना (Updating of Land Records)
- देश की सभी पंचवर्षीय योजनाओं में (केवल दूसरी योजना को छोड़कर) कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गयी है। योजनाओं में कृषि को स्वावलम्बी तथा आत्म-निर्भर बनाने के लिए सभी यथासंभव प्रयास किए गये हैं। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में उत्साहवर्द्धक वृद्धि हुई है।
- एक संविधान संशोधन द्वारा सभी भूमि सुधार कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में डाल दिया गया है। अत: किसी भी न्यायालय में इसकी वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती है।
- 1927 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपने विदेश विभाग की स्थापना की तथा जवाहर लाल नेहरू इसके प्रवक्ता नियुक्त किए गये।
- कांग्रेस के तीन अधिवेशनों गुवाहाटी 1926, मद्रास 1927 और कलकत्ता 1928 में साम्राज्यवाद के विरोध और एशिया-अफ्रीका की जनता की एकता को मजवूत बनाने के लिए उनके मुक्ति संग्राम के समर्थन में लगातार कई प्रस्ताव पारित किए गये।
- कांग्रेस की विदेश नीति को विकसित करने में साम्राज्यवाद विरोधी तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता संगठन का द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1927 का विशेष योगदान है। यह सम्मेलन ब्रुसेल्स में आयोजित किया गया था।
- 1927 में 23 मार्च और 2 अप्रैल के मध्य नयी दिल्ली में एक एशियाई संबंध सम्मेलन (Asian Relations Confluence) आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 25 से अधिक देशों के लगभग 250 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।
- जुलाई 1956 में नेहरू, नासिर और टीटो के मध्य ब्रायनी में एक त्रिपक्षीय सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ तथा तीनों नेताओं में इस विषय पर सहमति हुई कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के बीच सुसंगठित ढंग से विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।
- कोरिया के प्रश्न पर अंतर्राष्ट्रीय संबंधो को संयमित करने की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर भारत द्वारा की गयी पहल की बहुत सराहना की गयी।
- गुटनिरपेक्षता का मूल अभिप्राय अंतर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र अभिव्यक्ति तथा आचरण से है। आरंभ से ही यह भारतीय विदेश नीति की मुख्य प्रकृति रही है। कांग्रेस की विदेश नीति सर्वत्र राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद के उन्मूलन तथा स्वतंत्र देशों के परस्पर सहयोग पर आधारित थी। 1920 में ही कांग्रेस ने अपना विदेश नीति संबंधी प्रस्ताव पारित किया था, जिसमें दूसरे राष्ट्रों के साथ सहयोग एवं विशेष रूप से पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों पर जोर दिया गया था।
- किसी भी विदेश नीति के तीन मूलभूत आधार होते हैं-राष्ट्रीय हित, क्षेत्रीय अनिवार्यताएं तथा विश्व की समस्याएं।
- गुटनिरपेक्षता सभी राष्ट्रों के प्रति मैत्री भाव एवं किसी भी सैन्य गुटबंदी से समझौता न करने की नीति है।
- गुटनिरपेक्षता और तटस्थता एक नहीं है। अर्न्तराष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत तटस्थता वह स्थिति है, जिसमें किसी युद्ध में कोई राज्य किसी का भी पक्ष नहीं लेता है अर्थात् तटस्थता की प्रासंगिकता मात्र युद्धकालीन स्थिति से जुड़ी होती है-जबकि गुटनिरपेक्षता की

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रासंगिकता मुख्यत: शांति काल में होती है, किंतु युद्ध काल में भी इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

- बेलग्रेड में जहां गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रथम सम्मेलन 1961 में हुआ था, नेहरूजी ने एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य पर बल दिया। उन्होंने नाभिकीय युद्ध के बढ़ते हुए खतरे और शांतिपूर्ण सह-आस्तित्व की सर्वोपरि आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा कि यही आज के युग की मूलभूत चुनौती है।
- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पांच निम्न उद्देश्य हैं-
  (1) उपनिवेश की समाप्ति (Decolonçation)
  (2) मैत्री (Detente)
  (3) विकास (Development)
  (4) निशस्त्रीकरण (Disarmament) तथा
  (5) (Democratçation of International Institutions) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का लोकतंत्रीकरण
- गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सातवां सम्मेलन 1983 में दिल्ली में आयोजित हुआ था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने की थी।
- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का उदय केवल शीतयुद्ध और ध्रुवीय राजनीति के कारण ही नहीं हुआ, बल्कि उस समय नवोदित स्वतंत्र देशों के एकजुट होने की प्रक्रिया स्वरूप हुआ। ये निर्धन देश समूह के रूप में विकसित देशों से सौदा समझौता के लिए राजनयिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बद्धता के आकांक्षी थे।
- भारत और चीन के बीच मैत्रीपूर्ण और शांतिपूर्ण संबंधों की एक लम्बी श्रृंखला है।
- युद्धग्रस्त चीन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए वहां कांग्रेस ने एक चिकित्सा दल भी भेजा था।
- अक्टूबर 1949 में चीन में जनवादी गणतंत्र की स्थापना के बाद सबसे पहले विधिवत कूटनीतिक मान्यता देने वालों में से भारत भी था।
- कोरिया युद्ध के समय भारत, चीन के अधिक निकट आ गया और उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के इस दावे का समर्थन भी किया कि उसे ताइवान के स्थान पर सुरक्षा परिषद का सदस्य मान लिया जाये।
- 29 अप्रैल, 1954 को भारत और चीन ने तिब्बत से संबंधित एक समझौता किया जिसके अर्न्तगत भारत ने तिब्बत संबंधी अपने दावे को त्याग दिया। इस समझौते के अर्न्तगत दोनो देशों ने सह अस्तित्व के प्रसिद्ध पांच सिद्धान्तों का निरूपण किया जिन्हें "पंचशील" का सिद्धान्त कहा गया।
- पंचशील के पांच सिद्धान्त इस प्रकार थे:
  (1) एक-दूसरे की स्वतंत्रता और अखंडता का आदर करना;
  (2) एक-दूसरे के ऊपर आक्रमण न करना;
  (3) समानता के आधार पर एक-दूसरे की सहायता करना;
  (4) एक-दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करना; तथा
  (5) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।
- बांडुंग में आयोजित प्रथम अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन 1955 में। चीन की भागीदारी सुनिश्चित करने का मुख्य प्रस्तावक भारत ही था।
- मधुर, तर्कसंगत और सामान्य सहमति का युग (1949-57) समाप्त हो गया और उसका स्थान वैचारिक उग्रवाद ने ले लिया। परिणामस्वरूप 1957-58 के बाद चीन का रूख अनेक देशों के प्रति कड़ा होता गया।
- 1957 से 1959 तक चीन ने भारतीय प्रदेश 'नेफा' पर कई छोटे-मोटे आक्रमण किये। सितम्बर 1959 में चीन ने नेफा में 50,000 वर्गमील के भारतीय क्षेत्र पर तथा लद्दाख में आक्सई चीन वाले भाग पर अपना दावा प्रस्तुत किया। मार्च 1959 में तिब्बत में विद्रोह होने और दलाई लामा के भारत में शरण लेने के कारण संबंध और अधिक बिगड़ गये। इन सभी की परिणति अक्टूबर 1962 में भारत-चीन युद्ध के रूप में हुई।
- **नेहरूजी की उक्तियां :**
  (1) 'हिन्दुस्तान मेरे खून में समाया हुआ है और उसमें बहुत कुछ ऐसी बात है जो मुझे उसकाती है।'
  (2) 'मैं किसी धर्म या मत से जकड़ा हुआ नहीं हूं किन्तु मैं मनुष्य की प्राकृतिक नैतिकता पर पूरा विश्वास रखता हूं, यह कोई धर्म हो या न हो, मैं व्यक्ति की गरिमा में विश्वास करता हूं। मैं चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर मिले, मुझे ऐसे समाज में पूरा विश्वास है, जिसमें अधिक भिन्नता न हो। मुझे धनी व्यक्तियों की बेहुदगी और गरीबों की दरिद्रता अच्छी नहीं लगती।'
  (3) ' संसार की तथा भारत की समस्याओं का समाधान मुझे समाजवाद में ही मिलता है। जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूं तो सिर्फ मेरा इसके वैज्ञानिक और आर्थिक महत्व से अर्थ नहीं होता है। अर्थव्यवस्था से महत्वपूर्ण भी कुछ वस्तु है। समाजवाद एक जीवन दर्शन भी है, इसलिए मुझे भाता है। मेरी दृष्टि में निर्धनता, बेरोजगारी, दासता आदि को समाप्त करने के लिए समाजवाद के अलावा और कोई रास्ता नहीं दीखता।'
  (4) 'मैं साम्यवादी नहीं हूं, क्योंकि मैं साम्यवादियों के साम्यवाद को एक पवित्र धर्म मानने की आदत को बुरा समझता हूं- मैं समझता हूं कि साम्यवादी विचारधारा में हिंसा का बहुत महत्व है।'
  (5) 'मनुष्य केवल रोटी से जिन्दा नहीं रह सकता, न ही अर्थशास्त्र उसकी पूरी सहायता कर सकता है। 'यूनेस्को' की स्थापना इसलिए की गयी कि उन चीजों की भी रक्षा हो, जो मानव की प्रगति के लिए आवश्यक हैं।''
  (6) 'जब हम गुटनिरपेक्षता की बात करते हैं तो हमारा अर्थ होता है सैन्य-शक्ति पर आधारित गुटों से अलग रहना। यह एक नकारात्मक नीति नहीं है, बल्कि एक निश्चित सकारात्मक नीति है और मैं समझता हूं कि गतिशील भी है।'
  (7) 'मैंने बार-बार कहा है कि मैं '*तटस्थ*' (Neutral) शब्द को पसंद नहीं करता। मैं भारत की नीति को '*सकारात्मक तटस्थता*' की नीति भी नहीं कहता। हम निश्चय ही गुटनिरपेक्ष हैं, और सैन्य शक्ति पर अधारित किसी गुट के साथ नहीं हैं, किन्तु कुछ निश्चित नीतियों और आदर्शों पर हमारी आस्था है।'
  (8) गुटनिरपेक्षता का अर्थ है किसी सैन्य शक्ति प्रधान देश की तरफ न झुकना। इसका अर्थ है जहां तक संभव हो सके स्वतंत्र रूप से कार्य करना और दूसरों से दोस्ती रखना।'
  (9) वास्तव में गुटनिश्पेक्षता अपने आप में हमारी या किसी अन्य देश की नीति नहीं हो सकती। यह तो समकालीन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में एक प्रतिक्रिया है, जिसका अर्थ है अपना विचार स्वातंत्र्य कायम रखना।'

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

परिशिष्ट 'क' : भारतीय रियासतें

अट्ठारहवीं सदी के आरम्भ में महान मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। प्रभावी नियंत्रण के अभाव में भारत के विभिन्न स्थानों में बहुत सी भारतीय रियासतें, स्वायत्तता प्राप्त या अर्धस्वायत्तता प्राप्त इकाईयों के रूप में उभर कर सामने आयीं। इन छोटी-बड़ी रियासतों के विकास ने अंग्रेजों का काम आसान कर दिया। इनमें से हैदराबाद, अवध और राजपूत रियासतों ने स्वत: कम्पनी की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। इनमें से कुछ रियासतों ने मुगलों एवं मराठों से संघर्ष किया था। अंग्रेजों ने यहाँ हस्तक्षेप करके उनकी रक्षा की।

अंग्रेजों एवं भारतीय रियासतों के बीच संबंधों को हम निम्नलिखित अवस्थाओं में बांट सकते हैं:-

1. कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिए संघर्ष (1740-65)
2. घेरे की नीति (1765-1813)
3. अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813-57)
4. अधीनस्थ संघ की नीति (1858-1935)
5. समानता संघात्मक नीति (1935-1947)

इन अवस्थाओं का विस्तृत विवरण निम्नलिखित है:-

1. **कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता के लिए संघर्ष (1740-65) :** ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना मुख्यत: एक व्यापारिक संस्था के रूप में हुई थी। भारत में अपने व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने के लिए उसने स्थानीय मुगलों से सम्पर्क स्थापित किया तथा उनके अधीन उनकी अनुमति से देश के विभिन्न स्थानों में अपने व्यापारिक केन्द्र खोले। परन्तु शीघ्र ही इन्हें अन्य यूरोपीय शक्तियों यथा पुर्तगालियों, डच एवं फ्रांसीसियों से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। इन कम्पनियों से प्रतिस्पर्धा तथा भारत की राजनीतिक दुर्व्यवस्था से इन्होंने महसूस किया कि आर्थिक गतिविधियों को सुचारू तथा लाभप्रद ढंग से चलाने के लिए कुछ हद तक राजनीतिक नियंत्रण आवश्यक है। शीघ्र ही एक शांतिपूर्ण व्यापारिक संस्था, राज्य विस्तार द्वारा अपनी धाक जमाने के लिए उत्सुक एक शक्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी। अपने व्यापारिक हितों की रक्षा करने के लिए इन्होंने फ्रांसीसियों का अनुसरण किया तथा 1751 में आर्काट का घेरा डाल कर अपनी राजनैतिक सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया। इस क्रम में इन्होंने 1757 में प्लासी का युद्ध जीता तथा बंगाल के नवाबों को अपनी कठपुतली बना लिया। इस प्रकार 1764 में बक्सर के युद्ध में विजय प्राप्त कर इन्होंने 1765 में सम्राट शाह आलम से बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। इन सभी युद्धों के माध्यम से अब वह भारतीय रिसायतों की तरह ही एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया।

2. **घेरे की नीति (1765-1813):** इस नीति को मध्य राज्य की नीति (Ring Fence) भी कहा जाता है। इस काल में अंग्रेजों की यह नीति रही कि वे अपने पड़ोसी राज्यों की सीमाओं की रक्षा करें, ताकि उनकी अपनी सीमाएं सुरक्षित रहें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कंपनी ने अपने चारों ओर मध्य राज्य बनाने का प्रयास किया। कंपनी का एक अन्य उद्देश्य दूसरे भारतीय रियासतों से बराबरी की पदवी हासिल करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वारेन हेस्टिंग्स ने मैसूर एवं मराठों के साथ युद्ध किया। कम्पनी ने अवध की रक्षा व्यवस्था का कार्य संभाला, ताकि बंगाल की रक्षा की जा सके।

वेलेज्ली के आने से इस नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। वह चाहता था कि भारतीय रियासतें अपनी रक्षा के लिए कंपनी पर निर्भर रहें, चाहे इसके लिए उन्हें बाध्य ही क्यों न करना पड़े। 1803 में जार्ज बार्लो ने कहा था कि ''कोई भारतीय रियासत ऐसी नहीं रहनी चाहिए जो अंग्रेजी शक्ति पर निर्भर न हो अथवा जिसका राजनीतिक आचरण इसके पूर्णतया अधीन न हो''। यह नीति, घेरे की नीति का ही विस्तार थी। वेलेज्ली ने फ्रांस से अंग्रेजी रियासतों को बचाने के लिए सहायक सन्धि आरम्भ की। उसने हैदराबाद, मैसूर, अवध एवं अन्य छोटी-छोटी रियासतों से सहायक सन्धि की। इसके पश्चात् उसने 1803 में मराठों को और 1805 में होल्कर को हरा कर अंग्रेजी प्रभुसत्ता स्थापित की।

3. **अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813- 57):** लार्ड हेस्टिंग्स के समय में ब्रिटिश नीति में कुछ और परिवर्तन हुए। उसने ''पारस्परिकता और आपसी मित्रता'' की सन्धियों को ''निम्नपदस्थ सहयोग'' की सन्धियों में परिवर्तित कर दिया। अब अंग्रेजों में साम्राज्य की भावना जाग उठी एवं ''सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त'' का विकास होना आरम्भ हुआ। उसने अधिकांश भारतीय रियासतों को लाचार कर दिया कि वे युद्ध या सन्धि करने या दूसरी शक्तियों से सुलह करने के अपने सर्वोच्च अधिकारों को समप्रित कर दें। इस प्रकार उसने कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने पर राज्यों को बाध्य किया। औपचारिक दृष्टि से इन राज्यों की आंतरिक सर्वोच्च शासन शक्ति अक्षुण्ण थी, परन्तु व्यावहारिक तौर पर आंतरिक शासन के मामलों में ब्रिटिश रेजिडेन्ट बहुधा हस्तक्षेप किया करते थे। वे अब नियंत्रण अधिकारी के रूप में कार्य करने लगे। राजा चन्दूलाल हैदराबाद के प्रशासन में रेजिडेन्ट कर्नल लो से आज्ञा प्राप्त किया करते थे। यही स्थिति अन्य रियासतों यथा बड़ौदा एवं ट्रावनकोर में भी थी।

1833 के चार्टर एक्ट ने कंपनी को अपना व्यापार बन्द करने को कहा तथा वह अब व्यापारिक संस्था से राजनैतिक संस्था में परिवर्तित हो गयी। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने 1834 में संयोजन की नीति की स्पष्ट व्याख्या की और 1841 में इसका पुन: उल्लेख किया। गवर्नर जनरलों को हिदायत दी गयी कि वे साम्राज्य में नये राज्यों को मिलाने का कोई अवसर हाथ से न जाने दें। इसके अलावा वे वाणिज्यिक-वस्तुओं के वहन और राजस्व संग्रह के लिए अधिक सुविधाएं प्राप्त करे। लार्ड डलहौजी ने दत्तक पुत्र लेने की अनुमति

CHRONICLE IAS ACADEMY

न देने के अधिकार का प्रयोग किया और 'व्यपगत के सिद्धान्त' का प्रतिपादन एवं पालन किया। राज्यों का विलय करने में कुप्रबंध का भी बहाना बनाया गया। दरअसल यह कुप्रबंध नीति, सहायक सन्धि प्रणाली का ही परिणाम थी। इस प्रकार लार्ड विलियम बैंटिक ने 1831 में मैसूर, 1832 में कछार, 1834 में कुर्ग और 1835 में जैन्तिया, आकलैण्ड ने 1839 में करनूल एवं माण्डवी, 1840 में कालोबा एवं जालौन तथा डलहौजी ने अवध, सतारा, नागपुर आदि रियासतों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। इस नीति के बावजूद खैरपुर, बहावलपुर एवं कश्मीर को छोड़ दिया गया। अब कम्पनी के पास एक नया हथियार उनके शस्त्रागार में शमिल हो गया। यह था पूर्वोदाहरण का हथियार। इसका इस्तेमाल उसने राज्यों में हस्तक्षेप करने के लिए किया। इन सभी उपायों के द्वारा कंपनी ने अपनी सर्वश्रेष्ठता का प्रसार किया जो संयोगवश अनिश्चित एवं अपरिभाष्य थी।

4. अधीनस्थ संघ की नीति (1858- 1935) : 1857 के विद्रोह में रियासतों ने तूफान के समय बांध का काम किया था। अंग्रेजों ने इस तथ्य को समझते हुए रियासतों के साथ अपने संबंधों में कुछ परिवर्तन किए। 'रानी की घोषणा' में कहा गया कि ब्रिटिश वर्तमान राज्य का विस्तार नहीं चाहते हैं। जिन दो कारणों से देशी राज्य, ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये गये थे वे थे- स्वाभाविक उत्तराधिकारी का न होना तथा देशी राजाओं का कुशासन। अंग्रेजों ने व्यपगत के सिद्धांत को समाप्त कर दिया। 1860 में राजाओं को सनदें प्रदान की गयीं। इसके द्वारा हिन्दू राजाओं को दत्तक पुत्र गोद लेने का अधिकार प्राप्त हुआ तथा मुस्लिम सरदारों को इस्लाम के नियमानुसार किसी भी तरह से उत्तराधिकार निश्चित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। जहाँ तक कुशासन का प्रश्न है, सरकार की नीति कुशासित प्रदेश के राजा को दण्डित करना था, परन्तु उसे अपदस्थ करने के बाद भी राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाना था। इसी प्रकार ब्रिटिश, शासन में अब भी हस्तक्षेप कर सकते थे। सरकार ने बड़ौदा के मल्हार राव गायकवाड़ को कुशासन के लिए गद्दी से अपदस्थ किया, परन्तु राज्य का विलय नहीं किया गया। इसी प्रकार मणिपुर एवं टोंक में भी राजाओं को अपदस्थ कर दिया गया।

इन सभी परिस्थितियों ने राजाओं एवं क्राउन के बीच बराबरी की भावना सदा के लिए समाप्त कर दी। अब ब्रिटिश ताज ही भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति था। राजा से प्रभुत्व का अधिकार छीन लिया गया था। अब वह ताज के प्रसादपर्यन्त ही शासक बना रह सकता था, 1876 में लार्ड लिटन के कार्यकाल में ब्रिटिश महारानी विक्टोरिया को को जब कैसर-ए-हिन्द की उपाधि प्रदान की गयी तो इस नवीन संबंध पर मुहर भी लग गया। 1881 में जब मैसूर के राजवंश को मैसूर लौटा दिया गया, तो भी राज्य का लौटाना इस बात पर निर्भर था कि वह राजवंश राजभक्त रहे तथा क्राउन के अधीन रहे। इसके अलावा क्राउन इन रियासतों के बाहरी एवं विदेशी संबंधों पर भी पूरा नियंत्रण रखती थी। भारत सरकार इनकी ओर से युद्ध की घोषणा, तटस्थता और शांति सन्धि स्वयं ही कर सकती थी। इस संदर्भ में बटलर समिति ने भी कहा था कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में रियासतों के प्रदेश, अंग्रेजी भारत के प्रदेश हैं और रियासतों के नागरिक, अंग्रेजी भारतीय नागरिक की स्थिति में ही हैं।

इस काल में अंग्रेजों ने 'राजनैतिक परम्पराओं' और 'रीतियों' के माध्यम से रियासतों के अधिकारों को और कम कर दिया। क्राउन ने पुरानी सन्धियों की रचनात्मक व्याख्या की आड़ में रियासतों के अधिकार कम करने शुरू कर दिए।

इधर ब्रिटिश भारत में परिस्थितियाँ बदल रहीं थीं। भारत में राष्ट्रीयता की भावना जाग उठी थी तथा स्वतंत्रता संग्राम जोर पकड़ने लगा था। इस आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव ने भारत सरकार एवं रियासतों के संबंधों में कुछ परिवर्तन किए। 1905 से भारत सरकार ने इन रियासतों के प्रति सौहार्दपूर्ण सहकारिता की नीति अपनायी। चूँकि स्वतंत्रता संग्राम से भारत सरकार एवं रियासतों के राजा, दोनों को नुकसान हो सकता था, इसलिए सरकार ने प्रतिरक्षा की नीति अपनायी। अब भारत सरकार एवं देशी राजाओं ने अपने हितों एवं विशेषाधिकारों के रक्षार्थ एक मिला-जुला मोर्चा बनाया। मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में एक नरेन्द्र मण्डल के गठन का प्रस्ताव रखा गया और 1921 में इसका गठन किया गया।

नरेन्द्र मण्डल में प्रतिनिधित्व के मामले को लेकर रियासतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। 109 रियासतें, जिन्हें पूर्ण वैधानिक एवं क्षेत्राधिकार प्राप्त थे, उन्हें सीधा प्रतिधिनित्व दिया गया। 127 रियासतें, जिनके वैधानिक एवं क्षेत्राधिकार सीमित थे, उन्हें आपस में से चुने गये 12 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। शेष 326 रियासतों को जागीरों एवं सामंतशाही जागीरों के मालिकों की श्रेणी में रखा गया।

यह नरेन्द्र मण्डल एक सलाहकार समिति के रूप में था, न कि एक कार्यपालिका संस्था के रूप में। भारतीय रियासतों की जमीन से संबंधित मामलों में वायसराय इनसे राय लिया करता था, परन्तु मंडल भारतीय रियासतों के आंतरिक मामलों या उनके शासकों या उनके क्राउन से संबंधों पर विचार नहीं कर सकता था। वह न तो वर्तमान अधिकारों या वादों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकता था और न ही उनकी कार्य-संबंधी स्वतंत्रता को सीमाबद्ध कर सकता था। इन सभी मुद्दों को लेकर रियासतें, सरकार से क्षुब्ध थीं। वे कर संबंधी नीति के निर्धारण एवं चुंगी से प्राप्त राजस्व के संग्रह में हिस्सा मांगने लगे। फलत: दिसम्बर 1927 में राज्य सचिव ने भारतीय रियासत समिति की नियुक्ति की। अपने अध्यक्ष के नाम से यह समिति बटलर समिति कहलायी। इस समिति का उद्देश्य था, अधिपति शक्ति और भारतीय रियासतों के बीच संबंधों की जाँच करना तथा ब्रिटिश भारत और रियासतों के मध्य आर्थिक एवं वित्तीय संबंधों को ठीक करने के लिए सिफारिशें करना। इस समिति ने 1929 के आरम्भ में रिपोर्ट दी। भारतीय नरेशों, ने सुप्रसिद्ध वकील सर लैजली स्कॉट को समिति के सम्मुख, उनका दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया। समिति की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :-

1. सर्वश्रेष्ठता, सर्वश्रेष्ठ ही रहनी चाहिए, इस बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपना उत्तरदायित्व निभाना चाहिए।
2. अस्पष्ट मामलों में रीति-रिवाजों का सहारा लेना चाहिए।
3. रियासतें, क्राउन के साथ सन्धियों द्वारा बंधी हुई हैं। उन्हें अपने शासक की अनुमति के बिना किसी ऐसी भारतीय सरकार को, जो भारतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हो, कर नहीं देना चाहिए।
4. रियासतों के साथ व्यवहार करने के लिए क्राउन का एजेन्ट होना चाहिए, न कि सपरिषद् गवर्नर जनरल को। इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि भारत में उत्तरदायी सरकार बन भी जाये तो नरेन्द्र मंडल सुरक्षित रहेंगे।

समिति की सिफारिशों की यह कह कर आलोचना की गयी कि वे युग की भावना के अनुरूप नहीं थी तथा उन्होंने भारत के दोनों अर्धों के मध्य संबंधों को मधुर एवं संतोषजनक नहीं बनाया। सर्वश्रेष्ठता की परिभाषा भी स्पष्ट नहीं की गयी। भारतीय रियासतों एवं ब्रिटिश

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत के बीच संबंधों को प्रगाढ़ बनाने के लिए विभिन्न प्रयास किये गये। नेहरू समिति एवं साइमन कमीशन ने इसी बात पर बल दिया कि दोनों के संबंध मधुर एवं संतोषजनक बनाए जायें।

5. बराबर के संघ की नीति (1935- 47): जब भारतीय संविधान के प्रश्न पर विचार करने के लिए लंदन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया, तो भारतीय रियासतों के सोलह प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। देशी राजाओं ने प्रस्तावित संघ में शामिल होने के लिए यह शर्त रखी कि केन्द्रीय सरकार को उत्तरदायित्व मिलनी चाहिए।

1935 के अधिनियम के अनुसार प्रस्तावित भारतीय संघ की संघीय विधान सभा में उन्हें 375 में से 125 स्थान दिए गये और राज्य विधान परिषद् में 260 में से 104 स्थान। संघ तभी अस्तित्व में आता, जब कम से कम आधी जनसंख्या और परिषद् में आधे स्थानों वाली रियासतें, संघ में सम्मिलित हो जायें। ऐसा हो न सका और संघ अस्तित्व में नहीं आ सका।

जब 1937 में आम चुनाव हुए तो कांग्रेस ने महत्वपूर्ण सफलता दर्ज की। इसका व्यापक प्रभाव देशी रियासतों पर भी पड़ा। वहाँ भी उत्तरदायी सरकार एवं नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए आन्दोलन शुरू होने लगे।

देशी रियासतों में स्वतंत्रता के संघर्ष

सभी छोटे-बड़े देशी रियासतों में एक सामान्य बात यह थी कि ये सभी अंग्रेजी हुकूमत की प्रभुसत्ता को मानती थीं। बदले में अंग्रेजी हुकूमत ने इन्हें आन्तरिक और बाह्य खतरों में सहयोग और सुरक्षा की गारंटी दी थी। यद्यपि 1857 के विद्रोह में कुछ देशी राज्यों ने, जिन्हें व्यक्तिगत क्षति सहनी पड़ी थी, विद्रोहियों का साथ दिया था, तथापि अधिकतर देशी नरेश इस विप्लव से अलग ही रहे। इतना ही नहीं भारत के कुछ प्रमुख राजाओं जैसे सिंधिया एवं उनके मंत्री, हैदराबाद के निजाम के प्रधानमंत्री, पटियाला एवं कश्मीर के नरेशों ने न सिर्फ कम्पनी सरकार के प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की, बल्कि विद्रोह को दबाने में सैनिक एवं आर्थिक सहायता भी प्रदान की। शेष 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरणों तक ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के संबंध निश्चित एवं मैत्रिपूर्ण बने रहे। बाद में उन्हें सरकार में प्रतिनिधित्व भी दिया गया। वस्तुतः अंग्रेजी सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव से अपनी सुरक्षा के लिए एवं 'फूट डालो राज करो' की नीति के अनुसार इन देशी राज्यों को संरक्षण प्रदान किया। देशी राज्य भी अपने विशेषाधिकार की सुरक्षा एवं शान-शौकत के लिए सरकार-परस्त बन गये।

अधिकतर देशी राज्यों में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था। ब्रिटिश भारत की तुलना में इन राज्यों में भूमिकर (लगान) की दरें काफी ऊंची थी। कानून-सम्मत शासन और नागरिक अधिकारों का नामोनिशान न था। अधिकांश रियासतें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े हुए थे। इस गरीबी और पिछड़ेपन के लिए केवल रियासतें ही खुद जिम्मेदार नहीं थी। बीसवीं सदी में भी भारतीय रियासतों की इस दुर्दशा के लिए मूलतः अंग्रेजी हुकूमत ही जिम्मेदार थी। कुछ विवेकशील मंत्री या राजा सुधारों की बात सोचते भी थे तो उन्हें शक की निगाह से देखा जाता था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव यहां की त्रस्त जनता पर भी हुआ और वह संगठित होना शुरू हुई। यद्यपि कई कारणों से आरंभ में कांग्रेस ने देशी रियासतों की तरफ ध्यान नहीं दिया, फिर भी आगे चलकर इनके आन्दोलनों को कांग्रेस का पूरा समर्थन मिला। जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई तब भी वहां की जनता ने रियासतों के एकीकरण में कांग्रेस को सहयोग किया।

ब्रिटिश इंडिया में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रसार और लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा उत्तरदायी शासन प्रणाली के प्रति बढ़ती राजनैतिक चेतना ने देशी रियासतों की जनता को भी प्रभावित किया। 20वीं सदी के प्रारंभ में जो आतंकवादी ब्रिटिश इंडिया से भागकर देशी रियासतों में आ गये थे, उन्होंने वहां की जनता में राजनैतिक चेतना जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सबसे अधिक प्रभाव पड़ा खिलाफत और असहयोग आन्दोलनों का। इन आन्दोलनों के प्रभाव के कारण ही लगभग उसी समय रियासतों में अनेक जन संगठनों का जन्म हुआ। मैसूर, हैदराबाद, बड़ौदा, जामनगर, इंदौर, नवानगर तथा कठियावाड़ और दक्कन की रियासतों में राज्य जन कान्फ्रेंसों (State peoples conference) का गठन हुआ। 1927 में यह प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची जब दिसम्बर 1927 में *अखिल भारतीय राज्य जन कान्फ्रेंस* (All India State peoples conference) का आयोजन किया गया। इसमें विभिन्न रियासतों से आये 700 राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। इसके आयोजक थे-बलवंत राय मेहता, मणी लाल कोठारी और जी.आर. अभ्यंकर।

कांग्रेस ने 1920 में नागपुर अधिवेशन में पहली बार देशी रियासतों के प्रति अपनी नीति घोषित की। इससे पहले कांग्रेस की नीति अहस्तक्षेप की थी। अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर रियासतों के राजाओं से तुरंत उत्तरदायी सरकार के गठन भी मांग की गयी। साथ ही साथ कांग्रेस ने रियासतों की जनता को कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति दी। लेकिन यह हिदायत भी दी कि ऐसे लोग कांग्रेस के नाम से रियासत के अंदर राजनीतिक गतिविधियां नहीं चला सकते। फिर भी व्यक्तिगत हैसियत से या स्थानीय राजनीतिक संगठनों के सदस्य के रूप में राजनीतिक गतिविधियां शुरू करने या उनमें हिस्सा लेने की पूरी छूट थी। ऐसा करने के कई कारण थे - ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों की राजनीतिक हालत काफी भिन्न थी। यही नहीं रियासतों की राजनीतिक हालत भी भिन्न-भिन्न थी। नागरिक स्वतंत्रता नहीं थी। संगठन बनाने का अधिकार नहीं था और सबसे बड़ी बात यह थी कि कानूनी तौर पर ये रियासतें स्वाधीन रियासतें थीं। इसके अलावा वहां की जनता भयंकर गरीबी और पिछड़ेपन का शिकार थी। 1927 में कांग्रेस ने अपने 1920 के प्रस्ताव को पुनः दुहराया। 1929 में लाहौर अधिवेशन में नेहरू ने घोषणा की कि, "देसी रियासतें शेष भारत से अलग नहीं रह सकतीं ..... इन रियासतों की तकदीर का फैसला सिर्फ वहां की जनता ही कर सकती है।"

अखिल भारतीय रियासती जनता सम्मेलन की प्रारंभिक मांगें काफी उदार थी। इसने स्वतंत्र न्यायपालिका, उत्तरदायी मंत्रियों एवं विभिन्न सामाजिक एवं शैक्षणिक सुधारों की मांग की, परंतु रियासती शासकों ने इसे दबाने की चेष्टा की और सरकार ने इन्हें सहयोग दिया। ब्रिटिश सरकार ने 'बटलर कमेटी' के माध्यम से राज्य जन सम्मेलन की मांगों को अस्वीकार कर तथा गोलमेज सम्मेलन में राज्य जन सम्मेलन को प्रतिनिधित्व देने से इनकार कर अपने विरोधी रुख का परिचय दिया।

चौथे दशक के मध्य में परस्पर जुड़े हुए दो घटनाक्रमों ने रियासतों को काफी प्रभावित किया। पहला-भारत सरकार अधिनियम 1935 द्वारा एक संघ बनाने की योजना, जिसमें रियासतें भी सम्मिलित होती। लेकिन विधान मंडलों के लिए रियासतों के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार राजाओं को दिया गया। अंग्रेजों की मंशा थी कि इन

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रतिनिधियों का इस्तेमाल वे राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने में कर सकेंगे। लेकिन कांग्रेस, राज्य जन काफ्रेंस तथा अन्य संगठनों ने इसका विरोध किया और मांग की कि रियासतों का प्रतिनिधित्व करने के लिए जनता खुद अपना प्रतिनिधि चुनेगी। दूसरी घटना थी- 1937 में अनेक प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना। इससे रियासतों की जनता में नया आत्म-विश्वास जागा और राजनीतिक गतिविधियां तेज हुईं। 1938 तथा 1939 देसी रियासतों में चेतना के वर्ष थे। उत्तरदायी सरकार की मांग जोर पकड़ने लगी। कई जगहों पर जहां अब तक कोई जन संगठन नहीं बना था, बड़ी संख्या में प्रजामंडलों का गठन हुआ। जयपुर, कश्मीर, राजकोट, पटियाला, हैदराबाद, मैसूर, ट्रावणकोर और उड़ीसा रियासतों में बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू हुआ।

कांग्रेस ने जब यह देखा कि रियासतों की जनता में पर्याप्त जागृति आ गयी है और वह संघर्ष के लिए तैयार है तो उसने अपनी नीति बदली। 1939 के तिरुपति अधिवेशन में कांग्रेस ने अपनी नयी नीति को मंजूरी दी। अब कांग्रेस के नाम पर रियासतों में आन्दोलन चलाने पर कोई प्रतिबंध नहीं रहा। 1939 में ही *'राज्य जन कान्फ्रेंस'* ने लुधियाना अधिवेशन के लिए जवाहर लाल नेहरू को अध्यक्ष चुना। इस तरह रियासती आन्दोलन राष्ट्रवादी आन्दोलन से जुड़ गये।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारतीय राजनीति में तेजी से परितर्वन हुआ। कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया, राजनीतिक गतिविधियां थम-सी गयीं, लेकिन 1942 में फिर से राजनीतिक संघर्ष ने जोर पकड़ा। भारत छोड़ो आन्दोलन के समय कांग्रेस ने ब्रिटिश इंडिया और देसी रियासतों के बीच कोई भेद नहीं किया। रियासतों की जनता भी स्वाधीनता संघर्ष में शामिल हो गयी। इधर देशी नरेश भी स्वतंत्रता निकट जानकर कांग्रेस के निकट आने का प्रयास करने लगे। जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 1946 में उदयपुर में राज्य जन कांफ्रेंस का आठवां अधिवेशन सम्मन्न हुआ। यह पहला अधिवेशन था जो किसी रियासत में हुआ था और जिसे राज्य की तरफ से सुविधाएं प्रदान की गयी थीं।

स्वतंत्रता के समय अंग्रेजों ने रियासतों को स्वाधीनता का दर्जा देकर एक समस्या खड़ी कर दी थी, लेकिन राष्ट्रीय नेतृत्व ने इसे सूझ-बूझ के साथ सुलझा लिया। अधिकतर रियासतों ने तो आसानी से 'विलय दस्तावेज' पर हस्ताक्षर कर दिये, पर कुछ रियासतें जैसे ट्रावणकोर, जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद अंतिम दम तक कोशिश करती रहीं कि उनकी स्वाधीनता और संप्रभुता बरकरार रहे। लेकिन आखिर में सिर्फ हैदराबाद ने ही स्वतंत्र रहने का गंभीर प्रयत्न किया।

विभिन्न राज्यों में आन्दोलन

हैदराबाद : हैदराबाद मुस्लिम शासित राज्य था, जहां 90 प्रतिशत पदों पर मुस्लिम थे। 90 प्रतिशत भाषा-भाषी गैर-उर्दू के थे, परन्तु उर्दू एकमात्र राजकीय भाषा थी। सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों के अभाव, बेगार प्रथा, सामंती शोषण आदि के कारण हैदराबाद में मध्यम वर्ग ने भाषायी संगठनों के माध्यम से संघर्ष शुरू किया। कांग्रेस की अहस्तक्षेप की नीति से लाभ उठाकर *'आर्य समाज'* एवं *'हिन्दू महासभा'* ने वहां की जनता को निजाम एवं 'इतैहादुल मुसलमीन' नामक संगठन के विरुद्ध जागरूक किया। आर्य समाजी पंडित नरेदिणी ने हिन्दुओं के लिए अधिक नौकरियों की मांग की। इसी समय स्वामी रामानन्द तीर्थ और गोविन्द दास श्राफ, रविनारायण रेड्डी और कुछ मुसलमानों ने मिलकर 'रियासती कांग्रेस' का गठन किया (अक्तूबर 1938)। उस्मानिया विश्वविद्यालय के छात्रों ने भी *'वंदे मातरम् आन्दोलन'* चलाया। गांधीजी ने सांप्रदयिकता का हवाला देकर आन्दोलन बन्द करवा दिया। इससे राज्य में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ गया। 1939 में गुप्त रूप से कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और इसी के नेतृत्व में तेलंगाना आन्दोलन चला। 1946 से 1951 तक यह सर्वाधिक लम्बा गोरिल्ला कृषक संघर्ष था।

त्रावणकोर, कोचीन : त्रावणकोर, कोचीन एवं मालाबार में भी स्वतंत्रता की लहर जाग उठी। इन क्षेत्रों में ए.के. गोपालन, कृष्ण पिल्लई, नम्बुदरीपाद इत्यादि ने 'कांग्रेस समाजवादी दल' की स्थापना की। इस दल ने आन्दोलन को जन-समुदाय तक पहुंचा दिया। 1938 ई. में त्रावणकोर स्टेट कांग्रेस ने राज्य के दीवान सी.पी. रामास्वामी अय्यर के अत्याचारों के विरोध में आन्दोलन छेड़ दिया। सरकार ने कड़ाई से उनका दमन किया। अनेक व्यक्ति गोली से उड़ा दिये गये और जेल में बन्द कर दिये गये। बाध्य होकर दीवान को दमनात्मक कार्रवाई बन्द करनी पड़ी। गांधीजी के हस्तक्षेप से ही यहां आन्दोलन समाप्त हुआ।

मैसूर : मैसूर राज्य में जन आन्दोलन का विकास तेजी से हो रहा था। कांग्रेस के नेता इस राज्य में जन-आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहे थे। इस राज्य में जन आन्दोलन को प्रोत्साहित करने वाली दो संस्थाएं थीं- के.टी. भाष्यम की 'स्टेट कांग्रेस' जिसमें शहरी लोगों एवं बाह्मणों का प्रभुत्व था और के.सी. रेड्डी और एच.सी. दासप्पा के नेतृत्व वाली 'पीपुल्स फेडरेशन' जिसमे गैर बाह्मण ग्रामीण कृषकों का बाहुल्य था। 1937 ई. में कांग्रेस को वैधानिक रूप प्रदान करने एवं राज्य में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की मांग की गयी। राज्य सरकार ने इस मांग को दबाने के लिए दमनात्मक काईवाई की। अप्रैल 1938 में कोलार जिले के एक गांव की भीड़ पर गोली चलायी गयी, जिसमें करीब 30 व्यक्ति मारे गये। इस नृशंस हत्या की बात कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में भी उठायी गयी। पटेल के प्रयासों से राज्य के दीवान मिर्जा इस्माइल ने कांग्रेस को मान्यता तो दी, लेकिन उत्तरदायी सरकार की स्थापना की दिशा में कोई मांग नहीं मानी।

जयपुर : राजस्थान के कई राज्यों की तरह जयपुर में भी अत्याचारों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया गया। 1939 में यह अधिक उग्र हो गया। गांधीजी ने भी अपने तरीके से इस आन्दोलन में भाग लिया। उन्होंने जमनालाल बजाज को जयपुर में सत्याग्रह करने की आज्ञा प्रदान की। सरकार ने बजाज के जयपुर में प्रवेश करने पर प्रतिबंध लगा दिया। उसका उल्लंघन करने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इसके विरोध में सत्याग्रह हुए। बाद में सरकार ने समझौता कर बजाज को रिहा कर दिया।

राजकोट : राजकोट के दीवान वीरवाल के अत्याचारों से जनता एवं व्यापारी वर्ग समान रूप से त्रस्त था। राजकीय आय का अधिकांश हिस्सा राजा के भोग-विलास पर खर्च किया जाता था। जन हित के कार्यों की पूर्णत: अवहेलना की जाती थी। इसके विरुद्ध श्री यू.एन. ढ़ेबर के नेतृत्व में 'प्रजा परिषद' ने आन्दोलन चला रखा था। गांधीजी ने भी राजकोट के मामले में दिलचस्पी ली। उनके सहयोगियों श्रीमती कस्तूरबा गांधी, मनिबेन पटेल ने सत्याग्रह के दौरान 1939 में अपने आपको गिरफ्तार करवा लिया। मार्च 1939 में महात्मा गांधी ने अनशन आरंभ किया। सरदार पटेल ने भी सत्याग्रह में मदद की। राजनीतिक विभाग के हस्तक्षेप से यह मामला सुलझ गया।

उड़ीसा : उड़ीसा के कुछ राज्यों में श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए तथा सामंती अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए आन्दोलन किये गये। ढेंकानाल में धेनवकृष्ण चौधरी ने एक सत्याग्रह 1938 में प्रारंभ किया। इसी प्रकार नीलगिरि, नयागढ़, तलचर और रणपुर में जन

CHRONICLE IAS ACADEMY

विद्रोह हुए। इन्हें दबाने का पूरा प्रयास किया। इसी दौरान रणपुर में (1939 में) नियुक्त ब्रिटिश एजेंट की पत्थर मारकर हत्या कर दी गयी। गांधीजी ने लोगों के लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त कर आन्दोलन को समाप्त करवा दिया।

कश्मीर : कश्मीर में 'नेशनल कांन्फ्रेंस' ने सुधारों की मांग के लिए आन्दोलन की शुरुआत की। इसका नेतृत्व शेख अब्दुल्ला कर रहे थे। कश्मीर के शासक ने आन्दोलनकारियों पर भीषण अत्याचार किये। शेख अब्दुल्ला सहित अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये। कांग्रेस ने शेख अब्दुल्ला का साथ भी दिया, परंतु इस आंदोलन का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला।

रियासतों का एकीकरण एवं विलय

1940 के दशक में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अपनी चरम सीमा पर था। इस दौर ने तीव्र राजनैतिक गतिविधियाँ देखीं। ब्रिटिश सरकार ने गतिरोध को समाप्त करने के उद्देश्य से क्रिप्स मिशन (1942), वेवल योजना (1945), केबिनेट मिशन योजना (1946) और माउंटबेटन योजना के अन्तर्गत कई प्रस्ताव पेश किए। इन सभी योजनाओं में भारतीय रियासतों के भविष्य पर विचार किया गया। क्रिप्स योजना में रियासतों की सर्वश्रेष्ठता किसी और को देने का कोई विचार नहीं था। रियासतें, देश में एक तीसरी शक्ति के रूप में कार्य कर अपना पृथक अस्तित्व बनाना चाहती थीं।

केबिनेट मिशन में यह सिफारिश की गयी कि भारत एक संघ होगा एवं इसमें रियासतें भी शमिल होंगी। संघ को वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा एवं परिवहन तथा बाकी विषयों पर रियासतों को कानून बनाने का अधिकार होगा। रियासत के शासक इस योजना को स्वीकार करने पर राजी हो गये। परन्तु भारत के विभाजन संबंधी घोषणा हो जाने के पश्चात् त्रावनकोर एवं हैदराबाद ने इस योजना को अस्वीकार कर, स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने का प्रस्ताव किया। इधर 20 फरवरी को एटली की घोषणा तथा 3 जून की माउन्टबैटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि सर्वश्रेष्ठता समाप्त हो जायेगी और रियासतों को अधिकार होगा कि वे भारत या पाकिस्तान किसी एक में सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रकार माउन्टबैटन ने रियासतों को एक तीसरी इकाई के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने 5 जुलाई, 1947 को भारत सरकार द्वारा कायम किये गये भारतीय रियासत विभाग का कार्यभार लिया। उन्होंने भारतीय रियासतों की देश भक्ति को ललकारते हुए उनसे अनुरोध किया कि वे भारतीय संघ में रक्षा, वैदेशिक मामले एवं संचार व्यवस्था को भारत के अधीनस्थ बनाकर, इसमें सम्मिलित हो जायें। 15 अगस्त, 1947 तक 136 रियासतें भारत में सम्मिलित हो गयीं। कश्मीर ने विलय पत्रों पर 26 अक्टूबर, 1947 को जूनागढ़ एवं हैदराबाद ने 1948 में हस्ताक्षर किये। छोटी-छोटी रियासतें केन्द्र से प्रशासित किसी इकाई या पड़ोस के प्रांतीय प्रशासन में मिला दी गयीं। पूर्वी रियासतें उड़ीसा के प्रांत और मध्य प्रदेश में मिला दी गयीं तथा दक्कन एवं गुजरात की रियासतें बम्बई प्रशासन में मिला दी गयी। एक अन्य प्रक्रिया द्वारा कुछ रियासतों को मिला कर वृहत्तर प्रशासनिक संघ बनाया गया। इस प्रकार काठियावाड़ का संयुक्त राज्य, मत्स्य का संयुक्त राज्य, राजस्थान का संयुक्त राज्य, विन्ध्य प्रदेश का संयुक्त राज्य तथा पटियाला एण्ड ईस्ट पंजाब स्टेट्स यूनियन (पेप्सू) अर्थात पटियाला एवं पूर्व पंजाब राज्य संघ के प्रशासन के अधीन हिमाचल प्रदेश आदि का निर्माण हुआ।

इस प्रकार अथक प्रयासों के बाद रियासतों का एकीकरण एवं विलय संभव हो सका। कालान्तर में राज्य पुनर्गठन अधिनियम (1956) के द्वारा भाषाई आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन किया गया। इस अधिनियम के अनुसार 14 राज्य एवं 6 केन्द्रशासित प्रदेश बनाए गये। सम्प्रति भारत में 28 राज्य एवं 7 केन्द्रशासित प्रदेश हैं।

स्मरणीय तथ्य

- ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1600 ई० में हुई थी।
- कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता के लिए संघर्ष का काल 1740-65 है।
- इस काल में कंपनी ने प्लासी (1757) एवं बक्सर (1764) के युद्धों में जीत हासिल की।
- घेरे की नीति का काल 1765-1813 है।
- लार्ड वैलेजली ने भारत में कंपनी का सैनिक प्रभुत्व स्थापित किया।
- लार्ड हेस्टिंग्ज ने भारत में कंपनी की राजनैतिक सर्वश्रेष्ठता स्थापित की।
- लार्ड हेस्टिंग्ज के समय से अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813-1857) शुरू हुई।
- लार्ड वेलेज्ली द्वारा शुरू किये गये सहायक सन्धि को स्वीकार करने वाले राज्य थे - हैदराबाद (1798 और 1800), मैसूर (1799), तंजौर (1799), अवध (1801), पेशवा (1801), भोंसले (1803), सिन्धिया (1804), जोधपुर, जयपुर, मच्छेड़ी, बूंदी, भरतपुर।
- लार्ड डलहौजी के व्यपगत के सिद्धांत के अनुसार विलय किये गये राज्य थे - सतारा (1848), जैतपुर एवं संभलपुर (1849), बघाट (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854)
- कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने करौली के विलय की आज्ञा नहीं दी थी तथा लार्ड कैनिंग ने बघाट और उदयपुर राज्य वापस कर दिए थे।
- 1856 में अवध को कुप्रशासन के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया था।
- इससे पूर्व बैंटिक ने मैसूर (1831), कछार (1832), कुर्ग (1834), जैन्तिया (1835) तथा आकलैण्ड ने कुरनूल एवं माण्डवी (1839) तथा कोलाबा एवं जालौन (1840) को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया था।
- खैरपुर, बहावलपुर एवं कश्मीर का विलय इस समय नहीं किया गया था। कंपनी ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि वे उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।
- 1858 में 'व्यपगत के सिद्धांत' को समाप्त कर दिया गया था।
- 1876 को महारानी विक्टोरिया को कैसर-ए-हिन्द की उपाधि प्रदान की गयी थी।
- लार्ड रिपन के काल में मैसूर को 1881 में वापस स्थानीय राजवंश को लौटा दिया गया था।
- भारतीय रियासतों के आन्तरिक प्रशासन में ब्रिटिश हस्तक्षेप के उदहारण टोंक, गायकवाड़ (बड़ौदा), कश्मीर एवं मणिपुर हैं।
- इंडियन स्टेट्स कमेटी या बटलर समिति की नियुक्ति 1927 में की गयी थी तथा इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1929 के प्रारम्भ में पेश की।

CHRONICLE IAS ACADEMY

- 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित संघ में भारतीय रियासतों के सम्मिलित होने का प्रावधान किया गया था, परन्तु यह संघ नहीं बन पाया।
- नरेन्द्र मण्डल के गठन का प्रस्ताव मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में किया गया था। इसका गठन 1921 में हुआ था।
- माउन्टबैटन योजना ने ही सर्वश्रेष्ठता को समाप्त किया।
- कश्मीर ने 26 अक्टूबर 1947 को तथा जूनागढ़ एवं हैदराबाद ने 1948 में विलय पत्रों पर हस्ताक्षर किये थे।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में रियासतों की संख्या 562 थी, जो भारत के 45 प्रतिशत भूभाग पर फैली हुई थी।
- सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद और सबसे छोटी बिलबारी थी।
- *'घेरे की नीति'* काल में हुए युद्ध;
  प्रथम मराठा युद्ध तथा
  द्वितीय मैसूर युद्ध - वोरन हेस्टिंग्स
  तृतीय मैसूर युद्ध - कार्नवालिस
  द्वितीय मराठा युद्ध तथा
  चतुर्थ मैसूर युद्ध - वेलेजली
- लार्ड वेलेजली ने 'सहायक संधि' (Supsidiary Alliance) की शुरुआत की। भारत में प्रथम बार यह संधि हैदराबाद के निजाम के साथ तथा उत्तर भारत में प्रथम बार अवध के साथ की गयी, मैसूर को छोड़ सारी संधियां समानता और पारस्परिकता के आधार पर किया था।
- लार्ड मिण्टो ने 1809 ई. में रणजीत सिंह के साथ 'अमृतसर की संधि' की।
- सबसे अधिक सहायक संधि लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा की गयी थी।
- लार्ड बैंटिक ने 1831 में मैसूर, 1832 में कछार, 1834 में कुर्ग, और 1835 में जैंतिया रियासतों का अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर लिया।
- 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी पूर्णत: एक राजनैतिक संस्था बन गयी।
- डलहौजी ने विजय (युद्ध) द्वारा मार्च 1849 में पंजाब तथा 1852 में लोअर बर्मा अथवा पीगू का विलय कर लिया।
- डलहौजी ने कुशासन और भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर 1853 में बरार तथा 1856 में अवध का विलय कर लिया।
- डलहौजी ने व्यपगत के सिद्धांत के अनुसार सतारा (1848), जैतपुर तथा सम्भलपुर (1849), बघाट (1850), उदयपुर (1852) झांसी (1853) तथा नागपुर (1854) रियासतों का विलय कर लिया।
- डलहौजी ने नाना साहेब पेशवा की पेंशन समाप्त कर दी तथा मुगल सम्राट को लाल किला खाली करने के लिए बाध्य किया।
- लॉर्ड कर्जन ने रियासतों के राजाओं के विदेश भ्रमण कर रोक लगा दी।
- मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर 1921 में 'चेम्बर ऑफ प्रिंसेस' बना।
- 1927 में इंडियन स्टेट कमेटी (बटलर कमेटी) ने अपनी रिपोर्ट पेश की।
- 1927 में अखिल भारतीय राज्य जन कांफ्रेंस (All India State People Conference) का आयोजन हुआ। इसके आयोजक थे - बलवंत राय मेहता, मणि लाल कोठारी और जी.जार. अभ्यंकर।
- कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन, 1920 में रियायतों की जनता को कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति दी गयी।
- 1939 में राज्य जन कांफ्रेंस का आयोजन लुधियाना में हुआ, जिसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू थे।
- जवाहर लाल नेहरू की ही अध्यक्षता में 1946 में उदयपुर में राज्य जन कांफ्रेंस का आठवां अधिवेशन हुआ। यह पहला अधिवेशन था, जो किसी रियासत में हुआ था।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

परिशिष्ट 'ख' : 1947 से 2001 तक का इतिहास

राज्यों का भाषावाद पुनर्गठन

राज्यों के पुनर्गठन की आवश्यकता 20वीं शताब्दी के शुरू से ही महसूस की जा रही थी। माण्टफोर्ड रिपोर्ट 1918 ने राज्यों के पुनर्गठन की रूप-रेखा दी थी। इसमें राज्यों को भाषा के आधार पर विभाजित करने की सिफारिश की गई थी। भारतीय संवैधानिक कमीशन, 1931 ने भी राज्यों के भाषा के आधार पर पुनर्गठन की सलाह दी थी। भारतीय संवैधानिक कमीशन, 1931 की रिपोर्ट के परिणामस्वरूप 1937 में उड़ीसा राज्य का गठन किया गया। ब्रिटिश शासन के दौरान राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन किया। बंगाल विभाजन का विरोध कर कांग्रेस ने भी अप्रत्यक्ष रूप से भाषा के आधार पर राज्य के गठन का समर्थन किया। कांग्रेस ने भी अप्रत्यक्ष रूप से भाषा के आधार पर राज्य के गठन का समर्थन किया। कांग्रेस ने सन् 1920 में औपचारिक रूप से राज्यों के भाषा के आधार पर पुनर्गठन का समर्थन किया। सन् 1927 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें कहा गया कि अब समय आ गया है कि भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जाए। सन् 1928 के नेहरू रिपोर्ट में भी अनुशंसा की गई थी कि राज्यों को भाषा के आधार पर पुनः वर्गीकृत किया जाए।

लेकिन स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस के नीति में कुछ परिवर्तन आया। इसका कारण उस समय की असमान्य परिस्थिति से जुड़ी समस्याएं थीं, जिनका सामना सरकार कर रही थी। जैसे-देशी राज्यों का भारत में विलय, संविधान का निर्माण एवं विभाजन से उपजी समस्याएं एवं देश के आर्थिक नियोजन द्वारा विकास की आवश्यकता। इसलिए स्वतंत्रता के बाद देश के राज्यों के गठन की तत्कालीन व्यवस्था एक प्रकार से अंतरिम व्यवस्था ही थी। इसके अन्तर्गत पूरा देश 19 राज्यों में विभक्त था और ये राज्य तीन श्रेणियों में बंटे थे- भाग 'क' (9 राज्य) भाग 'ख' (5 राज्य) एवं 'ग' (5 राज्य)। सभी राज्यों को अलग-अलग दर्जा प्राप्त था तथा उनकी अलग-अलग विशेषताऐ थीं। साथ ही अंडमान-निकोबार द्वीप समूहों को भाग 'घ' में रखा गया था, जिसके अन्तर्गत केन्द्र शासित प्रदेशों, जिन्हे भारतीय सीमा के अन्तर्गत मिलाया जाना था को रखा गया। इसी प्रकार संविधान 'क' सातवें संशोधन, 1956 से पूर्व देश में 27 राज्य थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भाषा के आधार राज्यों के गठन के लिए प्रबल मांगें होने लगी और मुद्दे को बार-बार संविधान सभा में उठाया जाने लगा। संविधान सभा ने न्यायमूर्ति एस.के. धर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन कर दिया। धर आयोग ने इस आधार पर भाषायी राज्यों के गठन की मांग को ठुकरा दिया कि इससे राष्ट्रीय एकता को ऐसे समय में अनावश्यक और गंभीर खतरा उत्पन्न हो जाएगा, जब इसे सुरक्षित रखने के लिए हर संभव प्रयासों की आवश्यकता है। धर आयोग की रिपोर्ट में कहा गया कि इन मांगों को स्वीकार करना गैर जिम्मेदाराना तथा देश भक्ति विरोधी कार्य होगा। तथापि यह रिपोर्ट भाषायी आधार पर राज्यों के गठन के मांग को दबा नहीं सकी। विशेष रूप से मद्रास, हैदराबाद और मैसूर के तीन राज्यों में तेलुगु भाषी लोगों की उनकी पृथक आन्ध्रराज्य की मांग बहुत प्रबल थी। महाराष्ट्र के लोग गुजरात को मिलाकर बने संयुक्त बंबई के स्थान पर पृथक मराठी भाषी राज्य बनाना चाहते थे। इस प्रकार के मांगों से कांग्रेस में बड़ी चिंता व्याप्त हो गई और 1948 के अंत में कांग्रेस द्वारा इस प्रश्न को पूर्णतः विशुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से पुनर्वीक्षित करने के लिए जवाहर लाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और पट्टाभि सीतारम्मैया की सदस्यता वाली (जे.बी.पी. समिति) एक संयुक्त समिति गठित की गई। इस संयुक्त समिति की रिपोर्ट में भी कुछ संकोच के साथ भाषायी राज्यों के गठन के विरूद्ध राय व्यक्त की गई। इस समिति ने राज्यों में यथास्थिति बनाए रखने की वकालत की और केवल मात्र आन्ध्र राज्य संबंधी मांग को ही एक ऐसा खास मुद्दा माना, जिसे खुले मन से स्वीकार करना ही श्रेयस्कर समझा गया। इसी बीच श्रीरामल्लू की मृत्यु हो गई जो आन्ध्र प्रदेश की निर्माण की मांग को लेकर भूख-हड़ताल पर थे। इसके परिणामस्वरूप आन्ध्र प्रदेश में हिंसा शुरू हो गई और स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण हो गई। अतः सरकार ने न्यायधीश डा. वान्चू को इस मामले के जांच के लिए नियुक्त किया। फलतः उन परिस्थितियों में पहले भाषायी राज्य आन्ध्र प्रदेश की स्थापना सन् 1953 में हुई। इस परिस्थिति में भाषायी आधार पर राज्यों की गठन की मांग पुनः जोर पकड़ गई और अन्त में सरकार ने 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की स्थापना 1953 में की, जिसके अध्यक्ष श्री फजल अली थे एवं पं. हृदयनाथ कुंजरू व सरदार के. एम. पणिक्कर इस आयोग के सदस्य थे। आखिरकार निम्नलिखित कारणों से सरकार देश को भाषायी आधार पर बांटने को विवश हो गई:

(i) मूल रूप से अंग्रेजों द्वारा हस्तगत प्रांत तार्किक, वैज्ञानिक और भाषायी विचार का ख्याल किए बगैर बनाए गए थे। अंग्रेज प्रशासकीय सुविधा से मतलब रखते थे। अतः प्रदेशों को हस्तगत करने के पीछे सांस्कृतिक एक रूपता के बजाय प्रशासनिक सुविधा ही मूल मंशा रहती थी।

(ii) भाषायी राज्य सर्वसाधारण को लुभाते थे, अतः विरोधी दलों ने सत्ताधारी कांग्रेस के प्रति विरोध पैदा करने के लिए इस मुददे को हवा दी।

(iii) भाषायी सीमा निर्धारण सामाजिक-सांस्कृतिक सीमा के अनुरूप था।

(iv) भाषायी राज्य की मांग काफी जोर पकड़ चुकी थी एवं कई स्थानों पर संघर्ष एवं तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

आयोग ने अपनी रिपोर्ट 5 सितंबर, 1955 को पेश की, जिसे अक्टूबर, 1955 में जनता के समक्ष रखा गया। आयोग की कुछ प्रमुख सिफारिशें निम्नानुसार थीं:

(i) विद्यमान 27 राज्यों का पुनर्गठन 16 राज्यों एवं तीन संघ शासित प्रदेशों में किया जाए।
(ii) भाषायी अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान किया गया, जिसमें प्राथमिक विद्यालय स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा देने की व्यवस्था शामिल है।
(iii) राज प्रमुख व्यवस्था का उन्मूलन।
(iv) अखिल भारतीय सेवा का पुनर्गठन। इन सेवाओं के लिए 50 प्रतिशत अधिकारी राज्य के बाहर के होंगे।
(v) भारतीय भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित करना।
(vi) बंबई एवं पंजाब के बहुभाषी राज्यों को यथावत, बनाए रखना एवं होमलैण्ड की अवधारणा अस्वीकृत।

आयोग की सिफारिशों को लेकर कुछ असंतोष व्यक्त किया गया और काफी विचार-विमर्श के बाद 'राज्य पुनर्गठन एक्ट 1956' प्रस्तुत किया गया। सरकार ने आयोग की सभी सलाहों को मुख्य रूप से स्वीकार कर लिया। आयोग ने सलाह दिया था कि 16 राज्य और 3 केन्द्र शासित प्रदेश होने चाहिए। राज्य पुनर्गठन आधिनियम के अन्तर्गत भारत को निम्न 14 राज्य एवं 5 केन्द्र शासित प्रदेशों में बांट दिया गया:

1. आन्ध्र प्रदेश 2. असम 3. बिहार 4. बाम्बे 5. जम्मू एवं कश्मीर 6. केरल 7. मध्य प्रदेश 8. मद्रास 9. उड़ीसा 10. पंजाब 11. मैसूर 12. पश्चिम बंगाल 13. उत्तर प्रदेश 14. राजस्थान।

केन्द्रशासित प्रदेश थे- (i) दिल्ली (ii) हिमाचल प्रदेश (iii) मविपुर (iv) त्रिपुरा (v) अंडमान एवं निकोबार तथा लक्षद्वीप, अमीनद्वीप एवं मिनिकोय द्वीप।

इस अधिनियम के अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश को राज्य बनाया गया, जिसमें हैदराबाद का कुछ भाग जोड़ा गया। हैदराबाद राज्य का कुछ भाग मद्रास राज्य में जोड़ा गया। एक नये राज्य केरल का निर्माण त्रावणकोर और कोचीन को मिलाकर किया गया। मैसूर राज्य (वर्तमान कर्नाटक) में मद्रास, हैदराबाद एवं बंबई के कुछ भाग और कुर्ग को जोड़ा गया। नए राज्य बंबई का निर्माण मध्य प्रदेश उस समय के राज्य बंबई, सौराष्ट्र और कच्छ के कुछ भागों को मिलाकर किया गया। इसी प्रकार मध्य प्रदेश उस समय अस्तित्व में रहे राज्य एम.पी., विन्ध्य प्रदेश, भोपाल एवं राजस्थान के कुछ भागों को मिलाकर बनाया गया। अजमेर को राज्स्थान में जोड़ा गया तथा पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य को मिलाकर पंजाब राज्य बनाया गया।

राज्यों का पुनर्गठन सभी पक्षों को संतुष्ट नहीं कर सका और यह समस्या अभी भी बरकरार है, इसी का परिणाम असंतोष एवं जनजातीय राष्ट्र की मांग है तथा इसी के कारण वर्ष 1956 के बाद से देश में कई नये राज्यों का जन्म हुआ है। बंबई को दो भागों में विभाजित करके महाराष्ट्र और गुजरात राज्य, बंबई पुनर्गठन एक्ट 1960 के तहत बनाए गए। वर्ष 1962 में नागालैंड को अलग राज्य एवं वर्ष 1966 में पंजाब पुनर्गठन एक्ट 1966 के अन्तर्गत पंजाब को विभाजित कर पंजाब एवं हरियाणा राज्य बनाए गए। हिमाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा पूर्वोत्तर प्रदेश पुनर्गठन एक्ट के अन्तर्गत दिया गया। इसी तरह असम को पुनर्गठित कर मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश को केन्द्रशासित प्रदेश बनाया गया। 36वें संविधान संशोधन के द्वारा सिक्किम को वर्ष 1975 में भारत का 22 वां राज्य बनाया गया।

क्षेत्रीय परिषद

राज्य पुनर्गठन एक्ट, 1956 के अनुसार राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों तथा केन्द्र के मध्य सहयोग एवं समन्वय के उद्देश्य से क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की गई। कुल पांच क्षेत्रीय परिषदें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम एवं मध्य स्थापित की गई। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् में केन्द्रीय मंत्री, प्रत्येक राज्य के मुख्यमंत्री दो अन्य मंत्री तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासक सदस्य होते हैं। क्षेत्रीय परिषद् एक सलाहकार संस्था के रूप में कार्य करती है एवं उस क्षेत्र के राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों से संबंधित मामलों पर विचार करती है, जैसे- आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन, सीमा विवाद, अन्तर्राज्यीय परिवहन, राज्यों के पुनर्गठन से उठे मसले और इसी तरह की अन्य बातें तथा इनके समाधान के विषय में राज्यों एवं केन्द्र सरकार को सलाह देती है। क्षेत्रीय परिषद् का मुख्य उद्देश्य संथाल की भावना को बढ़ावा देना एवं क्षेत्रवाद एवं भाषायी क्षेत्रीयता की अलगाववादी भावना को

1987 में अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम एवं गोवा को भी राज्य का दर्जा मिल गया। इसके बाद राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली को राज्य का दर्जा दिया गया। नवंबर 2000 में 84वें संविधान संशोधन विधेयक के द्वारा केन्द्र सरकार ने छत्तीसगढ़, उत्तरांचल व झारखंड नामक तीन नये राज्यों की स्थापना की, जिससे वर्तमान में 28 राज्य एवं 7 केन्द्र शासित प्रदेशों का आस्तित्व सामने आया।

भारत को भाषायी आधार पर बांटने का निर्णय सांस्कृतिक दृष्टि से तो सही था क्योंकि अधिकांश मामलों में सांस्कृतिक क्षेत्र भौगोलिक विभाजनों से मेल खाते हैं। भाषायी राज्यों ने क्षेत्रीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार में सहयोग किया और इस प्रकार बहुतेरे राज्यों की विशेष पहचान विकसित हुई। तथापि यह विभाजन भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से सही नहीं है, क्योंकि यह समस्याएं हल करने के बजाए, पैदा करती हैं। पुनर्गठन ने क्षेत्रीय, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भाषायी आधारों पर जो जोर दिया है, उससे राष्ट्रीय एकता की भावना खासी कमजोर पड़ती है। बंबई को मुंबई, मद्रास को तमिलनाडु और मद्रास नगर को चेन्नई नाम दिया जाना इसी स्थानीयता का उदाहरण है। भाषायी राज्यों के गठन ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास की गति को काफी धीमी कर दी है, क्योंकि राज्य विशेष की स्थानीय भावना राज्य के संसाधनों का दूसरे राज्यों के लाभ हेतु उपयोग पर अक्सर आपत्ति करती है। सिविल सेवाओं को छोड़कर अंतरराज्यीय रोजगार संभावनाओं में अपेक्षानुकूल वृद्धि नहीं हुई है, क्योंकि राज्य भाषायी आधार पर गठित हैं।

असम में हिन्दी भाषियों के विरूद्ध हिंसा, महाराष्ट्र में उत्तर-भारतीयों का विरोध, दक्षिण के राज्यों में हिन्दी विरोध, तमिलनाडु-कर्नाटक विवाद आदि भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम है।

भारत आर्थिक-सामाजिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है और आगामी वर्षों में यह एक आर्थिक महाशक्ति बनने की संभावना रखता है। इसलिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षमता एवं सहयोग के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि भाषावाद अथवा क्षेत्रीय अलगाववाद संबंधी भावनाओं को हतोत्साहित किया जाए। आवश्यकता है कि भाषा के आधार पर गठित राज्यों के बीच सहयोग एवं समन्वय को हर कीमत पर प्रोत्साहित किया जाए।

क्षेत्रीयतावाद एवं क्षेत्रीय असमानता

किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों में अन्य क्षेत्र के लोगों के प्रति दृढ़ता का भाव होना स्वाभाविक है। साथ ही हर एक क्षेत्र की अपनी एक सामूहिक चेतना होती है और उस स्थान के साथ लोगों

CHRONICLE IAS ACADEMY

का एक भावनात्मक लगाव होता है। जब हम नयी क्षेत्रीयतावाद की बात करते हैं तो हमारा मतलब इन्हीं भावनाओं के प्रकटीकरण या सम्प्रेषण से होता है। क्षेत्रीयता एक ऐसा आन्दोलन है, जो क्षेत्र के हितों की सुरक्षा और उसके विकास को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वहां की दुरावस्था को एक राजनीतिक रूप देने का प्रयास करता है।

1. क्रियात्मक क्षेत्रीयतावाद
2. क्षेत्रीय आन्दोलन

क्रियात्मक क्षेत्रीयता का तात्पर्य है कि राज्य का अपनी सुविधा के लिए अपने भू-भाग को बांट देना। क्षेत्रीय आन्दोलन में सामूहिक चेतना का आधार राज्य द्वारा बनाया न होकर वहां की स्थानीय अस्मिता होती है। हां, इतना अवश्य है कि राज्य द्वारा बनाये क्षेत्र बहुधा राजनीतिकरण की प्रक्रिया को शक्तिशाली बनाने का कार्य करते हैं। क्षेत्रीयता का एक पक्ष जातीयता भी है, क्योंकि क्षेत्रीयता के सारे रूपों में जो बातें उभयनिष्ठ हैं, उनमें से एक है, 'प्रति संस्कृति' जिसका उद्देश्य स्वायत्तता है और दूसरा उभयनिष्ठ तत्व राजनीतिक बयानबाजी और स्वास्मिता का राजनीतिक रेखांकन है।

भारत में क्षेत्रीय चेतना का विकास

ऐतिहासिक रूप से भारत कभी भी एकीकृत नहीं रहा है। यद्यपि भारत शब्द का उपयोग बहुत पहले से हो रहा है, लेकिन इसका अर्थ समय के साथ बदलता रहा है। एक समय था, जब भारत का विस्तार अफगानिस्तान से वर्मा तक था, लेकिन इस विस्तार का यह समय एक छोटे से अंतराल में ही देखा जा सकता है। भारत का वास्तविक एकीकृत स्वरूप अंग्रेजों के समय ही सामने आ पाया। अंग्रेजों ने क्षेत्रीय शक्तियों को झुकाकर भारत पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। कुशल प्रशासन के लिए उन्होंने यातायात एवं जनसंचार के साधनों का विकास किया और राज्य के अधिकांश भागों को राजधानी से जोड़ दिया। लेकिन सभी क्षेत्रों का इतिहास अलग-अलग था। इसलिए उनके आदर्शपूरक भावनाओं और अस्मिता का विकास भी अलग-अलग दिशाओं में हुआ। इतिहास बोध की भावना से उभरी सांस्कृतिक भिन्नता की यह भावना आज भी उसी तरह से बनी हुई है और हमारे सामने क्षेत्रीयता के रूप में परिलक्षित होती है।

देश के विभिन्न भागों में क्षेत्रीयता दो मुख्य रूपों में विद्यमान है। अपने उग्र अवतार में यह एक हिंसक रूप लेकर भारत से एक क्षेत्र विशेष के रूप में अलग होने की मांग को लेकर प्रकट होता है। यह असंवैधानिक मांग भारत की स्थिरता एवं प्रादेशिक एकता के लिए खतरा है। क्षेत्रीयता का दूसरा रूप स्वायत्तता की मांग है, जिसका उदाहरण झारखंड, उत्तराखंड एवं छत्तीसगढ़ में पृथक् राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन एवं नये राज्यों का निर्माण है। इसी तरह की अन्य मांग गोरखालैंड, पूर्वांचल, पांचाल प्रदेश, विदर्भ, तेलंगाना, बोडोलैंड और सौराष्ट्र के रूप में देखा जा सकता है। उस सार्वजनिक धारणा के बावजूद भी स्वायत्तता और छोटे राज्यों की मांग अंततः देश को विखंडन की ओर ले जा सकती है। देश के भिन्न-भिन्न हिस्सों में इस तरह से मांगों का फैलाव लगातार जारी है। जनजातीय इलाकों के निवासियों का यह मानना है कि भाषायी आधार पर हुए राज्यों के पुर्नगठन से उन्हें कोई लाभ नहीं मिला है। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक अस्मिता को बचाने का एकमात्र तरीका अलग राज्य का निर्माण है।

वैसे वर्तमान में क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा एक अलग स्वरूप के अन्तर्गत भी दिया जा रहा है, जो राजनैतिक दलों द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ एवं हितों के पोषण के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है। राज्य विशेष अथवा क्षेत्र विशेष के स्थानीय निवासियों के आर्थिक हितों, रोजगार आदि के संरक्षण के नाम पर अन्य प्रदेश के लोगों के विरोध की प्रकृतियों को प्रोत्साहन की घटनाएं महाराष्ट्र, असम आदि में बढ़ती जा रही है।

क्षेत्रीयता के कारण

भारत में क्षेत्रीयता के जनन के पीछे इसका लंबा इतिहास, विखंडित भौगोलिक अवस्था, देश के विभिन्न भागों में प्रचलित भिन्न-भिन्न धारणाएं और सांस्कृतिक विविधता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

1. राज्यों के पुर्नगठन का भाषायी आधारः भारत में प्राचीन काल से ही भाषाओं की भरमार रही है, लेकिन भाषायी आधार पर राज्यों के पुर्नगठन ने भाषाओं पर आधारित अंतर को और मजबूत करने का कार्य किया है। भाषायी आधार पर बने राज्य राष्ट्रीय एकता के लिए एक प्रकार से खतरा है, क्योंकि यह क्षेत्रीयतावाद की भावना को बढ़ावा देते हैं, साथ ही राज्यों के बीच सहयोग को बढ़ाने में बाधा डालते हैं और पड़ोसी राज्यों के बीच वैमनस्य का भाव पैदा करते हैं। संसाधनों को पड़ोसी राज्यों के साथ मिल बांटने के बदले, उसे अपने ही राज्य के अंदर रखने की प्रक्रिया से विभिन्न राज्यों के बीच सद्भाव भी कम होता है। राज्यों के पुनर्गठन के दौरान क्षेत्रीय, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर अधिक जोर देने की प्रक्रिया ने राष्ट्रीय एकता की भावना को विशेषरूप से प्रभावित किया है। क्षेत्रीयतावाद के उदय के लक्षण 1960 एवं 70 के दशकों में प्रकट होने प्रारंभ हो गये थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण था तमिलनाडु में हिन्दी का विरोध एवं इसके बाद चुनावों में कांग्रेस के उपर डी.एम.के. पार्टी की विजय। पंजाब में अकाली आन्दोलन, जम्मू-काश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस पार्टी का गठन, इसी क्षेत्रीयतावाद का परिणाम था। हाल के वर्षों में बंबई को मुंबई, मद्रास को चेन्नई एवं बंगलौर को बंगलुरु कानाम दिया गया है। यह प्रांतीयता का एक अच्छा उदाहरण है।

2. सुदृढ़ राष्ट्रीय भावना का अभावः लोगों के अंदर अब पहले की तरह राष्ट्रीय भावना नहीं है, क्योंकि साम्राज्यवाद के विरूद्ध चल रहे स्वतंत्रता संग्राम को एकीकृत करने वाला प्रभाव डालना चाहता है। चीन द्वारा 1962 में आक्रमण के दौरान तथा 1965, 71 एवं 99 में भारत-पाक युद्ध के दौरान एकता एवं राष्ट्रीयता का जैसा दृश्य देखने को मिला है, वह शांति के समय नहीं मिलता है।

3. प्रभावकारी संबंधों का अभावः भौगोलिक बाधाओं एवं खासकर तराई एवं पिछड़े इलाकों में यातायात एवं जनसंचार की कमी ने विकास की गति को धीमा किया है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जहां पहुंचना आज भी कठिन है और आजादी के 60 वर्षों के बाद भी यहां के लोग पिछड़े हुए हैं। उन क्षेत्र के लोगों का विकास की प्रक्रिया से मोहभंग हो चुका है, क्योंकि वे न तो मुख्य धारा से जुड़ पाए हैं और न ही उन्हें विकास का कोई फल मिला है। अन्य राज्यों के द्वारा उन क्षेत्र के संसाधनों के शोषण ने समस्या को और भी गंभीर बना दिया है। इस तरह के निरंतर अलगाव, सरकारी उपेक्षा और आर्थिक शोषण ने उन्हें खिन्न कर दिया है। पूर्वोतर के राज्यों काश्मीर के संदर्भ में ये बातें विशेष रूप से क्षेत्रीयता के उद्गार के कारक रहे हैं।

4. सुदूर क्षेत्रों का सांस्कृतिक अलगावः लद्दाख व उत्तराखंड के पर्वतीय इलाके, हिमाचल प्रदेश और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र जैसे सुदूर प्रान्त में रहने वाले लोग आज भी मुख्य धारा में शामिल नहीं

CHRONICLE IAS ACADEMY

हैं। भारतीय प्रायद्वीप में हजारों वर्षों से आस-पास के इलाकों से प्रवासियों का आना-जाना जारी है। यहा विभिन्न जातीय समूह भिन्न-भिन्न रास्तों से भारत आए और देश के अलग-अलग हिस्सों में फैल गए। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग जातीय समूहों के केन्द्रित होने से एक ऐसे सामाजिक परिदृश्य का निर्माण हुआ, जिसमें हर क्षेत्र में एक विशेष जातीय समूह का बोलबाला स्थापित हो गया। ऐसे तीन क्षेत्र में, जहां एक विशेष जातीय समूह की जनसंख्या केन्द्रित है, दक्षिण, उत्तर-पश्चिम में खैबर और बोलन से होते हुए मध्य एवं पश्चिम एशिया के लोग आए और उत्तर-पूर्व में मंगोलायड नस्ल के लोग आए। उन सभी जनजातियों के अपने विशिष्ट सांस्कृतिक गुण थे, जिसका एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं था। उनका इतिहास बोध और भौगोलिक वातावरण बिल्कुल अलग-अलग थे। इन जाति समूहों ने भारत की हृदय-स्थली में रहने वाले लोगों से मिलने-जुलने की प्रतिक्रिया का विरोध किया।

एक अगम्य क्षेत्र तक पहुंचने तथा उसे मुख्य धारा में शामिल करने का जनसंचार बहुत ही प्रभावी माध्यम हो सकता है। हाल के दिनों में विशेषकर 1980 और 90 के दशक से टेलीविजन ने लोगों को मुख्य धारा में शामिल करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है। टेलीविजन के माध्यम से एक समान अवधारणा का विकास होता है क्योंकि यह लोगों की सोच, उनकी मनोवृति और उनके प्रत्यक्षीकरण को एक समान रूप में ढालता है। साथ ही यह जनता को चरित्र विशेष से जोड़ने में मदद करता है। इस संदर्भ में उत्तर-पूर्व के दो पक्ष ध्यान देने योग्य हैं:

(क) अधिकांश टेलीविजन कार्यक्रमों में एवं धारावाहिकों में बहुधा ऐसे चरित्रों का अभाव है, जिनके नयन नक्श मंगोलायड लोगों से मिलते हैं।

(ख) एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सिनेमा, मॉडलिंग, फैशन, खेलकूद एवं राजनीति में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है, जो इस क्षेत्र के लोगों के लिए मिसाल बन सके।

(ग) सुदूर एवं पिछड़े हुए क्षेत्रों में जनसंचार के साधनों का अपेक्षाकृत कम विकास भी हुआ है।

5. स्थानीय इतिहास एवं स्थानीय चरित्रों की उपेक्षा: स्थानीय स्तर पर वहां का इतिहास, चरित्र और समस्याएं महत्वपूर्ण होती है और उससे लोगों का जुड़ाव होना भी स्वाभाविक है। अगर किसी कारणवश स्थानीय व्यक्तित्वों की उपेक्षा होती है तो क्षेत्रीयता और भी प्रबल हो जाती है। बंगालियों का यह मानना है कि सुभाषचन्द्र बोस को भारतीय इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया गया। बिरसा मुंडा एवं शिवाजी के बारे में भी छोटानागपुर एवं महाराष्ट्र के लोगों का कुछ ऐसा ही सोचना है। राष्ट्रीय स्तर पर इनके इतिहास और व्यक्तित्वों को महत्व नहीं दिए जाने से इनकी भावनाएं आहत हुई एवं इन्होनें अपने अस्तित्व को रेखांकित करने का प्रयास किया।

6. हिंदी का विरोध: समय-समय पर गैर हिन्दी भाषी राज्यों में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी विरोध का स्वर जोर पकड़ता रहता है। संयोगवश यह स्वर सीमांत राज्यों से अधिक मुखरित रूप में सामने आता है। न राज्यों को ऐसा महसूस होता है कि हिंदी को उन पर थोपा जा रहा है, यो जिसके फलस्वरूप उनकी समृद्ध भाषायी एवं सांस्कृतिक विरासत को क्षति पहुंचती है। चूंकि ये राज्य अपनी भाषा के प्रति काफी गर्व का भाव रखते हैं और इसे हिन्दी से बेहतर मानते हैं। इसलिए न राज्यों में क्षेत्रीयता की भावना अधिक बलवती है।

7. आर्थिक पिछड़ापन: भारतीय सरकार राष्ट्रीय आय में हुई वृद्धि को विभिन्न क्षेत्रों के बीच एक समान रूप से बांटने में असफल रही है। वर्तमान में क्षेत्रीय स्वायत्तता के लगातार बढ़ रहे मांग और एक के बाद एक योजनाओं का अपने वायदे पर खरे न उतर पाने का सीधा संबंध माना जा सकता है। इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव जनजातीय बहुत क्षेत्रों को उठाना पड़ा है। विदर्भ, महाराष्ट्र, पूर्वोतर के राज्यों आदि के जनजाति लोग इस बात का एहसास करने के लिए बाध्य हो गए हैं कि उनके संसाधनों का न तो उन्हें उचित लाभ मिला है और न ही राष्ट्रीय आय ने बढ़ती तरक्की का वह अंश हो पाते हैं।

भारत में क्षेत्रीय असमानता

भारत में प्रादेशिक असमानता की समस्या बहुत से विकसित और विकासशील देशों की तुलना में अत्यधिक भिन्न रही है। यह न तो एक उतर-दक्षिण की समस्या है और न ही इसकी व्याख्या प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर की जा सकती है। यह एक आयामी समस्या नहीं है, बल्कि बहुआयामी समस्या है, जिसे बहुत से कारकों के संदर्भ में देखा जा सकता है। सामान्य रूप से भारत में प्रादेशिक असमानता के निम्नलिखित कारण रहे हैं:

(i) विविध संसाधन आधार एवं जटिल भूगोल: देश की भौगोलिक स्थिति में पर्याप्त असमानता है। कहीं पहाड़, कहीं पठार तो अन्य स्थानों पर मरूस्थल अथवा मैदान हैं। सामान्यत: उपजाऊ मैदानी क्षेत्रों का पर्याप्त आर्थिक विकास हुआ है। पंजाब, हरियाणा, पश्चिम उत्तर प्रदेश आदि इसके उदाहरण हैं। उसी प्रकार तटवर्ती प्रदेशों एवं परिवहन मार्गों से जुड़े क्षेत्रों को पूरा स्थिति लाभ प्राप्त हुआ है। देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता में अंतर है। यद्यपि वे क्षेत्र जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों का समुचित रूप से विदोहन किया है एवं जहां आधारिक संरचनाओं का समुचित विकास किया गया है, अत्यंत समृद्ध स्थिति में हैं। गुजरात, महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारतीय राज्य इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर अपेक्षाकृत दुर्गम भौगोलिक संरचना वाले क्षेत्र जैसे उत्तराखंड के पर्वतीय प्रदेश, राजस्थान के मरूस्थली भाग, मध्यवर्ती पठारी क्षेत्र के शुष्क प्रदेश एवं पूर्वोत्तर के राज्यों के पिछड़ापन का मूल कारण भौगोलिक स्थिति ही हैं।

(ii) औपनिवेशिक इतिहास से संबंधित कारक: सामान्यत: अंग्रेजों के शासनकाल में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उपयुक्त औद्योगिक, कृषक एवं खनन संबंधी स्थानों के विकास पर जोर दिया गया था। अंग्रेजों को समूचे देश के समान विकास में कोई रूचि नहीं थी। उसी प्रकार से प्रदेश या क्षेत्र, जहां की जनता ने उनके विरूद्ध सक्रिय आन्दोलन छेड़ा, उन स्थानों पर दमन एवं विनाश की नीति भी अपनाई गई। यही कारण है कि आज सर्वाधिक पिछड़ा माने जाने वाले राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि में औपनिवेशिक काल से ही आर्थिक विकास के समुचित उपाय नहीं किए गए, फलत: आज तक ये राज्य विकास की दौड़ में पिछड़े हुए हैं।

(iii) विकास संबंधी दोषपूर्ण सरकारी नीतियां: स्वतंत्रता के बाद सरकार द्वारा देश के सभी क्षेत्रों के संतुलित विकास हेतु नीतियां अवश्य बनाई गई, किन्तु विकास संबंधी कार्यक्रम या तो अपूर्ण रहे या असंतुलित रहे। वस्तुत: विकास योजनाओं का अधिक लाभ पहले से ही अपेक्षाकृत विकसित प्रदेशों को अधिक मिला, जबकि पिछड़े क्षेत्रों में पर्याप्त विकास नहीं हो पाया फलत: क्षेत्रीय असमानता और बढ़ गई, इन नीतियों में प्रमुख थे:

(A) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम

(B) हरित क्रान्ति

(C) पिछड़े क्षेत्रों के विकास को त्वरित करने में असफल रहीं योजनाएं:

CHRONICLE IAS ACADEMY

(क) सामुदायिक विकास कार्यक्रम
(ख) औद्योगिक प्रांगल परियोजना
(ग) ग्रामीण उद्योग परियोजना
(घ) औद्योगिक स्थानीकरण एवं
(ड़) औद्योगिक लाइसेंसिग नीति आदि

(D) सरकार ने कुछ क्षेत्रों एवं प्रदेशों के विकास पर बहुत अधिक ध्यान दिया, जबकि कुछ क्षेत्रों की उपेक्षा की गई। उदाहरण के लिए सरकार द्वारा पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात एवं दक्षिण के राज्यों एवं दिल्ली, मुंबई, चंडीगढ़, बंगलौर आदि विशेष नगरों को आर्थिक सहायता एवं उनकी समस्याओं को सुलझाने में बहुत अधिक तत्परता दिखाई। दूसरी ओर बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं पूर्वोत्तर के राज्यों एवं अत्य छोटे नगरों की उपेक्षा की गई।

(iv) उद्यमियों की क्षेत्रीय सकेंद्रता: भारत के प्रमुख उद्यमी जिनके पास पूंजीनिवेश की क्षमता थी, उनका संकेंद्रण मुख्य रूप में उन्हीं स्थानों पर हुआ, जहां या तो उनका परिवेश था या जिस स्थान से वे वह भाषायी, धार्मिक व राजनीतिक रूप से जुड़े हुए थे। इसी प्रकार औद्योगिक आवश्यकताओं से अनुकूल एवं पहले से ही औद्योगिक जड़त्व प्राप्त क्षेत्रों में ही मूल रूप से अधिक निवेश किया गया। इस कारण से संसाधनों का संतुलित और सर्वांगीण विकास नहीं हो सका।

(v) सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं क्षेत्रीय राजनीतिक कारक: जहां जनता सामाजिक रूप से कम गतिशील एवं अपेक्षाकृत कम प्रगतिवादी होती हैं, वहां विकास भी अवरूद्ध हो जाता है। जनजातीय क्षेत्रों एवं उड़ीसा, झारखंड आदि प्रदेशों के लिए ये बातें एक हद तक सत्य हैं। उसी प्रकार से प्रदेशों की व्यक्तिगत एवं स्थानीय राजनीति का भी विकास की प्रक्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। केरल की उत्तम राजनीति ने ही इसे विकास की रेखा में आगे लाकर खड़ा कर दिया है। दूसरे ओर, उथल-पुथल एवं संकीर्ण राजनीतिक परिदृश्य वाले प्रदेशों में विकास की प्रक्रिया भी अवरूद्ध हो जाती है।

भारत में प्रादेशिक या क्षेत्रीय असमानता का स्वरूप

क्षेत्रीय असमानता के विविध पक्षों की समग्रतापूर्वक समझने के लिए आवश्यक है कि विविध मापदंडों के आधार पर क्षेत्रीय असमानता के स्वरूप को समझा जाए। यहां क्षेत्रीय असमानता के निर्धारक मापदंडों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है:

(i) प्रति व्यक्ति आय: वर्ष 2003-04 में भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय (चालू मूल्य पर) 21142 रुपया थी। दिल्ली में प्रति व्यक्ति आय 51664 रुपया, पंजाब में 27851 रुपया, हरियाणा में 29963 रुपया एवं गोवा में 52600 रुपया प्रति व्यक्ति आय थी। दूसरी ओर बिहार, उत्तर प्रदेश, एवं मध्य प्रदेश में प्रति व्यक्ति आय क्रमश: 5780 रुपया 10814 रुपया एवं 14012 रुपया ही थी।

(ii) निर्धनता अनुपात: राज्य की जनसंख्या प्रतिशत के आधार पर उड़ीसा में सर्वाधिक निर्धनता है, यहां 47.5 प्रतिशत लोग निर्धनता रेखा के नीचे हैं। बिहार (42.4%), मध्य प्रदेश (37.4%), उत्तर प्रदेश (31%) एवं राजस्थान आदि में निर्धन लोगों की संख्या सर्वाधिक है। दूसरी ओर पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में निर्धनता प्रतिशत काफी कम है।

(iii) औद्योगिक विकास: औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से महाराष्ट्र भारत का अग्रणी राज्य है, जो पूरे देश के औद्योगिक उत्पादन का 25% अकेले करता है। महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, गुजरात, झारखंड, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश मिलकर देश का 83% औद्योगिक उत्पादन करते हैं, शेष 16.5 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन अन्य राज्य करते हैं।

(iv) नगरीकरण: देश की कुल जनसंख्या की 27.78 प्रतिशत नगरों में निवास करती है। नगरीयकरण के दृष्टिकोण से गोवा (47.77%), तमिलनाडु (43.86%), महाराष्ट्र (42.40%), गुजरात (37.5%) आदि अग्रणी राज्य हैं। दूसरी ओर सिक्किम में 11.1%, बिहार में 10.47% एवं हिमाचल प्रदेश में 9.79% ही नगरीकरण स्तर है।

(v) साक्षरता स्तर: साक्षरता के दृष्टिकोण से केरल (90.92%) सबसे आगे है। दिल्ली, चंडीगढ़, दक्षिण के अन्य राज्यों, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में साक्षरता प्रतिशत, राष्ट्रीय साक्षरता दर (64.62%) से अधिक है। बिहार, जम्मू-काश्मीर, अरूणाचल प्रदेश, उड़ीसा, झारखंड आदि में साक्षरता प्रतिशत न्यून है।

(vi) कृषि विकास: कृषि के क्षेत्र में सिंचाई सुविधाओं का विकास, प्रति व्यक्ति उर्वरक प्रयोग तथा प्रति हेक्टेयर खाद्यान्न उत्पादन आदि के दृष्टिकोण से पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि उत्तम स्थिति में हैं। कृषि के क्षेत्र में आधुनिक तकनीकों एवं सिंचाई सुविधाओं के विकास के बाद महाराष्ट्र, गुजरात एवं दक्षिण के राज्यों में भी कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। दूसरी ओर पर्वतीय प्रदेश, शुष्क एवं मरूस्थली प्रदेश आदि कृषि में पिछड़े हुए हैं।

(vii) अन्य मापदंड: स्वास्थ्य सुविधाएं एवं जीवन प्रत्याशा, परिवहन साधनों का विकास रोजगार स्तर, शिक्षण संस्थाओं का विकास एवं आधुनिकीकरण आदि अन्य मापदंडों के आधार पर भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में घनघोर असमानता एवं असंतुलन की स्थिति है।

प्रादेशिक असमानता अपने आप में एक अहं विषय है। भारत में उपरोक्त वर्णित कई तथ्यों के रूप में प्रादेशिक असमानता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, इसके लिए हमारे देश में उपर्युक्त वर्णित कई कारक भी विद्यमान हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि हमारे देखने का नजरिया भी प्रादेशिक असमानता के विषय को अनावश्यक तूल दे देता है, क्योंकि प्रकृति ने भारत ही को नहीं पूरे विश्व को असमानताओं से युक्त बनाया है। वास्तव में असमानता भी विश्व कार्य प्रणाली के संचालन के लिए एक आवश्यक अंग है। यदि क्षेत्रीय असमानता न हो तो विश्व का अर्थ प्रवाह ही रूक सकता है। वास्तव में, असमानता के लिए बाहरी शक्ति या कारकों का प्रभाव कम ही होता है। प्रमुख रूप से किसी क्षेत्र विशेष की प्राकृतिक प्रेरणा ही वहां के विकास या विनाश अथवा पिछड़ेपन आदि के लिए उत्तरदायी है। फिर भी हम प्रादेशिक असमानता को पूरी तरह से नकार नहीं सकते हैं, क्योंकि देश में चारो तरफ व्याप्त पृथक राज्यों की मांग, राष्ट्रीय एकता में उत्पन्न होती हुई बाधाएं, हिंसात्मक राजनीति को प्रोत्साहन, राज्य के मूल निवासियों द्वारा विशेष संरक्षण की मांग, क्षेत्रवाद का उत्थान, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय आदि समस्याएं क्षेत्रीय असमानता की ही देन हैं। सामाजिक लागतों में वृद्धि, सुरक्षात्मक खतरे में वृद्धि, प्राकृतिक विपदाओं का तांडव, सामाजिक जटिलताओं में हो रही वृद्धि एवं राजनीतिक जटिलताओं में वृद्धि जैसी समस्याएं अनायास ही हमारा ध्यान क्षेत्रीय असंतुलन जैसे महत्वपूर्ण विषय के ओर आकृष्ट करा देती हैं।

क्षेत्रीय असमानता को दूर करने हेतु सुझाव

हमें क्षेत्रीय विषमता के तथ्य को स्वीकार करते हुए वास्तविक एवं ईमानदार विकासमूलक योजनाओं को क्रियान्वित करने की रणनीति अपनानी होगी। क्षेत्रीय असमानता ही क्षेत्रीयतावाद के विकास का सर्वप्रमुख कारण है। अत: क्षेत्रीय असमानता को दूर करके न केवल देश के तीव्र एवं संतुलित विकास को गति दी जा सकेगी, बल्कि क्षेत्रीयतावाद एवं अलगाव संबंधी प्रवृतियों का निवारण भी संभव हो सकेगा। भारत में क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित पांच स्तरों पर सुझाव दिए जा सकते हैं:

CHRONICLE IAS ACADEMY

(i) कृषि की उत्पादकता क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने में सहायक हो सकती है। यह तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि हमारे देश का लगभग 70% भाग जो शुष्क प्रदेशों में है, उसकी उत्पादकता राष्ट्रीय स्तर से बहुत नीचे है। इन स्थानों की उत्पादकता को बढ़ाकर देश के आर्थिक विकास के प्रतिरूप में आमूल परिवर्तन लाये जा सकते हैं। इन क्षेत्रों के विकास का दूसरा पहलू यह होगा कि ग्रामीण नगरीय प्रवास में कमी आएगी और नगरीय समस्या में भी कमी आएगी।

(ii) भारत में क्षेत्रीय असमानता को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उद्योगों का विकेन्द्रीकरण हो। उद्योगों के एक स्थान पर अवस्थित होने से न तो समस्या का समाधान हो पाया है और न होगा। इस दिशा में दो सुझाव महत्वपूर्ण हैं:

(क) औद्योगीकरण की भावी प्रवृत्ति में यह ध्यान देना होगा कि उन उद्योगों की अवस्थिति ही पिछड़े क्षेत्रों में की जाये जिनका प्रसार प्रभाव सबसे अधिक है।

(ख) लघु एवं कुटीर उद्योगों की अधिक से अधिक स्थापना तथा इसके स्थापना के लिए सरकार के जोर से यथा संभव प्रयास हो। इस दिशा में हाल के वर्षों में अच्छी प्रगति भी हुई है।

(iii) हमारे देश की सबसे बड़ी विडम्बना है कि इसके कुछ भाग परिवहन के दृष्टि से विकसित है ही नहीं। परिवहन और संचार सेवाओं का महत्व इसलिए अधिक होता है कि ये अर्थव्यवस्था के विभिन्न घटकों के बीच कड़ी का काम करते हैं और स्थानिक अर्थव्यवस्था में व्याप्त बहुत से छिद्रों को भरने में सहायक होते हैं। परिवहन के विकास से अर्थव्यवस्था का समन्वय हो जाता है और प्रत्येक स्थान का स्थानिक विशेषीकरण भी हो जाता है। ऐसा इसलिए हो पाता है कि एक विशिष्ट पदानुक्रम पर दो केन्द्रों के बीच क्षैतिज समन्वय हो जाता है और छोटे तथा बड़े केन्द्रों के बीच परिवहन विकास के कारण छोटे केन्द्रों में उत्पादित वस्तुओं को बाजार मिल जाता है और बड़े केन्द्रों में निर्मित वस्तुओं के वितरण का एक साधन।

परिवहन भारत जैसे देश के लिए अन्य संस्थागत ढांचों की तुलना में सबसे महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है। यह देखा गया है कि वे स्थान जहां तक ब्रॉड-गेज रेलवे लाइन नहीं पहुंच पाया है, वे स्थान आर्थिक रूप से पिछड़े रह गये हैं। इस कमी को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि पूरे देश को एक गेज से जोड़ा जाय। उसी प्रकार सड़क एवं जल परिवहन व्यवस्था के विकास की भी आवश्यकता है।

(iv) देश की प्रादेशिक विषमता का एक प्रमुख कारण है, छोटे नगरों का अविकसित रह जाना एवं इनकी स्थिति में आ रहा निरंतर ह्रास। यह छोटे नगर, जो जनसंख्या के स्थानान्तरण को सोपानी स्वरूप देते हैं, इनके कमजोर पड़ जाने के कारण जनसंख्या का प्रवास सीधे महानगरों के ओर हो जाता है। इन छोटे नगरों का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें विशेषक रूप से विकसित किया जाए और कुछ ऐसे वृद्धि केन्द्र स्थापित किया जाए, जिसके कारण लोग उनकी ओर आकर्षित हों। जैसे स्कूल, छोटे औद्योगिक इकाइयां आदि। लेकिन यह उन स्थानों पर शक्ति के साधन नहीं होने के कारण प्रभावी नहीं हो सकता। इसलिए अगर किसी एक संस्थागत ढांचे का विकास पूरे देश के आर्थिक प्रतिरूप को बदल सकता है तो वह परिवहन के साथ शक्ति संसाधनों का विकास है।

(v) भारत जैसे विशाल देश में राजनैतिक असमानताएं, असंतुलन एवं विभिन्नताओं का होना आवश्यक है। इस प्रकार की राजनीतिक असमानता लोगों के आर्थिक एवं बाजार व्यवहार को प्रभावित करता है और किन स्थानों पर उद्योगों एवं अन्य आर्थिक प्रतिष्ठानों की स्थापना होगी इस निर्णय को भी प्रभावित करता है। इसके अलावा यह भी निर्धारित करना है कि स्थान विशेष का स्थानिक विशेषीकरण किस हद तक होगा हमारे देश के आर्थिक प्रतिरूप में आमूल परिवर्तन लाने के लिए कुछ राज्यों को जिनका आकार बहुत से पश्चिमी यूरोपीय देशों से भी बड़ा है उन्हें कुछ भागों में विभाजित करना पड़ेगा। इससे अधिक छोटे राज्यों का निर्माण होगा और इन छोटे राज्यों के बहुत से लाभ होंगे:

(क) इनमें प्रतिस्पर्धा की भावना अधिक होगी।
(ख) दो राज्यों के बीच व्यापार अधिक होगा।
(ग) छोटे राज्यों पर प्रशासन अच्छी तरह किया जा सकता है।
(घ) अगर इन राज्यों में कुछ हद तक स्वायत्तता होगी तो इनकी कार्यक्षमता भी अधिक होगी।
(ङ) छोटे राज्य अपने संसाधनों का अच्छी तरह प्रबंधन कर पायेंगे।
(च) छोटे राज्य विभिन्न नृजातीय समूहों की समस्या और उनकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक भावनाओं का संरक्षण भी कर पायेंगे।

उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त आवश्यकता है कि क्षेत्रीयता एवं भाषावाद संबंधी भावनाओं को हतोत्साहित किया जाए। इसके लिए देश जनसामान्य को भी संकुचित मनोवृतियों से उपर उठकर राष्ट्रहित में सोचना होगा।

भारतीय रियासतों का एकीकरण

भारतीय रियासतें क्या थीं?

औपनिवेशिक भारत में, करीब-करीब इसका चालीस प्रतिशत भू-भाग छोटे और बड़े ऐसे छप्पन रियासतों द्वारा घिरा था, जिस पर शासन करने वाले राजाओं को ब्रिटिश पारामाउंटसी (सर्वोच्चता) के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त थी। अंग्रेजी शासन उन्हें अपनी जनता से बचाने के साथ-साथ बाहरी आक्रमणों से तब तक बचाती थी, जब तक कि वे अंग्रेजों की बात मानते रहते थे।

1947 में प्रश्न यह था कि अंग्रेजों के जाने के बाद इन देशी रियासतों का क्या होगा। लेकिन बहुत कुशलता और दक्षतापूर्ण राजनयिकता के साथ प्रलोभन और दबाव का प्रयोग करते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल, सैकड़ों रजवाड़ों और रियासतों को भारतीय संघ में दो चरणों में विलय करने में सफल हुए। कुछ रियासतों ने अप्रैल 1947 की संविधान सभा में शामिल होकर समझदारी और यथार्थता के साथ प्राय: कुछ हद तक देशभक्ति दिखाई। परंतु अधिकांश राजा इसके अलग रहे और कुछ राजाओं ने, जैसे- ट्रावणकोर, भोपाल और हैदराबाद के राजाओं ने सार्वजनिक रूप से यह घोषित किया कि वे स्वतंत्र दर्जा का दावा पेश करना चाहते है।

भारतीय रियासतों के एकीकरण का प्रथम चरण

द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने से राजनीतिक माहौल में जबरदस्त बदलाव आया। कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। अंग्रेजी हुकुमत ने भारतीय प्रतिरक्षा कानून पास किया और रियासतों में भी राजनीतिक गतिविधियां थम सी गईं। लेकिन 1942 में फिर राजनीतिक संघर्ष ने जोर पकड़ा। भारत छोड़ो आंदोलन शुरू किया। इस बार कांग्रेस ने पहले की तरह ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों बीच पहले की तरह ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों बीच कोई भेद नहीं किया। रियासतों में भी संघर्ष का शंखनाद हुआ और देसी रियासतों की जनता भारतीय

CHRONICLE IAS ACADEMY

स्वाधीनता संघर्ष में शमिल हो गई। अब रियासतों की जनता का भी नारा था 'भारत छोड़ो'। रियासतों को भारत राष्ट्र का अभिन्न अंग मानने की भी मांग उठाई गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्ति के बाद जब सत्ता हस्तांतरण पर बातचीत होने लगी, तो रियासतों की समस्या उठ खड़ी हुई। क्रिप्स योजना 1972, बेवेल योजना 1945, केबिनेट मिशन योजना 1946 और अंत में 28 फरवरी, 1947 को प्रधानमंत्री इटली की घोषणा में भारतीय रियासतों के भविष्य पर विचार किया गया।

क्रिप्स योजना में रियासतों की सर्वश्रेष्ठता किसी और को दे देने का कोई विचार नहीं था। रियासतों ने पूर्ण प्रभुसत्तापूर्ण संघ, जो कि देश में एक तीसरी शक्ति के रूप में कार्य कर सके, बनाने की भिन्न-भिन्न योजनाओं के बारे में विचार किया। परंतु 20 फरवरी, 1947 की एटली की घोषणा और 3 जून, 1947 की माउंटबेटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि सर्वश्रेष्ठता समाप्त हो जायेगी और रियासतों को अधिकार होगा कि वे पाकिस्तान अथवा भारत, किसी में सम्मिलित हो सकती हैं। लार्ड माउंटबेटन ने एक रियासत अथवा अनेक रियासतों के संघ को एक तीसरी इकाई के रूप में मान्यता देने से इंकार कर दिया।

सरदार पटेल और रियासतों का एकीकरण और विलय

राष्ट्रीय अस्थायी सरकार में सरदार पटेल रियासती विभाग के कार्यवाहक थे। उन्होंने भारतीय रियासतों की देशभक्ति को ललकारा और अनुरोध किया कि वे भारतीय संघ में अपनी रक्षा, विदेशी मामले और संचार व्यवस्था को भारत अधीनस्थ बनाकर, सम्मिलित हो जाए। इस बीच, 1946-47 में रजवाड़ों में जन-आंदोलनों की एक नई लहर उठी, जिसमें हर जगह राजनीतिक अधिकारों की तथा संविधान सभा में निर्वाचित प्रतिनिधित्व की मांग की जा रही थी। 15 अगस्त, 1947 तक 136 क्षेत्राधिकारी रियासतें भारत में सम्मिलित हो गई थीं। बहुत सी छोटी-छोटी रियासतें जो एक अलग इकाई के रूप में आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था में नहीं रह सकती थी, संलग्न प्रांतों में विलय कर दी गई। जैसे- उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की 39 रियासतों उड़ीसा या मध्य प्रांत में विलय कर दी गई और गुजरात की रियासतें बंबई प्रांत में। इन रियासतें के विलय का एक अन्य रूप ऐसी इकाइयों के रूप में भी गठन करना था, जो केन्द्र द्वारा प्रशासित की जाए। इस श्रेणी में हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, भोपाल, विलासपुर और कच्छ की रियासतें थीं। एक अन्य प्रकार का विलय, राज्य संघों का गठन करना था। इस प्रकार कठियावाड़ की संयुक्त रियासतें, मत्स्य की संयुक्त रियासतें, विन्ध्य प्रदेश और मध्य भारत के संघ 'पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ (PEPSU), राजस्थान, ट्रावणकोर और कोचीन की संयुक्त रियासतें अस्तित्व में आयीं।

मगर यह सब एक वर्ष से कुछ ही अधिक की आश्चर्यजनक रूप से अल्प अवधि में पूरा कर लिया गया। इसके लिए दिया जाने वाला मुख्य प्रलोभन था- उदारतापूर्ण प्रिवीपर्स। कुछ नरेशों को गवर्नर या राजप्रमुख की बनाया गया। भारत की तीव्र एकीकरण निश्चय ही सरदार पटेल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी, यद्यपि यह भी स्मरणीय है कि जनता के दबावों की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। इसे हम सशक्त प्रजामंडल आंदोलन के रूप में देख सकते हैं।

भारतीय रियासतों के एकीकरण का द्वितीय चरण

15 अगस्त, 1947 तक सिवाय जूनागढ़, जम्मू और कश्मीर तथा हैदराबाद को छोड़कर, सभी रजवाड़े भारत में शामिल हो गए। हालांकि 1948 के अंत तक आनाकानी कर रहे इन तीनों रियासतों को भी भारत में शामिल होने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1. जूनागढ़ का विलय: काठियावाड़ में 'जूनागढ़' के मुसलमान शासक को, जो पाकिस्तान में सम्मिलित होने का प्रयास कर रहा था, जो आंदोलन और पुलिस कार्यवाही के मिले-जुले प्रयासों से रास्ते में लाया गया। शुरू से ही जातीय राष्ट्रवादी नेता, राजाओं के दावों के मुकाबले जनता की संयुक्ता का अधिक आदर करते थे। अत: इस मामले में भी नेहरू और पटेल इस बात से सहमत थे कि जूनागढ़ के संदर्भ में भी निर्णायक स्वर जनता का होना चाहिए। इसके विरूद्ध पाकिस्तान ने जूनागढ़ का विलयन स्वीकार कर लिया। जबकि दूसरी तरफ राज्य की जनता, शासक के निर्णय को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। उन्होंने एक जन आंदोलन संगठित किया और नवाब को भागने के लिए मजबूर कर दिया तथा एक तात्कालिक सरकार की स्थापना की। जूनागढ़ के दीवान शाह नवाज भूट्टो ने भारत सरकार को हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया। इसके बाद भारतीय सेना राज्य में प्रवेश कर गई। फरवरी 1948 में रियासत के अंदर एक जनमत संग्रह कराया गया जो व्यापक तौर पर भारत विलय के पक्ष में गया।

2. कश्मीर का विलय : कश्मीर रियासत की सीमा भारत और पाकिस्तान दोनों से मिलती थी। इसका शासक हरिसिंह एक हिन्दू था, जबकि राज्य की 75 प्रतिशत आबादी मुसलमान थी। हरिसिंह भारत और पाकिस्तान दोनों में विलय से बचना चाहता था। हालांकि नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व में लोकप्रिय राजनीतिक शक्तियों और इसके नेता शेख अब्दुल्ला भारत में विलय चाहते थे। भारतीय नेता चाहते थे कि कश्मीर की जनता ही निर्णय ले कि वह अपने भाग्य को भारत के साथ जोड़ना चाहती है या पाकिस्तान के साथ। परंतु पाकिस्तान ने आम जनता के निर्णय की अवहेलना करने की कोशिश की। इसने 22 अक्टूबर, 1947 को अनाधिकारिक रूप में पाकिस्तानी सैनिक अफसरों के नेतृत्व में कई पठान कबीलाइयों ने कश्मीर की सीमा का अतिक्रमण किया और तेजी से कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की तरफ बढ़ने लगे। घबरा कर 24 अक्टूबर, 1947 को महाराज ने भारत से सैनिक सहायता की अपील की। 26 अक्टूबर, 1947 को महाराज ने कश्मीर को भारत में विलय कर शेख अब्दुल्ला को रियासत के प्रशासन का प्रमुख बनाने को तैयार हो गए। भारत ने घोषणा की कि घाटी में शान्ति तथा कानून-व्यवस्था बहाल होने के बाद विलय के निर्णय पर जनमत संग्रह कराया जाएगा। भारतीय सरकार ने 27 अक्टूबर, 1947 को सेना कश्मीर भेजी, सेना ने पहले श्रीनगर के बाहर खदेड़ दिया गया। हांलाकि फिर भी उन्होंने राज्य के कई हिस्सों पर कुछ नियंत्रण बनाए रखा और महीनों तक सशस्त्र मुठभेड़ होते रहे। अन्तत: संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक प्रस्ताव के द्वारा भारत और पाकिस्तान दोनों ने 31 दिसंबर, 1948 का युद्ध विराम स्वीकार कर लिया, जो अब तक लागू है। राज्य का विभाजन युद्ध विराम रेखा के साथ-साथ हो गया। जनमत संग्रह इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि पाकिस्तान ने आज के तथाकथित आजाद कश्मीर से अपनी सेनाओं को वापस बुलाने से इंकार कर दिया।

3. हैदराबाद का विलय : हैदराबाद भारत का सबसे बड़ा रियासत था और यह चारों तरफ से भारतीय भू-भाग से घिरा हुआ था। हैदराबाद का निजाम 15 अगस्त, 1947 के पहले भारत में शामिल होना स्वीकार नहीं किया। बदले में पाकिस्तान द्वारा प्रोत्साहित होकर एक स्वतंत्र दर्जे का दावा किया और अपनी सेना का विस्तार करने लगा। इस बीच राज्य में तीन अन्य राजनीतिक घटनाएं घटित हुईं। पहली यह थी कि अधिकारियों की सांठगांठ से एक उग्रवादी मुस्लिम सांप्रदायिक संगठन इतिहार-उल-मुसलमीन और इसके अर्धसैनिक अंग

CHRONICLE IAS ACADEMY

रजाकारों का बहुत तेजी से विकास हुआ, जिन्होंने संघर्षरत जनता को भयभीत कर उन पर आक्रमण शुरू कर दिया। दूसरी घटना थी, 7 अगस्त, 1947 की निजाम से जनवादीकरण की मांग को लेकर हैदराबाद रियासत कांग्रेस ने एक शक्तिशाली सत्याग्रह आंदोलन शुरू कर दिया। तीसरी घटना थी, कम्युनिस्टों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली किसान संघर्ष रियासत के तेलंगाना क्षेत्र में विकसित हुआ। इन किसान दलों ने बड़े जमींदारों पर हमला किया और उनकी जमीनों को किसानों और भूमिहीनों के बीच बांट दिया। हैदराबाद में इस अव्यवस्था एवं अराजकता के बीच 13 सितंबर, 1948 को भारतीय सेना हैदराबाद में प्रवेश कर गई। तीन दिनों के बाद निजाम ने समर्थन कर दिया और नवंबर में भारतीय संघ में विलय को स्वीकार कर लिया। निजाम को राज्य के औपचारिक शासक या राजप्रमुख के रूप में बहाल रखा गया।

हैदराबाद के अधिग्रहण के बाद भारतीय संघ में देशी रजवाड़ों के विलय का कठिन कार्य संपन्न हो गया और भारत सरकार की हुकूमत पूरी भारतीय जमीन पर चलने लगी।

राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न

राष्ट्रीय भाषा क्या है?

भारत एक बहुभाषाई राष्ट्र है। तमिल, मलयालम, मराठी, उड़िया, बंगाल आदि राष्ट्र की भाषाएं हैं, हिन्दी पूरे राष्ट्र की भाषा है। हमारे नेताओं ने एक स्वर से इसी को सारे देश की संपर्क भाषा मानकर राष्ट्रभाषा कहा और अन्य भाषाओं को राष्ट्र की नाना भाषाएं माना, जिन्हें हमारे संविधान की आठवीं अनुसूची में परिणात कर दिया गया।

हिन्दी राष्ट्रीय भाषा क्यों है?

एक राष्ट्र में एक राष्ट्रभाषा हमारे गौरव और हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रतीक है। सार्वदेशिक, सर्वराष्ट्रीय या पूरे देश की संपर्क भाषा बनने या मान्य होने के लिए विद्वानों ने हिन्दी की विशेषता बताई कि यह राष्ट्र में बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली जाती है, इसका अपने क्षेत्र से बाहर भी व्यापक विस्तार है। यह राष्ट्र की सांस्कृतिक और भाषिक विरासत की सशक्त उत्तराधिकारी है। इसकी व्याकरणिक संरचना सरल, सुबोध और वैज्ञानिक है। इसकी शब्द-सामर्थ्य तथा अभिव्यंजनात्मक क्षमता उत्तम है। इसमे जीवतंता और सजीवता है ताकि यह नये शब्दों और प्रयोगों को आत्मसात करती हुई विकासोन्मुख रहती है, इसकी लिपिपूर्ण और वैज्ञानिक है।

उपरोक्त आधारों पर हिन्दी अपनी सार्वदेशिकता और सर्वप्रियता उसके राष्ट्रभाषा हाने का प्रमाण है।

स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी राष्ट्रीय भाषा के रूप में

सदियों से हिन्दी पूरे भारत वर्ष में संपर्क भाषा के रूप में विकसित होती रही है। बाद में जब ब्रिटिश सरकार के प्रतिरोध में स्वाधीनता संघर्ष हुआ, हिन्दी ने सम्पूर्ण राष्ट्र को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर अपनी शक्ति बढ़ाई। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, महात्मा गांधी, स्वामी दयानंद, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार पटेल, सी. राजगोपालाचारी, सर टी. विजयराघवाचार्य, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, लेखकों, पत्रकारों आदि ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में अमूल्य योगदान दिया। सन् 1942 और 1945 का समय ऐसा था जब देश में स्वाधीनता की लहर सबसे अधिक तीव्र थी। जब जितने राष्ट्रगीत और सद्भावना से ओतप्रोत रचनाएं लिखी गईं, उतनी शायद किसी और भाषा में इतने व्यापक रूप से नहीं लिखी गई। इन दिनों हिन्दी प्रेस सबसे अधिक सक्रिय रहे। राष्ट्रभाषा के प्रयास के साथ राष्ट्रीयता के प्रबल हो जाने पर अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा।

स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न

सन् 1947 में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हो गई। अब राजनीति ने जोर पकड़ा। प्रादेशिकता प्रबल हुई। सन् 1956 में भाषावार प्रांत बन गए और हर प्रान्त को अपने संकीर्ण प्रदेश की चिन्ता के साथ प्रादेशिक भाषा की चिन्ता होने लगी। कुछ प्रदेशों मे ऐसा भी नहीं हुआ। अपनी-अपनी भाषा के विकास की चिन्ता सबको होती तो इसमें हिन्दी का लाभ ही लाभ था, किन्तु कुछ प्रदेशों को तो अंग्रेजी की चिन्ता होने लगी। हम गांधी को भूल गए और उनके विचारों को भूल गए। अंग्रेजों की दासता से मुक्ति तो हुई, परंतु मानसिक दासता नहीं गयी। हम विदेशी भाषा की दासता से मुक्त नहीं हो पाए।

संविधान में हिन्दी

राष्ट्रीय भाषा के मुद्दे का समाधान तो संविधान द्वारा सभी प्रमुख भाषाओं को 'भारत की भाषाएं' अथवा भारत की राष्ट्रीय भाषाएं मानकर सुलझा लिया गया। परंतु मामला समाप्त नहीं हो गया, क्योंकि देश की अधिकाधिक कामकाज इतनी भाषाओं में नहीं किया जा सकता था। ऐसी भाषा तो जरूरी थी, जिनमें केन्द्रीय सरकार अपना कार्य करे और राज्यों के साथ संपर्क बनाए। सवाल था कि कौन सी भाषा इस अखिल भारतीय संवाद का माध्यम होगी। दूसरे शब्दों में भारत के कार्यालयों और संपर्क की भाषा कौन सी होगी? इस उद्देश्य के लिए सिफ दो उम्मीदवार थे - अंग्रेजी और हिन्दी। यही वह मुद्दा था, जिस पर संविधान सभा में काफी तीखी बहस हुई थी।

वस्तुतः इसका चुनाव तो स्वतंत्रता पूर्व ही राष्ट्रीय नेताओं द्वारा किया चुका था। वे इससे सहमत थे कि स्वतंत्र भारत में संपर्क की भाषा अंग्रेजी नहीं बनी रहेगी। वैसे एक विश्व भाषा के रूप में अंग्रेजी के महत्व को स्वीकार किया गया, जिसके माध्यम से भारतीय लोग विज्ञान और संस्कृति के आधुनिक पाश्चात्य विचारों तक पहुंच सकते थे। गांधीजी इस बात से सहमत थे कि आम जनता की प्रतिभा और उनकी संस्कृति कभी एक विदेशी भाषा से नहीं खिल सकती।

राजभाषा अथवा संपर्क भाषा के लिए दूसरा दावेदार हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन खासकर परवर्ती जनांदोलनों के दौरान यह भूमिका निभा चुकी थी। हिन्दी की इस भूमिका को अहिन्दीभाषी प्रदेश के नेताओं ने भी स्वीकार कर लिया था, क्योकि यह भाषा पूरे देश में सबसे अधिक बोली और समझी जाती है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सी राजगोपालाचारी, सुभाष चन्द्र बोस और सरदार पटेल कुछ महत्वपूर्ण हिन्दी समर्थक थे। अपने अधिवेशनों और राजनीतिक कार्यों के दौरान राष्ट्रीय कांग्रेस अंग्रेजी की जगह हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग करती थी। 1925 में कांग्रेस ने अपना संविधान इसी प्रकार संशोधित किया था। जहां तक संभव होगा, कांग्रेस अपना कामकाज हिन्दुस्तानी में चलाएगी। राष्ट्रीय आम सहमति को प्रतिबिम्बित करते हुए 1928 में नेहरू रिपोर्ट में यह स्थापित किया था कि देवनागरी अथवा उर्दू लिपियों में लिखा हिन्दुस्तानी भारत की आमभाषा होगी, परंतु कुछ समय के लिए अंग्रेजी का उपयोग जारी रहेगा। यह विचित्र संयोग रहा कि सिवाय हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी रख देने के, अंततः स्वतंत्र भारत के संविधान ने इसी मत को अपना लिया। परिणामस्वरूप आजादी के पहले ही इस पर करीब-करीब पूर्ण सहमति के कारण, संविधान सभा में असल बहस इन दो भिन्न मुद्दे पर हुआ, कि क्या हिन्दी और हिन्दुस्तानी अंग्रेजी की जगह लेंगी और इस स्थानांतरण के लिए क्या कोई निश्चित समय-सीमा निर्धारित की जाएगी।

CHRONICLE IAS ACADEMY

जैसे ही राजभाषा के प्रश्न पर बहस की शुरूआत हुई, तीव्र मतभेद पैदा हो गए और यह काफी मुश्किल समस्या साबित होने लगी, खासकर इसलिए कि शुरू से ही इस मुद्दे का अत्यधिक राजनीतिकरण हो चुका था। अंग्रेजी से हिन्दी में स्थानांतरण के लिए समय-सीमा के निर्धारण के मुद्दे ने हिन्दी और अहिन्दी क्षेत्रों के बीच एक मतभेद उत्पन्न कर दिया। हिन्दी प्रदेशों के प्रवक्ता तत्काल ही हिन्दी अपनाने की वकालत कर रहे थे, जबकि अहिन्दी भाषी प्रदेशों के प्रवक्ता यदि हमेशा के लिए न भी सही, तो काफी लम्बे समय के लिए अंग्रेजी को बनाए रखने के पक्ष में तर्क दे रहे थे। दरअसल यह मुद्दा अब परस्पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा था।

बहुभाषी देश के नेता होने के नाते संविधान निर्माता अच्छी तरह जानते थे कि किसी भी भाषाई क्षेत्र की अवहेलना तो दूर, ऐसा आभास भी नहीं दे सकते कि वे किसी की अवहेलना कर रहे है उन्होंने लगातार काम किया और एक समझौते पर पहुंचने में सफल हुए, हालांकि इसके कारण संविधान का भाषा संबंधी प्रावधान कुछ मामलों में जटिल, अस्पष्ट और भ्रामक बन गया। संविधान ने यह प्रावधान किया कि देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय अंकों के साथ भारत की राजभाषा होगी। अंग्रेजी का सभी सरकारी कामकाजों के लिए 1965 तक उपयोग किया जाएगा, इसके बाद इसका स्थान हिन्दी ले लेगी। हिन्दी को कई चरणों में लागू किया जाएगा और फिर 1965 के बाद इसे एकमात्र सरकारी भाषा बना दिया जाएगा। हालांकि संसद को 1965 के बाद भी खास कार्यों के लिए अंग्रेजी के प्रयोग की अवधि बढ़ा देने की शक्ति दी गई थी। संविधान ने सरकार पर यह जिम्मेदारी दी कि यह हिन्दी प्रसार और विकास के लिए कार्य करे और एक आयोग एवं एक संसदीय संयुक्त समिति की नियुक्ति का प्रावधान भी किया, जो इस संदर्भ में हुई प्रगति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता रहे। प्रदेशों के विधानमंडल, प्रदेश स्तर पर अपनी राजभाषा का निर्णय करेंगे, हालांकि संघ की राजभाषा केन्द्र एवं राज्यों तथा राज्यों और राज्यों के बीच आदान-प्रदान की भाषा होगी।

हिन्दी की असफलता के कारण

1. संविधान निर्माताओं ने आशा की थी कि 1965 तक हिन्दी हिमायती हिन्दी की कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर लेंगे और अहिन्दी भाषी प्रदेशों के लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेंगे। यह भी आशा की गई थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ हिन्दी भी विकसित होकर देश में ज्यादा फैल जाएगी तथा धीरे-धीरे हिन्दी के विरूद्ध प्रतिरोध क्षीण होकर गायब हो जाएगा। परंतु दुर्भाग्यवश शिक्षा का प्रसार इतना धीमा था कि इस मामले पर उसका कोई असर ही नहीं पड़ा।

2. इसके अलावा राजभाषा के रूप में हिन्दी की सफलता की संभावना को स्वयं हिन्दी के तरफदारों ने बर्बाद कर दिया। अहिन्दी इलाकों में हिन्दी को मान्यता दिलाने के लिए एक धीमी और संतुलित रवैया अपनाने के बजाए, वहां के कट्टरवादी लोगों ने अति उत्साह, यहां तक कि कई बार अहिन्दी प्रदेशों के प्रवक्ताओं के विरूद्ध अहंकारपूर्ण निर्दयी और अति उग्र रवैया अपनाया। मान-मनौवल के बजाए उन्होंने सरकारी कामों के माध्यम से हिन्दी को लादना चाहा। उनके अतिउत्साह और प्रयासों ने एक विरोधी आंदोलन को जन्म दिया।

3. हिन्दी की एक सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसका प्रयोग मुख्यत: साहित्यकारों तक ही सीमित था। हिन्दी को प्रकृति विज्ञान, समाज विज्ञान, उच्च शिक्षा एवं पत्रकारिता की भाषा के रूप में विकसित करने के प्रयासों के बजाय हिन्दी के नेताओं का सबसे ज्यादा ध्यान इसे एकमात्र सरकारी भाषा बनाने की तरफ लगा हुआ था।

4. इतना ही नहीं, हिन्दी के समर्थकों की एक और बड़ी कमजोरी यह थी कि वे एक ऐसी सरल स्तरीय भाषा, जिसे व्यापक समर्थन प्राप्त हो सके अथवा सरल बोलचाल की हिन्दी के बजाए हिन्दी का संस्कृतिकरण करने का प्रयास किया। आमतौर पर समझे जाने वाले शब्दों के मुकाबले नए संस्कृतिक शब्द बनाए गए।

5. हालांकि नेहरू एवं ज्यादातर अन्य नेतागण हिन्दी को राजभाषा बनाने के प्रति समप्रित थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि अंग्रेजी की पढ़ाई को प्रोत्साहित किए जाने के बावजूद अंग्रेजी हमेशा के लिए भारत की राजभाषा नहीं बन सकती। परंतु उनका यह भी विचार था कि राष्ट्रीय एकता के हित में तथा आर्थिक और राजनीतिक विकास के लिए हिन्दी में पूरा स्थानांतरण समयबद्ध नहीं होना चाहिए। इसके लिए राजनीतिक रूप से एक शुभ तथा निवासहीन समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब अहिन्दी क्षेत्रों की सहमति खुशी से प्राप्त हो जाए। अब अहिन्दी नेतागण की मान मनोबल की ज्यादा से ज्यादा अवहेलना करने लगे। उनका हिन्दी विरोध समय के साथ-साथ बढ़ता चला गया। वे हिन्दी नेताओं के इरादों पर और अधिक शक करने लगे। अहिन्दी भाषाई समूहों के अलगाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि वे हिन्दी के पक्ष में तार्किक और सही बातों की भी अनदेखी करने लगे। इसके बदले वे लगातार हमेशा-हमेशा के लिए अंग्रेजी जारी रखने के पक्ष में होते चले गए।

6. भाषा-विवाद के पीछे इसे गति और शक्ति देने वाला प्रमुख सवाल था - युवाओं के लिए नौकरियों और आर्थिक अवसर की उपलब्धता का। जहां हिन्दी भाषी छात्रों को यह विश्वास था कि अंग्रेजी से हिन्दी संतरण उनके रोजगार की संभावनाओं को बढ़ाएगा, वहीं अहिन्दी भाषी छात्रों को यह डर था कि अंतत: अखिल भारतीय रोजगार बाजार में उनके लिए एक बहुत बड़ी बाधा साबित होगी, खासतौर पर सरकारी और सार्वजनिक उद्यम की नौकरियों में। यही कारण था कि नेहरू बार-बार यह आश्वासन देते रहे कि अहिन्दी प्रदेशों के लोगों की सरकारी नौकरियों में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने दी जाएगी। हालांकि नेहरू के उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री के रूप में लालबहादुर शास्त्री ने सही कदम उठाया, परंतु दुर्भाग्य से वे अहिन्दी समूहों के विचारों के प्रति संवेदना नहीं दिखा पाए।

हिन्दी और अंग्रेजी भाषा विवाद

जैसे-जैसे 26 जनवरी, 1965 नजदीक आता गया अहिन्दी भाषी इलाकों खासकर तमिलनाडु में भय की मानसिकता बढ़ती चली गई, और एक सशक्त हिन्दी विरोधी आंदोलन विकसित होता चला गया। 17 जनवरी को डी. एम. के. ने मद्रास राज्य हिन्दी विरोधी सम्मेलन आयोजित किया और 26 जनवरी को शोक दिवस के रूप में मनाने का आह्वान किया।

छात्रों ने इसमें सबसे अधिक हिस्सा लेकर व्यापक आंदोलन आयोजित और जनमत को उद्देलित करने का काम किया, क्योंकि उन्हें अपने भविष्य के प्रति चिन्ता बढ़ गई थी और उन्हें इस बात का डर लगने लगा था कि अखिल भारतीय नौकरियों में हिन्दी भाषी लोग उन्हें पीछे कर देंगे। उन्होंने यह नारा बनाया और प्रचारित किया - 'हिन्दी नेवर, इंगलिश इवर।' उन्होंने संविधान में संशोधन की मांग रखी। छात्र आन्दोलन शीघ्र ही राज्यव्यापी अशांति में बदल गया। बड़े पैमाने पर दंगों और हिंसा भड़क उठे। बड़े पैमाने पर रेलवे तथा अन्य

CHRONICLE IAS ACADEMY

संघीय संपत्ति को नष्ट कर दिया गया। कुछ तमिल नवयुवकों ने राजभाषा नीति के विरूद्ध आत्मदाह कर दिया। दो तमिलमंत्री सी सुब्रमण्यम और अलसेगन ने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया।

जनसंघ एवं एस. एस. पी. द्वारा हिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के समर्थन और अंग्रेजी के विरोध में एक प्रति आंदोलन खड़ा करने की कोशिश की गई परंतु उन्हें ज्यादा जन समर्थन नहीं मिल पाया।

छात्र आंदोलन का प्रभाव

इस आंदोलन ने मद्रास, केन्द्रीय सरकार एवं कांग्रेस पार्टी, सभी को अपना विचार बदलने पर मजबूर कर दिया। उन्होंने दक्षिण में गहन जनभावना के सामने झुकने का निश्चय कर लिया और उन्होंने अपनी नीति बदलकर आंदोलनकारियों की ज्यादातर प्रमुख मांगों को मानने का फैसला कर लिया। अन्ततः इसने देश में सभी मतभेदों को शांत कर दिया। राजभाषा अधिनियम, 1963 को संशाधित कर राजभाषा अधि नियम 1967 पारित किया गया। इसमें प्रावधान किया गया कि हिन्दी के अलावा सहायक भाषा के रूप में केन्द्रीय सरकार के कामकाज एवं केन्द्र तथा अहिन्दीभाषी राज्यों के बीच संवाद के लिए अंग्रेजी तब तक प्रयोग में लाई जाएगी। संदर्भ में अहिन्दीभाषी राज्य को अन्तिम निर्णय का संपूर्ण अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकार हमेशा के लिए भाषाई नीति स्वीकार ली गई।

संसद ने भी एक नीतिगत प्रस्ताव के माध्यम से यह स्वीकार कर लिया कि संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाएं हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त सभी क्षेत्रीय भाषाओं में संगठित की जाएंगी परंतु यह शर्तें होगी कि उम्मीदवारों को अंग्रेजी और हिन्दी की अतिरिक्त जानमानी होनी चाहिए। राज्यों को त्रिभाषा फार्मूला लागू करना था, जिसके तहत अहिन्दी राज्यों में मातृभाषा, हिन्दी अंग्रेजी अथवा कोई अन्य राष्ट्रीय भाषा स्कूलों में पढ़ाया जाना था और हिन्दी भाषी प्रदेशों में गैर हिन्दी भाषा, विशेषकर दक्षिण भारतीय भाषा की शिक्षा अनिवार्य की जानी थी। भारत सरकार ने भाषा के सवाल पर एक अन्य महत्वपूर्ण कदम जुलाई 1967 में लिया। 1666 के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने यह घोषित किया कि अन्ततः विश्वविद्यालय स्तर पर सभी विषयों के लिए शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को बनाया जाएगा। और इस रूपान्तरण के लिए समय सीमा प्रत्येक विश्वविद्यालय अपनी सुविधानुसार तय करेगा।

विवाद का अंत

अनेकानेक पेंचों और मोड़ों के बाद, भारी बहस और छोटे-बड़े कई आंदोलनों और समझौतों के बाद, देश राजभाषा और संपर्क भाषा की कठिन समस्या के व्यापक तौर पर स्वीकृत समाधान तक पहुंच गया। 1967 के बाद यह समस्या भारतीय राजनीति से धीरे-धीरे गायब होती चली गई। यह साफ तौर पर सुलझाने की ऐसी ताकत है, जो राष्ट्रीय एकता को बनाए रखे। यहां एक ऐसा मुद्दा खड़ा था जो जनता की भावनात्मक तौर पर मार सकता था और देश की अखंडता को संकट में डाल सकता था। और परन्तु इसका समाधान भी बाताचीत और समझौतों के द्वारा निकाल लिया गया और यह बात सिर्फ कांग्रेस द्वारा निकाल लिया गया और यह बात सिर्फ कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए ही सही नहीं है, बल्कि कुछ हिचकिचाहट के बाद जब मामले को तय करने का सवाल आया तो विरोधी दल भी इस मापदंड पर खरे उतरे और अन्तत, डी. एम. के. जिसके तमिलनाडु के अंदर राजनीतिक उदय में भाषी की समस्या ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, ने उसी राजनीतिक व्यवस्था का अंग बनकर राजनीतिक तापमान के कम करने में अपना योगदान दिया।

हिन्दी का भविष्य

उल्लेखनीय है कि गैर-हिन्दी क्षेत्रों में भी शिक्षा, व्यापार, पर्यटन, फिल्म, रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से हिन्दी की काफी प्रगति हुई है। सहकारी कार्यों में हिन्दी का प्रयोग भी पहले से काफी बढ़ा है। हालांकि अभी भी अंग्रेजी का सबसे अधिक प्रयोग होता है। साथ ही साथ, दूसरी भाषा के रूप में अंग्रेजी हिन्दी इलाकों सहित पूरे देश में बड़े पैमाने पर फैल चुकी है। इसका एक पहलू कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक गांव-गांव में असंख्या प्राइवेट अंग्रेजी माध्यम स्कूलों का खुलना, चाहे उनके कर्मचारी एवं सुविधाएं कितनी भी निम्नस्तरीय हो। लिखित एवं बोलचाल की अंग्रेजी का स्तर पहले से काफी नीचे आ गया है पर अंग्रेजी जानने वाले वर्ग की संख्या पहले से कई गुणा बढ़ गई है। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों विभिन्न भाषाई समूहों की भाषायी बातचीत और संपर्क की भाषा के रूप में बढ़ रही है। ठीक उसी तरह जैसे क्षेत्रीय भाषाएं अधिक से अधिक राजकीय, शैक्षणिक और संचार माध्यमों के क्रियाकलाप में सक्रिय होती जा रही है। हिन्दी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं के तीव्र विकास का एक सबूत सभी भाषाओं में समाचारपत्रों के प्रसार में वृद्धि के रूप में भी देखा जा सकता है। वस्तुतः न केवल अंग्रेजी शायद आने वाले सभी समयों के लिए भारत में बनी रहेगी बल्कि अखिल भारतीय हिन्दीजीवियों के बीच संपर्क भाषा के रूप में कभी भी बनी हुई है। आगे की शायद इसका पुस्तकालय की भाषा तथा विश्वविद्यालयों की द्वितीय भाषा के रूप में विस्तार ही होगा। हिन्दी अब तक इन तीनों भूमिकाओं में करीब-करीब नाकामयाब ही रही है। निश्चय ही, हिन्दी को इस देश के प्रत्येक स्तर दर अभिव्यक्ति की भाषा सम्पर्क की भाषा और बुद्धिजीवियों की भाषा बनाने का आदर्श अभी भी अधूरा और बरकरार है। परंतु जिस तरह हिन्दी के हिमायतियों ने हिन्दी के सपनों को पूरा करने की कोशिश की, उसमें उन्होंने ऐसी किसी क्षीण संभावना को भी लम्बे समय के लिए पीछे धकेल दिया है।

1947 के बाद नृजातित्व

नृजातित्व क्या है?

नृजातित्व मानव द्वारा अपने और दूसरों के बीच अंतर करने का एक साधन है।

नृजातित्व के आधार

नृजातित्व के कुछ मुख्य आधार निम्नलिखित है- 1. आनुवंशिकता, 2. प्रजाति, 3. भाषा, 4. आय, 5. यौन, 6. पेशा, 7. जाति, 8. वर्ण, 9. धर्म, 10. क्षेत्र, 11. राज्य, 12. शक्ति, 13. रंग, 14. शिक्षा, 15. संस्कृति, 16. परंपरा, 17. रहन-सहन।

उपरोक्त आधारों पर ही किसी मानव की किसी मानव जाति से संबंध दर्शाया जाता है अर्थात् मानव मानव जाति को दर्शाने के लिए प्राकृतिक तथा सामाजिक मूल्यों का चयन करता है। उदाहरण स्वरूप रक्त, रंग, आयु आदि प्राकृतिक गुण हैं, जबकि भाषा, पेशा, राज्य, जाति, वर्ण, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, परंपरा, रहन-सहन आदि सामाजिक मूल्य है। अतः प्राकृतिक एवं सामाजिक दोनों के आधार पर मानव की नृजातीयता निर्धारित की जाती है।

नृजातित्व एवं उपराष्ट्रवाद

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई जनजातीय क्षेत्रों की समस्याओं का उचित समाधान नहीं हो सका। इसके परिणामस्वरूप उन क्षेत्रों में आक्रोश तथा असंतोष के रूप में पृथक राज्यों के लिए आंदोलन किये गये। उदाहरणस्वरूप झारखंड तथा छत्तीसगढ़ नामक नवीन राज्य

CHRONICLE IAS ACADEMY

अस्तित्व में आये। विभिन्न राजनैतिक दलों ने अपने-अपने चुनाव घोषणापत्रों में अलग राज्य के गठन को स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार विदर्भ राज्य (महाराष्ट्र), वृहद नागालैंड, तेलंगाना (आंध्र प्रदेश), बोडोलैंड (असम) की मांग भिन्न-भिन्न कारणों से उठ रही है। इनमें से हाल ही में बोडोलैंड स्वायत्त परिषद् का गठन भारत सरकार ने किया है।

नृजातित्व एवं राष्ट्र निर्माण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे राष्ट्र के निर्माताओं ने संस्कृति का ऐतिहासिक पुनर्निर्माण किया तथा भारतीय सभ्यता के अनेकता में एकता रूपी लक्षण पर प्रकाश डाला। हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मान्यता प्रदान की गई। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संविधान का गठन किया गया। देश सभी क्षेत्रों के विकास के लिए राष्ट्रीय पंचवर्षीय योजना तथा विकास कार्यक्रम चलाए गए। सामाजिक अधिकार से वंचितों, आर्थिक दृष्टि से पराश्रितों तथा राजनैतिक रूप से शक्तिहीनों के विकास के लिए विशेष कार्यक्रम तथा योजनाओं का सृजन तथा क्रियान्वयन किया गया। इस प्रकार नृजातित्व को आधार मानकर राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया आरंभ की गई।

नृजातित्व एवं राष्ट्रीय अखंडता

भारत एक विशाल देश है। भारतीय सभ्यता की पहचान है-अनेकता में एकता। आजादी के बाद देश को तोड़ने के लिए उग्रवादी संगठनों द्वारा हर तरह से प्रयास किए गए तथा किए जा रहे हैं, उदाहरण के लिए कश्मीर की समस्या। लेकिन इन क्षेत्रों की जनता ने चुनाव प्रक्रिया में भाग लेकर भारतीय संघ में रहना स्वीकार किया। उन्होंने भारतीय संविधान को स्वीकार किया तथा वे भारतवासी ही रहना चाहते हैं।

नृजातित्व एवं सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्रता के पूर्व कुछ नृजातित्व, जैसे- आदिवासी, हरिजन, महिलाओं को समाज में उचित स्थान प्राप्त नहीं था स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन नृजातित्व समूहों के लिए संविधान में विशेष प्रावधान किए गए। उनके लिए विकास योजनाओं का सृजन तथा क्रियान्वयन किया गया। इसके कई सकारात्मक परिणाम सामाजिक परिवर्तन के रूप में सामने आए। अब शिक्षित होकर हरिजन तथा आदिवासी व महिलाएं कई महत्वपूर्ण पद पर कार्य कर रहे हैं। ध ीरे-धीरे समाज में इनके प्रति धारणाएं सकारात्मक रूप से बदल रही हैं।

नृजातित्व एवं चुनाव

हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। लेकिन चुनाव में नृजातित्व का कुरूप चेहरा भी सामने आता है। चुनाव में सभी पार्टियां जातीयता, धार्मिकता तथा क्षेत्रीयता को उभारने का प्रयास करती हैं। चुनाव में चुनावी हिंसा की घटना भी घटित होती हैं। ऐसी स्थिति में जातीयता के आधार पर अयोग्य एवं निष्क्रिय लोग भी चुनाव जीतने में सफल हो जाते हैं।

नृजातित्व एवं अंतरजातीय संबंध

भारत गांवों का देश है। यहां 70 प्रतिशत से अधिक आबादी गांवों में रहती है। गांवों में कई जातियां होती है और वे जजमानी व्यवस्था के माध्यम से परस्पर जुड़ी होती हैं। शहर में तो विभिन्न जाति तथा वर्ग के लोग साथ-साथ कॉलोनी में रहते हैं अथवा किराए पर समान लेकर रहते हैं। यहां पर जातीय बंधन उतना मजबूत नहीं रहता है। यह समाज नातेदारी पर आधारित न होकर मित्रता तथा आपसी व्यवहार पर आधारित होता है।

उत्तर औपनिवेशिक निर्वाचन - राजनीति में पिछड़ी जातियां

पिछड़ी जातियां कौन हैं?

तथाकथित पिछड़ी जातियां भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वे मध्यवर्ती जातियां हैं, जिनकी स्थिति कर्मकांडीय ढांचे में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से नीचे और अछूतों से उपर है।

पिछड़ी जातियों के लिए संविधान में प्रावधान

भारतीय संविधान में अन्य पिछड़ा वर्ग का उल्लेख अनुच्छेद 15(4) तथा अनुच्छेद 16(4) में किया गया है। लेकिन संविधान में पिछड़े वर्ग को स्पष्ट पारिभाषित नहीं किया गया है। जिस प्रकार भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए क्षतिपूरक लाभों के प्रावधान अनिवार्य घोषित कर दिए गए थे, लेकिन अन्य पिछड़ी जातियों के लिए ऐसे क्षतिपूरक लाभ प्रदान करने के संबंध में केंद्र एवं राज्य सरकारों को अपने विवेक एवं सुविधा का ध्यान रखते हुए करने के निर्देश दिए गए थे।

स्वतंत्रता के पश्चात् पिछड़ी जातियों की आर्थिक उन्नति

स्वतंत्रता पूर्व भारत में उच्च जातियों को उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार प्राप्त था। आजादी के बाद इस एकाधिकार पर राज्य द्वारा प्रायोजित अनेक प्रयासों-जैसे जमींदारी उन्मूलन, ग्रामीण विकास कार्यक्रम आदि द्वारा प्रहार किया गया। भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधनों के पुनः वितरण की नवीन योजना में सबसे अधिक लाभ दलितों को नहीं, बल्कि अन्य पिछड़े वर्गों को प्राप्त हुआ। सन् 1960 के बाद की 'हरित क्रांति' ने अन्य पिछड़े वर्गों को और भी अधिक सबल बनाया, जिन्होंने संस्कृतिकरण के माध्यम से जाति पदानुक्रम में ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया तथा देश के अनेक भागों में प्रभुतासंपन्न जातियों (Dominant castes) के रूप में उभर कर सामने आये।

स्वतंत्रता के बाद पिछड़ी जातियों का राजनीति में उदय

उपरोक्त समृद्धि ने पिछड़ी जातियों को राजनीतिक लामबंदी के लिए प्रेरित किया। जैसे- अखिल भारतीय कुर्मी सभा, अखिल भारतीय अहीर सभा, अखिल भारतीय जाट सभा, अखिल भारतीय यादव सभा इत्यादि के रूप में संगठित किया। इससे उनकी राजनीतिक शक्ति में इजाफा हुआ और प्रतिनिधित्व में भी। वर्तमान में पिछड़ा वर्ग आध ारित अनेक राजनैतिक दल राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावशाली तरीके से कार्य कर रहे हैं। उदाहरणस्वरूप - समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल इत्यादि। वर्तमान की गठबंधन राजनीति में इनकी भूमिका निर्णायक होती जा रही है। इस प्रकार पिछड़ा वर्ग की राजनीति में शक्ति निरंतर बढ़ती जा रही है। संविधान के 73 वें संविधान संशोध न एवं 74 वें संविधान संशोधन के अंतर्गत पिछड़ा वर्ग को पंचायत एवं नगरीय निकायों में आरक्षण प्रदान किया गया है। इसने उन्हें राजनीतिक रूप से और सबल बनाया है।

मंडल आयोग एवं पिछड़ी जातियों की राजनीति

पिछड़े वर्गों या जतियों का प्रश्न 1990 में मंडल-विरोधी अभियान के दौरान मंडल रिपोर्ट में पूरी तरह आया। दुर्भाग्यवश मंडल आयोग की सिफारिशों ने पहले से ही समृद्ध भूमियुक्त पिछड़ी जातियों को ही सबल बनाया है। जैसे - यादव, कुर्मी, वोल्कालिग, लिंगायत, लोढ़ा इत्यादि। इसने उन्हें और भी अधिक राजनीतिक लामबन्दी के लिए प्रेरित

CHRONICLE IAS ACADEMY

किया है। दक्षिणी भारत और विशेषकर कर्नाटक एवं तमिलनाडु पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि 'मंडलीकरण' शब्द की उत्पत्ति से भी पहले इन राज्यों के लोग 'मंडलीकृत' हो चुके थे।

'मंडलीकृत' राजनीति के मुद्दे पर समाजशास्त्रियों एवं बौद्धिक वर्ग के मत परस्पर भिन्न है। 'राजनीति में वामपंथी समूह समानता को एक नीति के रूप में सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है तथा मंडल आयोग के माध्यम से आरक्षण में वृद्धि का समर्थन करता है, जबकि दूसरा दक्षिणपंथी वर्ग एक अधिकार के रूप में समानता का पक्ष लेता है तथा आरक्षण में किसी भी प्रकार की वृद्धि का विरोध करता है।

वास्तव में, पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की राजनीति सामाजिक न्याय के संघर्ष की बजाय सत्ता की रोटी-पानी के लिए अधिक है।

राजनीति में जनजातियां

जनजाति कौन?

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनजातीय लोगों के एकीकरण का कार्य काफी कठिन था, खासतौर पर इसलिए कि जनजातीय लोग देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग परिस्थितियों में रह रहे थे। वे अलग - अलग भाषाएं बोलते थे और उनकी अपनी-अपनी संस्कृतियां थीं। उनकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां भी एक अलग से दूसरे से भिन्न थी। उनका आर्थिक ढांचा खाद्य संग्रहण, शिकार और झूम खेती से लेकर स्थायी काश्तकारी तक फैला हुआ था।

संविधान में प्रावधान

भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजाति को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'अनुसूचित जनजातियां वे हैं, जिन्हें राष्ट्रपति अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति-समुदायों अथवा जनजातियों या जनजाति समुदाय के भागों में विनिर्दिष्ट किया है।' भारतीय संविधान द्वारा अनुसूचित जनजातियों को दो प्रकार से सुविधाएं दी गयी है:

1. संरक्षण संबंधी उपबंध, जैसे - अनुच्छेद 15(4), अनुच्छेद 16(4), अनुच्छेद 164, अनुच्छेद 330, 332, 334, अनुच्छेद 335, अनुच्छेद 338 तथा अनुच्छेद 339(1) इत्यादि। तथा

2. विकास संबंधी उपबन्ध, जैसे - 275 और 339, पांचवी और छठी अनुसूचियां, नागालैंड, असम और मणिपुर के जनजाति क्षेत्रों व पर्वतीय क्षेत्रों से संबन्धित विशेष उपबन्ध इत्यादि।

स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जनजाति का राजनीति में उदय

भारतीय संविधान ने जनजातीय लोगों को पूर्ण राजनीतिक अधिकार प्रदान किया। इसके अतिरिक्त विधायिका और प्रशासनिक सेवाओं में अनुसूचित जातियों की तरह ही अनुसूचित जनजातियों के लिए भी जगह आरक्षित करने का प्रावधान किया गया। जनजातियों के कल्याण के लिए प्रत्येक राज्य में जनजातीय सलाहकर परिषद की स्थापना का प्रावधान भी इनमें निहित है। राष्ट्रपति ने भी अपनी तरफ अनुसूचित जाति एवं अनूसूचित जनजातियों के लिए एक आयुक्त की नियुक्ति की, ताकि हमेशा इस पर नजर रखी जा सके कि इन लोगों के लिए सुरक्षा की जो व्यवस्था की गई है, उसका पालन हो रहा है अथवा नहीं।

परंतु संवैधानिक व्यवस्थाओं और केन्द्र एवं राज्य सरकारों के प्रयासों के बावजूद दुर्भाग्य से अभी भी जनजातीय लोगों को काफी तरक्की करना बाकी है। उनका विकास और कल्याण की रफ्तार काफी धीमी, यहां तक कि असंतोषजनक रही है। पूर्वोत्तर भारत को छोड़कर शेष सभी जगह के जनजातीय लोग अभी भी गरीब, कर्ज से लदे, भूमिहीन और ज्यादातर समय बेरोजगार रहते हैं। जहां एक तरफ संवैधानिक कानूनी और योजना संबंधी प्रावधान जनजातीय कल्याण के क्षेत्रफल में काफी सकारात्मक रहे हैं, वहीं व्यवहार में उन्हें लागू करने का काम काफी पिछड़ा रहा है।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त आरक्षण का जनजातियों का बहुत छोटा हिस्सा ही लाभ उठा पाता है, क्योंकि वे अधिकतर गरीब और ग्रामीण हैं। विधायिका में जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का कुछ प्रभाव जरूर होता है, क्योंकि जन-प्रतिनिधियों को चुनावी उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए कुछ काम करना पड़ता है, लेकिन व्यक्तिगत स्वार्थ साधने और इसी भेदभावपूर्ण व्यवस्था का हिस्सा बन जाने का रूझान जनजातियों के प्रतिनिधियों में उच्चतर जातियों की तुलना में कोई कम नहीं है। अब तो विभिन्न जनजातियों के बीच आपसी प्रतियोगिता है। आरक्षण के फायदे जनजातियों में बेहतर जातियों को मिला जैसे - राजस्थान में मीणा। इसके फलस्वरूप अन्य जातियों ने आरक्षण के अंदर आरक्षण मांगना शुरू कर दिया। इस प्रकार, जनजातियों के अंदर राजनीतिक टकराव बढ़ता जा रहा है।

कुल मिलाकर देखा जाए, तो यद्यपि 1947 के बाद से जनजातीय क्षेत्रों में कई सकारात्मक विकास भी हुए हैं, परन्तु फिर भी खतरे के कई संकेत मौजूद हैं। जनजातीय अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए वैवाहिक प्रावधान, जनजाति कल्याण विभाग की गतिविधियों, पंचायती राज, साक्षरता और शिक्षा के प्रसार, उच्च शिक्षा के संस्थानों एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण और बार-बार होने वाले चुनावों ने जनजातीय लोगों में चेतना जाग्रत कर दी है। उनका आत्म-विश्वास बढ़ा है और कम से कम उनके अंदर विकसित मध्यवर्ग एवं बुद्धिजीवी समुदायों की राजनीतिक भागीदारी पहले से काफी अधिक हो गई है। इन संवैधानिक राजनीतिक प्रक्रियाओं के अंदर वे अपने लिए ज्यादा से ज्यादा सक्रिय राजनीतिक भूमिका की मांग करने लगे हैं। विभिन्न राजनीतिक ढांचे और संस्थाएं अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करते जा रहे हैं। और इन सबसे अधिक वे राष्ट्रीय आर्थिक विकास में अपना और अधिक हिस्सा मांग रहे हैं।

परन्तु विकास के अभाव और कल्याण योजनाओं की असफलताओं से निराशा और सामाजिक-आर्थिक शोषणों के जारी रहने से क्षुब्ध होकर देश के विभिन्न हिस्सों में जनजातीय लोग लगातार संगठित होकर उग्र विरोध आंदोलनों में सम्मिलित हो रहे हैं। जैसे- झारखंड राज्य एवं छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना के लिए चलाए गए आंदोलनों में इसे देखा जा सकता है।

इसके अलावा, कुछ नकारात्मक राजनीतिक गतिविधियां भी बढ़ती हुई देखी जा सकती हैं। इनमें से कुछ ने विरोध आंदोलनों में हिंसा का रास्ता अपना लिया है। जैसे- पूर्वोत्तर राज्यों में असम समस्या, वृहद नागालैंड, मिजो समस्या के रूप में इसे देखा जा सकता है। यह देश की एकता एवं अखंडता के लिए खतरनाक है। यद्यपि सरकार ने ऐसे आंदोलनों के विरूद्ध कठोर कार्यवाही की है। ऐसे आंदोलन जनता के बीच अपनी जगह बनाने में नाकामयाब रहे हैं। परंतु इससे पूरे राष्ट्र का ध्यान नाटकीय तरीके से जनजातियों की स्थिति की तरफ खींचने में सफलता मिली है।

दलित आंदोलन

दलित कौन है?

'दलित' शब्द का प्रयोग सुविधाओं एवं मूल अधिकारों से वंचित स्थिति एवं निम्न कुल में जन्म लेने के कारण शोषण के शिकार लोगों को संबोधित करने के लिए किया जाता है।

CHRONICLE IAS ACADEMY

स्वतंत्रता पूर्व दलित आंदोलन

दलित आंदोलन वृहत् रूप में अछूत जातियों के आंदोलन के रूप में या संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार अनुसूचित जातियों के आंदोलन के रूप में देखा जा सकता है। दलित आंदोलन का अभ्युदय ज्योतिबा फूले की प्रेरणा से 19वीं शताब्दी में जाति विरोधी आन्दोलन के रूप में हुआ और जो 1920 के दशक तक महाराष्ट्र और तमिलानाडु में गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन के रूप में आया तथा डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के नेतृत्व में इसका विकास हुआ।

दलित आंदोलनों ने स्वयं के व्यापक और आधारभूत उद्देश्य बनाये। समान मनुष्य के रूप में 'पहचान के लिए संघर्ष' को उनके प्रमुख आंतरिक उद्देश्यों के रूप में माना जा सकता है। एक तो यह आत्मविश्वास और आत्म निर्धारण के लिए संघर्ष है, परंतु इसका वृहत्तर लक्ष्य समाज को बदलना है। केवल अस्पृश्यता के विचार के उन्मूलन में इसकी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं होती है, इससे जुड़े हुए समस्त भेदभाव, जैसे- अत्याचार और शारीरिक हिंसा, यौन-शोषण, बन्धुआ श्रमिक, भूमिहीनता, सार्वजनिक अयोग्यताएं और निश्चित व्यवसायों और निश्चित स्थानों या धार्मिक संगति के निषेध आदि सभी मुद्दे इसमें आते हैं।

डॉ. अंबेडकर और दलित आन्दोलन

आधुनिक दलित आंदोलनों में डॉ. अंबेडकर के आंदोलन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम विश्वयुद्ध और रूसी क्रांति के तुरंत बाद के काल में अंबेडकर ने भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। यह युग सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का था एवं सामाजिक स्वतंत्रता के लिए आन्दोलनों में मार्क्सवादी समाजवाद का नियंत्रण बढ़ रहा था। यद्यपि अंबेडकर ने इन आंदोलनों में एक 'महार' नाम से प्रसिद्ध आंदोलन को संगठित किया एवं आगे बढ़ाया। यह गैर दलित समाजवादियों के वैचारिक आधिपत्य और नेतृत्व को नकारते हुए, दलित मुक्ति के लिए एक स्वायत्त आंदोलन के रूप में मुख्यत: निम्न अछूत जाति महार तक सीमित था, परंतु वे आजीवन मार्क्सवाद से प्रभावित रहे।

डॉ. अम्बेडकर ने दलित राजनीति का श्रीगणेश करते हुए सन् 1942 ई. में अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ की स्थापना की। सन् 1956 ई. में अम्बेडकर ने इसे बन्द कर अधिक व्यापक आधार वाली रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया (आर. पी. आई.) नामक नया दल स्थापित किया। इसका उद्देश्य था - दलितों, आदिवासियों अथवा जनजातीय लोगों, पिछड़े वर्गों, कृषकों एवं भूमिहीनों खेतिहर मजदूरों के हितों का संरक्षण करना। सन् 1970 ई. तक रिपब्लिक पार्टी ऑफ इंडिया हाशिए पर आ गई और उसकी उपस्थिति केवल दो-तीन राज्यों में ही है।

उल्लेखनीय है कि अम्बेडकर ने निष्कर्ष दिया था कि हिन्दू धर्म को छोड़कर ही अछूत जातियों की स्थिति को सुधारा जा सकता है। उन्होंने स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार किया और दलितों ने इस उद्देश्य को आगे बढ़ाना जारी रखा।

दलित पैंथर और दलित आंदोलन

सत्तर के दशक के आरंभ में महाराष्ट्र में दलित पैंथर नाम से नया रुझान पैदा हो गया। दलित का अर्थ है पीड़ित-दलित। देश के विभिन्न भागों में जनजातियां, अब स्वयं को दलित ही कहती हैं। महाराष्ट्र में यह उभार देशव्यापी मूलगामी राजनीतिक उभार का एक अंग था। पहले यह साहित्य में दिखाई दिया, फिर राजनीति में। 1972 में राजनीतिक संगठन के रूप में स्थापित होने के बाद दलित पैंथर वैचारिक रूप से अंबेडकर पर आधारित होते गए। उनका मुख्य आधार शहरी केन्द्रों में छात्रों और नौजवानों के बीच था। वे क्रांति की बातें किया करते थे, लेकिन इनके पास इसकी ठोस रणनीति होने का कोई सबूत नहीं है।

अस्सी के दशक के आते-आते दलित पैंथरों में विभिन्न प्रश्नों पर गंभीर मतभेद पैदा हो चुके थे, क्या रूख अपनाया जाए, सांस्कृतिक बनाम आर्थिक संघर्ष का प्रश्न, विभिन्न व्यक्तियों के गिर्द, जैसे राजा ढाले बनाम नामदेव ढसाल इत्यादि। रिपब्लिकन पार्टी के समान उनमें भी फूट पड़ने लगी और अधिकतर गुट समय के साथ कांग्रेस के साथ हो लिए।

राममनोहर लोहिया, अन्नादुरई और दलित आंदोलन

उत्तर भारत में दलित राजनीति में राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में छेड़ा गया समाजवादी आंदोलन गैर-कांग्रेसी दलों की विजय का महत्वपूर्ण कारक था तथा इसने शूद्र जन समुदाय की चेतना एवं आकांक्षाओं को अत्यधिक बढ़ाया। उत्तर प्रदेश के सन् 1993 के विधान सभा चुनावों में शूद्र एकता का एक नया नमूना प्रस्तुत किया। इसे पिछड़ी-दलित एकता अथवा शूद्र-अतिशूद्र एकता के नाम से जाना गया। डी. एम. के. के सी. एम. अन्नादुरई की राजनैतिक सफलता का सामाजिक आधार भी यही था।

कांशीराम और दलित आंदोलन

कांशीराम ने सन् 1976 में 'बामसेफ' अर्थात् सरकारी कर्मचारियों के निम्न मध्यम जातीय कर्मचारी संघ की स्थापना की। बाद में डी. एस-4 के निर्माण के साथ ही इसका आधार विस्तृत हुआ। दोनों ही बहुजन समाज पार्टी का सन् 1984 में गठन करने के लिए आगे आए।

बहुजन समाज पार्टी और दलित आंदोलन

उत्तर भारत में सन् 1984 में एक नई पार्टी, बहुजन समाज पार्टी (ब.स.पा.) कांशीराम और मायावती के नेतृत्व में गठित की गई। इस पार्टी के अनुसार चुनावी ताकत हासिल करना इसका मूल उद्देश्य और रणनीति थी। आरंभ में दलित पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों के एक बहुजन समाज में साथ आने की बात की जा रही थी, लेकिन व्यवहार में ब.स.पा. एक दलित-आधारित पार्टी बन गई। वह वोटों के लिए तथा राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए भा.ज.पा., कांग्रेस, जनता दल, समाजवादी पार्टी इत्यादि किसी के साथ की मित्रता करने के लिए तैयार थी। मायावती इसी प्रकार 1995 में भारतीय जनता पार्टी के साथ सांठ-गांठ करके उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं। ब. स. पा. उत्तर प्रदेश पंजाब और मध्य प्रदेश में जनजातियों के बीच पर्याप्त आधार बना सकने में सफल हो गई है। फलस्वरूप दूसरी पार्टियों के लिए वह महत्वपूर्ण चुनावी कारक बन गई है। किसी एक पार्टी के प्रभुत्व न होने से ब. स. पा. का तुलनात्मक महत्व बढ़ गया है, जो अन्यथा शायद उसे नहीं मिलता। इसकी विचारधारा की खास विशेषता ऊपरी जातियों के विरूद्ध तीखा, यहां तक कि अपशब्द भरा रूख है, हालांकि सत्ता के नजदीक पहुंचने पर इस रूख में कुछ नरमी आई है।

उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव 2007 में बहुजन पार्टी ने पहली बार पूर्ण बहुमत प्राप्त कर सत्तासीन हुई है। ब. स. पा. ने अपनी रणनीति में परिवर्तन करते हुए सोशल इंजीनियरिंग एवं बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय नारों के साथ उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों एवं ऊंची

CHRONICLE IAS ACADEMY

जातियों को बसपा से जोड़ा और उन्हें सत्ता में भागीदार बनाया है। वास्तव में, दलित राजनीति सत्ता की राजनीति बन कर रह गयी है।

1947 के बाद जाति

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में जाति-प्रथा का उदय करीब ढाई हजार वर्ष पहले हुआ था। यह न सिर्फ हिन्दूओं बल्कि सिखों, ईसाइयों और मुसलमानों के बीच भी पाया जाता है। जाति के अंतर्गत विभेदीकरण, ऊंची-निचली जातियां, छुआछूत के फलस्वरूप स्रोतों का असमान वितरण हुआ, निचली जातियों का शोषण और दमन हुआ और ऊंची जातियों की ओर से निचली जातियों के प्रति भेदभाव बढ़ता गया। जाति-व्यवस्था का सबसे कुरूप स्वरूप यह रहा कि उसने कुछ तबकों को अछूत और जाति-विहीन घोषित कर दिया और फिर इसके बहाने उन्हें जमीन के स्वामित्व, मंदिर में प्रवेश, गांव के कुओं इत्यादि जैसे पानी के स्रोतों से वंचित रखा। अछूतों के अलावा अन्य सभी जातियों को, यहां तक कि उनके सबसे निचले तबकों को भी अछूतों से शारीरिक संपर्क स्थापित करने की मनाही थी। वे उनके हाथों का पानी या भोजन तक स्वीकार नहीं कर सकते थे।

गांवों में सारे छोटे दर्जे के काम अछूत किया करते, जैसे- सफाई, पानी ढोना, मरे जानवरों की खालें निकालना, चमार का काम, इत्यादि। साथ ही, वे खेतिहार का काम भी किया करते जनजाति व्यवस्था के तहत उन्हें अपने काम के लिए भूस्वामियों की ओर से उत्पाद का एक तयशुदा भाग मिला करता।

उन्नीसवीं सदी से इस व्यवस्था में दरारें पड़ने लगीं। बड़े आर्थिक परिवर्तन होने लगे। कृषि उत्पादन एवं संबंधों के व्यावसायीकरण, ठेकेदारी प्रथा, फैक्ट्रियों, मंडियों, सरकारी सेवाओं, फौज, शिक्षा इत्यादि में गांव से बाहर उभरते अवसरों के फलस्वरूप अछूतों की स्थिति में परिवर्तन आया। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले और केरल में श्री नारायण गुरू तथा अन्य ने जाति व्यवस्था एवं असमानता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया।

1920 के बाद गांधीजी ने अछूतों की समस्या को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ दिया। वायकोम (1924-25) तथा गुरूवायूर सत्याग्रह (1931-32) जैसे आंदोलन संगठित किए गए। गांधीजी ने कोशिश की कि ऊपरी जातियों को अस्पृश्यता से संबंधित अन्याय की गंभीरता से अवगत कराया जाए और उनके द्वारा की गई इस गलती का एहसास कराया जाए। उन्होंने अछूतों 'दबे-कुचले वर्गों' को हिन्दुओं से अलग बताने की अंग्रेजों की कोशिशों का विरोध किया। यह सरकारी शब्दावली अछूतों के लिए प्रयुक्त होती थी। अंग्रेजों ने 1932 की सांप्रदायिक घोषणा के आधार पर विधायिकाओं में आरक्षित सीटें देने का सुझाव रखा। वह अलग मतदाताओं पर आधारित होता। इसके पीछे उद्देश्य था कि हिन्दुओं से अलग कर दिए जाने के बाद हिन्दू समाज को उनकी और अपना रूख बदलने की जरूरत नहीं रह जाएगी। गांधीजी ने इसका विरोध कर अंग्रेजों को सफल होने नहीं दिया। इस प्रकार अन्यायपूर्ण जाति व्यवस्था को न्यायपूर्ण बनाने का प्रयास निरंतर किया जाता रहा।

1947 के बाद जाति व्यवस्था एवं उसका रूपांतरण

स्वतंत्रता के बाद जाति व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा है। जाति के कर्मकाण्डीय एवं आर्थिक पक्षों में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं। जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण घटक इस प्रकार है:

1. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण
2. पश्चिमीकरण
3. सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन
4. दलित एवं पिछड़े वर्गों का आंदोलन
5. राज्य की भूमिका

सन् 1947 अर्थात् स्वतंत्रता के बाद जाति व्यवस्था में परिवर्तन की गति तेज करने मे राज्य की भूमिका सर्वप्रमुख रही है। जब भारत के संविधान ने समानता की घोषणा की, तो इसने एक ही प्रहार में 'जातीय असमानताओं एवं जातीय उच्चता के भाव को पूर्णत: खंडित कर दिया। अस्पृश्यता, जो जाति व्यवस्था का एक अभिन्न अंग रही है, को व्यवहार में लाना दण्डनीय अपराध घोषित (अनुच्छेद 17) कर दिया गया। प्रजातंत्र एवं वयस्क मताधिकार, सामाजिक न्याय, समानता एवं भारतीय समाज के सुविधावंचित वर्गों को सबल बनाने हेतु उल्लेखनीय कदम उठाये गये। राज्य द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन जिसकी योजना, निर्देशन एवं क्रियान्वयन राज्य द्वारा ही किया जाता है, ने जाति व्यवस्था में निहित असमानता एवं अन्याय के आधार पर तीखा प्रहार किया। राज्य द्वारा सभी के लिए समान कानून व्यवस्था एवं कानून के समक्ष सभी से समान रूप से व्यवहार करने की व्यवस्था की गई।

जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय पक्षों में परिवर्तन

नगरीकरण की प्रक्रिया ने जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय पक्ष पर तीखा प्रहार किया। अंतरजातीय एवं अंतर वैयक्तिक संबंधों के इहलौकिकीकरण में अनेक प्रकार से वृद्धि के साथ-साथ विभिन्न जातियों के बीच कर्मकाण्डीय एवं सामाजिक दूरियां कम हो गईं। लोगों में जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने के प्रति बढ़ती चेतना ने उपभोग के स्तर में बढ़ोतरी की। यह जाति व्यवस्था में समृद्धि एवं सामाजिक - आर्थिक उच्चता के सेक्युलर संकेतकों के सरलतम प्रवेश में सहायक सिद्ध हुआ। बढ़ते हुए आर्थिक विकास, विशेषकर कृषि एवं औद्योगीकरण के पूंजीवादी रूप में विकास ने ऐसे व्यावसायिक अवसर उपलब्ध कराए, जिन्हें कर्मकाण्डीय रूप से तटस्थ माना जाता था। इन व्यवसायों में प्रवेश का आधार आधुनिक शिक्षा व्यवस्था द्वारा प्रदत्त तकनीकी कौशल था। साथ ही, आय वृद्धि एवं संपत्ति अर्जित करने के अन्य साधन भी सामने आए। इस प्रकार प्रस्थिति निर्धारण के इन नए कारकों ने कर्मकाण्डीय निर्धारकों को लगभग निष्क्रिय-सा बना दिया। अंतरजातीय एवं अंतर वैयक्तिक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों एवं कर्मकांडीय स्तरों वाले लोग आधुनिक व्यावसायिक क्षेत्रों में एक-दूसरे के निकट आए तथा उन्होंने आपस में निकट संबंध स्थापित करते हुए जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय पक्ष को करारा झटका दिया। धर्मनिरपेक्षता के स्तर पर गैर-ब्राह्मण जातियों ने अपनी भौतिक समृद्धि के कारण अधिक प्रमुख स्थान प्राप्त किया। इस स्तरों पर ब्राह्मण केवल तभी उच्च स्थान पाते, जब वे भौतिक दृष्टि से अधिक समृद्ध होते थे। शक्ति के प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण ने राजनैतिक प्रक्रियाओं में भागीदारी को बढ़ावा दिया तथा आर्थिक सफलता के साथ-साथ राजनैतिक भागीदारी विकास का एक अन्य साधन बन गया है।

जाति व्यवस्था के आर्थिक पक्षों में परिवर्तन

प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बढ़ते नवीनीकरण, बाजार अर्थव्यवस्था एवं पिछड़े व दलित वर्गों की लामबंदी के कारण जजमानी व्यवस्था का पतन हो गया। नगरीय क्षेत्रों में नवीन व्यावसायिक संरचना के कारण 'व्यवसाय मुक्त जातीय सरंचना' हो गया, क्योंकि नए व्यवसाय में भर्ती तकनीकी कौशल के आधार पर होती थी, जिसे आधुनिक औपचारिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। उदाहरण स्वरूप मिट्टी के

CHRONICLE IAS ACADEMY

बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति कुम्हार जाति का ही हो। इसी प्रकार आभूषण बनाने की कला वह व्यक्ति भी सीख सकता है, जो सुनार न हो। साथ ही एक नई अवधारणा भी देखने को मिलती है। कई जाति-समूहों ने अपने-अपने वर्ग-हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से एक-दूसरे का साथ देना प्रारंभ कर दिया है। उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन व महाराष्ट्र का क्षेत्रकारी संगठन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि जाति के आर्थिक प्रकार्य अब रूपान्तरित हो चुके हैं, किन्तु सामाजिक संगठन की एक इकाई के रूप में जाति की अवधारणा अपनी अनुकूलनीय सामर्थ्य के कारण आज भी जीवित है।

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम

स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम के निम्नलिखित प्रमुख अंग रहे हैं:

(i) मध्यस्थों की समाप्ति
(ii) काश्तकारी सुधार
(iii) भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण एवं भूमिहीनों के बीच भूमि का वितरण
(iv) जोतों की चकबंदी करना

स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार की दिशा में उल्लेखनीय प्रयास किए गए। इस भूमि सुधार कार्यक्रम के समक्ष जो मूलभूत समस्या थी उसमें, भूस्वामित्व, जोत के आकार और भूमि के बिखराव से संबंधित समस्याएं सर्वप्रमुख थीं। औपनिवेशिक काल में कार्नवालिस सुधार नीति पर आधारित कृषि पद्धति द्वारा वस्तुत: भारतीय ग्रामीण समाज में विषमता एवं विभाजन ही उत्पन्न हुआ था। इसके परिणामस्वरूप भूमि पर प्रभावशाली जातियों का पूर्णरूपेण स्वामित्व स्थापित हो चुका था एवं पिछड़ी जातियां एवं अनुसूचित वर्ग सर्वथा भूमिहीन एवं अधिकार रहित थे। कांग्रेस पार्टी द्वारा स्वतंत्रता पूर्व अपने महासम्मेलनों में भूमि सुधार और जमींदारी के उन्मूलन के प्रस्ताव पारित किए गए थे। कृषिजन्य समस्याओं के निदान के लिए एवं उचित उपाय प्रस्तावित करने के लिए 'कांग्रेस कृषिजन्य सुधार समिति (कुमारप्पा समिति) को नियुक्त किया गया, जिसने सन् 1949 में अपनी रिपोर्ट दी। इसके साथ ही भारत में भूमि सुधार संबंधी व्यापक कार्यक्रमों का शुभारंभ हुआ।

स्वतंत्रता के तत्काल बाद भूमि सुधार की दिशा में क्रांतिकारी कार्य किए गए। वस्तुत: 1950-60 के दशक में भूमि सुधार के जितने कार्य हुए, उतने कार्य किसी अन्य दशक में नहीं हुए। इसी दशक के अन्तर्गत भारत में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया तथा देश के करीब 2 करोड़ कृषक परिवार को जोत का अधिकार एवं 1 करोड़ परिवार को स्वामित्व का अधिकार दिया गया, इसके अन्तर्गत लगभग 67 लाख हेक्टेयर भूमि पर स्वामित्व के अधिकार को निश्चित किया गया था। इस प्रक्रिया का लाभ भी भारतीय कृषि को मिला, जो प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की सफलता के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन इस समय समस्या का वास्तविक समाधान नहीं हो सका। वास्तव में 1950 के दशक के सुधारों का लाभ उन्हें प्राप्त हुआ, जो जमींदारी व्यवस्था से जुड़े थे। अत: भूस्वामित्व और जोत का अधिकार उन्हीं परिवार को मिला, जो प्रभावशाली थे। सन् 1960 आते-आते यह स्पष्ट हो चुका था कि जमींदारी उन्मूलन एवं भूचकबंदी कानून संस्थागत परिस्थितियों पर प्रभाव डालने में असफल रहे। इस वक्त जम्मू-कश्मीर एकमात्र राज्य था, जहां सन् 1948 ई. में भूमि सुधार कानून पारित किया गया और यह व्यवस्था की गई कि किसी को भी अधिकतम 48 हेक्टेयर से अधिक भूमि पर अधिकार नहीं होगा।

1960 के दशक में भूमि सुधार का एक प्रयोग प्रारंभ किया गया यह था भू-दान आन्दोलन। यद्यपि सन् 1951 में ही आचार्य बिनोवा भावे द्वारा इसे प्रारंभ किया गया था लेकिन 60 के दशक में इसे पुन: गति प्रदान की गई। चूंकि भूमि सामाजिक अधिकार था, इसलिए सामाजिक आन्दोलन द्वारा इसे क्रियान्वित किया गया। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप स्वेच्छा से लगभग 42 लाख हेक्टेयर भूमिदान किया गया। लेकिन इस आन्दोलन द्वारा भी कृषक समस्या के समाधान में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी, क्योंकि अधिकतर समप्रित भूमि परती थी, दूसरी ओर लगभग आधी से भी कम भूमि ही कृषकों के बीच वितरित की जा सकी। इसका प्रमुख कारण था, भूमिदान के बाद उसपर त्वरित एवं उचित कार्यवाही का अभाव।

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में समग्र स्थिति का पुनर्वीक्षण करके यह प्रस्तावित किया गया कि भूमि सुधारों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाय और इस संबंध में निम्न कदम उठाए जाने चाहिए:

(i) भूमि के स्वैच्छिक अधिग्रहण और समप्रण के पंजीकरण में कानूनी और प्रशासनिक कमियों को दूर किया जाना चाहिए।
(ii) काश्तकारों के भूस्वामित्व संबंधी अधिकार को सशक्त बनाने के कार्यक्रम को पूरा किया जाना चाहिए और
(iii) भूमि के हस्तांतरण संबंधी व्यवस्था को दोषमुक्त एवं दुरूस्त किया जाना चाहिए।

1970 के दशक में (1972 में) राष्ट्रीय भूमि सुधार नीति की घोषणा की गई। इसके अन्तर्गत कृषि भूमि को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया। एक परिवार के आकार को पांच व्यक्तियों की संख्या निर्धारित की गई। इसके अन्तर्गत एक परिवार की भूस्वामित्व की निम्नलिखित सीमा निर्धारित की गई-

दो फसली भूमि - 10-18 हेक्टेयर
एक फसली भूमि - 54 हेक्टेयर

बागानी एवं औद्योगिक कृषि भूमि पर यह सीमा लागू नहीं की गई, लेकिन इस प्रकार के भूमि पर अलग से कर लगाने की व्यवस्था की गई।

इस नीति के अन्तर्गत यह भी तय किया गया कि किसी परिवार में पांच व्यक्तियों से अधिक होने की स्थिति में उसे दो परिवार का लाभ दिया जाएगा। इसी आधार पर भारत के अधिकतर राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रम क्रियान्वित किया जा रहा है। इस नीति में यह भी निश्चित किया गया है कि कोई भी कृषक बसाव स्थल के अतिरिक्त दो जगह चक बना सकता है। यद्यपि उपरोक्त नीतियां बहुत से राज्यों में प्रभावी नहीं हुईं। विशेषकर बिहार, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, आन्ध्र प्रदेश आदि राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रम की स्थिति अत्यंत असंतोषजनक है।

अस्सी के दशक में चकबंदी पर अधिक जोर दिया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य था- चक बनाकर कृषि विकास के आधुनिक संरचनात्मक अवयवों का प्रभावी उपयोग करना। पुन: सातवीं पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार को ग्रामीण विकास का रूप दिया गया। साथ ही इसे गरीबी निवारण का प्रमुख उपकरण बनाया गया। अत: ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ऋण लेने के लिए भूमि घोषणा को अनिवार्य बनाया गया। 90 के दशक में भूमि सुधार कार्यक्रम को अधिक गंभीरता से लिया गया। पंचायती राज अधिनियम के अन्तर्गत इसे पंचायत का दायित्व बनाया गया है। पुन: भूमि संबंधी मामलों को 9वीं अनुसूची में शामिल किया गया है, जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है

CHRONICLE IAS ACADEMY

भूमि सुधार कार्यक्रम के प्रमुख अवयव

(i) बिचौलियों का उन्मूलन: स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में भू-धारणा से संबंधित प्रमुख तीन प्रणालियां पायी जाती थीं (i) जमींदारी प्रणाली, (ii) महालवाड़ी प्रणाली और (iii) रैयतवाड़ी प्रणाली। इन तीनो ही प्रणालियों द्वारा रैयतों का जमकर शोषण किया जाता था। अत: स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने सर्वप्रथम जमींदारी प्रथा की समाप्ति की प्राथमिकता दी, क्योंकि इस प्रणाली में कृषि विकास एवं किसानों के प्रति न्याय का कोई स्थान नहीं था। सर्वप्रथम उत्तरप्रदेश में सन् 1950 ई. में जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया गया। सन् 1954 तक इस मामले में कई राज्यों में कानून बन गए और इसे अमल में लाने का कार्य भी लगभग पूरा हो गया। अब सरकार का किसानों के साथ सीधा संपर्क हो गया है।

(ii) काश्तकारी सुधार: काश्तकारों को शोषण से बचाने तथा उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए निम्नलिखित कदम उठाए गए हैं-

(क) देश के सभी भागों में लगान कम करने के लिए आवश्यक कानून बनाए गए हैं।

(ख) काश्तकारी सुरक्षा से संबंधित कानून

(ग) मुआवजे की व्यवस्था

(घ) काश्तकारों को भूमि अधिकार देने की व्यवस्था

(iii) भूमि की उच्चतम सीमा का निर्धारण: इसका आशय किसी किसान परिवार द्वारा अपने कब्जे में रखी जाने वाली भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित करना है। इस सीमा से अधिक भूमि को सरकार अधिग्रहण कर भूमिहीन कृषकों के मध्य बांटती है। भूमि जोतों की उच्चतम सीमा संबंधी
कानून लगभग सभी राज्यों द्वारा पारित कर दिए गए हैं।

(iv) चकबन्दी: जोतों के बिखरे होने की समस्या को चकबन्दी की सहायता से दूर किया जा सकता है। चकबन्दी के अन्तर्गत विभिन्न किसानों को एक ही स्थान पर उसके बिखरे हुए टुकड़ों के मूल्य के बराबर भूमि इकट्ठी रूप में दी जाती है। स्वतंत्रता के बाद और मुख्यत: प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही चकबंदी का कार्य प्रारंभ हो गया था। सन् 1995 तक 580 लाख हेक्टेयर भूमि पर चकबंदी की जा चुकी थी।

(v) भूमि स्वामित्व संबंधी दस्तावेजों को ठीक करना: भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया है कि भूमि के स्वामित्व संबंधी दास्तावेजों का निरीक्षण किया जाये तथा इस बात का प्रयास किया जाये कि जहां कहीं अनुचित तरीकों से अथवा जोर जबरदस्ती से इन दस्तावेजों में अनियमितता बरती गई है, उन्हें सुधारा जाय। इस दिशा में अभी काफी कार्य होना बाकी है।

(vi) सहकारी खेती: सहकारी खेती के अन्तर्गत किसान संयुक्त रूप से खेती करते हैं, इससे बड़े पैमाने पर लाभ प्राप्त होता है एवं इनकी मोलभाव (विपणन) की शक्ति भी बढ़ जाती है, जिससे संबंधित सभी किसान लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सहकारिता का विस्तार कृषि जीवन के विभिन्न पहलुओं तक किया जा रहा है। इसके लिए देश में बहुद्देशीय सहकारी समितियों के विकास पर बल दिया जा रहा है। ये समितियां सहकारी खेती, सहकारी वित्त, सहकारी विपणन, कुटीर उद्योगों आदि की व्यवस्था करती हैं। सहकारिता एक प्रकार से ग्रामीण जीवन का अंग बन गई है और इसे 'सहकारिता आन्दोलन' का नाम दिया गया है, किन्तु इस आन्दोलन ने अभी तक विशेष प्रगति नहीं की है।

कि भूमि वितरण को न्यायालय में मौलिक अधिकारों की रक्षा के संदर्भ में न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। 10वीं पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार कार्यक्रमों को ग्रामीणों से सहयोग द्वारा क्रियान्वित करने की नीति को सीमित सफलता प्राप्त हुई है।

भूमि सुधार कार्यक्रम की वर्तमान स्थिति

भारत में भूमि सुधार से संबंधित विभिन्न परिसीमन कानूनों के अन्तर्गत सितंबर, 2001 तक 73.66 लाख एकड़ भूमि अतिरिक्त घोषित की गई, जिसमें से लगभग 64.95 लाख एकड़ भूमि को अधिग्रहीत किया गया और 53.79 लाख एकड़ भूमि को 55.8 लाख लाभार्थियों में वितरित किया गया, जिसमें से अनुसूचित जाति के लोग 36 प्रतिशत एवं 15 प्रतिशत लाभार्थी अनुसूचित जनजाति के लोग थे। इसके अतिरिक्त अभी तक 147.7 लाख एकड़ सरकारी भूमि भूमिहीन ग्रामीण गरीबों में वितरित की जा चुकी है। देश के अनेक राज्यों में काश्तकारों के स्वामित्व अधिकारों को प्रदान करने या काश्तकारों द्वारा मुआवजा भरने पर स्वामित्व अधिकारों को प्राप्त करने संबंधी वैधानिक प्रावधान किए गए हैं। अब तक 156 लाख एकड़ क्षेत्र पर 124 लाख काश्तकारों के अधिकारों को सुनिश्चित किया गया है।

वर्ष 1988-89 में भू-अभिलेखों के कम्प्यूटरीकरण के लिए एक केन्द्र प्रायोजित योजना आठ जिलों में शुरू की गई थी। वर्तमान में यह योजना देश के 582 जिलों में लागू की गई है। वर्ष 1997-98 के दौरान इस योजना को तहसील/ तालुक स्तर पर लागू करने का निर्णय लिया गया। मार्च 2002 तक 569 जिलों के लगभग 2426 तहसीलें / तालुकों में इस योजना को लागू कर दिया गया था।

वस्तुत: भारत जैसे कृषि प्रधान देश में सुधार के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण बेरोजगारी कम करने की दिशा में कार्य किए जाएं, जिससे भूमि के विभाजन और विवाद में कमी आएगी। दूसरी आवश्यकता यह है कि भूमि का नवीन सर्वेक्षण व चकबंदी हो। जो नवीन चक बने, उसका पूर्णत: कम्प्यूटराइजेशन होना चाहिए। भूमि सुधार कार्यक्रम को दृढ़ता से क्रियान्वित करने के लिए इंडियन फॉरेस्ट सविर्सेज की तर्क पर भूमि सुधार सर्विस प्रारंभ करने की आवश्यकता है। जिससे जिला प्रशासन पर भूमि विवाद संबंधी दबाव में कमी आयेगी। यह भी आवश्यक है कि एक नवीन भूमि नीति बनाई जाए व उस नीति के क्रियान्वयन का आधार ग्रामीण स्तर पर हो। उपरोक्त प्रयासों के साथ-साथ राजनैतिक प्रशासनिक प्रतिबद्धता एवं आम लोगों की सहभागिता भी आवश्यक है।

योजना एवं ग्रामीण पुनर्रचना की रणनीति

भारत जैसे वृहद् आकार एवं विशाल जनसंख्या से युक्त देश के लिए प्रारंभ से ही यह माना गया कि नियोजन एवं विकास की प्रक्रिया इस प्रकार संचालित हो, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों एवं निर्धन लोगों का सर्वांगीण विकास संभव हो सके। स्वतंत्रता के बाद भारत में ग्रामीण विकास को काफी महत्व दिया गया एवं आयोजनाओं की प्रमुख रणनीति ग्रामीण पुनर्रचना से प्रमुखता से सम्बद्ध रही।

प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही ग्रामीण विकास एवं विकेन्द्रित नियोजन की प्रक्रिया प्रारंभ की गई। इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास प्रखंड की स्थापना को प्रस्तावित किया गया। साथ ही वर्ष 1953-54 में राष्ट्रीय सेवा विस्तार कार्यक्रम लागू किया गया।

CHRONICLE IAS ACADEMY

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बलवंत राय मेहता कमेटी की अनुशंसा के आधार पर ग्राम प्रखंड एवं जिला स्तर पर पंचायत समितियों के गठन की सलाह राज्य सरकारों को दिया गया। लेकिन संवैधानिक प्रावध ानों के अभाव में कुछ ही राज्य सरकारों ने इसे क्रियान्वित किया। दूसरी समस्या यह रही कि पंचायतों के लिए विकास की प्रत्यक्ष राशि की व्यवस्था नहीं की गई थी। उसी प्रकार तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में संवैधानिक प्रावधानों के अभाव में ग्रामीण विकास एवं लघुस्तरीय नियोजन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सुस्त रही। इस दौरान कई राज्यों में राज्य योजना बोर्ड एवं जिला नियोजन बोर्ड का गठन किया एवं इन संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण विकास की प्रक्रिया को त्वरित करने का प्रयास किया। इस दौरान ग्रामीण विकास की कुछ प्रमुख योजनाएं संचालित की गई। ग्रामीण आवासीय योजना वर्ष 1957-58, ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम वर्ष 1960-61, आदि।

लेकिन चूंकि इस अवधि में पंचायत का महत्व लगभग समाप्त सा हो गया था इसलिए जिला नियोजन बोर्ड का लघु स्तरीय अर्न्त-आकर्षण समाप्त हो गया था, फलत: ग्रामीण स्तर की समस्याओं से अवगत न होने के कारण, ये अपने उद्देश्यों में लगभग असफल रहे। हालांकि इस अवधि के दौरान भी हरियाणा, पंजाब, आंशिक रूप से उत्तर-प्रदेश में व कर्नाटक एवं महाराष्ट्र में ग्रामीण विकास प्रखंडों ने सक्रियता से कार्य किया एवं सफलताऐं भी प्राप्त कीं।

पांचवी पंचवर्षीय योजना में एक नया कार्यक्रम 'अन्त्योदय' प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य था- सबसे अंतिम अर्थात निध नतम व्यक्ति का उदय हो एवं अंतत: संपूर्ण ग्रामीण विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। पंचायती राज्य के अभाव में भी सामुदायिक विकास प्रखंड की मदद से इस कार्यक्रम को चलाने का निर्णय लिया गया। वर्ष 1970 के दशक में साथ ही साथ ग्रामीण पुनर्रचना से संबंधित अन्य कई योजनाएं प्रारंभ की गईं। इनमें प्रमुख थीं-न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (1974-75) काम के बदले अनाज योजना (1974-75), ट्राइसेम (1973) समन्वित बाल विकास योजना (1975-76) आदि। इन कार्यक्रमों में ग्रामीणों को प्रशिक्षण तथा कृषि और लघु स्तरीय योजना हेतु ऋण का प्रावधान था। ये योजनाएं राजस्थान, पंजाब और हरियाणा में सफल रहीं। अन्य राज्यों में विकास योजनाओं या तो आशिंक रूप से सफल रहीं या असफल रहीं। योजनाओं की असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण रहा था- पंचायत समिति का अभाव होना।

छठी पंचवर्षीय योजना में बिकेन्द्रित नियोजन की दिशा में एक ऐतिहासिक कार्य किया गया, जिसके अन्तर्गत समन्वित ग्रामीण विकास योजना प्रारंभ किया गया। वस्तुत: इसकी शुरूआत वर्ष 1978-79 के एकवर्षीय योजना के दौरान हुई, लेकिन छठी योजना में 2400 विकास प्रखंडों में एक साथ समन्वित ग्रामीण विकास योजना प्रारंभ की गई। इस योजना के अंत तक लगभग 2700 प्रखंडों में संचालित इस योजना में केन्द्र एवं राज्य सरकारों की वित्तीय भागेदारी 50:50 प्रतिशत की थी। इस कार्यक्रम का मूल उद्देश्य प्रत्येक प्रखंड में प्रतिवर्ष 5000 ग्रामीण परिवारों को गरीबी रेखा के ऊपर ले जाना था। इस कार्यक्रम की सफलता लगभग 60 प्रतिशत आंकी गई। कार्यक्रम के पूर्ण सफल न होने का सबसे प्रमुख कारण पुन: पंचायती समितियों एवं व्यवस्था का अभाव। इस कार्यक्रम की एक बड़ी कमी यह रही कि गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की सही पहचान नहीं हो सकी, जिसके परिणामस्वरूप अपेक्षित वर्ग को पर्याप्त लाभ प्राप्त नहीं हो सका।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान विकेन्द्रित नियोजन की अनिवार्यता पर बल देते हुए पंचायती राज के संवैधानिक प्रावधान को आवश्यक माना गया। इसी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण विकास के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण जवाहर रोजगार योजना का प्रारंभ किया गया। 100 प्रतिशत केन्द्र द्वारा प्रायोजित इस योजना के अन्तर्गत पंचायत को नियोजन का प्रशासनिक अधिकार दिया गया। यद्यपि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की गईं लेकिन बहुत से राज्यों में पंचायतों के अभाव में योजना राशि का उपयोग नहीं हो सका एवं कई राज्यों में इसका दुरुपयोग भी हुआ।

अस्सी के दशक में ग्रामीण विकास के दृष्टिकोण से कई अन्य योजनाएं चलाई गईं। गांवों में मूलभूत सुविधाओं के विस्तार के लिए इन्दिरा आवास योजना (1985-86), ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम(1986-87), कुटीर ज्योति कार्यक्रम (1988-89), दस लाख कूप योजना (1989-90), आदि। सामाजिक सुरक्षा के उद्देश्य के ग्रामीण कुटीर बीमा योजना (1989-90), व्यापक फसल बीमा योजना (1985-86) एवं स्वरोजगार एवं गरीबी निवारण संबंधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (1980-81), ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (1983-84) आदि।

आठवी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में यह महसूस किया गया कि विकेंद्रित नियोजन एवं त्वरित ग्रामीण विकास के लिए संवैधानिक प्रावधान आवश्यक है। इसी के अन्तर्गत 1992 ई. में 73वां संविधान संशोधन लाया गया। इस संशोधन के द्वारा आठवीं पंचवर्षीय योजना से पंचायती राज व्यवस्था स्थापित की गई। संविधान में 11वीं अनुसूची को सम्मिलित किया गया, जिसमें 29 ऐसे विषय हैं, जो पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत जिला परिषद् पंचायत समिति एवं ग्राम पंचायत के द्वारा आपसी समन्वय के द्वारा क्रियान्वित करती है। साथ पंचायत समिति एवं ग्राम पंचायत के द्वारा आपसी समन्वय के द्वारा क्रियान्वित करती है। साथ पंचायतों के निर्वाचन एवं उनकी वित्तीय सुदृढ़ता एवं स्वायत्ता की व्यवस्था भी की गई। ग्रामीण पुनर्रचना एवं ग्रामीण विकास के दृष्टिकोण से ग्राम पंचायतों को तीन प्रमुख कार्य दिया गया है:

(i) पंचायत स्तर पर आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं को तैयार करना।
(ii) संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची में सम्मिलित विषयों के विकास हेतु कार्य करना, जिसमें मुख्य रूप से कृषि भूमि सुधार, प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा विकास, सामाजिक वानिकी पेयजल व्यवस्था, ग्रामीण परिवहन व्यवस्था, गरीबी निवारण, परिवार कल्याण कार्यक्रम आदि शामिल हैं।
(iii) तीसरा महत्वपूर्ण अधिकार स्वायत्तता के रूप में दी गई है। केन्द्र और राज्यों द्वारा आवंटित राशि के अलावा ये ग्राम पंचायत क्षेत्रों में अतिरिक्त कर लगा सकते हैं एवं ग्राम सभा की सहमति से श्रम दान ले सकते हैं।

आठवीं, नौवीं एवं दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं में प्रखंड स्तरीय विकास के सभी राशियों के खर्च का दायित्व ग्राम पंचायत को ही दिया गया है। दूसरे शब्दों में प्रखंड स्तर एवं पंचायत स्तर पर नियोजन एवं विकास व्यय का दायित्व ग्राम सभा और ग्राम पंचायत व पंचायत समितियों को दिया गया है। उपरोक्त तीनों योजनाओं के दौरान ग्रामीण विकास के दृष्टिकोण से संचालित कुछ प्रमुख योजनाएं हैं गरीबी निवारण एवं स्वरोजगार सृजन के दृष्टिकोण से स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (1999-2000) व जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (1999-2000) से संपूर्ण रोजगार योजना (2000-01) आदि। गांवों में मूलभूत सुविधाओं के विस्तार हेतु गांधी ग्राम योजना (1995-96), ग्रामीण संपर्क मार्ग योजना (1996-97), ग्रामीण पेयजल योजना (1997-98), स्वर्ण जयंती ग्राम योजना (1997-98), समग्र आवास योजना (1999-2000), प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (2000-01)

CHRONICLE IAS ACADEMY

प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना (2000-01), स्वजल धारा योजना (2002-03), सार्वभौमिक स्वास्थ्य बीमा योजना (2003-04) आदि। सामाजिक सुरक्षा हेतु राष्ट्रीय परिवारिक लाभ योजना (1994-95) लक्ष्य आधारित खाद्यान्न वितरण योजना (1997-98), राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (1999-2000), अन्नपूर्णा योजना (2000-01), सर्वशिक्षा अभियान, शिक्षा सहयोग बीमा योजना (2001), जननी सुरक्षा योजना (2003-04) आदि। दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान ग्रामीण विकास के उद्देश्य से भारत निर्माण योजना एवं ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम नामक दो अति महत्वपूर्ण योजनाएं प्रारंभ की गई हैं।

ग्रामीण विकास एवं पुनर्रचना के दृष्टिकोण से स्वतंत्रता के बाद से ही व्यापक प्रयास किए गए हैं एवं इसके सकारात्मक परिणाम भी सामने आए हैं। उदाहरण के लिए गरीबी उन्मूलन योजनाओं के कारण ग्रामीण गरीबी वर्ष 1973-74 के 56.44 प्रतिशत के स्तर से घटकर वर्ष 1999-2000 में 27.09 प्रतिशत के स्तर पर आ गया। ग्रामीण आबादी को पेयजल मुहैया कराने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है एवं वर्तमान में लगभग 94% आबादी को पेयजल उपलब्ध करा दी गई है। इसी प्रकार स्वतंत्रता के समय केवल 6% गांव ही विद्युतीकृत थे। वर्तमान में 87% गांवों में विद्युत की सुविधा है। उसी प्रकार गांवों में रोजगारन्मुख कार्यक्रमों, स्वच्छता कार्यक्रमों एवं साक्षरता कार्यक्रमों की अच्छी सफलता प्राप्त हुई। परिवहन व्यवस्था (सड़क आदि) एवं दूरसंचार की व्यवस्थाएं भी दुरस्त हुई हैं। सबसे बढ़कर पंचायती राज व्यवस्था के क्रियान्वयन के बाद से ग्रामीणों की स्वशासन में भागीदारी एवं राजनीतिक जागरूकता दोनों बढ़ी है।

लेकिन ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि ग्रामीण आयोजना एवं विकास नीतियां पूर्णत: सफल रही हैं। भारत में ग्रामीण विकास कार्यक्रम की अपनी सीमाएं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाली 78 करोड़ आबादी में से एक चौथाई अर्थात, करीब 19-20 करोड़ लोग आज भी गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करने को विवश हैं। अब तक लगभग 60 हजार गांवों को प्राथमिक स्तर की शिक्षा हेतु विद्यालय तक उपलब्ध नहीं हैं। लगभग 5 करोड़ ग्रामीण परिवारों के विद्युत की सुविधा उपलब्ध नहीं है। बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल एवं उत्तर प्रदेश के 80 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को बिजली उपलब्ध नहीं है। देश के लगभग 2.5 करोड़ ग्रामीण परिवारों को सरकार द्वारा निर्धारित मानक के अनुसार आवासीय सुविधा उपलब्ध नहीं है एवं ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 17.5 प्रतिशत प्रतिशत लोग ही शौचालयों का उपभोग कर पाते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत में ग्रामीण आयोजना को सीमित सफलता ही प्राप्त हुई है। अभी ग्रामीण विकास के क्षेत्र में बहुत कुछ किया जाना शेष है। आवश्यकता है कि ग्रामीण विकास संबंधी योजनाओं को और कुशलता एवं प्रतिबद्धता से लागू किया जाय एवं भ्रष्टाचार तथा अकर्मण्यता संबंधी परिस्थितियों पर कड़ाई से रोक लगाई जाय। ग्रामीण विकास के लिए कहीं अधिक राजनीतिक प्रशासनिक प्रतिबद्धता की आवश्यकता है। साथ ही, ग्रामीण विकास संबंधी नीतियों में आवश्यकतानुसार सुधार एवं परिवर्तन की जरूरत भी बनी हुई है। इस प्रकार के कुछ व्यावहारिक कदम उठाकर सदियों से उपेक्षित रहे गांवों में स्फूर्ति लाई जा सकती है तथा देश के सर्वांगीण एवं समन्वित विकास में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने जैसे अहम् उद्देश्य की पूर्ति किया जाना संभव हो सकता है। अत: सभी स्तरों से पूरी प्रतिबद्धता और समप्रण की भावना से इस दिशा में प्रयास किया जाना नितांत रूप से आवश्यक है।

औपनिवेशिकोत्तर भारत में पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण नीति

स्वतंत्रता के उपरांत भारत में आर्थिक-सामाजिक विकास को सुनिश्चित करने के लिए व्यापक नीतियां बनाई गई एवं इसे क्रियान्वित किया गया। आर्थिक विकास के क्रम में एवं बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताएं पूर्ण करने की प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से पर्यावरण का दोहन होता है। कई अर्थों में विकास की प्रक्रिया एवं पर्यावरण संतुलन में व्युत्क्रमानुपाति संबंध होता है। ऐसे में पर्यावरण प्रदूषण एवं अवनयन की समस्याएं उत्पन्न होना स्वा भाविक है। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत में पर्यावरण प्रदूषण की रोक-थाम एवं पर्यावरण उन्नयन को लेकर प्रशासनिक स्तर एक चेतना अवश्य रही है, लेकिन बाद के वर्षों, विशेषकर वर्ष 1970 के बाद से ही परिस्थिति एवं पर्यावरण के संदर्भ में विशेष सक्रियता दिखाई गई। सर्वप्रथम भारत सरकार ने वन सम्पदा के तीव्र ह्रास, मृदा अपरदन, प्राकृतिक आपदाओं एवं बिगड़ते हुए पारिस्थितिक असंतुलन को ध्यान में रखकर वर्ष 1952 में वन नीति को घोषणा की, जिसमें:

(i) वन संरक्षण एवं संवर्द्धन द्वारा 33 प्रतिशत भाग पर वनाच्छादन
(ii) नियंत्रित वन कटाव
(iii) बेकार भूमि पर वन रोपण
(iv) घास, जालौनी का प्रबंध एवं वनोत्पादन में वृद्धि
(v) भारतीयों वनों को सुरक्षित, आरक्षित, ग्राम्य वन आदि में वर्गीकरण आदि प्रमुख प्रावधान थे। वनों के संरक्षण के प्रति जागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से वर्ष 1952 ई से वन महोत्सव प्रारंभ किया गया।

भारत में समय के साथ तीव्र औद्योगिक विकास, बहुद्देशीय नदी घाटी परियोजनाओं के कारण, बड़े पैमाने पर परिवहन विकास, नगरीयकरण आदि के कारण पर्यावरणीय समस्याएं बढ़ती ही चली गईं। इन परिस्थितियों में सरकार द्वारा पर्यावरण की सुरक्षार्थ कुछ कानूनों का निर्माण किया गया। जैसे-

(i) इनसेक्टी साइड एक्ट, 1968
(ii) जल अधिनियम (प्रदूषण प्रतिबंधक एवं रोकथाम), 1974
(iii) जल प्रदूषण उपकर अधिनियम, 1977
(iv) वन संरक्षण अधिनियम, 1980
(v) वायु (प्रदूषण नियंत्रक) अधिनियम, 1981
(vi) वातावरण (सुरक्षा) अधिनियम, 1986 एवं
(vii) वन्य जीव संरक्षण अधिनियम आदि।

सतत विकास की नीति

उपरोक्त कानूनों के माध्यम से पर्यावरण प्रदूषण की रोकथाम के उपायों को अवश्य ही बल प्राप्त हुआ, किन्तु भारत में प्रदूषण संबंधी समस्याओं के निवारणार्थ और व्यापक प्रयासों की आवश्यकता बनी हुई थी। इसी बीच विशेषकर वर्ष 1970 एवं 80 के दशक में सतत् विकास की संकल्पना को बल प्राप्त हुआ। सतत् विकास या अविरत विकास, विकास की वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत विकास की प्रक्रिया को पर्यावरण के नियमों के अनुकूल अग्रसारित किया जाता है। भारत में सतत् विकास की नीति को अपनाया पारिस्थितिकी संतुलन एवं विकास की प्रक्रिया में समन्वयन स्थापित करने वाले इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं:

(i) नदी बेसिन नियोजन
(ii) कृषि जलवायु प्रादेशीकरण

CHRONICLE IAS ACADEMY

(iii) जीव मंडल प्रबंध
(iv) वाटरशेड प्रबंधन
(v) नगर प्रदेश नियोजन
(vi) वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत विकास

उपरोक्त कार्यक्रमों के संचालन के लिए 'पर्यावरण नियोजन एवं संयोजन की राष्ट्रीय समिति (NCEPC)' का निर्माण किया गया है। यह समिति पर्यावरण की दशा पर एक वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करती है एवं पर्यावरण पर पड़ने वाले अधिप्रभाव का आकलन भी करती है। केन्द्र सरकार ने वर्ष 1980 में पर्यावरण विभाग की स्थापना भी की। इस विभाग का दायित्व मुख्यत: वातावरण की गुणवत्ता में ह्रास का लेखा-जोखा रखना तथा बड़ी आर्थिक परियोजनाओं का पर्यावरण पर पड़ने वाले अधिप्रभाव को जांचना-परखना है। वर्ष 1981 में 'संविकास परिषद्' की स्थापना की गई। इसी वर्ष पर्यावरण विभाग की देखरेख में 13 जैव मंडल रिजर्व स्थापित किए गए। इस समय भारत में बॉटीनिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।' 'ज्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया एवं नेशनल म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री' जैसी संस्थाएं भी पर्यावरण विकास में सहयोग दे रही हैं। देश में पर्यावरण विभाग तथा राष्ट्रीय जल आयोग की समीक्षा के बिना कोई बड़ी बहुद्देशीय परियोजना स्थापित नहीं की जा सकती।

भारत में संविकास क्षेत्र में बंजर भूमि विकास बोर्ड का कार्य भी महत्वपूर्ण है। पारिस्थितिकी विकास की दृष्टि से भारत को 16 कृषि जलवायु खंडों में विभाजित किया गया है। मिट्टी कटाव को रोकने के लिए सरकार ने कई उल्लेखनीय प्रयास किए हैं, परन्तु कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी है। ऊर्जा संकट से निपटने एवं वन विनाश को रोकने के लिये भारत ने गैर परंपरागत ऊर्जा स्रोतों का विकास किया है। इनमें गोबर गैस पवन ऊर्जा, सौर ऊर्जा, ज्वारीय तरंगों एवं कूड़े-कचरे से ऊर्जा प्राप्त की जाती है, गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोत संविकास की दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

पारिस्थितिकी नीति एवं पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में अन्य नीतियां

- **सामाजिक वानिकी:** सामाजिक वानिकी कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य मृदा कटाव को रोकना, वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि करना, स्थानीय लोगों के लिए ईंधन, फल, चारा आदि का पूर्ति करते हुए पर्यावरण को स्वच्छ एवं संतुलित रखना है। सामाजिक वानिकी के तीन अंग हैं- (क) कृषि वानिकी (ख) सामुदायिक वानिकी एवं (ग) नगरीय वानिकी। इस कार्यक्रम को वर्ष 1981-82 से चलाया जा रहा है एवं वक्षारोपण कार्यक्रम को इसके अन्तर्गत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।
- **राष्ट्रीय वन नीति 1988:** वर्ष 1988 ई. में संशोधित एवं अधिक प्रभावी वन नीति की घोषणा की गई, नवीन वन नीति के निम्न प्रमुख उद्देश्य हैं:
  (i) नदियों, झीलों और जलाशयों के जल ग्रहण क्षेत्रों में मृदा कटाव और वनस्पति के बहाव पर अंकुश लगाना।
  (ii) व्यापक वृक्षारोपण और सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों के माध्यम से वन और वृक्षारोपण में वृद्धि करना।
  (iii) मरुभूमि एवं तटवर्ती क्षेत्रों में रेत के टीलों के विस्तार को रोकना।
  (iv) ग्रामीण एवं जनजातीय क्षेत्र के लोगों को वनों-उत्पाद के लोगों को उपलब्ध कराना
  (v) देश की प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण एवं राष्ट्रीय उत्पादकता की पूर्ति के लिए वनों की उत्पादकता में वृद्धि करना।
  (vi) संरक्षण के माध्यम से जहां आवश्यक हो, वहां परिस्थितिकी संतुलन पुन: स्थापित कर पर्यावरण की स्थिरता को बनाए रखना।
- जल संसाधनों को प्रदूषण मुक्त करने एवं संरक्षित करने के उद्देश्य से निम्नलिखित प्रमुख योजनाएं चलाई जा रही हैं:
  (i) गंगा कार्य योजना, 1985 से
  (ii) यमुना कार्य योजना, 1933 से
  (iii) राष्ट्रीय नदी संरक्षण कार्य योजना, 1995 से
  (iv) राष्ट्रीय झील संरक्षण कार्य योजना
- तटीय, सागरीय एवं दलदली क्षेत्रों में राष्ट्रीय आर्द्र क्षेत्र प्रबंधन समिति के नेतृत्व में आर्द्र भूमि कच्छ वनस्पतियां, मैंग्रोव और प्रवाल भित्ति संरक्षण एवं प्रबंधन कार्यक्रम चलाया जा रहा है।
- सरकार द्वारा 1978 ई. से 'पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन' की नीति अपनाई गई है। इसके अन्तर्गत किसी बड़ी औद्योगिक, खनन, निर्माण अथवा बहुउद्देशीय परियोजना के प्रारंभ होने से पहले पर्यावरण पर पड़ने वाले इनके प्रभावों का आकलन किया जाता है एवं पर्यावरण की दृष्टि से परियोजना के सुरक्षित होने की स्थिति में ही इसे मंजूरी दी जाती है।
- **पर्यावरण वाहिनी:** पर्यावरण प्रदूषण के संदर्भ में युवाओं को जागरूक बनाने तथा वायु, जल, तथा अन्य प्रदूषणों तथा वनों की अंधाधुंध कटाई जैसे मामलों में उन्हें सुधारात्मक उपायों की जानकारी देने के लिए देश के 200 जिलों में पर्यावरण वाहिनी योजना चलाई जा रही है। इसी प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यालय स्तर पर लगभग 2500 विद्यालयों में इको क्लब की स्थापना की गई है।
- देश के शहरी क्षेत्रों में वायु प्रदूषण से निपटने के लिए सीसारहित पेट्रोल, सी.एन.जी. आदि विकल्पों को वाहनों में ईंधन के रूप में अपनाने के महत्वपूर्ण कार्यक्रम चरणों में चलाए जा रहे हैं।
- प्रदूषण की समस्या से निपटने के लिए सरकार ने कुछ प्रशासनिक उपाय किए हैं, जिसके अन्तर्गत विभागों, मंडलों की स्थापना की गई है, इनमें प्रमुख हैं:
  (i) पर्यावरण विभाग, 1980
  (ii) प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड
  (iii) राष्ट्रीय अप्रयुक्त भूमि विकास बोर्ड एवं राष्ट्रीय भूमि उपयोग परिषद्
  (iv) भारतीय वन्य जीव बोर्ड
  (v) पर्यावरण सूचना तंत्र, 1952
  (vi) पर्यावरण पर्यवेक्षण बोर्ड
  (vii) हानिकारक पदार्थ नियंत्रण कार्यक्रम, 1986
  (viii) पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन कार्यक्रम आदि।
- पर्यावरण के क्षेत्र में लोगों को प्रोत्साहित करने एवं जागरूकता बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा पत्र-पत्रिकाओं एवं दूरसंचार माध्यमों से सूचना एवं प्रचार करने की नीति अपनाई गई है, साथ ही पर्यावरण के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए निम्नलिखित पुरस्कारों की व्यवस्था की गई है:
  (i) इंदिरा गांधी पर्यावरण पुरस्कार
  (ii) राजीव गांधी पर्यावरण पुरस्कार
  (iii) पीतांबर पंत राष्ट्रीय पर्यावरण फेलोशीप
  (iv) महावृक्ष पुरस्कार
  (v) पर्यावरण एवं वन मंत्रालय विशिष्ट वैज्ञानिक पुरस्कार आदि।

CHRONICLE IAS ACADEMY

भारत की पर्यावरण नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

पर्यावरण अवनयन एक वैश्विक समस्या है। विश्व के विभिन्न देशों के पारस्परिक सहयोग द्वारा ही इस समस्या का निवारण किया जा सकता है। स्वतंत्रता के उपरान्त से ही भारत द्वारा पर्यावरण संरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों को पूर्ण सहयोग प्रदान करने की नीति अपनाई गई है। भारत के पर्यावरण और वन मंत्रालय द्वारा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, दक्षिण एशिया सहयोग पर्यावरण कार्यक्रम, अंतर्राष्ट्रीय समेकित पर्वत एवं विकास केन्द्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधन संरक्षण संघ के लिए प्रमुख एजेंसी के रूप में किया जाता है। भारत ने स्वतंत्रता के बाद से ही नीदरलैंड, नार्वे, रूस, स्वीडन, डेनमार्क, जापान, ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा एवं जर्मनी आदि देशों के साथ पर्यावरण संरक्षण के लिए द्विपक्षीय कार्यक्रम चलाया है। देश ने विश्व बैंक के सहयोग से सामाजिक वानिकी एवं अन्य संरक्षण कार्यक्रम चलाया है। भारत द्वारा पर्यावरण के क्षेत्र में निम्नलिखित अन्तर्राष्ट्रीय संधियों तथा समझौतों पर हस्ताक्षर किए गये हैं-

(i) अंतराष्ट्रीय पादप संरक्षण समझौता
(ii) अंतराष्ट्रीय व्हेल नियमन समझौता
(iii) अंटार्कटिका संधि
(iv) मुगीबियों के प्राकृतिक निवास पर (रामसर संधि) अन्तर्राष्ट्रीय संधि
(v) जहाजों से प्रदूषण की रोक-थाम के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता
(vi) वन्य प्राणियों एवं विलुप्त प्रजातियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर समझौता
(vii) ओजोन परत की संरक्षा हेतु विएना समझौता
(viii) प्रवासी प्रजातियों के संबंध में समझौता
(ix) खतरनाक पदार्थों के आवागमन के लिए सीमा संबंधी वेसल समझौता
(x) जलवायु परिवर्तन संबंधी संरचना समझौता
(xi) जैव विविधता संरक्षण समझौता
(xii) ओजोन परत को क्षीण करने वाले पदार्थों के संबंध में मांट्रियल संधि एवं
(xiii) मरूभूमि के रोकथाम के लिए अंतर्राष्ट्रीय समझौता।

भारत में उपरोक्त प्रयासों के बावजूद पर्यावरण की समस्या बनी हुई है। इस दिशा में और प्रयासों की आवश्यकता है। साथ में जनता को शिक्षित एवं जागरूक करना तथा उनकी प्रतिभागिता सुनिश्चित करने की आवश्यकता है। जरूरत है कि भारत ग्लोबल वार्मिंग एवं जलवायु परिवर्तन संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए अधिक सक्रियता दिखाए। इसके अतिरिक्त जनसंख्या वृद्धि को रोकने के सार्थक प्रयास तथा अति औद्योगीकरण की दिशा में सोच-समझ कर निर्णय लेना होगा। आवश्यकता है कि परिस्थितिकी एवं पर्यावरण संबंधी नीतियों एवं कार्यक्रमों को दृढ़तापूर्वक क्रियान्वित किया जाए।

विज्ञान की तरक्की

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत का वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय ढांचा विकसित राष्ट्रों की तुलना में न तो सुदृढ़ था और न ही व्यवस्थित। इस कारण देश को स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों में अन्य विकसित देशों में उपलब्ध तकनीकी निपुणता एवं विशेषता पर निर्भर रहना पड़ा। ऐसी स्थिति में देश के प्रथम प्रधानमंत्री प. जवाहर लाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत के सर्वांगीण विकास के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के महत्व को समझते हुए अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि 'भविष्य उन्हीं के साथ है, जो विज्ञान को बढ़ावा देते हैं और वैज्ञानिकों से मित्रता रखते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर तथा ब्रिटिश शासन काल में आर्थिक शोषण के कारण विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आयी शिथिलता को समाप्त करने के उद्देश्य से स्वतंत्र भारत में योजनाबद्ध विकास के लिए सुव्यवस्थित नीतियां बनाई गई हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के संगठन एवं निर्देशन हेतु वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित मंत्रालय की स्थापना करने वाला भारत विश्व का प्रथम देश है। 1951 ई. में स्थापित इस मंत्रालय ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास की सभी जिम्मेदारियां अपने ऊपर ले ली। इस मंत्रालय के अधीन निम्न प्रमुख छह केन्द्रीय विभागों ने भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया है-

1. विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग
2. वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्
3. परमाणु ऊर्जा विभाग
4. अंतरिक्ष विभाग
5. महासागर विकास विभाग
6. जैव प्रौद्योगिकी विभाग

उपरोक्त विभागों एवं विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय के देख-रेख में आजादी के बाद देश में वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थाओं का चौमुखी विकास और विस्तार हुआ। स्वतंत्रता के उपरान्त परमाणु ऊर्जा के विकास और वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के तत्वाधान में प्रयोगशालाओं की श्रृंखला स्थापित करने पर जोर दिया गया। इसके अलावा विभिन्न एजेंसियों/विभागों के अन्तर्गत कई प्रयोगशालाएं स्थापित की गई हैं और विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के तमाम क्षेत्रों को इसके दायरे में ले लिया गया है। अंतरिक्ष और रक्षा अनुसंधान कार्यक्रम का सिलसिला भी प्रारंभ हुआ। उद्योगों और अनुसंधान व विकास प्रयोगशालाओं के लिए टेक्नोलॉजी के विशेषज्ञों की जरूरत पूरी करने के लिए भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आई.आई.टी.) की स्थापना का सिलसिला भी नेहरू युग में प्रारंभ हुआ। पहला आई. आई. टी. 1950 में खड़गपुर में स्थापित हुआ। वर्तमान में 8 आई.आई.टी. 20 से अधिक एन.आई.टी. एवं सैकड़ों अन्य तकनीकी शैक्षणिक संस्थानों द्वारा भारत में विज्ञान का प्रसार हो रहा है। भारत में वर्ष 1958-59 में अनुसंधान एवं विकास पर महज 23 करोड़ रु. खर्च किए गए थे, जो वर्ष 1996-97 में 8340 करोड़ रु. के स्तर पर पहुंच गया। वर्तमान में अनुसंधान एवं विकास के क्षेत्रों में सालाना 10 हजार करोड़ रु. से अधिक का व्यय किया जा रहा है। इस समय देश की छह प्रमुख वैज्ञानिक एजेंसियों-रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, अंतरिक्ष विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग, भारतीय वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् एवं जैव प्रौद्योगिकी विभाग का अनुसंधान और विकास पर कुल खर्च 85 प्रतिशत रहा। देश में अनुसंधान एवं विकास के कुल खर्च के लगभग 70 प्रतिशत भाग का वहन केन्द्र सरकार एवं उसके अन्तर्गत आने वाले सार्वजनिक उपक्रम कर रहे हैं।

विज्ञान और टेक्नोलॉजी के आधारभूत ढांचे के विस्तार के पीछे मुख्य उद्देश्य देश और यहां के लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए विज्ञान और टेक्नोलॉजी का उद्देश्यपूर्ण उपयोग सुनिश्चित करना था। प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने इसी बात को ध्यान में रखकर स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थाओं के विकास, उनमें काम करने वाले प्रशिक्षित कर्मियों की जरूरत को पूरा करने के लिए मजबूत आधारभूत ढांचा तैयार करने की योजना बनाई। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत में विज्ञान का मुद्दा दलगत राजनीति से उपर रहा

CHRONICLE IAS ACADEMY

है। केन्द्र में चाहे किसी भी दल या गठबंधन की सरकार रही हो सभी ने देश और देशवासियों के हित में विज्ञान और टेक्नोलॉजी को बढ़ावा देने के प्रति अपनी वचनबद्धता प्रकट की है। इसी दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रसार को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वर्ष 1958, 1983 एवं 2003 में वैज्ञानिक नीति संकल्प भी बनाए (घोषित) गए। विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में बुनियादी ढांचे से संबंधित क्षमता के विस्तार और अनुकूल नीतिगत उपायों से भारत ने अच्छी प्रगति की है। विज्ञान के क्षेत्र में भारत की तरक्की को निम्नलिखित अध्ययनों/तथ्यों के माध्यम से समझा जा सकता है-

विज्ञान और तकनीकी विकास एवं कृषि क्षेत्र

भारत में विज्ञान एवं तकनीकी के विकास एवं कृषि क्षेत्र में इसके उपयोग के उल्लेखनीय परिणाम सामने आए हैं। देश में अनाज की घरेलू मांग पूरा करने के लिए स्पष्ट नीतिगत ढांचा तैयार किया गया। अनुसंधान और विकास के लिए पर्याप्त राशि का प्रावधान करके जब इस नीति को सुनियोजित तरीके से लागू किया गया तो इसके नतीजे हरित क्रान्ति के रूप में सामने आये। यह क्रान्ति आजादी के बाद एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हरित क्रान्ति ने भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का आयात करने वाले देश से अनाज निर्यातक देश में बदल दिया है। जहां वर्ष 1950-51 में देश में 51 मिलियन टन अनाज पैदा हुआ था, वहीं वर्ष 1994-95 में यह बढ़कर 191 मिलियन टन एवं वर्ष 2006-07 में 208 मिलियन टन हो गया। इस प्रकार कृषि पदार्थों से पर्याप्त आमदनी भी हुई। भारत दुनिया के उन देशों में शामिल है, जहां कृषि के क्षेत्र में काम करने वाले केन्द्रीय संस्थानों और राज्य विश्वविद्यालयों का सबसे बड़ा नेटवर्क है। कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक क्षमता के दृष्टिकोण से भारत दुनिया में पहले स्थान पर आता है। हाल के वर्षों में भारत उर्वरकों के उपभोग एवं उत्पादन के मामले में चीन और अमेरिका के बाद विश्व में तीसरा स्थान रखने वाला देश बन गया है। यही नहीं भारत में विश्व की सबसे विशाल सिंचाई प्रणाली भी विकसित की गई है। नयी टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में व्यापक विस्तार से भारत ने दूध (प्रथम स्थान विश्व में), मछली, तिलहन तथा फलों और सब्जियों (विश्व दूसरा स्थान) के उत्पादन में शानदान प्रगति की है। श्वेत क्रान्ति के कारण भारत में सलाना लगभग 90 मिलियन टन दूध का एवं नीली क्रान्ति के कारण 63 मिलियन टन (वार्षिक) मत्स्य का उत्पादन होने लगा है। पीत क्रान्ति के बाद तिलहनों के पैदावार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सन् 1986 ई. बायो टेक्नोलॉजी विभाग की स्थापना से कृषि के क्षेत्र में जैव-प्रौद्योगिकी की आधुनिक विधियों को बढ़ावा मिल रहा है।

भारत सरकार द्वारा घोषित सभी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी नीतियों के मुख्य उद्देश्य

वैज्ञानिक नीति संकल्प, 1958: सभी उपयुक्त साधनों का उपयोग करते हुए विज्ञान के विकास और वैज्ञानिक अनुसंधानों को पोषित, प्रोत्साहित करना एवं उसे सतत् रूप में बनाए रखना।

प्रौद्योगिकी नीति विवरण, 1983: राष्ट्रीय प्राथमिकताओं एवं संसाधनों के अनुकूल स्वदेशी प्रौद्योगिकी का विकास और आयातित प्रौद्योगिकी का दक्ष आमेलन तथा अनुकूलन।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी नीति, 2003: अभिनय एवं पुनरूत्थानशील भारत का निर्माण करना, यह सुनिश्चित करना कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से भारत के लोगों और सम्पूर्ण मानवता का वास्तविक तौर पर उत्थान हो।

परमाणु तकनीकी का विकास

प्रारंभ में भारत का परमाणु कार्यक्रम शांतिपूर्ण कार्यों जैसे बड़े पैमाने पर विद्युत करने के उद्देश्य से बनाया गया था। आज भारत ने परमाणु ऊर्जा के प्रत्येक क्षेत्र में खासी सफलता प्राप्त कर ली है। आज भारत के पास नयी परमाणु सामग्री के इस्तेमाल से लेकर विद्युत पैदा करने में काम आने वाले विशाल रिएक्टरों की स्थापना तक के लिए तमाम तरह की टेक्नोलॉजी उपलब्ध है। वर्तमान में भारत में 14 नाभिकीय रिएक्टर कार्यरत एवं 8 रिएक्टर निर्माणाधीन हैं। इस समय भारत में नाभिकीय रिएक्टरों से 3800 मेगावाट विद्युत ऊर्जा उत्पादित हो रही है। यह सक्षमता भारत ने अपने ही प्रयासों से जुटाई है। भारत ने पहला परमाणु परीक्षण वर्ष 1974 में एवं दूसरा परीक्षण वर्ष 1998 में किया एवं अब भारत दुनिया के चुनिंदा परमाणु अस्त्रों से सम्पन्न देशों के सूची में शामिल है। नाभिकीय क्षेत्र में अनुसंधान से कई तरह की सहायक टेक्नोलॉजी उभरकर सामने आई हैं, जिनसे कृषि, विज्ञान, चिकित्सा एवं पर्यावरण प्रबंध के क्षेत्रों को बड़ा फायदा हुआ है।

रक्षा अनुसंधान एवं तकनीकी विकास

रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन की 50 से अधिक प्रयोगशालाऐं कई महत्वपूर्ण तकनीकी क्षेत्रों में क्षमता हासिल कर चुकी हैं। उनके प्रयासों से चालक रहित विमानों, निर्देशित प्रक्षेपास्त्रों, अति उन्नत राडारों, लक्ष्य का पता लगाकर कई दिशाओं में मार करने वाले टारपीडो, युद्ध में काम आने वाले विभिन्न किस्म के वाहनों, पाइलट रहित विमानों युद्धक टैंक, एसाल्ट ब्रिज और जीवन रक्षक प्रणालियों का विकास किया है। उन्नत प्रक्षेपास्त्रों के विकास और निर्माण की दृष्टि से वर्तमान में भारत विश्व के अग्रणी देशों में शामिल है।

अंतरिक्ष विज्ञान एवं उपग्रह प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास

भारत ने उपग्रहों के निर्माण की टेक्नोलॉजी में भी महारत हासिल कर ली है। दूरसंवेदन के लिए निचली कक्षाओं में चक्कर लगाने वाले आई.आर.एस. उपग्रहों से लेकर दूरसंचार, प्रसारण, मौसम विज्ञान और प्राकृतिक आपदाओं की चेतावनी वाले इनसैट उपग्रहों के चौथी पीढ़ी तक का विकास भारत ने कर लिया है। भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा पूरी तरह से स्वदेशी क्षमता से बनाए गए उपग्रह न केवल विभिन्न सेवाओं को उपलब्ध करा रहे हैं, बल्कि इनकी सेवाओं के विपणन द्वारा विदेशी मुद्रा भी प्राप्त किया जा रहा है। भारत ने अपना पहला उपग्रह प्रक्षेपण यान एस.एल.वी-3 वर्ष 1980 में सफलता पूर्वक प्रक्षेपित किया था। तब से लेकर वर्तमान तक में इस क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करते हुए, भारत ने ए.एस.एल.वी., पी.एस.एल.वी, एवं जी.एस.एल.वी. जैसे अति उन्नत उपग्रह प्रक्षेपण यानों का सफलता पूर्वक विकास कर लिया है। इनके द्वारा न केवल स्वदेशी उपग्रहों, बल्कि विदेशी उपग्रहों को भी व्यावसायिक रूप से प्रक्षिपित किया जा रहा है। अप्रैल, 2008 में भारत द्वारा प्रथम मानव रहित अंतरिक्ष यान चन्द्रयान-I को चंद्रमा पर भेजने की योजना है। यह अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत की एक और बड़ी उपलब्धि सिद्ध हो सकती है। कुल मिलाकर अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत की तरक्की उल्लेखनीय रही है एवं अमेरिका, यूरोपीय राष्ट्रों एवं चीन, रूस और जापान के बाद विश्व में भारत का ही स्थान आता है।

सूचना टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में विकास

हाल के वर्षों में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका आम जीवन में उपयोगों एवं राष्ट्र के विकास, दोनों संदर्भों में महत्वपूर्ण हो गई है। भारत ने कम्प्यूटर विज्ञान एवं विशेषकर सॉफ्टवेयर उद्योग में शानदार सफलता प्राप्त की है। भारत में पेस, पद्म-10000, परम-पद्म जैसे

CHRONICLE IAS ACADEMY

अति उन्नत सुपर कम्प्यूटरों का विकास किया गया है। सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में विप्रो, टी.सी.एस. सत्यम, इन्फोसिस जैसी विश्वस्तरीय कम्पनियों ने समूचे दुनिया में अपनी अलग पहचान बना ली है। भारत में इस समय सूचना-तकनीकी में अति दक्ष विशेषज्ञों की विशाल संख्या मौजूद है, फलतः आई.टी.इ.एस. (ITES) के क्षेत्र में भारत की विश्वस्तर पर धाक जम गई है। भारत में इंटरनेट या इमफॉर्मेशन सुपर हाइवे का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, इस समय देश में 46 मिलियन से अधिक इंटरनेट उपभोक्ता हैं। राष्ट्रीय कम्प्यूटर सूचना नेटवर्क (नीक नेट) आदि प्रणालियों के द्वारा समूचे देश को एक दूसरे भागों से जोड़ दिया गया है। देश में कम्प्यूटर शिक्षा एवं सूचना प्रौद्योगिकी का व्यापक विस्तार हो चुका है। इस क्षेत्र में भारत में एक ऐसा ढांचा खड़ा हो चुका है, जिसके माध्यम से भारत विश्व में सूचना-तकनीकी के क्षेत्र में एक अग्रणी राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बना चुका है।

संचार के क्षेत्र में प्रगति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दूरसंचार की सेवाओं में महत्वपूर्ण सुधार हुआ। दूरसंचार एक्सचेंजों की संख्या वर्ष 1947 में 300 थी, जो वर्ष 2001 तक बढ़कर 30 हजार के लगभग पहुंच गई। वर्तमान में देश में सभी टेलीफोन एक्सचेंज इलेक्ट्रॉनिक हैं। दूरसंचार के क्षेत्र में डिजिटल प्रणालियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है। इस समय देश में 265 मिलियन से अधिक टेलीफोन (मोबाईल सहित) उपभोक्ता हैं। रेडियो प्रणाली एवं औप्टिकल फाइबर प्रणालियों से युक्त लगभग 3.5 लाख कि.मी. का दूरसंचार नेटवर्क विश्व के विशालतम नेटवर्कों में एक है। उपग्रह संचार प्रणाली एवं जलगर्भीय संचार प्रणाली के क्षेत्र में भी महान प्रगति हुई है।

अन्य क्षेत्रों में विज्ञान की तरक्की

- **विद्युत ऊर्जा उत्पादनः** वर्ष 1947 में देश में मात्र 1400 मेगावाट बिजली की उत्पादन क्षमता थी, जो 31 मार्च 2005 तक बढ़कर 1 लाख 18 हजार मेगावाट के स्तर तक पहुंच गई। इस दौरान ताप विद्युत एवं जल विद्युत के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। भारत में ऊर्जा के गैर परम्परागत स्रोतों, जैसे- सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, भूतापीय ऊर्जा, बायोगैस एवं सागरीय ऊर्जा उत्पादन की तकनीकों की विकास एवं उत्पादन की प्रक्रिया जारी है।
- **स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विज्ञानः** चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है। स्वास्थ्य दशाओं में सुधार के कारण देश में लोगों की जीवन प्रत्याशा बढ़कर 63.5 वर्ष हो गई है, जो 1950 के आसपास 30 वर्ष के स्तर के आस-पास थी। शिशु मृत्यु दर में कमी आई है। टीवी, चेचक, पोलियो आदि महामारियों पर नियंत्रण पाना संभव हो सका है। वर्तमान में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान समेत कई विश्वस्तरीय चिकित्सीय शोध संस्थानों द्वारा देश में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रम सफलतापूर्वक चलाये जा रहे हैं।
- इन सबके अतिरिक्त जैव प्रौद्योगिकी, महासागरीय विज्ञान, इलेक्ट्रानिक्स समेत विज्ञान की सभी आधुनिक विधाओं में भारत ने प्रगति की है एवं इन सबका प्रत्यक्ष लाभ देश के आर्थिक परिदृश्य समेत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्राप्त हो रहा है।

भारत में मानवीय एवं भौतिक संसाधनों की कोई कमी नहीं है। विज्ञान के संदर्भ में हमारा इतिहास एवं प्राचीन काल में प्राप्त सफलताएं महान रही हैं। उसी परम्परा के अन्तर्गत, विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय चाहे देश में हो अथवा विदेशों में, अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। हमारी कई वैज्ञानिक संस्थाएं दुनिया की सबसे अच्छी संस्थाओं में गिनी जाती हैं। यह बात साबित हो चुकी है कि यदि भारतीय वैज्ञानिकों के लिए स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाय तो वे वांछित परिणाम देने में सक्षम हैं। फिर भी भारतीय विज्ञान और टेक्नोलॉजी की ताकत अधिकतर भारतीयों की जीवन में झलकती दिखायी नहीं देती। तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता के बाद से वर्तमान तक में विज्ञान ने भारत में जनसामान्य के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है, बावजूद इसके समाज का एक बड़ा तबका, अब भी इसके लाभों से वंचित है। लेकिन यह आशा की जा सकती है कि आने वाले समय में हम इस समस्या से उबर पायेंगे एवं भारत में विज्ञान की तरक्की प्रत्येक नागरिक की तरक्की का मार्ग प्रशस्त करेगी।

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

तिथिक्रम

1763-1800– संन्यासी विद्रोह
1816-32 – कच्छ के राजा भारमल का विद्रोह
1844-48 – सूरत में ब्रिटिश विरोधी आंदोलन
1844 – कोल्हापुर राज्य का विद्रोह
1873-76 – पाबना विद्रोह
1875 – दक्कन का उपद्रव
1905 – बंगाल का प्रथम विभाजन, लार्ड मिंटो वायसराय बना, मारले भारत सचिव बने
1906 – मुस्लिम लीग की स्थापना, स्वराज संबंधी कांग्रेस की घोषणा
1908 – समाचार पत्र अधिनियम
1909 – मार्ले-मिन्टो सुधार, गवर्नर जनरल की परिषद में एस. पी. सिन्हा की नियुक्ति
1910 – लार्ड क्रीव भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट बने
1911 – दिल्ली दरबार, बंगाल विभाजन रद्द, भारत की जनगणना
1912 – दिल्ली में केन्द्रीय राजधानी लायी गयी
1915 – डिफेंस ऑफ इंडिया एक्ट
1916 – सैडलर आयोग, लीग एवं कांग्रेस के मध्य लखनऊ समझौता, होमरूल लीग की स्थापना, पूना में महिला विश्व विद्यालय की स्थापना
1917 – हाउस ऑफ कॉमन्स में मोंटेग्यू की घोषणा, मोंटेग्यू की भारत यात्रा
1919 – मोंटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार
1920 – खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन, लार्ड सिन्हा बिहार एवं उड़ीसा के गवर्नर बनाये गये
1921 – चैम्बर ऑफ प्रिंसेज, मोपला विद्रोह, भारत में प्रिंस ऑफ वेल्स की यात्रा, भारत की जनगणना
1922 – भारतीय कौंसिलों में स्वराजी पहुंचे, नमक का प्रमाणीकरण
1925 – ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास एसोसिएशन, चितरंजन दास की मृत्यु, इंण्टर यूनिवर्सिटीस बोर्ड का गठन
1926 – स्कीन थमिटी की रिपोर्ट, कृषि पर रॉयल कमीशन, फैक्ट्रीज एक्ट
1927 – इंडियन नवीगेशन एक्ट, साइमन कमीशन की नियुक्ति
1928 – नेहरू रिपोर्ट, कृषि पर रॉयल कमीशन की रिपोर्ट
1929 – ट्रेड-यूनियन फूट, इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की स्थापना, लाहौर कांग्रेस भारतीय मजदूरों के मसले पर रॉयल कमीशन की नियुक्ति
1930-34 – सविनय अवज्ञा आंदोलन
1930 – प्रथम गोलमेज सम्मेलन, रॉयल लेबर कमीशन की रिपोर्ट का प्रकाशन
1931 – द्वितीय गोलमेज सम्मेलन
1932 – तृतीय गोलमेज सम्मेलन, कम्युनल एवार्ड एवं पूना समझौता, देहरादून में भारतीय सैन्य अकादमी की स्थापना
1933 – अंग्रेजी सरकार द्वारा श्वते पत्र का प्रकाशन
1934 – बिहार में भीषण भूकंप, भारतीय संवैधानिक सुधार पर संयुक्त समिति
1935 – भारतीय अधिनियम
1937 – प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल
1939 – कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा त्यागपत्र, लीग द्वारा मुक्ति दिवस मनाया गया
1941 – पर्ल हार्बर की घटना, अमेरिका का विश्व युद्ध में प्रवेश
1942 – सिंगापुर का पतन, क्रिप्स मिशन
1943 – लार्ड वेवेल वायसराय बना, दक्षिण-पूर्वी एशिया का सर्वोच्च सेनापति लार्ड माऊंटबेटन को बनाया गया
1944 – संवैधानिक गतिरोध दूर करने के राजगोपालाचारी के प्रस्ताव पर गांधी एवं जिन्ना की वार्ता (9 सितंबर) प्रारंभ, पाकिस्तान के मसले पर वार्ता टूटी (27 सितंबर)
1945 – आजाद हिंद फौज के बंदियों की खुली अदालत में पहली बार पेशी (5 नवंबर)
1946 – भारतीय नौ सेना में विद्रोह (18 फरवरी), कैबिनेट मिशन योजना की घोषणा, अंतरिम सरकार का गठन (2 सितंबर), लीग के सदस्यों ने शपथ ली (26 अक्टूबर), संविधान सभा की प्रथम बैठक (9 दिसंबर)
1947 – ब्रिटिश सरकार की ऐतिहासिक घोषणा कि जून 1948 तक वे भारत छोड़ देंगे। लार्ड माऊंटबेटन वायसराय बने। माऊंटबेटन योजना घोषित (3 जून), भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम (15 अगस्त)
1948 – महात्मा गांधी की हत्या (30 जनवरी), राजगोपालाचारी गवर्नर जनरल नियुक्त (21 जून), जिन्ना का निधन (11 सितंबर), भारतीय फौजों का हैदराबाद रियासत में प्रवेश (11 सिंतबर), औद्योगिक नीति प्रस्ताव
1949 – भारत का नवीन संविधान स्वीकृत तथा हस्ताक्षरित (26 नवंबर)
1950 – नया संविधान लागू (26 जनवरी)
1951 – प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्घाटन, भारत की जनगणना

CHRONICLE IAS ACADEMY

1952 – प्रथम आम चुनाव
1956 – औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा उद्योगों का तीन श्रेणियों में विभाजन
1961 – बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रथम सम्मेलन
1962 – भारत चीन युद्ध (अक्टूबर)
1964 – जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु

●●●

CHRONICLE IAS ACADEMY

महत्वपूर्ण सहायक ग्रंथों की सूची

1. S. B. Chaudhuri : Civil Disturbances under British Rule (1757-1857)
2. R.C. Majumdar (Ed.) : British Para mountcy and Indian Renaissance, Vol-IX
3. R.C. Majumdar : The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857.
4. R.C. Majumdar : History and Culture of Indian People, Vols IX, X, XI.
5. S.B. Chaudhury : Civil Rebillions in the Indian Mutinies 1857-59.
6. S.N. Sen : 1857.
7. Ray Chaudhury, Dutta and Majumdar : An Advanced History of Indian Vol-III.
8. Bipin Chandra : Modern India.
9. Sumit Sarkar : Modern India.
10. Tara chand : History of Freedom Movement in India.
11. M.G. Ranade : Religious and Social Reforms.
12. D.E. Smith : South Asian Politics and Religion.
13. B.L. Grover and Yash Pal : Adhunic Bhartiya Itihasa : Eak Navin Mulyankan.
14. H.N. Dodwell : Cobridge History of India Vol.-IV.
15. P.E. Roberts : History of British India.
16. S.R. Choudhuri : Left Movements in India, 1917-47.
17. L.P. Sinha : Left wing in India.
18. R.C. Dutt : Economic History of India, 2 Vols.
19. R. Couplaud : The constitutional Problem in India (1944).
20. C.H. Philips (ed.) : The Partition of India, Policies and Perspectives, (1935-47).
21. Kamleshwar Prasad : History of India, 1757 to 1950 A.D.
22. IGNOU Materials on History

CHRONICLE IAS ACADEMY

●●●